कला
सृजन
प्रक्रिया

शिव करण सिंह



वसुमती
३८, जीरो रोड, इलाहाबाद-३

कला-सृजन-प्रक्रिया

कला-सृजन-प्रक्रिया

प्रथम-भाग

(सिद्धान्त-पक्ष)

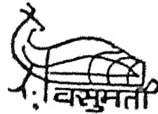
डॉ० शिवकरण सिंह

एम० ए० (हिन्दी, अँग्रेजी) पीएच० डी०

हिन्दी विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी



वसुमती

३८ जीरोरोड, इलाहाबाद–३

प्रकाशक
वसुमती
३८ जीरोरोड, इलाहाबाद-३

●

आवरण
शिवगोविन्द पाण्डेय

●

●

प्रथम संस्करण
अगस्त, १९६९

●

मुद्रक
नागरी प्रेस
दारागंज, इलाहाबाद

●

मूल्य : बाइस रुपये मात्र

डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा,
एम० ए०, डी० लिट्०
को
प्रणतिपूर्वक समर्पित

—शिवकरण

परिचय

परिचय करना और कराना सरल नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह और भी कठिन हो जाता है जब अपने परिचय का उत्तरदायित्व स्वयं अपने को वहन करना पड़ता है। मैंने इस कठिनाई से मुक्ति पाने के लिए एक लम्बी भूमिका तैयार की थी, पर प्रस्तुत परिस्थितियों में उसके प्रकाशन में विलम्ब होने की संभावना दीख पड़ी। उसके लिये अधिक इन्तजार करना उपयुक्त न ज्ञात हुआ। अतएव इसे सामान्य रूप में प्रकाशित कर देना विशेष समीचीन प्रतीत हुआ।

इस स्थल पर मैं अपनी ओर से कुछ अधिक नहीं कहना चाहता। मुझे केवल यही कहना है कि इस पुस्तक के प्रकाशन की योजना तीन भागों में बनाई गई है। अब प्रथम भाग सुधी पाठकों के समक्ष आ रहा है। इसे पूरा करने की प्रेरणा मुझे अपने मित्रों, सहयोगियों, गुरुजनों और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों से मिली है। आजकल की गोष्ठियों का यह प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है और बहस-मुबाहिसे में आहूत या अनाहूत रूप से सदैव विद्यमान पाया गया है। मैंने अपनी शक्ति के अनुसार इस माहौल को समझने की कोशिश की है। इन्हीं प्रयत्नों के आधार पर प्रथम भाग की रूप-रेखा तैयार की गई है। आचार्य हजारी प्रसाद 'द्विवेदी' के पुनः अध्यक्ष के रूप में कुछ समय के लिए कार्य-भार ग्रहण करने और उनसे विषय-संबंधी चर्चा से भी मेरा आत्म-विश्वास दृढ़ हुआ है।

यह पुस्तक चार 'उल्लासों' और तेरह 'तरंगों' में बँटी हुई है। प्रथम उल्लास में चार तरंगें हैं जिनका संबंध विषय-प्रवेश, कला-प्रेरणा, कलानुभूति और अनुभूति संबंधी काव्य सिद्धान्तों से है। द्वितीय उल्लास में पाँच तरंगें हैं जिन्हें अभिव्यक्ति, विषय-विन्यास, विषय-वस्तु, प्रतीक और अभिरुचि की संज्ञा दी गई है। तृतीय उल्लास की तीन तरंगों में प्रतिभा, विधायक कल्पना, बिंब और मनःसृष्टि पर विचार किया गया है। चतुर्थ उल्लास में केवल एक

तरंग है जिसमें मूल्य की व्याख्या की गयी है। प्रथम उल्लास में निरूपित तथ्यों का संबंध कला के भावपक्ष और द्वितीय उल्लास में निरूपित तथ्यों का संबंध कला पक्ष से है। तृतीय उल्लास में सृजन-शक्ति का उल्लेख किया गया है और चतुर्थ उल्लास में मूल्य का। इस प्रकार प्रेरणा, अनुभूति, और मूल्य का सैद्धान्तिक विवेचन इसका प्रमुख मन्तव्य है। पुस्तक को 'उल्लास' और 'तरंगों' में विभाजित करने पर कुछ लोग नाक भौं सिकोड़ सकते हैं, पर इसका कोई विशेष अर्थ न होगा। कलाकार का आन्तरिक उल्लास जब तरंगायित होता है तो कला-सृजन संभव होता है और जब भावक का आन्तरिक उल्लास क्रियाशील होता है तो कला-बोध सम्भव होता है। फिर कला-सृजन पर विचार करते समय इनको तिरस्कृत कैसे किया जा सकता है।

'उल्लासों' और 'तरंगों' द्वारा प्रस्तुत शीर्षकों को देखने से यह भ्रम पैदा हो सकता है कि इस भाग का संबंध केवल सैद्धान्तिक विवेचन से है, अतएव इसे कला-सृजन-प्रक्रिया की संज्ञा देना अनुपयुक्त है। संपूर्ण पुस्तक पर गंभीरता पूर्वक विचार करने से यह आक्षेप निस्सार सिद्ध होता है। मैंने पुस्तक के सभी अंशों में शीर्षकों के व्याज से सृजन के सैद्धान्तिक पक्ष को उद्घाटित करने की भरपूर कोशिश की है और उपलब्ध सामग्री के आधार पर इसे मनमुताबिक ढालने की ओर उन्मुख रहा हूँ। इस क्षेत्र में क्रियाशील नये दिमाग और नयी बुद्धि का यथा-संभव उपयोग किया गया है। इससे एक दिलचस्प बात पैदा हुई है। हम यथार्थ में उस बोझ मुहावरेदारी से अपने को बचा सके हैं जो अपनी चकाचौंध से साहित्य को आक्रान्त किये हुए है। साहित्य दिमागी तब्दीली का दिशा-सूचक यंत्र होता है अतएव साहित्यकार परिवर्तन को स्पृहणीय मानता है। उसके लिए परिवर्तन से भागना सत्य से पलायन करना है। इस प्रकार का पलायन सदैव अशोभनीय होता है। पर नारेबाजी, राजनीतिक वितण्डावाद, वर्गवादी संकीर्णता, अहंवाद और सैद्धान्तिक छिछोरापन उससे किसी भी रूप में कम अशोभन नहीं माना जा सकता। समय की गति के साथ कदम मिला कर चलना युग की महान् आवश्यकता है, पर इसके नाम पर कुछ मूलभूत तथ्यों को आँख से ओझल करना सरासर अन्याय है। आज के सृजक, आलोचक और विचारक को इस पर अमल करना जरूरी है।

मेरे अभिन्न मित्र और सहयोगी डॉ० काशीनाथ सिंह ने एक दिन मुझसे कहा कि कभी सृजन किया भी है या सृजन-प्रक्रिया पर लिखना शुरू कर दिया है ? प्रश्न तो सोलहो आने ठीक था, उत्तर देता भी तो क्या देता ! कहानी,

कविता या उपन्यास की कोई प्रकाशित प्रति तो थी नहीं जिसे दिखाकर मैं उनका परितोष कर सकता। मैंने इस बात को ध्यान में रखकर चुप्पी साध ली कि भविष्य उनकी इस जिज्ञासा का उचित जवाब दे लेगा।

इस प्रकार के काम को करने वाले व्यक्ति के सामने तरह-तरह की परीशानियाँ होती हैं। सबसे बड़ी परीशानी तो तथ्य से सम्बन्धित है। किसी भी भाषा में इस प्रकार की पुस्तकों का अभाव है जिनके आधार पर व्यवस्थित सामग्री का चयन किया जा सके। हिन्दी-साहित्य तो इस प्रकार के विवेचन से कोरा और अछूता है। इसके परिणामस्वरूप एक दूसरी समस्या उठ खड़ी होती है। यह समस्या शब्दावली से संबंधित है। अन्य भाषाओं में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के लिए आज तक हिन्दी में उपयुक्त शब्दावली की कोई सुनिश्चित व्यवस्था नहीं हो सकी है। इससे विषय के लेखन में एकरूपता नहीं आ पा रही है। सुना था कि केन्द्रीय सरकार लालित्यबोध के शब्दकोश को तैयार कराने की योजना बना रही है। इससे यह आशा अवश्य बँधी थी कि इसके प्रकाशित हो जाने के बाद इस प्रकार के काम को करना अपेक्षाकृत सरल हो जायगा। लगता है वह योजना भी आकाश-कुसुम बन कर रह गई। उपयुक्त पुस्तकों को प्राप्त करने की समस्या किसी भी रूप में कम जटिल और निराशाजनक नहीं है। पुस्तक-विक्रेता ऐसी पुस्तकों की कोई उपयोगिता नहीं समझते, अतएव, वे उन्हें मँगाने से कतराते हैं। इस प्रकार के कार्य में अर्थ की जरूरत भी पड़ा करती है। अगर इन समस्याओं से येनकेनप्रकारेण लड़झगड़ कर किसी काम को किनारे भी लगाया जाय तो उपयुक्त प्रकाशक मिल जाना भाग्य की बात होती है। हर प्रकाशक किसी भी पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व कुछ नपे-तुले प्रश्न करता है; आपकी पुस्तक किस वर्ग के विद्यार्थियों के लिए पाठ्य-पुस्तक का काम देगी? इसकी कितनी प्रतियाँ साल में बिक जायँगी? लीजिये, जवाब दीजिये इन प्रश्नों का। ये प्रश्न क्या किसी नौकरी के लिए साक्षात्कार हेतु प्रस्तुत प्रत्याशी से पूछे गये ऊल-जुलूल प्रश्नों से कम खतरनाक हैं। सब कुछ को देखते हुए आज यही कहना पड़ता है, "एक व्याधिबस नर मरहिं, ये असाधि बहु व्याधि।"

देश के सभी विश्वविद्यालयों में शोध का कार्य बड़े धड़ल्ले से हो रहा है, पर किसी भी संस्था के समक्ष शोध-विषय को चुनने की कोई व्यवस्थित योजना नहीं है। जब कोई एक विश्वविद्यालय इसके लिये सतर्क नहीं है तो सभी विश्वविद्यालयों के स्तर पर किसी मान्य कार्य-क्रम की बात उठाना अनावश्यक और निरर्थक है। इसे नकारने से आलोचना के क्षेत्र में पिष्ट-

पेषण की बाढ़ आ गई है। यह स्थिति किसी भी प्रकार के स्वस्थ विकास के लिए बाधक है। आज इस बात की आवश्यकता है कि उन अछूते विषयों की ओर भी दृष्टि जाय जो अपने विवेचन के लिए छटपटा रहे हैं। मेरी धारणा है कि प्रस्तुत विषय का विवेचन कई दृष्टियों से आवश्यक है। इससे साहित्य की चिन्ताधारा ही समृद्ध नहीं होगी, अपितु उसके सैद्धान्तिक स्वरूप का विकास भी सही दिशा में होगा। विवेकपूर्ण ढंग से लेखन-कार्य को अपनाने की आज जितनी आवश्यकता है, उतनी शायद पहले कभी न थी। इसे नकारना साहित्य के स्वस्थ विकास को नकारना है। मैंने अपनी दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक के विषय के साथ यथाशक्ति न्याय करने की कोशिश की है। अपनी सीमा में जो कुछ भी बन पड़ा है वह विद्वान् लोगों के समक्ष है। किसी भी प्रकार के पथ प्रदर्शन या उचित निर्देशन के लिए मैं उनका आभारी रहूँगा। इस पुस्तक का दूसरा और तीसरा भाग प्रकाशन के लिए तैयार है। ऐसी स्थिति में सही निर्देशन विशेष सहायक भी सिद्ध होगा।

इसके लेखन की स्थिति में मैं अधिकारी विद्वानों से परामर्श लेने में पीछे नहीं रहा हूँ। आचार्य 'द्विवेदी' की प्रेरणा का उल्लेख किया जा चुका है। 'डॉ० नगेन्द्र' ने भी यथासमय मुझे उत्साहित किया है। डॉ० लक्ष्मीसागर 'वार्ष्णेय' ने व्यक्तिगत रूप से इसके कुछ अंशों का अवलोकन किया है। डॉ० जगन्नाथ प्रसाद 'शर्मा' ने इसकी रूप-रेखा तैयार करने में मेरी सहायता की है। डॉ० विजय पाल 'सिंह' ने मुझे सहृदयता से प्रेरित करके प्रकाशन के कार्य को और तीव्र बनाया है। मैं इन सभी विद्वानों के प्रति हृदय से आभारी हूँ। डॉ० भोला शंकर 'व्यास', और डॉ० शिव प्रसाद 'सिंह' से भी मुझे यथा समय सत्परामर्श प्राप्त हुआ है। मैं उनके लिये भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। मेरे सहयोगी श्री चौथीराम 'यादव' और श्री सच्चिदानन्द 'राय' ने पाण्डुलिपि की तैयारी में मेरी मदद की है। इसके लिये मैं उन्हें साधुवाद देता हूँ।

पुस्तक के प्रकाशन में 'वसुमती प्रकाशन' के व्यवस्थापक श्री सुरेन्द्रमणि त्रिपाठी और 'नागरी प्रेस' के व्यवस्थापक श्री पाण्डेय जी ने जिस तत्परता का परिचय दिया है, उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। बाबू दयाशंकर सिंह अपने हैं उनके लिये कुछ अधिक न कहना ही उचित है।

शिवकरण सिंह,
तिलमापुर, सिन्धोरा
बाराणसी।

अनुक्रमणिका

प्रथम उल्लास

प्रथम तरंग

द्वितीय तरंग

तृतीय तरंग

चतुर्थ तरंग

(८) कला का शब्दार्थ संबंधी सिद्धान्त—मैटिस्से का अभिव्यक्तिवादी मत पृ० ८६, कलामूलत: संवेदना की अभिव्यक्ति, अतएव प्रतीकवादी और संश्लेषण प्रधान पृ० ८६, लैंजर, टॉमस पोलक क्लार्क और रिचर्ड्स की धारणा पृ० ८६-८७, काण्ट और कैसिरर का मत पृ० ८७, सांकेतिक चिह्न और प्रतीक (लैंजर) पृ० ८७, प्रतीक का वर्गीकरण पृ० ८८, कला अनुकरण प्रधान पृ० ८८, प्रत्यय बोध का विकास भाषा से पृ० ८८, भाषा में परंपरित भावबोध को अभिव्यक्त करने की क्षमता, पर अपरंपरित भावबोध को अभिव्यक्त करने की असमर्थता पृ० ८८, भाषा का कलेवर और शब्दों का स्वरूप प्रतीकमय पृ० ८८।

(९) सत्य और कला—वैज्ञानिक और कलात्मक सत्य पृ० ८८-८९, संस्कृत साहित्य में शब्द शक्तियाँ पृ० ८९, योरोपीय साहित्य में इमोटिव और रिफरेण्ट का प्रयोग पृ० ८९, रिचर्ड्स का भाषा संबंधी मत पृ० ८९, टी० एम ग्रीन, होस्पर्स और बी० सी० हेल का मत पृ० ८९, डे० विट् पार्कर का डेप्थमीनिंग का सिद्धान्त पृ० ८९-९०, अल्फ्रेडनायर पृ० ९०, रसेल का सामान्य अर्थ और विशिष्ट अर्थ संबंधी मत, अर्थ के कई स्तर पृ० ९०-९१, यथार्थ के संभावित स्वरूप का उल्लेख पृ० ९१, संस्कृत साहित्य का लोकधर्मी और नाट्यधर्मी मत पृ० ९१-९२, पाश्चात्य साहित्य की जेनरल ट्रुथ और ट्रान्सेण्डेण्टल ट्रुथ की मान्यता पृ० ९२, डॉ० जान्सन का मत पृ० ९२, प्रगतिवादी विचारकों के विशिष्ट सत्य का सिद्धान्त पृ० ९२, बाद में सत्य और कला पर प्रश्नवाची चिह्न पृ० ९२, ओसबॉर्न के निराकरण का प्रयत्न पृ० ९२, पेटर का मत पृ० ९२।

(१०) आनंदवाद—रस और आनंदवाद पृ० ९३, अरस्तू से लेकर आज तक की मान्यता पृ० ९२, निश्चित प्रकार के सर्जन से उपयोगिताहीन आनंद की उपलब्धि पृ० ९३, कुछ आक्षेप पृ० ९३, प्रो० डुकासे का विशिष्ट प्रकार के आनंद का मत पृ० ९४, कलाजन्य आनंद वस्तुवादी (मार्शल और सान्तायन) पृ० ९४-९५, मार्शल की लालित्यबोधीय प्रभाव क्षेत्र और लालित्यबोधीय निर्णय क्षेत्र की मान्यता पृ० ९५-९६, आदर्श लालित्यबोधीय क्षेत्र की कल्पना पृ० ९६, सान्तायन का मत पृ० ९६।

(११) संवेग संबंधी मत—संवेग और साहित्य पृ० ९७, स्टीफेन० सी० पेपर पृ० ९८-९९, निष्कर्ष ९९।

द्वितीय उल्लास

पंचम तरंग

षष्ठ तरंग

सप्तम तरंग

अष्टम तरंग

एकादश तरंग

द्वादश तरंग

चतुर्थ उल्लास

त्रयोदश तरङ्ग

यौ वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति । भूमैव सुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति । (छान्दोग्य० ७।२३।१)

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति
स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् विजानाति
तदल्पम् । यौ वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ।

(छान्दोग्य० ७।२४।१)

When I must shipwreck, I would do it in a sea, where my impotencies might have some excuse, not in sullen weedy lake, where I could not have so much as exercise for my swimming.

(John Donne)

'सं' उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाच—
मुत त्वः श्रुण्वन्न श्रुणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासाः ।।

(सरस्वती रहस्योपनिषद)

Until these things are judged, and given each its appointed place, in the whole scheme, they have no meaning in the world of art.

(Katherine Mansfield)

I write, let the reader learn to read (Mark Harris)

"The Poet's function—do not be startled by this remark is not to experience the poetic state : that is private affair, his function is to create it in others." The man of genius is the one who infuses genius into me.

(Valery)

रसानुगुण शब्दार्थ चिन्तास्तिमित चेतसः ।
क्षणं स्वरूप स्पर्शोत्था, प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ।।
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते ।
येन साक्षात्कारोत्येष भावांस्त्रैकाल्य वर्त्तिनः ।।

—(महिम भट्ट)

प्रथम-उल्लास

सृजन, कला-प्रेरणा और कलानुभूति

प्रथम तरंग

विषय-प्रवेश

सृजन-प्रक्रिया सम्बन्धी विचार आज के सतत् परिवर्तनशील साहित्यिक परिवेश में एक बहुत बड़े प्रश्नवाची चिह्न के साथ अवतरित होता है। यह प्रस्तुत बौद्धिक चेतना के लिए सदैव चैलेंज सिद्ध हुआ है। इसे हर काल में सुलझाने का प्रयत्न किया गया है, पर 'ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहत त्यों-त्यों उरझत जाय' की ही कहावत चरितार्थ होती है। आदिकाल से लेकर आज तक अप्रतिहत गति से सतत् प्रवहमान साहित्य-मन्दाकिनी में अपने को निमज्जित करके हम आनन्द का ही अनुभव नहीं करते अपितु इससे जीवन-संदेश पाकर अपने को कृतार्थ भी करते हैं। हम 'पृथ्वीराज रासो', 'डिवाइन कॉमेडी', 'रामचरित मानस', 'पैराडाइज़ लॉस्ट', 'ग़बन', 'युलिसिज़' आदि का अध्ययन करते हैं, पर इनके सृजन के मूल में लेखक के मन में किस प्रकार की चिंताधारा क्रियाशील रहती है, वह किस तरह तोड़-मरोड़ कर अपने विचारों को कलात्मक ढाँचा प्रदान करता है, इस बात को समझने की या तो हम आवश्यकता नहीं समझते या ये बातें हमारे लिए निःसार और निरर्थक ज्ञात होती हैं। पर, वस्तु-सत्य इससे सर्वथा भिन्न है। आलोचना के क्षेत्र में—मूल्यांकन के संदर्भ में—कृति को समझने के लिए कभी-कभी हम कृतिकार के जीवनपरक और सामाजिक परिवेश सम्बन्धी,—आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, अथवा मनोवैज्ञानिक-तथ्यों तक का विश्लेषण कर लेते हैं; किन्तु ये प्रयत्न या तो एकांगी सिद्ध होते हैं, या उचित सामग्री के अभाव और मात्र तर्क के आश्रय में पलने के कारण इनका कोई अर्थ नहीं होता। परिणाम यह होता है कि कृतिकार की आलोचना के सन्दर्भ में हम कृति से सम्बन्धित परम्परित और पिटी-पिटाई शैली का अनुगमन करते हैं, जिससे साहित्य के क्षेत्र में पिष्ट-पेषण की बाढ़ आ जाती है। पश्चिमी विचारकों ने इसे **अभिप्राय परक हेत्वाभास** (Intentional fallacy) **और उत्पत्तिपरक हेत्वाभास** (Genetic fallacy) की संज्ञा दी है।

लालित्यबोध के क्षेत्र में सृजन के इस तथ्य से सम्बन्धित सामग्री का उद्घाटन अवश्य हुआ है, पर आधुनिक चिन्तन में इन दोनों को कुछ हद तक असम्बद्ध घोषित कर दिया गया है और इनके क्षेत्र को सर्वथा भिन्न माना गया है। इस प्रकार के तर्क पर थोड़ा आश्चर्य अवश्य होता है। इसका मूल कारण यह है कि विज्ञान से लेकर सहज ज्ञान तक के क्षेत्र साहित्य से सम्बद्ध माने गए हैं, पर लालित्य-बोध को अन्त्यज क़रार देकर इसकी अवहेलना की गई है। इसी के परिणामस्वरूप सृजन-प्रक्रिया सम्बन्धी महत्वपूर्ण तथ्य हमारी आँखों से ओझल हो गए हैं। हम इस सत्य को भी भूल गए हैं कि इससे सम्बन्धित निष्कर्ष साहित्य के मूल्यांकन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। जब दुस्साहस करके हम कभी इनसे सम्बन्धित रहस्यों के क्षेत्र में पदार्पण करते हैं तो हमारे समक्ष कई प्रश्न एक साथ ही उपस्थित हो जाते हैं। इनमें से कुछ को हम अधोलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

(१) क्या सम्पूर्ण संसृति को कलात्मक-सृजन और अकलात्मक-सृजन में विभक्त किया जा सकता है? (२) क्या कुम्हार द्वारा बनाये गए मिट्टी के घड़े, बढ़ई द्वारा बनाई गई आरामकुर्सी, चित्रकार द्वारा बनाया गया कोई सुन्दर चित्र, संगीतकार द्वारा प्रस्तुत मनमोहिनी तान और लेखक की मानसिक प्रसव वेदना द्वारा उपलब्ध सुन्दर कृति कलात्मक सृजन है और राजनीतिज्ञ द्वारा लिखा गया अभिभाषण, समाजशास्त्री तथा अर्थशास्त्री द्वारा तैयार किया गया आँकड़ा अथवा वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा प्राप्त तथ्य अकलात्मक हैं? (३) क्या इस प्रकार के सृजन से स्रष्टा के मानसिक अथवा भौतिक परिवेश का कोई सम्बन्ध है? (४) क्या उसकी भूतकाल की अनुभूति का इस सर्जन में कोई सहयोग है? (५) क्या कलाकार का परिवेश और वातावरण से कोई सम्बन्ध है? (६) क्या वह वस्तुओं का जिस रूप में अनुभव करता है, उसी रूप में उन्हें प्रस्तुत करने में समर्थ है? (७) क्या वह सचमुच सृजन करता है, अगर हाँ तो किस सीमा तक उसके इस कार्य को सृजन की संज्ञा दी जा सकती है? (८) क्या वह द्रष्टा और स्रष्टा दोनों है, अथवा केवल स्रष्टा है, द्रष्टा नहीं? यथार्थ में ये प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर प्रमुख रूप से लालित्य-बोधीय आलोचना की अपेक्षा रखता है। इसके लिए हमें स्रष्टा की सृजन प्रक्रिया पर दृष्टिपात करके उसके मानसिक स्वरूप का उद्घाटन करना पड़ता है। इस प्रक्रिया में जहाँ एक ओर हम सृजक के भौतिक परिवेश को अपना विवेच्य बनाते हैं, वहीं दूसरी ओर उसके मानसिक परिवेश से सम्बन्धित तथ्यों के आकलन के साथ ही अवबोध की विशिष्टताओं को हृदयंगम करना भी हमारे लिए आवश्यक हो जाता है।

आज यह निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो चुका है कि **कलात्मक सृजन अभूतपूर्व संवेदन की स्थिति में कलाकार के सम्पूर्ण मानसिक वैशिष्ट्य का अद्भुत अभिव्यक्तीकरण होता है।** इसके मूल में आनन्द और मूल्य-निर्माण की भावना विद्यमान रहती है। इससे उसकी प्रेरणा, संवेदना, अभिरुचि, आशा, अभिलाषा, आकांक्षा अथवा अन्यमनस्कता और घृणा प्रतिच्छापित होती है। इसमें उसकी विषयगत मान्यताओं के निरूपण के साथ ही उसके चिन्तन का विषयीगत पक्ष विशेष रूप से क्रियाशील रहता है। इसीलिए यह उसके द्रष्टत्व और स्रष्टत्व का अनुपम सामंजस्य प्रस्तुत करता है। जिस समय कलाकार सृजनरत होता है उस समय उसका **प्रातिभ ज्ञान सहज ज्ञान और** कल्पना का विधायक स्वरूप किसी न किसी रूप में सक्रिय रहता है। प्रातिभ ज्ञान के माध्यम से वह आवश्यक तथ्य और सत्य को सरलता से हृदयंगम करता है, सहजज्ञान के माध्यम से वह जीवन-स्पन्दनों की यथार्थ अनुभूति करके उन्हें निश्चित स्वरूप प्रदान करता है और कल्पना के माध्यम से वह ऐसे बिम्ब निर्मित करता है जो उस कला का पूर्वापर सम्बन्ध निर्धारित करते हैं। इस परिवेश में कलाकार की सृजक प्रतिभा अन्तर्निहित संवेदनशीलता के द्वारा जीवन-स्पन्दनों को कलात्मक स्वरूप प्रदान करती है। यह सत्य है कि सृजन के मूल में कलात्मक अनुभूति होती है। यह अपनी विशिष्टता में ससीम और असीम दोनों है। जहाँ हम चिंतनरत हैं और चेतना तरंगिणी दोनों छोरों को छिटका कर निर्बाध रूप से मृदुल हिलोर लेने में तल्लीन है, वहाँ यह असीम है; पर ज्यों ही यह अभिव्यक्ति की सीमा में बँधती है और इसे नियंत्रित करने का प्रयत्न आरंभ होता है त्यों ही अपनी व्यंजना में असीम होते हुए भी यह ससीम बन जाती है। इस दशा में साहित्यिक सृजन इसी असीम की ससीम गाथा सिद्ध होता है।

इस सत्य को और स्पष्ट करने के लिए हमें सृजक और सौंदर्य को कलात्मक रूप प्रदान करने वाली **सौन्दर्यावगाहिनी प्रतिभा के अन्तःसम्बन्ध** पर दृष्टि-पात करना आवश्यक ज्ञात होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर एक बात सरलता से ज्ञात हो जाती है कि सृजक अपनी सम्पूर्ण वैयक्तिक विशिष्टता के साथ समाज में रहता है और इसके घात-प्रतिघात से प्रभावित होता रहता है। ये सामाजिक क्रिया-कलाप विविध और अनन्त हैं। जिस विन्दु पर कलाकार का व्यक्तित्व इसके अंश विशेष से टकरा कर उद्बुद्ध हो उठता है और उसकी प्रतिभा इसे बाँधकर समुचित स्वरूप प्रदान करने के लिए उद्यत हो जाती है, वहीं से सृजन का श्रीगणेश होता है। इस प्रकार सृजन के लिए कलाकार की अन्वीक्षण क्षमता और संसृति के वैविध्य की आवश्यकता होती है। जहाँ सृजक

की वैयक्तिक प्रतिभा संसृति के रहस्यों से अपने लिए विविध प्रकार की सामग्री का संकलन करने लगती है, वहीं से सिसृक्षा की भावना का जन्म होता है। प्रमुख विचारक 'इलियट' ने इसी बात को दृष्टिपथ में रख कर काव्य-बीज का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। ऐसा माना जाता है कि यह बीज या तो प्रातिबोधिक अनुभूति में विद्यमान रहता है या चेतना में। यह कल्पना को प्रेरित करके उसे सक्रिय बनाता है। यही ज्ञात और अज्ञात के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। इसी के माध्यम से कलाकृति में सामंजस्य, एकता, विशिष्टता, ताल, गति और लय का समावेश होता है। यह इसे ऐसा संस्पर्श प्रदान करता है कि सृजन सुगम हो जाता है और इसमें सकारात्मक गुणों का समावेश संभव होता है। कल्पना और काव्य-बीज के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए 'इलियट' महोदय ने 'कैटेलिटिक एजेण्ट' का उदाहरण दिया है। यह बात इस सत्य को सरलता से प्रतिपादित करती है कि सर्जनात्मक नूतनता व्यक्ति की मानस-जात क्रिया है। इसका वाह्य संसृति से उसी हद तक सम्बन्ध रहता है जिस हद तक यह उसके साथ समरसता या तादात्म्य स्थापित करके उसे अपनी चर्वणा का विषय बनाती है। वस्तुतः कलाकार केवल तथ्य को अपना उपजीव्य नहीं बनाता—दृश्य जगत ही उसके लिए सब कुछ नहीं है—वह तो इसके पटल का भेदन करके वाह्य आवरण में प्रसुप्त पड़े हुए गुप्त पर सामंजस्य-पूर्ण रहस्यों (सत्यों) तक पहुँचना चाहता है। इसमें उसकी सर्जनात्मक मौलिकता का सहयोग रहता है। 'विन्सेटवान गॉग' नामक चित्रकार ने इसी बात को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है "मैं अपने सुन्दर स्वप्नवेत्ता और मनमोहक स्वभाव वाले मित्र का चित्र बनाना चाहता था। इस निर्माण में मैं अपने मित्र सम्बन्धी सम्पूर्ण महत्वपूर्ण परिकल्पनाओं के साथ ही उसके प्रति अपने प्रेम को मूर्तिमान करना चाहता था। मैंने मनोयोगपूर्वक उसके यथार्थ चित्र की वाह्य रूप-रेखा बनायी। किन्तु चित्र अभी पूर्ण न हुआ। इसे पूर्ण करने के लिए मैंने रंगों का सहारा लिया। उसकी सुन्दरता को चित्रित करने के लिए मैंने विविध प्रकार के रंगों का सामंजस्य प्रस्तुत किया। उसके सिर के पीछे सामान्य दीवाल को चित्रित करने के स्थान पर मैंने नीले रंग से सम्पूर्ण पट को रंग दिया। उसका दीप्तिमान चेहरा इस नीली पृष्ठभूमि में एक रहस्यमय आह्लाद का परिचायक बन गया। इसका यह रूप शुभ्र नीले आकाश में विराजमान एकाकी तारे के सदृश ज्ञात, होने लगा।" इसी बात को मूर्तिकला विशारद 'एलियल सॉरिनेन' (ELIEL SAARINEN) ने भी अनुभव किया था। उनका कहना था "आइ हैव लर्न्ड टु नो दैट आर्ट; ह्वेन फ्रेश, वाइटल एण्ड

एलाइव इज़ साइन ऑव् दी आर्टिस्ट्स युथफुलनेस ऑव् माइण्ड।'' स्पष्ट है कि कलात्मक सृजन मात्र तथ्यात्मक नहीं होता। इसमें कलाकार की संवेदनात्मक अनुभूति के साथ ही उसकी चाह और घृणा भी बँधी रहती है। यह प्रक्रिया अपनी सम्पूर्णता में नये मूल्य-निर्माण की क्रिया होती है। इसमें कलाकार के विभावन और उसके अन्तर्मन्थन का इतिहास छिपा रहता है। यहाँ आकर इस क्षेत्र के 'क्या' और 'कैसे' में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। सृजन प्रक्रिया की संश्लेषणात्मक दक्षता के कारण अनुभूति और इच्छा तथा संवेदना और चित्तवृत्ति एकमेक हो उठती है। इसीलिए इसकी प्रभावान्विति (Totality of effect) अनुपम होती हैं।

उपर्युक्त उद्धरण में **कलाकार के कलात्मक अतिक्रम** (artistic deviation) की बात उठाई गयी है। प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न क्यों होती है? इसके उत्तर स्वरूप हम इस बात का संकेत ऊपर कर चुके हैं कि कला मात्र तथ्यान्वेषी नहीं होती। पर इसी से समस्या के सभी रूपों का समुचित समाधान नहीं हो जाता। इसके अतिरिक्त इस पर विचार करने के अन्य पहलू भी हैं। कलाकार के लिए यह आवश्यक होता है कि वह अपनी चित्तवृत्तियों के निरूपण में अपनी वैयक्तिक संकीर्णता का अतिक्रमण करे। यह अतिक्रमण कुछ हद तक कलात्मक अतिक्रमण का जनक हुआ करता है। 'कीट्स' ने इस बात का स्पष्टता से उल्लेख किया है। उसका कहना है कि कवि का वस्तुतः स्वयं अपने में कोई काव्यमय व्यक्तित्व नहीं होता। वह तो संसृति की वस्तुओं को देखता है। उसकी चित्तवृत्ति इन वस्तुओं में रमती है और उन्हीं के प्रभाव से उसमें काव्यमय स्फुरण होता है। अगर यह बात कुछ हद तक सत्य हो तो हमें इस बात को मान्यता प्रदान करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए कि कलाकार का अन्तर्मन विविध प्रकार के अनुभवों का कुबेरालय होता है। वह केवल वर्तमान में ही स्पंदित नहीं होता, अपितु भूत की अनुभूतियों से प्रभावित और भविष्य की परिकल्पनाओं से आलोड़ित भी होता है। ये प्रच्छन्न स्वरूप जाने-अनजाने उसकी वर्तमान अनुभूति से टकरा कर उनमें परिवर्तन उत्पन्न करते रहते हैं। कलात्मक अतिक्रम के मूल में इन्हीं उपर्युक्त तथ्यों का हाथ होता है।

सृजन-प्रक्रिया सम्बन्धी उपर्युक्त स्वरूपों के कतिपय पक्षों को यहाँ थोड़े में प्रस्तुत किया गया है। इससे विषय की गम्भीरता और व्यापकता के साथ ही उसके महत्व पर प्रकाश पड़ता है। इस संदर्भ में कलात्मक सर्जन का आंशिक उल्लेख भी अभीप्सित ही होगा। अंग्रेजी साहित्य में सृजन के लिए **'टू मेक' और 'टू क्रिएट'** शब्दों का प्रयोग मिलता है। सामान्य शब्दावली में इसका एक

ही अर्थ होता है । इसे हम निर्माण की संज्ञा देते हैं । कतिपय पाश्चात्य विचारकों ने इन दोनों में विभेद करना अनुचित माना है । पर यह बात सरलता से ग्राह्य नहीं हो सकती । वस्तुतः 'टू मेक' या 'मेक' स्वतः में विविधता का परिचायक है, पर प्रस्तुत संदर्भ में इसे 'क्रिएशन' से भिन्न मानना उचित है । इसका प्रमुख कारण यह है कि इस प्रकार के निर्माण में प्रस्तुत सामग्री में कोई परिवर्तन नहीं होता । यह निर्माण जितना श्रमसाध्य है उतना बौद्धिक अथवा कलात्मक नहीं । कलात्मक सर्जन में प्रस्तुत सामग्री के रूप में ही परिवर्तन नहीं हो जाता, बल्कि यथास्थान वह आमूल परिवर्तन का विषय बन जाती है । इसमें श्रम के साथ ही कलात्मक चिंतन का प्राधान्य रहता है । इसके उपादान भी सूक्ष्म होते हैं और कार्य-क्षेत्र मस्तिष्क होता है । इस प्रकार **इन दो शब्दों में तात्विक भेद है ।**

सृजन-प्रक्रिया के अन्तर्गत कलात्मक सृजन की वे समग्र विशेषताएँ आ जाती हैं जिनके माध्यम से कलाकृति का निर्माण होता है । कलाकार समाज के बीच निवास करने वाला व्यक्ति होता है । वह एक ओर अपने मानसिक स्वप्नों की दुनियाँ में बसता है, तो दूसरी ओर सृष्टि के अन्य क्रिया-कलाप भी उसे आकृष्ट करते हैं । इनके बीच में निरन्तर द्वन्द की स्थिति होती है । इसी द्वन्द की स्थिति को सुनिश्चित स्वरूप प्रदान करने की क्रिया के साथ कलात्मक सृजन का श्री गणेश होता है । 'स्पेन्डर' महोदय इसी बात को दूसरे ढंग से प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, "सृजन-तत्व ऐसे व्यक्ति के व्यक्तिगत स्वप्नों से सम्बद्ध है जो वर्तमान समाज में विघटित होते हुए मूल्यों का प्रत्यक्ष दर्शी है । वह इस प्रत्याशित विघटन से अलग होकर अपने नवीन मूल्यों का निर्माण करता है । वह वर्तमान सन्दर्भ का उपयोग करता है और उसका यह प्रयोग उसे अभिनव शक्ति प्रदान करने में सक्षम है ।" वस्तुतः 'स्पेण्डर' महोदय भी प्रकारान्तर से द्वन्द की ही बात करते हैं, पर उनका कहना है कि कलाकार इन द्वन्दों से लड़ता नहीं, वह तो विघटन की मृग मरीचिका से भागकर एक नये परिवेश में अपने सिद्धान्तों का निर्माण करता है और उन्हें निर्मित हो जाने के पश्चात् पुनः समाज में लौट आता है । उनकी स्थापना दूसरे शब्दों में प्रच्छन्न पलायनवाद की चर्चा से सम्बद्ध है । ऐसा ज्ञात होता है कि उनके समक्ष तत्कालीन विघटनशील स्थितियों से पलायित होकर सृजनरत होने वाले लोगों का ही चित्र विद्यमान रहा है । वस्तुतः विघटन ही प्रकारान्तर से संघटन का अग्रदूत होता है । सृजनरत मस्तिष्क इसमें आपाद लिप्त होकर अपने स्वप्नों का निर्माण करता है । सृजन-प्रक्रिया इन्हीं संघटक एवं विघटक तत्वों पर दृष्टिपात करके उन्हीं के अन्तराल की गवेषणा

से विचार के मोती ढूँढ़ लाती है। यह इस संसृति के वैविध्य, अनेकता, विषमता, और विचित्रता की अनुपम चितेरी होती है। इसी संघर्षमय चिंतन के परिणाम स्वरूप मानवीय अनुभूतियों की गवेषणा संभव होती है। **इस प्रकार सृजक-मस्तिष्क और समाज में सीधा सम्बन्ध होता है। कलाकार समाज का पुरोहित या समाज सुधारक न होकर सृजन की विशिष्टताओं से अलंकृत व्यक्ति होता है।** अपनी अन्वेषण क्षमता के कारण वह समाज के उस स्वप्न का अधिष्ठाता सिद्ध होता है जो हर परिस्थिति में उसके उत्थान के लिए आवश्यक है। 'कीट्स' ने इसी तथ्य का उल्लेख करते हुए लिखा है—

"Ah, in the very temple of Delight
Veiled melancholy has her sovereign shrine,
Though seen of none, save him whose strenuous tongue,
Can burst joy's grape against his palate fine;
His soul shall taste the sadness of her might,
And be among her cloudy trophies hung."

कीट्स के 'हाइपीरियन ए व्हिज़न' में निहित विचार इस स्थल पर विशेष रूप से सहायक सिद्ध हो सकते हैं। वस्तुत: यह एक रूपक काव्य है। आरम्भ में बाटिका की विविधता के चित्रण के द्वारा कवि ने प्रकृति एवं कला के सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है और इस तथ्य को प्रतिपादित किया है कि प्रकृति कला को अनुप्राणित करने का प्रमुख स्रोत है। बाटिका में रखा हुआ शीतल पेय प्रकृति प्रदत्त अन्तर्दृष्टि का परिचायक है। इसका पान करते ही लेखक मात्र ऐन्द्रिय संवेदन का परित्याग करके चिन्तनपूर्ण अन्वेषण के पथ पर अग्रसर होता है। इसके पश्चात् उसे एक मन्दिर का दर्शन होता है। यह मन्दिर सार्वभौम ज्ञान का प्रतीक, भूत के ज्ञान का प्रकाशक और भविष्य के ज्ञान का पथ-प्रदर्शक है। इस मन्दिर की एक संरक्षिका है। 'कीट्स' उसका आह्वान करने को उद्यत होता है; अचानक ठण्डी हवा के झोंके से वह मरणासन्न हो जाता है। चेतना लौटने पर कवि नक़ाबपोश देवी से पूछता है "मैं मृत्यु से कैसे बच गया।" इसका उत्तर देती हुई वह कहती है "तुमने इस बात का अनुभव किया है कि समय से पहले मर कर जीवित हो जाने का क्या अर्थ है। तुममें यही ऐसी शक्ति है जो तुम्हारे संरक्षण का कारण बनी। तुम्हें ज्ञात होना चाहिए कि वही व्यक्ति जिसके लिए इस दुनिया की विपत्तियाँ यथार्थ विपत्ति हैं और उसे शान्तिपूर्वक नहीं रहने देतीं हैं, इस ऊँचाई तक पहुँच कर उस छाया तक जा सकता है।" इसके पश्चात् देवी कवि और स्वप्नद्रष्टा के स्वप्नों के अन्तर को स्पष्ट करती है। यों तो

कथानक पर्याप्त लम्बा है। पर इतनी ही वस्तुएँ इस समय हमारे उद्देश्य को स्पष्ट करने में सफल हो सकती हैं। कवि को सृजन-प्रक्रिया में किस वस्तु की आवश्यकता होती है, वे उपर्युक्त उद्धरण में विश्लेषित हैं। इसके साथ 'कीट्स' ने इस कविता में मानव जीवन के कष्टों और तज्जनित अनुभूतियों की विशिष्टता पर भी विचार किया है। ये बातें इस तथ्य को स्पष्ट करती हैं कि मानव-जीवन की कष्टप्रद अनुभूतियों का सृजन के साथ सम्बन्ध होता है। 'कीट्स' ने अपनी कविता में **'मरजीवा' शब्द** का प्रयोग किया है। भारतीय संत-साहित्य में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है। यहाँ इसके द्वारा मर कर जीने की प्रक्रिया--**सांसारिकता को मार कर आध्यात्मिकता में निवास करने की क्रिया-का संकेत** है। पंडित हजारी प्रसाद जी 'द्विवेदी' ने इसे **करण बिगम,** अर्थात् इन्द्रियां को उलटने अथवा उर्ध्वमुख बनाने और समाधि की दशा को प्राप्त करने का पर्याय माना है। यह सत्य है कि सृजन की स्थिति में कलाकार का मानस अभूतपूर्व परिवर्तन का विषय रहता है। इस स्थिति में सृजन के अतिरिक्त अन्य क्रियाएँ स्थगित रहती हैं। इस तथ्य से यह बात सरलतापूर्वक स्पष्ट हो जाती है कि यह क्रिया वाह्य और आभ्यंतरिक अन्वेषण का परिणाम है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति का समग्र आत्मबोध आकलित होता है। इस परिवेश में यह मूलतः रचना से सम्बंधित उन समस्त स्वरूपों का संकलित स्वरूप सिद्ध होती हैं; जो रचना के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हैं।

रचना का आरम्भिक सम्बन्ध रचनाकार की आन्तरिक अनुभूति से होता है। वाह्य दृष्टि से रुपायित होने के पूर्व इसके सभी अलंकरण कृतिकार या कलाकार के मस्तिष्क में विद्यमान रहते हैं। अभिव्यक्ति के पूर्व विचारों और अनुभूतियों में सह-सम्बन्ध की स्थिति उत्पन्न होती है। इस स्तर पर विचार अनुभूतिमय हो जाते हैं और अनुभूति विचारमय। ऐसी अवस्था में अभिव्यक्ति के पूर्व ही कभी-कभी कलाकृति का एक सामान्य स्वरूप कलाकार के मस्तिष्क में विद्यमान रहता है। रचना-प्रक्रिया वस्तुतः वाह्य यथार्थ के स्थान पर आभ्यंतरिक यथार्थ के उदात्तीकृत रूप का अभिव्यक्तीकरण है। उदात्तीकृत शब्द से संभवतः कुछ लोग चौकें। पर द्रष्टव्य है कि मात्र ऐन्द्रिय संवेदन रचना के लिए अनुपयुक्त हैं। उन्हें चेतना की भट्ठी में गलाकर ऐसा संश्लिष्ट रूप प्रदान करना पड़ता है कि वे अपनी अभिव्यक्ति में कलात्मक सिद्ध हो सकें। 'जॉन डेवी' ने इसी संदर्भ में कहा है कि कला विचित्र गंभीरता के साथ ऐसे महत्वपूर्ण क्षणों को अमरत्व प्रदान करती है जिसमें भूत वर्तमान का सहायक और भविष्य का निर्माता सिद्ध होता है। यह तभी संभव होता है जब कलाकार अपने संघर्ष के पश्चात् उपलब्धि

के क्षणों में अनुभव के उन महत्वपूर्ण सत्यों को प्राप्त कर लेता है जो सृजन के जनक हैं। यह अनुभव एक उदात्त सर्जीवता से अलंकृत होता है। इसीलिए यह अपने स्वरूप में सजीव और प्रेरणाप्रद माना जाता है।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि सृजन की परिकल्पना पौरस्त्य काव्य शास्त्र में नहीं है। वस्तुतः यह विचार स्वयं में भ्रामक और तथ्य हीन है। **पौरस्त्य मनीषी कवि को परिभू और स्वयंभू की संज्ञा देते हैं और प्रतिभा का कारयित्री और भावयित्री रूपों में विवेचन करते हैं। शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन में आत्मस्थलीन और सिसृक्ष स्वरूपों पर बल दिया गया है।** 'अभिनव गुप्त' ने तूतियों के माध्यम से 'परावाक्' के स्पष्टीकरण का उल्लेख किया है। ये सभी तथ्य इस सत्य के परिचायक हैं कि यहाँ विभावन पर विशेष बल दिया गया है, पर सृजन को सर्वथा त्याज्य नहीं समझा गया है। आरंभ में हर देश में सृजन सम्बन्धी परिकल्पना की प्रेरणा का दैवी आधार प्रचलित रहा है। हमारे यहाँ प्रतिभा और पाश्चात्य देशों में कल्पना का विवेचन इसका प्रमुख प्रमाण है। पाश्चात्य विचारधारा विकसित हुई है और प्रतिभा (genius) के विवेचन के संदर्भ में 'वेजेटेबुल ग्रोथ' के साथ मानव-चिंतन और प्रकृति के सह सम्बन्ध की आख्या का सृजन के क्षेत्र में समावेश हुआ है। सृजक कल्पना के संदर्भ में 'सावयव रूप' के सिद्धान्त का अवतरण हुआ है। आज कला-सृजन प्रकारान्तर से सृजन और अन्वेषण का पर्याय बन गया है।[1] इसे 'क्रिएटेड अपरिशन' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। यह वस्तुतः कलाकार की मानसी प्रतिमा होती है।

'सैमुएल अलेक्जेन्डर' ने कलाओं को सृजन की संज्ञा दी है और इसे सक्रिय कल्पना का प्रतिफलन माना है। उनके अनुसार कल्पना का निष्क्रिय स्वरूप

1. What the artist achieves through the act of creation is not the reshuffling into an apparently novel pattern of the values and meanings already institutionalised by society. To the extent that he is a genuine artist, what he does is to discover new meaning and values which he informs in the work of art. Works of art reveal something new, although in each case their newness is always a matter of degree, they reveal something which can not be traced either to the biography of the artist, or to the resources with which his tradition furnishes him, or the furniture of the world, in which he lives.

—Creation and discovery,
preface X

निरुद्देश्य होता है और सक्रिय स्वरूप सोद्देश्य ।...इसीलिए विधायक कल्पना ऐसे यथार्थ का सृजन करने में सक्षम होती है जो सुन्दर कहा जा सकता है । कलाकार का उद्देश्य मनोरागों से नियंत्रित ही नहीं होता, अपितु इसके सूक्ष्म तन्तुओं से अलंकृत और स्पन्दित भी होता है । यह बाह्य आलम्बनों से उद्दीप्त होने पर भी मानस की असीम शक्ति से नियंत्रित होता है । कला के संदर्भ में विषय और विषय विन्यास को विशेष महत्व दिया जाता है । विषय कलाकार में प्रेरणा उत्पन्न करके उसके अन्दर अपने अनुकूल मनोभावों को उत्पन्न करता है । कलाकार इन उद्‌बुद्ध मनोभावों को निरूपित करना चाहता है । इस प्रकार इस स्तर पर इसके दो स्वरूप होते हैं । प्रथम को उपादान से सम्बद्ध मनोराग कहा जाता है और द्वितीय को विन्यास से सम्बद्ध मनोराग । इनकी स्थिति परस्परानुमोदन और अन्योन्याश्रय की मुखापेक्षी होती है । उपादान से सम्बद्ध मनोराग विन्यास से सम्बद्ध मनोराग का दिशा-निर्देशक तत्व होता है और इन्हीं दोनों के सहसम्बन्ध से कला का अभिनव स्वरूप निर्मित होता है । कला-सृजन में बिम्बों का विशेष सहयोग होता है । कलाकार अपने अन्तर्मंथन को बिम्बों के माध्यम से ही अभिव्यक्त करता है । बिम्ब ही हमें कलाकार की उस आरम्भिक अनुभूति का अभिज्ञान कराते हैं जिसका अभिज्ञान भावक को कलाकृति के विभावन के बाद होता है । **कला सृजन के संदर्भ में चित्तवृत्ति और 'मूड' की चर्चा भी की जाती है । गम्भीर चिंतन, अन्तर्मंथन और उद्वेलन को व्यवस्थित करके रुपायित करने का प्रमुख कार्य कला द्वारा संपादित होता है ।** अतएव प्रेरणा अथवा प्ररोचन के प्रस्तुत होने पर सृजन के उपयुक्त 'मूड' का होना आवश्यक है, पर वह क्या और कैसा है, इसके विषय में अन्तिम शब्द नहीं कहा जा सकता । कला-सृजन की पूर्व योजना हो सकती है, पर प्राय: ऐसा पाया जाता है कि सृजनोन्मुख मानस पूर्वयोजना का पूर्ण रूपेण अनुगमन करने को उद्यत नहीं होता । सत्य यह कि कला सृजन में दो क्रियाओं का सहयोग होता है—(१) सृजक-विक्षोभ की अध प्रोत्तेजना और (२) मानसिक प्रतिभा के आधार पर रूपायन की क्रिया । सृजन के क्षण में इन दोनों का परस्पर सहयोग आवश्यक है । प्रथम के सहयोग के अभाव में सृजन भाव-रिक्त और दूसरे के सहयोग के अभाव में वायवी स्वरूप ग्रहण कर लेता है । कलाकार के मानसिक परिवेश और कला के उद्‌भव को अभिन्न मानना कई दृष्टियों से उपादेय है । कलाकृति यूनानी देवी की तरह तुरंत कलाकार के मस्तिष्क से पूर्णरूप से निकल नहीं पड़ती, अपितु उसका क्रमिक विकास होता है । इसमें सृजन का विषम स्वरूप किसी न किसी रूप में क्रियाशील रहता है ।

सृजन की क्रिया रहस्यमय क्रिया है। वाह्य-दृष्टि से विचार करने पर हमें सरलता से ज्ञात हो जाता है कि मानव ने आदिकाल से लेकर अद्यतन काल तक अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ न कुछ निर्मित किया है। इस निर्माण के द्वारा एक ओर उसकी निर्माणक प्रवृत्ति विकसित हुई है, तो दूसरी ओर उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति भी हुई है। वस्तुतः कला सृजन किसी अन्तर्निहित आवश्यकता की पूर्ति का साधन है। कला सृजन अभिव्यंजना, रूपायन, मूर्तीकरण और निरूपण की क्रिया है। इससे कलाकार के मानसिक सत्य की अभिव्यक्ति होती है। उसके कौशल और कौशल पर आश्रित कला विन्यास अभिव्यक्ति के साधक तत्व हैं। कलाकार निर्माणोन्मुख कलाकृति का निर्णायक स्वयं होता है। उसके अन्तराल में स्वरूप निर्माण की दिशा में आन्तरिक मूल्यांकन की क्रिया चलती है। इसके आधार पर वह अपनी शंकाओं से मुक्त होकर कलाकृति को आकर्षक स्वरूप प्रदान करता है। इस अवस्था में उसका मानस सत्य के यथार्थ अथवा संभावित स्वरूप को प्रमुख उपस्कारक के रूप में ग्रहण करता है। हर कलाकार सचेतन होता है। वह कला-निर्माण के अवरोधों और व्यवधानों से पूर्ण रूप से परिचित होता है। इसके लिए उसे विषम अग्नि-परीक्षा से गुजर कर अद्भुत अन्तर्दृष्टि का अवलंब ग्रहण करना पड़ता है। सृजन की अवस्था में वह द्रष्टा और स्रष्टा की विशेषताओं से अलंकृत रहता है। उसका द्रष्टत्व उसे सृष्टि के अधिक से अधिक गुह्य एवं रहस्यमय स्वरूपों को स्पष्ट रूप में ग्रहण करने की क्षमता प्रदान करता है और, स्रष्टत्व इसे सही रूप में रूपायित करने की शक्ति देता है।

कला-सृजन संश्लेषण का पर्याय माना जा सकता है। इसके कारण कृति में अभिनव सामञ्जस्य पाया जाता है। यह विषम होता है, पर अन्तःसम्बन्धों और उपयुक्त सन्दर्भों के मध्य रख कर विवेचित किए जाने पर उसकी विषमता अदृश्य होने लगती है। कला-सृजन स्पष्ट रूप में अनुभूति के घटकों—अवबोध, स्मृति, मानसिक स्वरूप—को कलात्मक स्वरूप प्रदान करने का प्रमुख साधन है। इस पर दृष्टिपात करते समय हमारी दृष्टि विधायक कल्पना, संवेदन-शीलता, बुद्धि, ध्यान केन्द्रित करने की क्षमता और कलाकार के सृजन के पूर्व के वातावरण पर जा टिकती है। गंभीरतापूर्वक विचार करने से ये सृजन के प्रमुख अभिघटक सिद्ध होते हैं।

'सृजन-शक्ति' के विवेचन के सन्दर्भ में हम कल्पना को अपना विवेच्य बनायेंगे। यहाँ हम सर्वप्रथम संवेदनशीलता पर विचार करते हैं। प्रायः यह सुनने में आता है कि कलाकार संवेदनशील व्यक्ति होता है। इसका तात्पर्य यह

है कि वह संसृति के क्रिया-कलाप का अन्वीक्षण और परीक्षण करता है तथा उससे सहानुभूतिपूर्ण ढंग से प्रभावित होता है। 'सॉमरसेट मॉम' ने एक बार कहा था कि "कलाकार केवल उसी समय नहीं लिखता जब वह अपने डेस्क पर बैठा रहता है, वह उस समय भी लिखता है जब वह जीवन की अन्य क्रियाओं को संपादित करता रहता है। इन क्रियाओं से वह दृश्य या अदृश्य रूप से अपनी सामग्री संग्रहीत करता रहता है। ये संग्रह उसे सृजन में विशेष सहायक सिद्ध होते हैं। सामान्य व्यक्ति की विशेषता होती है कि वह जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं से विशेष प्रभावित होता है, पर कलाकार सामान्य व्यक्ति से भिन्न रूप में जीवन की सामान्य घटनाओं पर भी संवेदनपूर्ण ढंग से विचार करता है। इसका प्रमुख कारण यह है—(१) उसकी कल्पना सशक्त और गतिशील होती है। (२) वह अन्य व्यक्तियों की तुलना में अपने जीवन के रहस्यमय स्वरूपों के प्रति विशेष जागरूक रहता है और (३) वह सामान्य से सामान्य घटना को भी कलात्मक कलेवर प्रदान कर सकता है। इस संदर्भ में **संवेदनशीलता वह व्यापक सहानुभूति है जो उपादान का साक्षात्कार कराने में सक्षम** है।

सृजन और बुद्धि का भी अभिन्न सम्बन्ध होता है। कला स्वयं में अनुभूति की व्याख्या, जीवन की आलोचना और कलाकार की परिवेश के प्रति प्रति-क्रिया प्रदर्शित करती है। कलाकार चिंतक होता है। सृजन की स्थिति में कलाकार को विधि और निषेध के बीच गुजरना पड़ता है। यह क्रिया बुद्धि-सम्बलित होती है। कलाकृति केवल स्थायी भावों की निरूपक नहीं होती। कलाकार तो अपनी अनुभूतियों को सुनिश्चित माध्यम से निश्चित परिवेश में प्रकट करता है। उसकी यह क्रिया भी बुद्धि की मुखापेक्षी होती है। बुद्धि-व्यवसाय खण्डन-मण्डन और तर्क-वितर्क पूर्ण होता है। कला के रूप-निर्माण में इस प्रवृत्ति की विशेष आवश्यकता पड़ती है।

कला-सृजन के लिए **कलाकार के अवधान के केन्द्रीकरण** का भी महत्व है। सूर्य-रश्मि में पड़ा हुआ कागज का टुकड़ा केवल गरमी का अनुभव करता है, पर जब किसी रासायनिक शीशे द्वारा सूर्य की अधिक किरणें उस पर केन्द्रित कर दी जाती हैं तो वह जल उठता है। जो बात वैज्ञानिक क्षेत्र में सत्य है वही जीवन और सृजन के क्षेत्र में भी उपादेय सिद्ध होती है। अंग्रेजी में कहावत है, 'वन् थिंग ऐट ए टाइम', हिन्दी में भी कहा जाता है, 'एकै साधे सब सधै।' वस्तुतः इन कहावतों का अपना विशिष्ट अर्थ है। कलाकार को कला-सृजन के समय ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक होता है। इससे विभिन्न विरोधी तत्व स्पष्टतापूर्वक दिखायी ही नहीं पड़ते, अपितु उनके नियोजन में भी सरलता होती

है। भारतीय मनीषियों ने तो समाधि का उल्लेख किया है और उत्कृष्ट कला को पूर्ण समाधि का प्रतिफलन कहा है और निकृष्ट कला को शिथिल समाधि का प्रतिफलन। सत्य यह है कि अवधान केन्द्रित न होने पर कलाकार आन्तरिक भाव विषमता को न तो सुलझा सकता है न वाह्य निरुपण ही सफलतापूर्वक प्रस्तुत कर सकता है।

कलाकार के जीवन की पूर्व अनुभूतियों, परिस्थितियों और वातावरण का भी अपना महत्व है। वस्तुतः ये सभी अपने सम्मिलित स्वरूप में कलाकार के संस्कार का निर्माण करती हैं। समाज-शास्त्रीय साहित्य-दृष्टि, जीवन चरितात्मक आलोचना प्रणाली और रेस, माइल्यू और मोमेण्ट के सिद्धान्त कलाकार के जीवनगत परिवेश पर ही बल देते हैं। यह सत्य भी है कि कलाकार के अर्द्धचेतन या अचेतन में उसके पूर्व भोगे जीवन की स्मृतियाँ सुप्त पड़ी रहती हैं। वह ज्यों ही सृजन की ओर उन्मुख होता है त्यों ही प्रच्छन्न रूप में ये स्मृतियाँ क्रियाशील हो उठती हैं और सृजक के दृष्टिकोण को प्रकारान्तर से रंजित कर देती हैं। यह भी सत्य है कि कलाकार ने जिस प्रकार के जीवन को पहले भोगा है, जिस प्रकार के वातावरण में वह पला है, जिन-जिन मजबूरियों और परवशताओं को झेला है, उनके चित्रण की उसमें अद्‌भुत क्षमता पायी जाती है। 'प्रेमचन्द', 'तालस्तॉय', 'गोर्की' यथार्थवादी, अति यथार्थवादी और आधुनिक भूखे लोगों के जीवन-दर्शन के मूल में यही वातावरण जनित भोगे जीवन को चित्रित करने की प्रवृत्ति, उसी जीवन की निराशा के प्रति आक्रोश का भाव विद्यमान है। इस तथ्य को आँख से ओझल नहीं किया जा सकता कि वातावरण, परिवेश और वंश परम्परा का सृजन की दृष्टि से महत्व होता है।

इन तथ्यों के अतिरिक्त सृजन के संदर्भ में **'प्रकृति' और 'अनुषंग'** (association) का भी विशेष महत्व है। प्रकृति के क्रिया-कलापों को हम प्राकृतिक कृत्रिम दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं। आदिकाल से सृजक ने प्रकृति के स्वरूप को सहचरी और प्रेरक के रूप में ग्रहण किया है। आदि कवि 'वाल्मीकि' से लेकर आधुनिक 'उर्वशी' के कवि 'दिनकर' तक प्रकृति ने मानव-भावों को अनुप्राणित और उद्‌बुद्ध किया है। इन्हें समझने की अन्तर्दृष्टि दी है और उन्हें मुखर होने के लिए माध्यम प्रदान किया है। यह सम्बन्ध कुछ इतना घनिष्ठ रहा है कि 'कला को प्रकृति का अनुकरण' कहा जाने लगा है। प्रश्न उठता है मानव ने प्रकृति से क्या सीखा है, क्या ग्रहण किया है ? इसके उत्तर स्वरूप यही कहा जा सकता है कि कलाकार के मानस ने प्रकृति से सामंजस्य, समन्वय, स्वच्छंदता, सौंदर्य के स्वतः स्फूर्त प्रवाह की दिशा और स्वार्थरहित परस्परानुमोदित प्रेम

और सौहार्द्र को प्राप्त किया है। इसकी हरियाली ने, अनुराग और पतझड़ ने विराग से कलाकार को भर दिया है। टहनियों के हिलने, पुष्पों के खिलने और सरिताओं की प्रवाहित होने की क्रिया ने उसके मानस में अदृश्य शक्ति का प्रवाह संचारित किया है। इसी ने उसे दृश्य से लेकर अदृश्य तक की दौड़ लगाने की क्षमता प्रदान की है। इसने मानव की मौलिक जिज्ञासा और बुभुक्षा के लिए अनन्त स्वरूपों को प्रदान किया है। यह उत्तेजक और प्ररोचक विचारों का आगार सिद्ध हुई है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति ने इन्द्रिय सम्वेदन, अवबोध, प्रातिभज्ञान और विधायक कल्पना के समक्ष अनंत और असीम क्षेत्रों को प्रस्तुत किया है। जिस अनुपात में ये अनुभूति के घटक उसका साक्षात्कार कर सके हैं उसी अनुपात में उसे अर्थवत्ता और मूल्य प्रदान करते हैं। तात्पर्य यह कि प्रकृति कलाकार की सृजक चेतना के निर्माण का प्रमुख साधन है। वह इसी के माध्यम से अपने हर्ष और विषाद को अभिव्यक्त करता है।

'प्रकृति' के पश्चात् अनुषंग लालित्य-बोधीय विचारकों का प्रमुख उपजीव्य रहा है। सामान्य रूप से विशुद्ध अनुभूति की चर्चा सुनने को मिलती तो है, पर यह विरोध पूर्ण है। कोई भी अनुभूति न तो त्रिशंकुवत् आधार रहित रूप से आकाश में लटकती नज़र आती है और न तो पूर्ण रूप से स्वतंत्र होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कलाकार की प्रमुख अनुभूति के साथ ही अन्य सहायक अनुभूतियाँ भी प्रस्तुत रहती हैं; जो या तो प्रमुख अनुभूति को सशक्त बनाती हैं या अशक्त। कलाकार की जो अनुभूति प्रमुख अनुभूति को शक्ति प्रदान करती है, वह तो कला-सृजन में सहायक होती है; पर जो अनुभूति उसकी विरोधी है और उसे अशक्त बनाती है, वह कला-सृजन की दृष्टि से बाधक है। ऐसी स्थिति में कलाकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह सृजन की इन बाधाओं का निराकरण करके सम्पूर्ण कलात्मक उपादान को इस प्रकार नियोजित करे कि उसका संघटना तथा अनुषंग से निश्चित भावात्मक दृष्टि कोण मुखर हो उठे। अनुषंग के अभाव में कलाकृति विरोधाभासी मान्यताओं का समूह बन जाती है। अनुषंग ही उसे संश्लेषित करके केन्द्राभिमुखी बनाता है और उसकी प्रभावान्विति को कलात्मक परिवेश से आवेष्टित करता है। स्पष्ट है कि अनुषंग विहीन कला प्रभावहीन, निष्क्रिय और निर्थरक होती है और अनुषंग पूर्ण कला प्रभावोत्पादक, सक्रिय और सार्थक मानी जाती है।

सृजन वायवी, शून्य और अमूर्त नहीं अपितु सार्थक, मूर्त और भावना विशेष का अभिव्यंजक होता है। अनुभूति कला-सर्जन को उर्वर और सशक्त पीठिका तो प्रदान करती है, पर अभिव्यक्ति के अभाव में इसका कोई महत्व

नहीं होता। अनुभूति मानवता का अलंकार है, हर व्यक्ति अपने जीवन में इसका अपनी शक्ति के अनुसार अनुभव करता है, पर इसकी कलात्मक अभिव्यक्ति केवल कलाकार ही कर सकता है। अनुभूति कला का आन्तरिक पक्ष है और अभिव्यक्ति उसे मूर्त स्वरूप प्रदान करने का प्रमुख साधन। अनुभूति की अभिव्यक्ति कला के माध्यम द्वारा ही सम्भव होती है। इस दृष्टि से यह कला-सृजन का प्रमुख आधार मानी जा सकती है।

कला के क्षेत्र में **उपादान, उपकरण, कौशल तथा माध्यम** आदि शब्दों का प्रयोग किया है। कला-सामग्री उपादान है, इनको एकत्र करने वाली इन्द्रियाँ उपकरण तथा सामग्री को समुचित रूप में कलात्मक ढंग से प्रकट करना कौशल। जब भी इन्द्रिय-प्रदत्त उपादान कौशल के साथ प्रकट किया जाता है तो इसे कलात्मक माध्यम की अपेक्षा होती है। कला का माध्यम भी कलाओं के नहीं अनुसार भिन्न होता है। पर दृष्टव्य यह है कि यह जड़ अथवा निष्क्रिय नहीं माना जाता। जिस प्रकार मानव का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसके शारीरिक अवयवों से प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार कला का सम्पूर्ण आकर्षण माध्यम द्वारा प्रकट होता है। माध्यम की स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। वह कलाकार की इच्छा का प्रतिफलन होता है। इसलिए इसके स्वरूप में परिवर्तन होता रहता है। माध्यम और कलाकार के आन्तरिक चिंतन में सम्बन्ध होता है। कभी माध्यम चिंतन को परिष्कृत और सुष्ठु बनाता है तो कभी चिंतन माध्यम में परिवर्तन परिष्कार उत्पन्न करता है। जब माध्यम सम्बन्धी विचार कलाकार पर छा जाता है तो वह इसकी वाह्य संघटना, सावयव निरूपण, सामंजस्य और आकर्षण आदि पर बल देने लगता है। वह कौशल की दृष्टि कला को पूर्णता प्रदान करना चाहता है। ऐसी भी स्थिति आती है जब भाव कलाकार को उद्वेलित करने लगता है और वह इसकी अभिव्यक्ति के लिए माध्यम की ओर उन्मुख होता है। जिस प्रकार जल के प्रवाह के साथ उसके प्रवाहित होने का मार्ग निश्चित होता जाता है उसी प्रकार भावना की अभिव्यक्ति के साथ माध्यम का स्वरूप भी निर्मित होता जाता है। इस स्थिति में भावना का स्वयं प्रेरित स्वरूप माध्यम का निर्णायक होता है। विचारणीय यह है कि कलाकार अपने मानसिक बिम्ब को माध्यम के द्वारा निरूपित करता है। मानसिक बिम्ब कलाकार की वैयक्तिक उपलब्धि होता है, पर जब वह माध्यम विशेष से अभिव्यक्त हो जाता है तो अन्य लोगों को प्रभावित करने का साधन बन जाता है। कलाकार की आन्तरिक अनुभूतियाँ अभिव्यक्तीकरण की स्थिति में भी यथावत् रूप में अभिव्यक्त नहीं होतीं; उनमें सामान्य परिवर्तन अथवा परिष्कार हो जाता

है। माध्यम के द्वारा प्राप्त अनुभूति को हम कलाकार की अनुभूति मानते हैं, यह ठीक ही है; पर उसकी आरम्भिक अनुभूति और इस अनुभूति में साम्य हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। अतएव निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है, कि माध्यम अनुभूति को अभिव्यक्त करता है, पर यह उसे उसी रूप में अभिव्यक्त नहीं करता, जिस रूप में यह कलाकार के मानस में विद्यमान थी।

निष्कर्ष

पाश्चात्य साहित्य में इधर एक स्वर मुखर होकर सामने आया है। इसका तात्पर्य यह है कि कला समीक्षक का स्थान भावक का स्थान होता है। **उसे भावक के रूप में अपनी सीमा को समझना आवश्यक है।** अगर वह अपनी सीमा को छोड़कर सृजक की दृष्टि से कला पर विचार करना चाहेगा, तो अपने प्रयत्न में असफल हो जाएगा। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि हम भावक-पक्ष को ही अधिक से अधिक समर्थ, सक्षम और सशक्त बनायें, जिससे हम कला का साक्षात्कार कर सकें। यह विचार स्वतः में महत्वपूर्ण है। वस्तुतः सृजन-प्रक्रिया को यथार्थ रूप में निरूपित करना कठिन है। पर भावक के समक्ष कलाकार की कलाकृति विद्यमान रहती है। वह उसके आधार पर अपना निष्कर्ष देने के लिए स्वतंत्र है। अगर यथार्थ में भावक सृजक-अन्तर्दृष्टि से अलंकृत है तो उसकी परिकल्पनाएँ और निष्कर्ष कला के स्वरूप को समझने में साधक सिद्ध होंगे, बाधक नहीं। हमारी स्पष्ट धारणा है कि सृजन-प्रक्रिया के विश्लेषण से ही सर्जक और उसकी सृष्टि का उचित मूल्यांकन किया जा सकता है। अतएव यह आधुनिक साहित्य-चिंतन का अभिन्न अंग है।

द्वितीय तरंग

कला-प्रेरणा

प्राचीन काल से ही प्रेरणा को सृजन का मूल केन्द्र माना जाता रहा है। पाश्चात्य और पौरस्त्य साहित्य में इससे सम्बन्धित विविध सिद्धान्तों का दर्शन होता है। भारतीय मनीषियों ने काव्य के संदर्भ में काव्य-प्रयोजन और काव्य-हेतु की विशद् चर्चा की है और प्रमुख रूप से यश, अर्थ, व्यवहार, कल्याण, सद्यः निवृत्ति और मधुर भाषा में उपदेश को इसका उपजीव्य घोषित किया है। उनका विश्वास है कि सफल काव्य-रचना के लिए दैवी अनुग्रह का होना आवश्यक है। इसीलिए आदि काल से लेकर कुछ आधुनिक काल के ग्रन्थों में आरंभ में वन्दना का प्रकरण दृष्टिगोचर होता है। इस वन्दना के माध्यम से कवि दैवी प्रेरणा को प्राप्त करना चाहता है। यह बात इसी रूप में पाश्चात्य साहित्य में भी पाई जाती है। 'होमर', 'दान्ते', 'मिल्टन' आदि कवियों में ईश-वन्दना से प्रेरणा प्राप्त करने की प्रवृत्ति विद्यमान है।[1] सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने पर यह सरलता से ज्ञात हो

---

[1]उदाहरण-स्वरूप दो वन्दनाएँ यहाँ उद्धृत की जा रही हैं—

(i) "वागर्थाविव संपृक्तौ, वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।"—कालिदास

(ii) Descend from heaven Urania, by that name
If rightly thou art called, whose voice divine
Following, above the Olympian hill I soar,
Above the flight of Pegassean wing.
The meaning not the name, I call ; for thou
Nor of the Muses nine, nor on the top
Of old olympus dwellest, but heavenly born,
Before the hills appeared, or fountains flowed,
Thou with eternal wisdom didst converse,
Wisdom thy sister, and with her did play.
In presence of the almighty father, pleased with
Thy celestial song. —Milton

जाता है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की भावना ही उनका प्रमुख प्रतिपाद्य रही है। इसीलिए वे 'स्वान्तः सुखाय' के साथ ही 'स्वान्त:तम:शान्तये' के भाव से रचना रत होते रहे हैं। इन लेखकों के लिए व्यष्टि और समष्टि में विशेष अन्तर नहीं रहा है। प्रकारान्तर से यह भी कहा जा सकता है कि समष्टि ही इनके चिंतन का प्रमुख आधार रही है।

उस काल की आलोचना में इसी प्रवृत्ति की प्रधानता थी। 'डेमोक्रेट्स' विश्वास करते थे कि विशिष्ट रूप से हर्षोन्मत्त आत्मा परात्पर सत्ता के प्रभाव से प्रेरित होकर काव्य-स्वप्नों के प्रणयन की ओर उन्मुख होती है। 'प्लेटो' का कहना था कि 'प्रबंध-काव्य के सभी सफल लेखक अपनी महत्वपूर्ण रचनाओं के लिए दैवी प्रेरणा के ऋणी थे। वे इसके अभाव में सफल काव्य-रचना नहीं कर सकते थे।' अरस्तू भी प्रकारान्तर से इसी उपर्युक्त मान्यता के प्रतिपादक थे। बाद में विज्ञान के प्रादुर्भाव के साथ इस विचार में महान परिवर्तन हुआ और अन्य प्रकार के नये मत सामने आये। स्वच्छंदधारा के कवियों तक आते-आते प्रेरणा का यह चित्रफलक पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गया। इस काल के कवियों ने पूर्ववर्ती विचारों को नि:सार समझ कर उसे त्याग दिया। प्रकृति, मानव-जीवन और मानवता के विविध क्रिया-कलाप प्रेरणा के रूप में उनके समक्ष प्रस्तुत हुए। ज्यों-ज्यों समाज का ढाँचा बदलता गया, त्यों-त्यों इस क्षेत्र में नवीन विचारों का समावेश होता गया। परिणामस्वरूप विविध मतों की अवतारणा हुई। इन मतों को निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) कला-प्रेरणा के मूल में क्रीड़ा की प्रवृत्ति विद्यमान है।

(२) यह आनंदानुभूति के कारण केन्द्रित ध्यान से उद्भूत हुई है।

(३) इसके मूल प्रेरणा-स्रोत हैं आत्म-प्रदर्शन और आत्माभिव्यक्ति।

(४) पशु-पक्षियों में घोंसला-निर्माण की प्रवृत्ति पाई जाती है। मनुष्य का कलात्मक निर्माण इसी प्रवृत्ति का उदात्तीकृत रूप है।

(५) यह 'एडिपस' मनोग्रन्थि की पूरक है।

(६) यह किसी अपरिपक्व मनोवृत्ति का उदात्तीकृत रूप है।

(७) इसकी प्रेरणा के मूल में यौन-आकर्षण, श्रम में सहयोग और सफलता प्राप्त करने की भावना, दुश्मनों को डराने की प्रवृत्ति तथा आकर्षण उत्पन्न करने की प्रवृत्ति का दर्शन होता है।

(८) कला का जन्म सामाजिक यथार्थ को मुखर करने की भावना से हुआ है।

(९) यथार्थोन्मुख आदर्श ही इसका प्रेरणा-स्रोत है। यह व्यक्ति के मन में 'क्या होना चाहिए' के स्थान पर 'कैसा हो तो अच्छा हो' के विचार का अभिव्यक्तीकरण है।

(१०) यह व्यक्ति के मन के सौंदर्य को कलात्मक रूप प्रदान करने की भावना से उद्भूत हुई है।

(११) यह व्यक्ति के अलंकरण की प्रवृत्ति का प्रतिफलन है।

(१२) यह कलाकार के प्रातिभ ज्ञान का सहज अभिव्यक्तीकरण हैं।

(१३) यह मनुष्य के रागात्मक उद्वेलन से उत्पन्न हुई है और इसी के माध्यम से मनुष्य ने अपनी अनुभूतियों को अमरत्व प्रदान किया है।

(१४) यह अनुकरण की प्रवृत्ति से उत्पन्न हुई है।

(१५) यह मनुष्य के व्यावहारिक ज्ञान का फलीभूत रूप है।

उपर्युक्त तालिका द्वारा निर्देशित सभी वादों को पूर्ण विवेचन के साथ प्रस्तुत करने में सामान्य कठिनाई है। अतएव इस स्थल पर प्रमुख प्रेरणा-स्रोतों पर विचार करना ही समीचीन होगा।

(१) क्रीड़ा की प्रवृत्ति—

इस प्रवृत्ति के प्रतिपादकों में हम 'काण्ट', 'शिलर', 'स्पेन्सर' और 'कोनार्ड लैन्ज' का नामोल्लेख कर सकते हैं। 'शिलर' सही अर्थों में कई दृष्टियों से 'काण्ट' के अनुगत थे। 'काण्ट' ने कहा था कि 'पोएट्री प्लेज़ विद् सेम्ब्लेंस विदाउट डिसीविंग, फॉर इट् डिक्लेयर्स इट्स आकुपेशन टू बी मीयर प्ले।' 'शिलर' ने इसी वाक्य को अपना मूल मंत्र मान लिया। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कविता और कला का प्रमुख उपजीव्य आप्लुत (over flowing) शक्ति है। क्रीड़ा में हम अपनी अतिरिक्त शक्ति का उपयोग करते हैं। जिस समय पशु इस शक्ति के अतिरेक से ग्रसित होता है, उस समय वह इसे अपनी विविध क्रियाओं में खर्च कर देता है। उदाहरणार्थ सिंह को लिया जा सकता है। जब उसकी उदरपूर्ति हो जाती है, तो वह पूरी शक्ति से गरजता है। मानव भी अपनी शक्ति और निजी स्वतंत्रता का उपयोग करता है, पर इस क्रिया से वाह्य दृष्टि से उसका कोई उपकार नहीं होता। जिस तरह क्रीड़ा कुछ मान्य नियमों के आधार पर रची जाती है, उसी प्रकार लालित्य बोधीय क्रीड़ा को भी इन्हें मानकर चलना पड़ता है। जिस तरह लड़कों के खेल के नियम का सामयिक महत्व होते हुए भी वह सर्वतंत्र स्वतंत्र होता है, उसी प्रकार **लालित्य वोध के खेल के भी नियम हैं, पर वे नैतिकता और आवश्यकता से मुक्त हैं।** कला के खेल में अनुभूति की दशा में अभिरुचि के माध्यम से बिम्बों का स्वतः स्फुरित

स्वरूप प्रवाहित हो उठता है। विकास-क्रम के साथ यह बिम्बवादी क्रिया कला का आकार ग्रहण करने लगती है।

'शिलर के अनुसार दो प्रकार की प्ररोचनाओं को हम ऐन्द्रिय सहज वृत्ति और औपचारिक सहज वृत्ति की संज्ञा देते हैं। प्रथम व्यक्ति का देश-काल की ससीमता में मूल्यांकन करती है और द्वितीय उसके स्वतंत्र एवं विवेक संपन्न प्रकृति से उद्‌भूत होकर ऐन्द्रिय सहज वृत्ति द्वारा उपलब्ध संवेदन एवं प्रभाव की विविधता का सन्नियमन करती है। व्यक्ति पदार्थ (Matter) और चेतना (Spirit) का सम्मिलित रूप है। अतएव उसे इनमें सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। 'शिलर' की धारणा है कि क्रीड़ा की प्रवृत्ति का सम्बन्ध सौंदर्य और कला से होता है, अतएव वह इनमें सामंजस्य स्थापित करने में पूर्ण रूप से सफल है।

ऐन्द्रिय सहज ज्ञान का प्रमुख उपादान जीवनीशक्ति अथवा सजीवता है और 'फ़ार्मल इन्स्टिंक्ट, का रूप या आकार। क्रीड़ा की सहज वृत्ति इन दोनों का संश्लेषण करती है। अतएव इस संश्लिष्ट उपलब्धि को हम जीवन्त आकार (Living form) **की संज्ञा दे सकते हैं।**

'शिलर' के पश्चात् इस सिद्धान्त के प्रमुख उन्नायकों में 'स्पेन्सर' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वे 'डार्विन' के विकासवादी सिद्धान्त से प्रभावित थे, अतएव कला में कला-समीक्षा के तत्वों को न खोजकर इन्हें उसके व्यापक परिवेश से प्राप्त करने के मुखापेक्षी थे। विकासवादी कला को सहज क्रिया की अभिव्यक्ति मानते थे। उनका कहना था कि इस प्रवृत्ति का मूल उद्‌गम पशुओं की प्रकृति और उनका स्वभाव था। 'स्पेंसर' ने कला पर दृष्टिपात करते हुए इस बात को प्रतिपादित किया कि कला का व्यापक सत्य इसी प्रकृति और समाज के सामंजस्य से प्राप्त किया जा सकता था। उनका यह सिद्धान्त शरीर-विज्ञान और समाज-शास्त्र की निष्पत्तियों से प्रभावित था।

'स्पेंसर' की कुछ निश्चित मान्यता थी। उनके अनुसार हमारी शारीरिक शक्ति और मानसिक क्रियाएँ मनुष्य को सुरक्षा प्रदान करने और उसकी जाति को प्रगतिशील बनाने में लगी रहती हैं। केवल कला और क्रीड़ा की प्रवृत्ति अपवाद हैं, क्योंकि ये आवश्यकता और उपयोगिता के बन्धन से सर्वथा मुक्त हैं। इन प्रवृत्तियों को विलास का माध्यम भी माना जा सकता है। इसका मूल कारण यह है कि अस्पष्ट रूप से इनका व्यक्ति पर चाहे जो प्रभाव पड़ता हो, पर स्पष्ट रूप से इनका उसके जीवन से कोई उपयोगितावादी सम्बन्ध नहीं होता। क्रीड़ा

की प्रवृत्ति की एक प्रमुख विशेषता है कि इसमें व्यक्ति की अतिरिक्त शक्ति का उद्देश्यहीन उपयोग किया जाता है। कला भी अपनी-विशिष्टताओं के कारण क्रीड़ा की ही कोटि में परिगणित की जा सकती है।

'कोनार्ड लेंज' ने इन्हीं उपर्युक्त विचारकों द्वारा प्रतिपादित सत्य को ग्रहण किया और इनके आधार पर **क्रीड़ामय सम्मोहन** की चर्चा की। उनका कहना था कि क्रीड़ा का सम्बन्ध बचपन की प्रवृत्ति से है। कला भी क्रीड़ा ही है, पर इसका सम्बन्ध परिपक्व बुद्धि से है। दोनों के लिए आप्लुत शक्ति की आवश्यकता है और दोनों की क्रियात्मक पूर्ति में मानस की इसी अतिरिक्त शक्ति का उपयोग होता है। इन दोनों क्रियाओं में सचेतन आत्म प्रवंचना का भाव पाया जाता है। जिस प्रकार संसार की विद्रूपताओं से दिग्भ्रमित और परेशान व्यक्ति मनबहलाव के लिए क्रीड़ा का आश्रय ग्रहण करता है, उसी प्रकार भौतिक विभीषिका से संत्रस्त व्यक्ति इससे मुक्त होने के लिए कला का सृजन करता है। कला का सम्बन्ध 'मेक बिलीव से होता है और इसके सृजन में एक विशिष्ट प्रकार का आनन्द निहित रहता है।

'लैंज' महोदय ने क्रीड़ा और कला का सम्बन्ध दिखाने के लिए निम्नांकित आँकड़ा प्रस्तुत किया है—

ध्वनि से सम्बन्धित क्रीड़ा	—	संगीत
दृष्टि से सम्बन्धित क्रीड़ा	—	अलंकरण
गति से सम्बन्धित क्रीड़ा	—	नृत्य
नाट्य से सम्बन्धित क्रीड़ा	—	ऐतिहासिक कला नाट्य कला
चित्र से सम्बन्धित पुस्तकों का अवलोकन	—	चित्रकला
गुड़ियों से खेलना	—	ललित कला
निर्माणक क्रीड़ा	—	वास्तुकला
कहानी कहना	—	प्रबन्ध काव्य

'लैंज' के अनुसार, केवल गीति-काव्य के लिए कोई क्रीड़ा-विधान नहीं है।[१]

---

१ Acoustic sense game —Music
Optic sense game —Ornamentation
Motion play —Dance
Dramatic play —Historic art, dramatics.
Looking at picture books—Painting

(२) आनन्दानुभूति और कला—

इस पर विचार करने के दो पक्ष हो सकते हैं। पहला यह कि कलाकार के मन में आनंदानुभूति तरंगायित होती है और वह उन्हें कलात्मक रूप प्रदान करने के लिए आतुर हो जाता है। दूसरा यह कि कला-प्रेरणा के मूल में आनन्द-प्रदान करने की भावना निरंतर विद्यमान रहती है। प्रमुख लालित्य-बोधीय सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करने से कुछ ऐसे विचारक मिल जाते हैं, जिन्होंने इन दोनों स्वरूपों को मान्यता दी है। उदाहरणार्थ हम **भारतीय 'रस'-सिद्धान्त** को लेते हैं। यह एक सर्वमान्य सत्य है कि कला-निर्माण और कलास्वाद की प्रवृत्तियों में अन्तर है। "काव्य-निर्मित के क्षणों में कवि मनोगत स्थायी भावों का विभावादि में परिवर्तन और विभावादि का रस में अर्थात् अन्तर्गतभाव की वस्तुनिष्ठभाव में परिणति साहजिक है।" इन दोनों प्रक्रियाओं में आनन्द का प्रमुख स्थान है। काव्य-निर्मिति की क्रिया में आनन्द का स्वरूप निम्न प्रकार से निरूपित किया जा सकता है—

प्रकृति→सौंदर्य→आनन्द→स्थायीभाव
→स्थायीभाव→विभावादि→रस

इसके विपरीत काव्यास्वाद की क्रिया में उसका निम्नांकित स्वरूप पाया जाता है—

रस→सौंदर्य→स्थायीभाव→आनन्द
स्पष्ट है कि काव्य-सृजन के समय आनन्द का महत्वपूर्ण स्थान होता है। पर काव्यास्वाद का तो यही सर्वस्व है।

पाश्चात्य देशों में भी इस प्रकार के सिद्धान्त मिलते हैं। 'लैवेटर' का कथन है, कि ' कवि वही है, जो सृजन कर सकता है और जिसका सृजन केवल उसी को आनन्द नहीं प्रदान करता, अपितु उसके लिए सभी लोग कह पड़ते हैं कि वाह कैसा सृजन है।" इस प्रशस्ति को आगे बढ़ाते हुए वे पुन: कहते हैं कि "कलाकृति की सफलता इस बात में निहित है कि उसके माध्यम से अदृश्य दृश्य बन जाय, अश्रुत श्रुत हो जाय और आनन्दातिरेक की ऐसी अनुपम अवस्था आ जाय कि व्यक्ति का रोम-रोम प्रफुल्लित हो उठे।"

Playing with dolls	—Plastic art
Constructive play	—Architecture
Story telling	—Epic

आनन्द के इसी द्विविध स्वरूप का उल्लेख 'इनासाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' के एकादश भाग में किया गया है। यहाँ कहा गया है कि "ललित कला मानव की सृजन की प्रवृत्ति से उद्‌बुद्ध होती है। इसमें कलाकार निश्चित विधा से किसी सुनिश्चित कला की रचना करना चाहता है। इसका प्रथम उद्देश्य कलाकार को **उपयोगिता-रहित आनन्द प्रदान करना है।** पर यहीं उसके कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती। यह दर्शक को भी एक विशिष्ट प्रकार का आनन्द प्रदान करती है।" उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि आनन्द को कला की प्रेरणा के रूप में मान्यता मिली है।

प्राचीन विचारकों ने भी आनन्दानुभूति को कला का प्रमुख स्रोत माना है। 'अरस्तू' का कहना है कि कला में तल्लीन होने का प्रमुख कारण अनुकरण जनित आनन्द है। 'सिसरो' ने इस सत्य को प्रतिपादित किया है कि "शिक्षा देना, आनन्द प्रदान करना और प्रभावित करना ही इसका मूल उद्देश्य है। 'लांजिनस' ने आत्मा को औदात्य प्रदान करना इसका ध्येय घोषित किया है। 'ड्राइडेन' ने आनन्द को ही कविता का सर्वस्व कहा है। इस प्रकार आलोचकों की दृष्टि में आनन्द कला का प्रेरणास्रोत ही नहीं अपितु इसका सर्वस्व है। आलोचकों के अतिरिक्त लालित्य बोधीय विचारकों ने भी इस दृष्टि से इसे उचित महत्व दिया है।

(३) आत्म-प्रदर्शन और आत्माभिव्यक्ति—

पहले भी कवि के जीवन के विषय में कुछ चर्चा हुआ करती थी, पर मनोविज्ञान के प्रादुर्भाव के साथ इस प्रकार के विवेचन में तीव्रता आयी। इसके परिणाम-स्वरूप कृति के विवेचन के साथ ही कृतिकार का विवेचन आवश्यक समझा जाने लगा। ऐसा विश्वास किया जाने लगा कि **कला आत्माभिव्यक्ति है।** इसी के माध्यम से व्यक्ति अपनी आन्तरिक इच्छाओं को मूर्त रूप प्रदान करता है। द्रष्टव्य है कि कलाकार एक सामाजिक प्राणी है। वह निश्चित वंश-परम्परा में पलता है, निश्चित जाति के संस्कारों का उस पर प्रभाव होता है और निश्चित वातावरण उसकी सृजन-प्रतिभा को नई दिशा प्रदान करता है। इन घात-प्रतिघातों के परिणाम स्वरूप उसका एक विशिष्ट व्यक्तित्व निर्मित होता है। **उसका यही व्यक्तित्व उसकी कला में विद्यमान रहता है।** 'कार्लाइल' ने **कला को इसी वैयक्तिक विशिष्टता का अभिव्यक्तीकरण कहा है।** 'एफ० एल० ल्यूकस' महोदय मनोविश्लेषणवादी विचारक हैं। उनका कहना है कि सहज ज्ञान इस बात को सिद्ध करता है कि किसी कला में निहित **लालित्यबोधीय आनन्द कलाकार के**

व्यक्तित्व की उत्कृष्टता का परिचायक होता है। आधुनिक आलोचक 'एडमण्ड विलसन' का कहना है कि किसी भी गल्प-साहित्य के तत्वों के निर्माण में लेखक के व्यक्तित्व का अप्रतिम सहयोग रहता है। कलाकार इनमें प्रयुक्त दृश्य, चरित्र, वातावरण और परिस्थिति को अभिव्यक्त करने वाले बिम्बों में या तो अपने जीवन के उन अन्तर्द्वन्द्वों को चित्रित करता है या उन स्वरूपों की अवतारणा करता है, जिनके बीच होकर उसे गुजरना पड़ा है। उसके **साहित्य के पात्र लेखक की चित्त-वृत्तियों के प्रतीक होते हैं।**

वस्तुतः यह प्रश्न आज एक विवादास्पद स्वरूप ग्रहण कर चुका है। इसके परिणाम स्वरूप विविध दृष्टिकोण हमारे समक्ष आए हैं। एक तबके के लोग कलाकार पर इसलिए विचार करते हैं कि उसके माध्यम से वे कलाकृति की व्याख्या कर सकेंगे। दूसरे तबके के लोग कलाकृति से ही कलाकार के विषय में जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं। तीसरे तबके के लोग केवल कलाकृति को ही महत्व प्रदान करते हैं और इससे जितना ज्ञात हो जाता है उसी से संतुष्ट हो जाते हैं। मूल रूप से उपर्युक्त दृष्टिकोणों को हम बहिर्साक्ष्य और अन्तःसाक्ष्य की संज्ञा दे सकते हैं। पहली कोटि के विचारकों में 'सेण्टव्यूव' प्रमुख हैं; 'वे प्रमुख रूप से जीवन-चरित्र, वातावरण और अभिरुचि पर दृष्टिपात करना विशेष आवश्यक समझते हैं। दूसरी कोटि के विचारकों का दृष्टिकोण सौन्दर्य-परक और आलोचनात्मक है। इनके अनुसार कलाकार की अवबोध और सौंदर्य सम्बन्धी परिकल्पना कृतिकार के चरित्र की उत्कृष्टता की प्रतिच्छाया है। तीसरी कोटि के लोगों का दृष्टिकोण जीवन-चरितात्मक होता है और ये कला-कृति के आधार पर लेखक की जीवन सम्बन्धी सामग्री का संकलन करना चाहते हैं। इन सभी दृष्टिकोणों की निश्चित सीमाएँ हैं।

(४) सामान्य जीवों में प्रस्तुत निर्माणक प्रवृत्ति का उदात्तीकरण—

इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक 'सैमुएल अलेक्ज़ेण्डर' थे। इनका दृष्टिकोण दार्शनिक होने के साथ ही यथार्थवादी था। इनके अनुसार सामान्य जीवों में निर्माण की प्रवृत्ति पाई जाती है। चींटी अपने लिए बिल बना लेती है और चूहे भी अपने रहने की व्यवस्था कर लेते हैं। चिड़ियाँ अपने लिए घोंसले का निर्माण कर लेती हैं और पशु-पक्षी माँद का। **इनके निर्माण में सृजन की प्रवृत्ति किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है।** कलात्मक सृजन एक प्रकार से निर्माण की ही क्रिया होती है, पर इसमें पशु-पक्षियों के निर्माण से अधिक कौशल की आवश्यकता होती है। इसी विशिष्ट कौशल के प्रयोग के कारण यह प्रवृत्ति

सामान्य पशु-पक्षियों में प्रस्तुत निर्माणक प्रवृत्ति से विशिष्ट होती है, अतएव इसे उसका उदात्तीकृत रूप माना जा सकता है। कलात्मक सृजन के मूल में यही प्रवृत्ति पाई जाती है।

(५) ईडिपस मनोग्रंथि और कला—

मनोविज्ञान की प्रगति के साथ सृजन-प्रक्रिया के विविध स्वरूपों का विशेष रूप से रहस्योद्घाटन हुआ है और इसके अनेकानेक अज्ञात भाव-कोण स्वतः स्पष्ट हो गए हैं। 'फ्रायड, को अवचेतनीय परिकल्पनाओं का जन्मदाता माना जाता है। उन्होंने इसी बात पर विचार करते हुए कहा था कि "मेरे पूर्व कवि और दार्शनिकों ने इस अवचेतन की खोज की थी। मैंने उस वैज्ञानिक क्रिया को खोज निकाला जिसके माध्यम से अवचेतन स्तरीय गुत्थियों का अध्ययन किया जा सकता है।" यह सत्य है कि फ्रायडीय मनोविज्ञान की कुछ निष्पत्तियाँ साहित्य के समझने और समझाने में सहायक सिद्ध हुई हैं। इनके माध्यम से व्यक्ति को वह पारिभाषिक शब्दावली प्राप्त हुई है जिसके संदर्भ में मानव और उसकी काममूलक भावनाओं अथवा सामाजिक वर्जनाओं को सरलता से विश्लेषित किया जा सकता है। 'फ्रायड' का कहना भी था कि मनुष्य यथार्थ में क्रूर, निर्दय और असामाजिक नहीं है। वह इन्हीं वर्जनाओं के कारण उस प्रकार के अस्वास्थ्य का परिचय देता है। वस्तुतः मनोविश्लेषणवाद ने सर्जन को समझाने का जो त्रिसूत्रीय फार्मूला प्रदान किया है वह निम्नांकित है—

(१) इसके माध्यम से उपयुक्त शब्दावली मिली है जिससे हम किसी कलाकृति की व्याख्या करते हैं।

(२) इसके द्वारा लेखक और समाज की आन्तरिक भावनाओं को समझने का सूत्र मिला है।

(३) इसके द्वारा मनगढ़न्त घटनाओं और आख्यानों को समझने का निश्चित स्वरूप प्राप्त हुआ है।

'फ्रायड' के पूर्व भी मन की अवस्थाओं का उल्लेख हुआ था, पर वे ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने सर्वप्रथम इसे स्पष्ट रूप से समझाने का प्रयत्न किया। उनके अनुसार 'लिबिडो' जीवन की सहज वृत्ति प्रधान शक्ति है, यह अपनी संतुष्टि का मार्ग खोजती रहती है। पर कभी-कभी इसे असामाजिक मानकर दबा दिया जाता है। दमित अवस्था में भी यह तरह-तरह के छद्मवेश धारण करके अभिव्यक्त होना चाहती है। स्वप्न, मनोरथ सिद्धि सम्बन्धी परिकल्पनाएँ अथवा स्नायु व्यतिक्रम से ग्रसित व्यक्तियों के व्यवहार से प्रकट होने वाले चिह्न इसी के

स्वरूप हैं। कलाकार अद्भुत क्षमता-संपन्न व्यक्ति होता है। उदात्तीकरण के माध्यम से वह अपनी इन भावनाओं को सर्जनात्मक दिशा प्रदान करने में सफल होता है। इसके द्वारा वह जिन दमित भावनाओं को स्वप्न आदि के माध्यम से पूरा करना चाहता है, वे उसकी कल्पना के माध्यम से ही पूरी हो जाती है। इस प्रकार **कलात्मक सृजन उसकी इच्छापूर्ति का ही परिणाम है।** 'हरबर्ट रीड ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है "**कलाकृति मन के सभी स्तरों से कुछ न कुछ प्राप्त करती है।** 'इदं' से इसे शक्ति, अपरिमेयता और अन्यान्य रहस्यमय स्वरूप उपलब्ध होते हैं जो उसकी प्रेरणा के मूल स्रोत होते हैं, ईगो (अहं) इन्हें संश्लेषित करके उनमें सामंजस्य स्थापित करता है और विशिष्ट अहं इन्हें वैचारिक स्वरूपों के द्वारा उपचित करके मूर्तिमान करता है।" बाद के विचारकों ने (युंग) 'कलेक्टिव कांशसनेस, के माध्यम से इस विचार का खण्डन किया है।[1]

(६) सामाजिक यथार्थ का अभिव्यक्तीकरण—

यह सत्य है कि '**साहित्य एक सामाजिक निकाय है और इसका प्रमुख माध्यम भाषा सामाजिक सर्जन का प्रतिफलन है। परंपरित साहित्यिक उपादान प्रकृति से सामाजिक हैं। इनकी निश्चित मान्यताएँ और विधाएँ समाज की ही प्रादुर्भूति हैं।**' साहित्य जीवन को चित्रित करता है और जीवन अपने मूलस्वरूप में सामाजिक यथार्थ का ही प्रतिरूप है। साहित्यकार समाज में ही रहता है, परिणामस्वरूप वह इसके क्रिया-कलापों से विविध रूपों से प्रभावित होता रहता है। इस परिप्रेक्ष्य में समाज और साहित्य का अभिन्नत्व स्थापित होता है। कुछ विचारकों ने कला के उद्भव को प्राचीन समाज के धार्मिक संस्कारों, जादू-टोनों, कार्यों और क्रीड़ा की प्रवृत्तियों से सम्बद्ध माना है। ये सारे विचार कुछ हद तक सत्य हैं। पर इस सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है, 'साहित्य समाज की अभिव्यक्ति है', का वास्तविक अर्थ क्या है। क्या यह समाज का दर्पण है और सम्पूर्ण सामाजिक क्रिया-कलाप इसी के द्वारा आवश्यक दिशा प्राप्त करते हैं? प्रमुख विचारक 'शुर्किंग' ने बड़े ही तर्कपूर्ण ढंग से इस बात पर दृष्टिपात किया है। उनका अभिमत है कि लेखक का समाज से सम्बन्ध अवश्य होता है, पर **उसका विवेच्य सम्पूर्ण समाज नहीं होता, समाज का एक अंश होता है।** वह उसी को अपने सृजन में पूर्णरूप से चित्रित करता है। अतएव वह इस कलात्मक सर्जन के द्वारा समाज के अंश विशेष को रूपायित करता है। इस कार्य में उसकी अभिरुचि, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति,

---

[1]इसका विवेचन आगे किया जायगा।

जनता के द्वारा उसकी ख्याति की परख, लेखक के साथ प्रकाशक के दृष्टिकोण और युग चेतना को उस परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करने की क्षमता के साथ ही उसके अध्ययन और अध्यवसाय का प्रमुख हाथ रहता है। पाठक और आलोचक के दृष्टिकोण का द्वैत भी आवश्यक माना जाता है। **इस सन्दर्भ में 'साहित्य युग चेतना का पत्रक है' 'साहित्य समाज का दर्पण है' अथवा 'साहित्य जीवन की व्याख्या है' जैसे शब्दों का एक विशेष अर्थ होता है।** यहाँ साहित्य के अन्तर्गत लेखक विशेष की कृति के स्थान पर युग विशेष के सम्पूर्ण साहित्य द्वारा अभिव्यक्त एक संश्लिष्ट सामाजिक अभिप्राय ही ग्राह्य ज्ञात होता है। इसे और स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि युग-विशेष में एक ही साहित्य के अन्तर्गत विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न प्रकार की कृतियाँ रची जाती हैं। हमें उस युग के सामाजिक परिप्रेक्ष्य को जानने के लिए अधिकांश प्रतिनिधि रचनाओं का संबल ग्रहण करना पड़ता है और उसकी चेतना के विभिन्न स्तरों को झंकृत करने वाले सूक्ष्म तन्तुओं को खोज कर उन्हें परस्पर सम्बद्ध करना पड़ता है।

सामाजिक यथार्थ भी कोई अपरिवर्तनशील वस्तु नहीं हैं; यह परिवर्तित होता रहता है। इसके स्वरूप में समाज के परिवर्तन के साथ भिन्नता आती जाती है। परिणाम स्वरूप इसके प्रेरणाप्रद स्वरूपों को ग्रहण करते समय लेखक को इसके अन्तःस्पन्दनों के प्रति विशेष सतर्क रहना पड़ता है। एक डॉक्टर की तरह उसे अपनी विधायक कल्पना के स्टेथस्कोप से इसके सूक्ष्माति-सूक्ष्म परिवर्तनों को अंकित करने का प्रयत्न करना पड़ता है।

(७) यथार्थोन्मुख आदर्श—

आदर्श और यथार्थ के बीच का झमेला कुछ अंशों में रूढ़िवादी और प्रगतिशील प्रवृत्तियों का झमेला है। जब हम अपने निरूपण में सद्वृत्तियों पर विशेष बल देकर उसकी असद्वृत्तियों की अवहेलना करते हैं तो हमारा दृष्टिकोण आदर्शवादी होता है। परन्तु जब हम सत्यनिष्ठ ढंग से व्यक्ति और उसके वातावरण के सम्बन्ध तथा उसके जीवन का निर्माण करने वाली संपूर्ण परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण करते हैं तो हमारा दृष्टिकोण यथार्थवादी कहलाता है। **आरम्भ में हर साहित्य का दृष्टिकोण किसी न किसी रूप में आदर्शवादी रहा है।** उसका सम्बन्ध देवी-देवताओं और निजन्धरी कथाओं से स्थापित किया गया है। बाद में समाज के परिवर्तन और सामाजिक गतिविधि सूक्ष्म निरीक्षण के कारण साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवाद का आविर्भाव हुआ

है। अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, विज्ञान और बढ़ती हुई सामाजिक विषमता, युद्ध जनित निराशा और कुण्ठा तथा व्यक्ति की आत्मकेन्द्रित विभीषिका की पूर्ण घुटन ने चिंतक को यथार्थ के विविध स्वरूपों से भली प्रकार परिचित किया है। यथार्थवाद के कई स्तर कला-प्रेरणा में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहे हैं। अपने प्रथम स्वरूप में यथार्थवाद यथातथ्य के चित्रण के रूप में कला का मेरुदंड रहा है, द्वितीय स्वरूप में कलाओं में निरन्तर प्रस्तुत रहने वाले प्रमुख प्रेरक तत्व के रूप में विद्यमान रहा है, पर तृतीय स्वरूप में इसकी सीमा के अन्तर्गत उन्नीसवीं शताब्दी के बाद विकसित होने वाले विविध वादों—अति यथार्थवाद, दादावाद, सामाजिक यथार्थवाद, समाजवादी यथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद—का समावेश हुआ है। इधर साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवाद के संदर्भ में विविध प्रयोग हुए हैं और **अब तो श्लील और अश्लील, चिन्त्य और अचिन्त्य तथा सामाजिक और असामाजिक के भेद को मिटा कर कला में यथावत् चित्रण की प्रवृत्ति को प्रश्रय दिया गया है।** पर जितनी सरलता से यथावत् चित्रण की बात उठाई जाती है, निश्छल अनुभूति की स्पष्ट स्वीकारोक्ति के स्तर पर चर्चा की जाती है, उतनी ही सरलता से उसे बिना किसी प्रकार के परिवर्तन के अभिव्यक्त कर देने की बात कठिन जान पड़ती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि **भाषा ऐन्द्रिय अनुभूतियों को उसी रूप में अभिव्यक्त करने में असमर्थ रही है।** किसी भी बिम्ब विशेष को अभिव्यक्त करने के लिए हमें भाषा के जोड़-तोड़, परिवर्तन, आलंकारिक प्रयोग, विविध अनुषंगों की खोज, प्रतीक पद्धति के आश्रय, निजन्धरी कथाओं के प्रयोग, नवीन संदर्भों की उद्भावना, और नवीन परिप्रेक्ष्य के निर्माण की आवश्यकता महसूस होती है। कलाकार का हृदय स्वयं विविध अनुभूतियों का कुबेरालय होता है। **वर्तमान की अनुभूति किसी न किसी रूप में भूत की अनुभूति अथवा भविष्य की परिकल्पना से सम्बद्ध होती है।** मानव-व्यक्तित्व बिल्कुल तटस्थता की स्थिति में सम्भवतः कम पाया जाता है। वंशपरम्परा, वातावरण, संस्कार और अभिरुचि भी प्रकारान्तर से उसको प्रभावित करते हैं। ऐसी स्थिति में यथार्थ चित्रण या अनुभूति को तद्वत निरूपित करने की बात विवादास्पद सिद्ध होती है। प्रायः यह माना जाता है कि कला कुछ हद तक अवर्णनीय अनुभूति को वर्णनीय स्वरूप प्रदान करती है, अर्थात् वह बिषम और अभिव्यक्ति अक्षम स्वरूपों को सम और अभिव्यक्ति सक्षम कलेवर में प्रस्तुत करती है। पर यह कैसे सम्भव होता है? इसका उत्तर देते हुए प्रायः कलाकार कह उठता है कि वह प्रतीकों के माध्यम से उसे अभिव्यक्त करता है। पर यह भी द्रष्टव्य है कि—



"They can symbolise the sensory quale of visual experience, which is in ineffable to verbal symbolism their capacity to symbolise affective is limited by superior expressiveness of language of gesture over the language of words."

'सार्त्र' ने प्रतीकात्मक कार्य और कलात्मक कार्य के बीच के अन्तर्द्वन्द्व (the conflict between symbolic function and function of art) को अच्छी तरह समझा है। उनका कहना है कि किसी वस्तु को सम्बद्ध प्रतीक की विशिष्टता से अलंकृत करना दुष्कर है। इसके अतिरिक्त जब हम किसी कार्य विशेष को बिम्ब विशेष के माध्यम से अभिहित करते हैं तो बिम्ब की अन्यान्य विशिष्टताओं से हमारा ध्यान हट जाता है। उदाहरणार्थ जब हम मुख को कमल के प्रतीक से अभिव्यक्त करते हैं तो कमल की सुगंधि, उसके तालाब में खिलने की क्रिया, आदि से हमारा ध्यान हटकर उसके वाह्य-सौंदर्य पर ही केन्द्रित हो जाता है। इसके अतिरिक्त कला की भी कुछ निश्चित सीमाएँ हैं। वह भावनात्मक उद्वेलन की निश्चित अवस्थाओं को ही चित्रित करने में समर्थ होती है। इस दृष्टि से संगीत, वास्तुकला और चित्रकला को वस्तुत: पूर्ण रूप से यथार्थवादी नहीं कहा जा सकता है।

आदर्शवाद की निश्चित परम्परा रही है। यह परम्परा 'प्लेटो', 'अरस्तू' और 'भरत' से लेकर आधुनिक काल तक किसी न किसी रूप में चली आई है। इस परम्परा के लेखकों ने काव्य को नैतिकतापूर्ण, मंगलाशाओं से अलंकृत और मनोभावों के परिष्कार का प्रमुख साधन घोषित किया है। सोद्देश्यता के साथ ही आध्यात्मिकता और औदात्य के निरूपण से यह काव्य-विधा विशेष रूप से आकर्षक और महिमा मण्डित बन गयी है। उदाहरणार्थ निम्नांकित मत उद्धृत किए जा सकते हैं। 'भामह' का कहना है—

> "धर्मार्थ काम मोक्षेषु, वैचक्षण्यं कलासु च।
> करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु-काव्य निबन्धनम्॥"

'आनन्द वर्धन' का कहना है—

> "अपारे काव्य संसारे कविरेक: प्रजापति:।
> यथास्मै रोचते विश्वम् तथेदं परिवर्तते॥"

'मम्मट' का मत है—

> "नियतिकृत नियम रहिताम् ह्लादैकमयी मनन्यपर तन्त्राम्।
> नवरस रूचिरां निर्मिति मादधती भारती कवेर्जयति॥"

'शेली' का कहना है—

"Poetry enlarges the circumference of imagination by replenishing it with thoughts of ever new delight, which have the power of attracting & assimilating to their own nature all other thoughts......Poetry strengthens the faculty which is the organ of moral nature of man. A poet, therefore, would do ill to embody his own conceptions of right & wrong which are usually those of his place and time, in his poetical creations, which participates in neither."

वस्तुत: यथार्थवाद का सम्बन्ध क्या से है और आदर्शवाद का सम्बन्ध क्या होना चाहिए से। यह निर्विवाद है कि जीवन के अन्त:स्पन्दन मात्र क्या हैं से सन्तुष्ट नहीं होते, वे कुछ हद तक क्या होना चाहिए को भी प्रश्रय देते हैं। परिणामस्वरूप कला के क्षेत्र में यही मिश्रित प्रवृत्ति विशेष रूप से पायी जाती है। यहाँ प्रकारान्तर से लेखक संसृति की अच्छाई और बुराई का अधिष्ठाता होने के साथ ही जीवन और समाज का निर्माता और पथ-प्रदर्शक भी होना चाहता है। ऐसी स्थिति में यह मानना विशेष समीचीन होता है कि 'There is no unmixed good & evil'। सत्य यह है कि कला-सिद्धान्त जीवन-सिद्धांत का परिचायक है। कुछ लोग जीवन के यथार्थ चित्रों को अपना उपजीव्य बनाते हैं तो कुछ अन्य लोग स्वप्न की स्वर्णिम झाँकी को प्रस्तुत करना चाहते हैं। पर दार्शनिक धरातल पर ये दो सर्वथा विरोधी तत्व भी एक सत्य के दो पक्ष सिद्ध होते हैं। वस्तुत: कला उच्च धरातल पर वैयक्तिक जीवन की सामाजिक चेतना तथा उसके सामञ्जस्य की अभिनव शक्ति है। वह सुव्यवस्थित अखंडता है जो सचेतन जीवन के समन्वयशील उद्बोधन के द्वारा सौंदर्य का अवगाहन कराती है। इस दृष्टि से यथार्थोन्मुख आदर्श कला का प्रमुख प्रेरक तत्व सिद्ध होता है।

(८) सौन्दर्य चेतना और कला—

सौंदर्य-विवेचन में रत होने के पूर्व ही गेटे की यह उक्ति "Beauty is inexplicable, it is a hovering, floating and glittering shadow, whose outline eludes a grasp of definition", मानस चक्षुओं के समक्ष प्रस्तुत हो जाती है। इसका मूल कारण यह है कि आदि काल से लेकर आज तक साहित्य के क्षेत्र में सौंदर्य को प्रमुख स्थान प्राप्त रहा है, हर व्यक्ति ने अपनी तरह से कुछ कहने का प्रयत्न भी किया है, पर वह पूर्णरूपेण कह नहीं

सका है। इस स्थल पर हमारा दृष्टिकोण लालित्यबोध के स्वरूप का निर्वचन करना नहीं है। यहाँ तो हम कला-प्रेरणा और सौंदर्य-चेतना पर ही दृष्टिपात करना विशेष महत्वपूर्ण समझते हैं। वस्तुतः सर्जन के दो पक्ष होते हैं—प्रथम सृजन पक्ष और द्वितीय आस्वादन पक्ष। इन दोनों ही पक्षों में कलाकार की सौंदर्य चेतना किसी न किसी रूप में सक्रिय रहती है। इस बात का विवेचन विगत पृष्ठों में प्रस्तुत किया गया है कि कलात्मक सृजन किसी भी उपादान का यथावत चित्रण नहीं हुआ करता है। **वह तो उसके अन्तः और बाह्य भावनात्मक उद्वेलन, चिन्तन, निरीक्षण, संस्कार आदि का सूत्र होता है।** निर्माण के समय कलाकार की सौन्दर्य चेतना का, उसकी विधायक कल्पना अथवा आनन्दानुभूति का संस्पर्श उसे प्राप्त होता है। कलाकार मधुमक्खी की तरह संसृति के उपादान रूपी फूलों का चक्कर लगाता रहता है, वह इस क्रिया के द्वारा पराग और मधु एकत्रित करता रहता है, पर जिस तरह मधुमक्खियों के द्वारा एकत्रित मधु में पुष्प-रस ही नहीं होता, बल्कि उसे मधु के रूप में परिवर्तित होने तक की अन्य क्रियाएँ भी निहित होती हैं, उसी प्रकार कला-सर्जन में केवल अनुभूति या निरीक्षण ही नहीं होता, अपितु उसे कलात्मक स्वरूप प्रदान करने के अन्यान्य प्रयत्न भी निहित रहते हैं। प्रायः ऐसा माना जाता है कि लालित्य बोधीय क्रिया के दो पार्श्व हैं। इसके एक ओर हमें ध्यान (अभिनिवेश) मिलता है और दूसरी ओर अभिरुचि। अभिनिवेश के द्वारा कलाकार संवेदन, सहजज्ञान, कल्पना-प्रवणता, अनुभूति तीव्रता और बौद्धिक चाक-चक्य की असामान्य स्थिति में उस अवबोध क्षमता से अलंकृत रहता है जो उसे उपादान से अभिज्ञ कराती हैं। अभिरुचि भी इन अवस्थाओं में निरन्तर सक्रिय रहती है और वह संश्लेषण का कार्य संपादित करती रहती है। इस प्रकार **अभिनिवेश और अभिरुचि संपन्न मानव सौन्दर्य चेतना ही कला-प्रेरणा का प्रमुख आधार** सिद्ध होती है।

कलाकार कुछ हद तक सौन्दर्य से अनुप्राणित होता है। उसकी सारी क्रियाएँ संसृति के आकर्षक उपादानों से किसी न किसी रूप में उलझी होती हैं। उसका ऐन्द्रिय अवबोध निरन्तर इससे टकराता रहता है। इसके परिणाम स्वरूप वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में इनसे प्रभावित होता रहता है। जिस समय वह कलात्मक सृजन में रत होता है उस समय ये सभी अर्जित संस्कार किसी न किसी रूप में उसके सहायक सिद्ध होते हैं। ये सभी अनुभूतियाँ अपने आरंभिक स्तर पर इन्द्रिय जन्य और इन्द्रिय ग्राह्य होती हैं। कलाकार अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के माध्यम से इन्हें कलात्मक स्वरूप प्रदान करता है। ऐसी स्थिति में **वह अपनी कला में ही जीता और निवास करता है।** उसकी सारी चित्र-वृत्तियाँ

केन्द्रीभूत होकर एकोन्मुख हो जाती हैं और उसकी सौन्दर्यावगाहिनी प्रतिभा अपनी अन्तर्निहित संश्लेषणात्मकता के आधार पर कला के ताने-बाने का निर्माण करती है। कला अपने साकार रूप में कलाकार के आन्तरिक अन्तर्मंथन और उसकी बौद्धिक प्रसव-वेदना का ही प्रतिमान सिद्ध होती है।

(१०) भावनात्मक और रागात्मक उद्वेलन तथा कला—

सौन्दर्य आनन्द का जनक होता है और आनन्द रागात्मिका वृत्ति का उद्वेलन है। भावना और कला के सम्बन्ध में अति प्राचीन काल से ही विविध सिद्धांतों की अवतरणा हुई है। भारतीय शोक-श्लोक समीकरण, रस-सिद्धान्त अथवा पाश्चात्य देशों में 'कैथार्सिस' से लेकर 'रिचर्ड्स' के 'सिनेस्थेसिस' सिद्धान्त तक रागात्मक उद्वेलन की चर्चा विविध रूप में की गयी है और इसे कला का प्रमुख प्रेरक तत्व माना गया है। ऐसा भी कहा गया है कि कलात्मक अभिव्यक्ति अनुभूति और संवेग को प्रश्रय देती है। वस्तुतः पुनरुत्थान काल के व्यक्तिवाद से आरम्भ हुई इस भावना को स्वच्छन्दवादियों ने प्रमुखता प्रदान की है। उन्होंने कविता को संवेगों के स्वतः स्फुरित प्रवाह की संज्ञा से अभिहित किया है। स्वच्छंदतावादियों की इस परिकल्पना को आदर्शवादी दार्शनिकों ने मुखरित किया है। परवर्ती लेखकों ने इस परिकल्पना को और परिष्कृत किया है। उनका अभिमत है कि काव्य-कला का प्रमुख उद्देश्य अपने जीवन्त अनुभवों को दूसरों तक पहुँचाना है। इस संदर्भ में कला के संक्रमण (Infection theory) और संप्रेषण सम्बन्धी सिद्धान्त विशेष महत्वपूर्ण हैं और इनकी पर्याप्त चर्चा भी हुयी है। कला के संदर्भ में संवेगों के अभिव्यक्तीकरण (Expressing emotions) और संवेगों के उद्बोधन (Arousing emotions) पर भी विचार किया गया है। ऐसा भी माना जाता है कि कलाकार विशिष्ट संवेदनशील व्यक्ति होता है। वह संसृति के विविध प्रभावों को ग्रहण करता रहता है। जब उसकी प्रतिभा उसे सर्जनोन्मुख बनाती है तो उसकी अनुभूतियाँ किसी न किसी रूप में अभिव्यक्ति के लिए छटपटा उठती हैं। वह जब तक उन्हें अभिव्यक्त नहीं कर देता तब तक उसे चैन नहीं मिलता। इस रूप में संवेगों का अभिव्यक्तीकरण केवल कला का जनक ही नहीं अपितु लेखक को भी विश्रान्ति प्रदान करने का प्रमुख साधन सिद्ध होता है। इस प्रकार का विचार प्रमुख रूप से स्वच्छन्दतावादी चिंतन का मेरुदण्ड रहा है। इसीलिए इस धारा के साहित्यकारों ने इसे विविध रूप से अभिव्यक्ति भी प्रदान की है।

(११) अनुकरण की प्रवृत्ति और कला—

कला-प्रेरणा के सन्दर्भ में अनुकरण को महत्व प्रदान किया गया है। अनु-

करण सिद्धान्त पर्याप्त प्राचीन है। इसका आरम्भ यूनानी विचारक 'अफलातून' के साथ हुआ और तब से आज तक यह किसी न किसी रूप में चिन्तन का विषय बना हुआ है। यूनानी भाषा में अनुकरण के लिए 'माइमेसिस' और अंग्रेजी में 'इमिटेशन' शब्द का प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः अनुकरण शब्द सम्बन्ध का द्योतक है। इसके दो पक्ष हैं—(१) अनुकर्त्ता और (२) अनुकरण का विषय। मध्यकाल तक इसे त्रिपक्षीय माना जाता रहा है। प्रथम पक्ष में उस अपरिवर्तनशील तत्व की कल्पना की जाती थी जो संसृति में विद्यमान था। दूसरे पक्ष में इसे प्रतिच्छायित करने वाले उपादानों को विवेच्य बनाया जाता था, और तीसरे पक्ष में इस द्वितीय स्वरूप के अनुकरण की चर्चा की जाती थी। 'प्लेटो' ने सम्भवतः इसी तथ्य को दृष्टि-पथ में रखकर कला को "इमिटेशन ऑफ एन इमिटेशन, ट्वाइस रिमूव्ड फ्राम रियालिटी" कह कर निम्न स्थान का अधिकारी घोषित किया था। 'अरस्तू' ने इस भावना का परिष्कार किया था, और 'अफलातून' की अनुकरण सम्बन्धी भावनाओं को निश्चित दिशा की ओर उन्मुख किया था। उनके अनुसार कला में वस्तुओं का अनुकरण यथावत रूप में नहीं अपितु सम्भाव्य रूप में होता है। तब से लेकर परम्परादर्शवादी सिद्धान्त के अभ्युदय तक यह शब्द कई रूपों में विवेचित और विश्लेषित होता रहा है। उदाहरण स्वरूप निम्नांकित तथ्यों को प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) 'प्लेटो' से लेकर मध्यकाल तक महान साहित्यिक कृतियों के अनुकरण के वाग्मिताशास्त्रीय अनुशासन के रूप में इसे मान्यता मिली थी।

(२) परम्परादर्शवाद में साहित्यिक अनुकरण मानवीय अनुभूति के आदर्श निरूपण की वह विशिष्ट विधा घोषित किया गया जो प्राचीन आलोचनात्मक मान्यताओं को दृष्टि-पथ में रखकर देश-काल की परिस्थिति के अनुसार व्याख्या करने की क्षमता प्रदान करता था।

(३) स्वच्छन्दतावादी काल में इसे भिन्न अर्थ का वाहक बनाया गया। इसका विवेचन प्रकृति और विधायक कल्पना के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया।

इधर अनुकरण सिद्धान्त की नवीन व्याख्याएँ भी देखने को मिली हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार **कला-कृति प्रकृति का अनुकरण नहीं करती, वह वस्तुतः उस सिद्धान्त का अनुकरण करती है जो प्रकृति की सृष्टि और उत्पादन का मूल केन्द्र-बिन्दु है।** कला और प्रकृति के आन्तरिक नियम होते हैं। जिस प्रकार प्रकृति की संघटना में इन तत्वों का विशेष सहयोग होता है उसी प्रकार कला की संघटना में इनका महत्व स्वयं सिद्ध है। इस प्रकार के विचार अब बहुत

कम देखने को मिलते हैं। वस्तु सत्य यह है कि बाद की आलोचना में इस शब्द का प्रयोग कम होने लगा है। अतएव यथार्थवाद, प्रकृतवाद, समाजशास्त्र और मनोवैज्ञानिक मान्यताओं के आविर्भाव के साथ यह शब्द आलोचना के क्षेत्र से अदृश्य हो गया है। फिर भी इसके सम्बन्ध में इतना तो कहा ही जा सकता है कि १९वीं शताब्दी के मध्य तक यह किसी न किसी रूप में कला-प्रेरणा और व्याख्या का प्रमुख आधार बना हुआ था।

पाश्चात्य मनीषियों की ही तरह भारतीय विचारक भी अनुकरण को त्रैलोक्य के भाव का अनुकरण मानते हैं। यह परम्परा किसी न किसी रूप में 'भरत' से आरम्भ होकर 'विश्वनाथ' तक चली है।

निष्कर्ष—

कला-प्रेरणा के संदभ में पूर्व पृष्ठों में क्रीड़ा की प्रवृत्ति, आनंदानुभूति, आत्माभिव्यक्ति, सामान्य जीवों में प्रस्तुत निर्माणक प्रवृत्ति का उदात्तीकरण, इच्छा-पूर्ति, सामाजिक यथार्थ, यथार्थोन्मुख आदर्श, सौंदर्य, मनोरागों के अभिव्यक्तीकरण और अनुकरण को विवेच्य बनाया गया है। वस्तुतः इन सिद्धान्तों में लेखक के विषयगत और विषयिगत दृष्टिकोण को प्रमुखता मिली है। गंभीरतापूर्वक विचार करने से यह तथ्य सरलता से स्पष्ट हो जाता है कि सृजक में इनसे सम्बद्ध स्वरूपों का समावेश रहता है। उसमें अतिरिक्त शक्ति (प्रतिभा) विद्यमान रहती है, उसकी प्रवृत्ति निर्माणक नहीं अपितु सृजक होती है, जो मूल रूप में निर्माण से उत्कृष्ट है, सृजन के समय उसकी निश्चित आकांक्षा होती है, वह सामाजिक व्यक्ति होने के कारण यथार्थ और आदर्श से प्रभावित होता है, उसकी दृष्टि सौंदर्याकर्षण से प्रभावित होकर तज्जनित भावनाओं को अभिव्यक्त करती है, और वह प्रकृति से प्राप्त समन्वय, सामंजस्य और सौंदर्य को परिष्कृत और संभावित रूप में ग्रहण भी करता है। प्रश्न उठता है कि इन सब को प्रस्तुत करने के बावजूद वह कौन सा प्रमुख कारण है जिससे कलाकार विशेष रूप से प्ररोचित और उद्बुद्ध होता है। डॉ० 'ग्राहम हफ' ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि **कला में कलाकार स्रष्टा और अनुकर्ता के रूप में विद्यमान रहता है। सृष्टा रूप में वह अभिनव सृष्टि करता है और अनुकर्ता रूप में अनुकरण के आधार पर सृजन।** उनकी यह मान्यता पूर्णतया खोखली है। अनुकरण का सिद्धान्त आज लालित्य बोध में ही अपनी मान्यता खो बैठा है। **सत्य यह है कि कलाकार स्रष्टा होने के साथ ही द्रष्टा भी** है। उसका यह दूसरा पहलू पहले से कम महत्वपूर्ण नहीं है। अपने द्रष्टा रूप में वह संसृति के सौन्दर्य, सामंजस्य, संघटन, विघटन,

आशा-निराशा, आक्रोश, भय, करुणा आदि का निरीक्षण करता है। उसकी यह निरीक्षण-क्षमता अद्भुत होती है। वह मधुमक्खी की तरह मधु के (प्रभाव के) तत्वों को ग्रहण करता जाता है। ये प्रभाव उसकी चेतना और संस्कार के विषय बनते जाते हैं। किसी भी प्रकार की प्रोत्तेजना से ये चेतना के स्वरूप कला-सृजन का रूप ग्रहण करने लगते हैं। वाह्य दृष्टि से देखने से तो ऐसा लगता है कि सृजन वर्तमान क्षणों में ही रूपायित हो रहा है, पर सत्य यह है कि इसमें कलाकार की भूत, वर्तमान और भविष्य की परिकल्पना का प्रमुख हाथ होता है। इस प्रकार **प्रेरणा एक प्रोत्तेजना का ही रूप है जो कलाकार के चेतन और अचेतन स्वरूप को गतिशील बना देती है।** यथार्थ यह है कि सृजन के क्षण पूर्ण रूपेण अन्तर्परीक्षण के विषय नहीं होते। इतना ही कहा जा सकता है कि कलाकार के मानस को उद्वेलित करने वाले विचार कलाकृति के उपस्कारक तत्व होते हैं। ये किसी भी समय किसी ज्ञात या अज्ञात कारण से कलाकार के मानस में उद्भूत हो जाते हैं और उसके लिए यथार्थ व्यक्तित्व ग्रहण कर लेते हैं। इनका कलाकार की चेतनता और अचेतनता दोनों से सम्बन्ध होता है। **सृजन, विचार के अचेतन से चेतन स्तर पर आने का प्रतिफलन है।** उत्तेजना के कारण कलाकार के विचार शनैः-शनैः उसके मानस-पटल पर अंकित होते जाते हैं। यह स्वरूप मानसिक सृजन की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। कलाकार इस मानस प्रतिमा को उपयुक्त माध्यम और कौशल के साथ कलात्मक रूप प्रदान करता है। **कलाकार के जीवन-स्पन्दन जब कारण विशेष से प्ररोचित होकर कला का रूप ग्रहण करते हैं तो इसे हम प्रेरणा की संज्ञा से अभिहित करते हैं।**

विशेष—

इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि कलाकार अपनी अनुभूति को अर्थवत्ता प्रदान करता है। वैसे तो अर्थ-संदर्भों का प्रयोग सामान्य बात-चीत से लेकर असामान्य जीवन-व्यापारों के साथ गुँथा होता है पर इस संदर्भ में विशेष रूप से जिस बात की ओर ध्यान जाना आवश्यक है, वह यह है कि कलाकार की यह अर्थाभिव्यक्ति विशिष्ट क्रिया है। भारतीय मनीषियों ने "शब्दार्थौ सहितौ" या "वागर्थाविव संपृक्तौ" अथवा

> **"सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महताकवीनाम्।**
> **अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति, परिस्फुरंतम् प्रतिभा विशेषम्॥"**

कह कर इस विशिष्टता का अभिज्ञान कराया है। यहाँ 'शब्द' और 'अर्थ' के आन्तरिक चारुत्वपूर्ण और स्पर्द्धापूर्ण अन्तः सम्बन्ध का ही उल्लेख किया गया है। इसी तथ्य को पाश्चात्य विचारकों ने भी ग्रहण किया है। उनकी भी स्पष्ट

धारणा है कि भावशबल भाषा को कलाकार की आन्तरिक अनुभूति को अभिव्यक्ति करना चाहिए। कलाकार को ध्वनि-शोधक-विधायक कल्पना (auditory imagination) से अलंकृत होना चाहिए। यह कल्पना कलाकार को सामान्य प्रचलित अर्थों का अवगाहन करके नवीन अर्थ और नवीन उन्मेष प्रदान करने का प्रमुख साधन है। यही चमत्कार और समन्वय का प्रमुख कारण है। तात्पर्य यह कि कलाकार निश्चित मनोदशा में शब्द और अर्थ के माध्यम से कुछ प्रकट करता है। इस संदर्भ में यह प्रश्न उठता है कि वह ऐसा क्यों करता है? प्रायः यह सर्वविदित तथ्य है और हर अवबोध में यह चेतना भी विद्यमान पाई जाती है कि मनुष्य के माध्यम से ही यथार्थ की अभिव्यक्ति होती है। हर सृजन इसी यथार्थ की अभिव्यक्ति के कारण संसृति के स्वरूपों से सम्बद्ध होता है। जब भी हम इसके विशिष्ट पक्ष को कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करते हैं तो यह सम्बन्ध असीम से ससीम बन कर ऐसे सामंजस्य का जनक बन जाता है जो प्रकृति वैविध्य पर मानव के मानसिक सामंजस्य के आरोप के कारण उत्पन्न हुआ है। इस स्थिति में स्रष्टा और उसकी सृष्टि में अभिन्न सम्बन्ध रहता है। वह अपनी अन्तर्दृष्टि के अनुसार अपने सृजन में आवश्यक संशोधन करता जाता है। इस स्थिति में कई क्रियाएँ एक साथ घटित हो सकती हैं। **कलाकार की प्रेरणा और कलाकृति के निर्माण की क्रिया सम्बद्ध तो होती हैं, पर इनमें सामान्य अन्तर भी पाया जाता है। प्रेरणा तैल-बिंदु के सदृश होती है और उसका विस्तार इस बिंदु के जल पर पड़ने के विस्तार सदृश।** कभी-कभी प्रेरणा के बावजूद कलाकृति को सृजन के पूर्व कई बार मनःसृष्टियों के धरातल पर बनाना और बिगाड़ना पड़ता है। **बोध की स्थिति में उपादान का प्राधान्य रहता है, पर सृजन की स्थिति में सृजक के बोध-द्रष्टा के बोध—का प्राधान्य।**

सृजन, पठन अथवा आस्वादन का अपेक्षित है। लेखक अपनी दृष्टि से संसृति के बोध को कला के माध्यम से प्रकट करता है, और पाठक अपनी और कलाकार की दृष्टि से उसका आस्वादन करता है। **हर कलाकृति की प्रेरणा में इन दृष्टियों के अतिरिक्त अन्यान्य स्वरूप भी विद्यमान रहते हैं।** अतएव इस सन्दर्भ में इतना ही कहना उपयुक्त है कि प्रेरणा, कला की दृष्टि से आज भी महत्वपूर्ण है, इसका स्वरूप मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, अर्थशास्त्रीय या लालित्य बोधीय हो सकता है। मानव-मानस की स्थिति अगाध समुद्र की तरह होती है जो किसी भी वायु के गतिशील होने से तरंगायित हो उठता है। यह उद्वेलन उस कलाकार की अनुभूति को भव्य रूप देता है और अन्ततोगत्वा इसी के द्वारा कला का आविर्भाव होता है।

तृतीय तरंग

कलानुभूति

'अंग्रेजी साहित्य में अनुभूति का व्यापक प्रयोग हुआ है। कभी तो इसे चेतना के अर्थ में ग्रहण किया गया है और कभी अनुभव के अर्थ में। मनोविज्ञान में 'फीलिंग' या 'मेन्टल एक्सपीरियन्स' के रूप में इसे मानस अनुभव स्वीकार किया गया है। इसके अनुसार यह आंतरिक क्रिया है जो वाह्य परिणाम नहीं उत्पन्न करती। मनोविज्ञान के अतिरिक्त साहित्य के क्षेत्र में भी इसका विशद विवेचन हुआ है - यथा; काव्यानुभूति, भावानुभूति, रसानुभूति, प्रातिभ अनुभूति, विलक्षण अनुभूति, रहस्यानुभूति, लौकिक-अनुभूति, प्रत्यक्षानुभूति, समानुभूति, सहानुभूति आदि।

इन विविध प्रयोगों और उनसे सम्बद्ध अर्थ-संदर्भों से इनकी व्यापकता पर शक करने की गुञ्जाइश नहीं रह जाती। इसी को दृष्टिपथ में रखते हुए **'एरिक न्यूटन'** ने लिखा है—"केवल अनुभूति ही उस गर्भाशय को उर्वर बना सकती है जिससे कला का उद्भव हो सकता है। विधायक कल्पना वस्तुत: मशीनी क्रिया है जिसमें कला की मानस प्रतिमा का निर्माण होता है सृजन नहीं। जिस प्रकार चुनी हुई सामग्री के आधार पर मशीन से उपयोगी वस्तुएँ तैयार की जाती हैं, उसी प्रकार कल्पना रूपी मशीन से अनुभूति रूपी सामग्री का चयन करके कला का सृजन किया जाता है।"[1] **ऐरिक न्यूटन'** के अतिरिक्त **'होग्रेफ'** ने अपनी पुस्तक 'द प्रासेस ऑव् क्रिएटिव राइटिंग' की भूमिका में सृजन की कतिपय विशेषताओं और आवश्यकताओं का उल्लेख करते हुए अनुभूति के सृजक पक्ष पर प्रकाश डाला है। **लेखन की दृष्टि से उन्होंने मौलिकता** (originality), **निर्व्याजता**

---

1. Experience alone can fertilise the womb in which a work of art is conceived—what is called the artistic imagination—the part of this creative mechanism responsible for envisaging the work of art as opposed to creating is merely a machine in which his experience of life is sorted out and dealt with.

—Eric Newton

(Honesty), **सर्वोत्कृष्ट विषय की खोज और उसका प्रयोग** (Finding and using your best subject) **तथा प्रेरणा के नियन्त्रण और सृजन की शिक्षा** (learning to create and control inspiration) **को उल्लेख्य माना** है, और कुछ स्वीकार्य तथ्यों की चर्चा करते हुए अनुभूति की विशेषताओं को अपना विवेच्य बनाया है। **'होग्रेफ'** ने इस तथ्य को प्रतिपादित किया है कि—

(१) कलात्मक-सृजन अनुभूति है जो कलात्मक शब्दों में इसे संप्रेषित करती है।

(२) सशक्त अंतःप्रेरणा में मस्तिष्क, संवेग और शरीर का सहयोग रहता है।

(३) इन्द्रियों के द्वारा मनुष्य सजीव अंतःप्रेरणा की अनुभूति करता है। कलाकार इस अनुभूति का ही पुनर्सृजन करता हुआ इसे कलात्मक रूप प्रदान करके स्वसंवेग को पर संवेग बनाता है।

(४) अनुभूति विशिष्ट होती है अतएव उसका निश्चित देशकाल, स्थान चित्तवृत्ति और परिस्थिति से संबंध होता है।

(५) सृजन एक क्रिया है।

(६) परिवर्तन और विकास के संदर्भ में कलाकार अपनी अनुभूति को और भी सशक्त रूप में अभिव्यक्त करता है।

(७) कथानक का सावयव विकास प्रयुक्त सामग्री का मुखापेक्षी होते हुए भी अनुभूति की विविधता को अभिव्यक्त करने में सहायक सिद्ध होता है।

(८) तकनीक के माध्यम से लेखक अपनी अनुभूति को कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करता है।

उनकी उपर्युक्त मान्यता पर्याप्त व्यापक है। इसमें उन्होंने अनुभूति, उसके संप्रेषण और ऐन्द्रिय स्वरूप, इस स्वरूप की विशिष्टता, इसके अन्य जागतिक स्वरूपों के सम्बन्ध तथा कलात्मक कौशल के माध्यम से इसकी मनोरम अभिव्यक्ति पर प्रकाश डाला है। संक्षेप में उन्होंने अनुभूति को कला के रूप में परिणित होने के सभी आवश्यक सोपानों का उल्लेख किया है।

इसके अतिरिक्त अनुभूति और सृजन के अंतः संबंध पर प्रायः सभी लालित्यबोधीय विचारकों ने अपनी दृष्टि से विचार किया है, पर 'हेनरी जेम्स' की मान्यता विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। उनका कहना है—

'अनुभूति कभी सीमित या पूर्ण नहीं होती। यह स्वतः अनन्त संवेदनशीलता की परिचायक है। यह चेतना में लटकाये गये महीन सिल्क के तन्तु से

निर्मित उस मकड़ी के जाले के सदृश है जो अपने प्रसार में सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं को ग्रहण कर लेता है। यह मानस के संपूर्ण परिवेश की निर्मात्री है। जब प्रतिभा सम्पन्न कलाकार का मानस विधायक कल्पना को दीप्तिमय क्रिया से आलोकित हो उठता है तो अनुभूति सामान्य से सामान्य जीवनानुभूति को सशक्त, स्पन्दन-पूर्ण और प्रभावोत्पादक कलात्मक रूप प्रदान करने में सक्षम सिद्ध होती है। यह दृश्य से, अदृश्य तक का अवगाहन करके उपादान में निहित रहस्य को सुलझा सकती है और सङ्घटना के आधार पर अंतर्निहित सामंजस्य का अभिज्ञान करा सकती है। इसमें जीवन के रहस्यमय कोणों को आलोकित करने की अदभुत शक्ति होती है।"[1] इस उद्धरण में 'जेम्स' ने अनुभूति की असीमता, अपूर्णता, चेतना की कोमलतंत्री को झंकृत करने की क्षमता, कल्पनाप्रवण मस्तिष्क की नवोन्मेष-शालिनी प्रक्रिया, दृश्य पटल को भेद कर अदृश्य पटल में छिपे रहस्यों के साक्षात्कार की दक्षता और व्यापक जीवन-स्पन्दन की सूक्ष्म से सूक्ष्म गतिविधि के विश्लेषण की सामर्थ्य का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि ये सभी विशिष्टताएँ किसी न किसी रूप में अनुभूति की उपस्कारक हैं।

आलोचना और लालित्य-बोध के क्षेत्र में अनुभूति पर बड़ा विचार हुआ है। यह विचार अपने स्वरूप में चिंतन के विविध आयामों को सन्निहित किये हुए है। वस्तुत: अनुभूति के दो पक्ष हैं। प्रथम के अंतर्गत कलात्मक अनुभूति (जो कलाकार को होती है) और दूसरे के अन्तर्गत पाठक की अनुभूति ली जा सकती

---

1. Experience is never limited and it is never complete; it is an immense sensibility, a kind of huge spider-web of the finest silken threads suspended in the chamber of consciousness and catching every airborne in its tissue. It is the very atmosphere of the mind, and when the mind is imaginative-much more when it happens to be that of man of genius—it takes to itself the faintest hints of life, it converts the very pulses of the air into revelations............The power to guess the unseen from the seen, to trace the implications of things, to judge the whole piece by the pattern, the condition of feeling life in general so completely that you are well on your way to knowing any particular corner of it—this cluster of gifts may almost be said to constitute experience and they occur in country and in town and in the most differing stages of education."

है। कतिपय आधुनिक विचारकों ने साहित्य के पाठक और लेखक दोनों की दृष्टि से विचार किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि पाठक भी उसी अनुभूति के बीच होकर गुजरता है जिसके बीच सृजन की स्थिति में लेखक को गुजरना पड़ा था। पर यह बात कुछ अधिक उपयुक्त नहीं प्रतीत होती। लेखक और पाठक भिन्न व्यक्ति होते हैं, उनकी चित्तवृत्तियों और संस्कारों में कुछ अंतर होता है। दोनों की व्याख्या के तरीके कुछ भिन्न हुआ करते हैं, अतः उनके दृष्टिकोण में भिन्नता का होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। वैसे तो पाठक और लेखक दोनों ही कृतियों के व्याख्याता होते हैं पर मूलरूप में उनके सम्मुख उपादानों और उनसे प्रभावित होने की तीव्रता में गुणात्मक और परिमाणात्मक अन्तर होता है। लेखक संसृति का चितेरा होता है, वह इसी के क्रियाकलाप से प्रेरणा ग्रहण करता है और उस प्रेरणा के आधार पर अपनी कृति की सर्जना करता है। पाठक लेखक की कृति को पढ़ता है, उसके समक्ष उसके अनुभव के विशिष्ट स्वरूप साकार हो उठते हैं। वह लेखक द्वारा गृहीत इस अनुभव को अपने अन्वीक्षण, परीक्षण और अनुभूति संवलित ज्ञान के आधार पर विश्लेषित करता है। लेखक की अनुभूतियाँ उसकी भुक्तभोगी एवं अर्जित कलात्मक चित्तवृत्ति की परिचायक होती हैं, पर पाठक अपने अर्जित संस्कारों के आधार पर लेखक की अनुभूति का व्याख्याता होता है। इस रूप में यह कहा जा सकता है कि लेखक जहाँ अपने यथार्थ जीवन स्पन्दनों को कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता है वहीं पाठक अपनी अनुभूतियों और अभिरुचियों के आधार पर उसका स्पष्टीकरण करके आस्वादन करता है। उसे उन तक पहुँचने के लिए विविध अनुमानों का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है।

वस्तुतः कलाकार का संबंध भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों से होता है। भूतकाल के संगृहीत विचार बीज रूप में वर्तमान की प्रेरणा से उद्बुद्ध होकर भविष्य के लिए एक महत्वपूर्ण सर्जन छोड़ जाते हैं। कलाकार वर्त्तमान में जीता अवश्य है, पर भूत कुछ हद तक उसके पूर्व जिये गये जीवन का प्रतीक और भविष्य उसके बाद में जिये जाने वाले जीवन का आधार-स्तम्भ होता है। इस परिवेश में इनमें (प्रकारान्तर से) एक सूत्रता होती है, अतः इन्हें एक दूसरे से अलग नहीं बल्कि अभिन्न एवं पूरक माना जा सकता है। यह सर्वथा मान्य सत्य है कि कलाकार की अनुभूति उसके वर्त्तमान संघर्षों की उपलब्धि है, पर केवल वर्त्तमान ही इसका निर्माता नहीं कहा जा सकता। एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। एक व्यक्ति, जिसने बहुत पहले से भवन-निर्माण की योजना बना रखी है, अपनी आय से कुछ धन काट कपट कर रख लेता है। कुछ समय

बाद वह जमीन ले लेता है, पुनः पैसों की बचत करता हुआ कुछ ईंट खरीद लेता है। इसी प्रकार वह सीमेण्ट आदि का प्रबन्ध करके भवन-निर्माण की ओर अग्रसर होता है। वह निश्चित नक्शे के आधार पर नींव खुदवाता है और पुनः जुड़ाई आरंभ होती है। उसकी आँखें निरंतर उसी मकान पर लगी रहती हैं। अपनी शक्ति के अनुसार वह उसका कलात्मक ढंग से निर्माण करता है। जिस दिन मकान बनकर तैय्यार होता है, वह केवल उसी दिन की उपलब्धि नहीं होता बल्कि उस निर्माण का स्पष्ट संबन्ध उसके पूर्व प्रयत्नों और भविष्य परिकल्पनाओं से भी होता है। जो बात उपर्युक्त उदाहरण के सम्बन्ध में सत्य है वही कलात्मक सृजन पर भी शत प्रतिशत लागू होती है। 'रिल्के' ने अपनी पुस्तक 'Malte Laurids Brigge' में अनुभूति वैविध्य के संग्रह की चर्चा करते हुए, इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है —

"कलाकार को निरंतर पर्याप्त समय तक धैर्यपूर्वक जीवन का अवलोकन करके इसकी सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों का संकलन करना चाहिए। फिर अंत में वह किसी प्रकार दस महान पंक्तियाँ लिख सकता है जो सरलतापूर्वक काल का ग्रास नहीं बन सकतीं।"[१] सत्य यह है कि **भूतकाल की अनुभूतियों को सुरक्षित रखने वाले व्यक्ति को विशिष्ट संवेदन संपन्न और तीव्र प्रतिभा संयुक्त होना चाहिए।** प्रायः ऐसा भी पाया जाता है कि उपादान विशेष के प्रत्यक्ष साक्षात्कार के समय व्यक्ति केवल उतनी ही बात पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित करता है जो उसके उपयोग के लिए उपादेय होती हैं। परिणाम स्वरूप भूतकालीन अनुभूति से प्राप्त होने वाले चित्र एकांगी होते हैं। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए पॉल वेलरी ने लिखा है—"**अधिकांश व्यक्ति आंख से न देख कर बुद्धि से देखते हैं।** वे पुतलियों का प्रयोग न करके शब्दकोष का प्रयोग करते हैं। परिणाम स्वरूप उन्हें जीवन के सुख दुःखात्मक रूप का यथार्थ अभिज्ञान नहीं होता। उनका प्रभाव सीमित होता है।......"[२]

---

1. One ought to wait and gather sense and sweetness whole life long and a long life if possible, and then quite at the end, one might perhaps be able to write ten good lines.

2. Majority of people see with the intellect much more frequently than with the eyes.........They see through dictionaries rather than through the retinae, they come so ill to an object, so vaguely to knowledge of pleasures and pains of

प्रश्न यह उठता है कि अनुभूति की इस संकीर्णता से बचने के लिए कलाकार को क्या करना चाहिए ? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि उसे संबद्ध उपादानों पर गंभीरतापूर्वक विचार करके उनके विविध पक्षों से अवगत होने का प्रयत्न करना चाहिए। इसे हम अनुभूति प्रक्रिया के आरंभिक स्तर की दृष्टि संपूर्णता के नाम से अभिहित कर सकते हैं। **अनुभूति की प्रभावान्विति हमारी इन्द्रियों की कुशलता की मुखापेक्षी हैं।** यह सत्य है कि मानव को पाँच इन्द्रियाँ मिली हैं। इन्हें हम आँख, कान, नाक, मुख और त्वचा की संज्ञा देते हैं। आँख का कार्य देखना है, नाक का सूँघना, कान का श्रवण करना, मुख का स्वाद लेना और त्वचा का स्पर्श करना। इस प्रकार इनके द्वारा स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और श्रवण इत्यादि से संबंधित कार्य संपादित होते हैं। इन इन्द्रियों और इनके विशिष्ट गुणों की सत्ता परस्परानुमोदित अभिज्ञान पर आधारित है। इनमें एक के सक्रिय सहयोग के अभाव में दूसरी पंगु ही नहीं हो जाती अपितु अंशतः अपने कार्य को संपादित करने में भी असमर्थ हो जाती है। संभवतः इसी स्थिति के संकेतार्थ 'पृथ्वी राज रासो' के रचयिता ने 'कछु पुच्छन को जाहि पै पुच्छत लाज हीं' तथा गोस्वामी तुलसीदास ने 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' का प्रयोग किया है। **अनुभूति में इन्द्रिय अवबोध के अभिज्ञान का प्रमुख हाथ होता है।** इन्हीं की सक्रियता अथवा निष्क्रियता उसकी सघनता अथवा विरलता के लिए उत्तरदायी होती है।[1]

---

sight that they have had to invent beautiful views of everything else, they are unaware. But at the beatiful views they regale themselves on a concept swarming with verbal associciation............and since they reject as nothing that which has not a name, the number of their impressions is limited in advance.

१. तुलना कीजिए—

The profuse development of external perceptions those of appearance, the sound, the taste, the material presence and pressure of things, will at any rate, I think, not be denied to the master signs of novel in France, as the first among younger talents show it to us to-day. They carry into the whole business of looking, seeing, hearing, smelling into all kinds of tactile sensibility, and into noting analysing and expressing the results of these acts, a seriousness much greater

ऐन्द्रिय अवबोध के अतिरिक्त अनुभूति का सम्बन्ध ऐसे भी तथ्यों से होता है जो एक प्रकार से दृश्य-संसृति से परे हैं। जहाँ तक ऐन्द्रिय अवबोध का प्रश्न है, उसके लिए कलाकार स्पष्ट रूप से दृश्य जगत से उपलब्ध होने वाली सामग्री का मुखापेक्षी होता है। यहाँ उसकी अनुभूति का धरातल भी उन्हीं उपादानों से उपलब्ध होने वाली विशेषताओं से सम्बद्ध होता है, पर इस द्वितीय प्रकार की अनुभूति में कलाकार एक प्रकार से अदृश्य और सूक्ष्म विचारधाराओं से सम्बद्ध होता है। यह अवस्था विशिष्ट संवेदनपूर्ण अवस्था होती है। इस समय वह अपनी सचेतनता के धरातल पर सूक्ष्म तथ्यों के अभिनिवेश के द्वारा कल्पना-प्रवण मानसिक उपलब्धियों के ताने-बाने बुनने के लिए उद्यत होता है। यहाँ **वह जीवन के क्षीण से क्षीण निर्देशों पर दत्तचित्त होकर विचार करता है और इसके अनन्त अदृश्य स्पन्दों को अनुभूति के धरातल पर मूर्तिमान करने के लिए प्रयत्नशील हो उठता है। यहाँ उसकी सर्जक प्रतिभा परोक्ष से अपरोक्ष, दृश्य से अदृश्य और सान्त से अनन्त की ओर विविध रूपों में उन्मुख दिखाई पड़ती है। इसी धरातल पर वह वस्तुओं के वाह्य और आभ्यंतर स्वरूप में सामंजस्य देखता है और उसका तत्सम्बन्धी अवबोध भी न केवल कलात्मक साँचे में ढलता है अपितु उसकी अर्थवत्ता उसके लिए स्वयं सिद्ध सार्थकता प्रमाणित होने लगती है।** अनुभूति की इस अवस्था की प्रमुख विशेषताएँ भी होती हैं। यहाँ उसकी अप-रोक्ष सर्जन क्षमता किसी न किसी अंश में स्पष्ट या अस्पष्ट, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसके ऐन्द्रिय अवबोध के घात प्रतिघात से प्रभावित होती रहती हैं। इस प्रकार धरातल **पर कलाकार की सृजनोन्मुख अनुभूति-प्रवणता दृश्य और अदृश्य के महा-मिलन अथवा दृश्य के अदृश्य में परिणित होने के महाप्रयास की ही परिचायक है।** इसीलिए यह आदर्शोन्मुख प्रक्रिया के नाम से अभिहित की जाती है। यहाँ **लेखक के जीवन का स्वप्न उसके जीवन के विश्वास के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यही स्वप्न से विश्वास तक का प्रत्यावर्तन सर्जनात्मक अनुभूति का प्रमुख दिशा निर्देशक तत्व माना जाता है।** 'जी रोस्ट्रीवर हैमिल्टन' ने कला के आस्वादन पर विचार करते हुए (१) तत्परता (Preparation), (२) यथोचित मूल्यांकन (appreciation) (३) प्रभाव (effects) और (४) अन्यान्य घटनाओं (another kinds of happenings) आदि की चर्चा की है। वस्तुतः कला-स्वादन के ये तत्व-सर्जनात्मक अनुभूति के भी प्रमुख अभिघटक माने जा सकते हैं।

---

than that of any other people. Their sensibility is immense and it may be said in truth to have produced a literature.
(Hen, James)

कलानुभूति पर दृष्टिपात करते समय कई अन्य सम्भावित मान्यताएँ भी हमारे समक्ष प्रस्तुत होती हैं। इनसे सम्बन्धित काव्य सिद्धांतों पर दृष्टिपात करने से निम्नांकित निष्पत्तियाँ हमारे समक्ष आती हैं —(१) भौतिक और आध्यात्मिक विश्व का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है (२) ये दोनों अपनी इकाई और अस्तित्व में सर्वथा स्वतन्त्र हैं। अनुभूति किसी न किसी रूप में इनके आंतरिक घात-प्रतिघात पर आश्रित है और (३) मस्तिष्क स्नायुसंस्थानीय क्रिया का अविभाज्य अंग है।

उपर्युक्त तथ्यों पर सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने से यही बात सरलता से समझ में आती है कि प्रथम प्रकार के दृष्टिकोण के अंतर्गत कलाकार प्रमुख रूप से भाव संवेगों के आनयन और निरूपण से **सम्बद्ध** होता है। यहाँ वह भौतिक विश्व की सीमाओं से परिचित तो अवश्य रहता है, पर वह उनसे पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं होता। **परिणामस्वरूप** वह इनका परित्याग करके एक व्यापक क्षेत्र में पदार्पण करता है, वह सम्पूर्ण संसृति के अन्तराल में निहित अंत:स्पन्दनों को समझने, ग्रहण करने और उन्हें मूर्तरूप देने के लिए प्रयत्नशील होता है। द्वितीय प्रकार के दृष्टिकोण को मान्यता प्रदान करने वाला कलाकार सौंदर्यानुभूति को वस्तुगत या विषयगत रूप में चित्रित करता है। उसका अभिमत है कि सौंदर्य प्रमुख रूप से उस उपादान में निहित होता है, अनुभूति प्रवण मस्तिष्क से इसका विशेष सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वह उसका दर्शक या व्याख्याता मात्र है। तृतीय प्रकार का दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक माना जा सकता है। इसके प्रतिपादक अनुभूति की व्याख्या के लिए प्रमुख रूप से मानव की शरीरस्थ स्नायविक क्रियाओं पर विशेष रूप से विचार करते हैं। वस्तुत: ये सभी उपपत्तियाँ सत्य हैं, पर इन्हें आंशिक सत्य ही कहा जा सकता है। यह सम्पूर्ण विवेचन प्रकारान्तर से पूर्णतथ्य को अभिव्यक्त करने के स्थान पर उसके खण्ड सत्य को ही रूपायित करता है। यह सत्य है कि कलाकार भौतिक विश्व के अवबोधों का भी मुखापेक्षी है किन्तु केवल वे ही कला के घटक अथवा अनुभूति के निर्माता नहीं हैं। उसे कुछ हद तक इनके परे कतिपय अदृश्य स्वप्नों का मुखापेक्षी भी बनना पड़ता है। उसका दृष्टिकोण न तो केवल विषयनिष्ठ होता है और न मात्र विषयिनिष्ठ। वह तो आवश्यकतानुसार दोनों ही दिशाओं में गमन करता दीख पड़ता है। कलानुभूति एवं सर्जन के समय स्नायविक परिवर्त्तन भी होते हैं, जिन्हें संचारी भावों के नाम से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार कला-निर्माण अथवा आस्वादन के समय कलाकार या सामाजिक किसी न किसी प्रकार इन उपर्युक्त स्वरूपों से होकर गुजरता है, अतएव उसकी सीमा के अन्दर इन सब का अपेक्षित सहयोग रहता है।

साहित्य के क्षेत्र में **अनुभूति अति प्रवंचक शब्द है** । यह तो सर्वमान्य सत्य है कि अनुभूति रूपायित होने पर कला का रूप ग्रहण करती है, पर **अनुभूति से लेकर कला तक का यह प्रत्यावर्तन अनुपम आंतरिक उद्‌वेलन और वाह्य अन्वीक्षण का मुखापेक्षी होता है । कलाकार के द्वारा अनुभूत और परीक्षित अनुभव की अभिव्यक्ति-सक्षम परिव्याप्ति ही कला को प्राणवान बनाती है । उसका अंतर्मंथन ही रूपायित होकर सबके लिए आस्वाद्य बनता है** । इस अनुभूति पूर्ण अंतःचर्वणा को कवियों और लेखकों ने विविध रूपों में अभिव्यक्ति प्रदान की है ।'कीर्के गार्द' का कथन है—''कवि ऐसा अवसादग्रसित जीव होता है जिसका हृदय प्रच्छन्न वेदना से पिघलता रहता है, पर उसके विचित्र ओष्ठ हृदय से निस्सरित होने वाले इस वेदना-प्रवाह को मधुर संगीत में परिणित करते जाते हैं । उसका भविष्य उस अभागे व्यक्ति के सदृश है जिसको निरंकुश 'फलारिस' ने बाँधकर विविध यातनाएँ दी थीं, पर उसकी करुणा सिक्त वाणी उस तक पहुँच भी न पाई थी । जब यातना से क्षीण होकर वह पहुँची भी तो उसे वह मधुर संगीत के सदृश ज्ञात हुई । प्रायः जनता कवि को घेर कर उसे पुनः गाने के लिए बाध्य करती है । ऐसा ज्ञात होता है कि वह उससे संगीत नहीं सुनना चाहती, अपितु प्रकारान्तर से यह कहना चाहती है कि तुम्हारा हृदय पुनः कष्ट की अनन्त वेदना से पीड़ित हो और उससे पुनः ऐसा संगीत प्रवाहित हो उठे जो आनंदप्रद हो ।''[1] स्पष्ट है कि अनुभूति ही मानव क्रिया कलापों में निहित रहस्य को धारण करके उसको संवेदनशील रूप में संघटित करती है । कला का उद्देश्य इसी अनुभूति के ऐन्द्रिय अवबोध के माध्यम से आनन्द की

---

1. "A poet is an unhappy being whose heart is torn by secret sufferings, but whose lips are so strangely formed that when the sighs and cries escape them, they sound like beautiful music. His fate is like that of unfortunate victims whom the tyrant phalaris imprisioned in a brazen bull, and slowly tortured over a steady fire, their cries could not reach the tyrant ears, so as to strike terror into his heart; when they reached his ear they sounded like sweet music. And the men crowd about the poet and say to him, "Sing for us soon again ;" that is as such as to say; may new sufferings torment your soul, but may your lips be formed as before, for the cries would only frighten us but the music is delicious."

उपलब्धि कराना है। 'एक्विनास' ने विश्वजनीन सौंदर्य के प्रमुख अभिघटकों में integritas, consonatia और claritas का उल्लेख किया है। 'जेम्स ज्वायस' ने इन्हें अखण्डता (wholeness), सामंजस्य (harmony) और दीप्ति (radiance) के नाम से अभिहित किया है। उन्होंने इन तीनों घटकों की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"In the luminous apprehension of aesthetic image the thing is apprehended in its integritas, as single and whole, "as self bounded and self contained upon the immeasurable background of space and time which is not it............The synthessis of immediate perception is followed by analysis, 'the apprehension of the thing as complex, multiple, divisible, seperable, made of its parts, the result of its and their sum, harmonious 'the consonatia' of the thing is now discerned. claritas is less easy to grasp."

'ज्वायस' ने अनुभूति के इन अभिघटकों की विशद व्याख्या की है और प्रथम दो के लिए 'एपिफेनी' शब्द का प्रयोग किया है। उसका कहना है कि लालित्य बोधीय अनुभूति समन्वय के क्रिया की जन्मदात्री है। वस्तुतः 'डब्लू० बी० यीट्स' ने भी 'ज्वायस' का ही समर्थन किया है। इन दोनों में केवल यही अंतर है कि उसने 'stasis' के लिए 'एक्सटेसी' शब्द का प्रयोग किया है।

उपर्युक्त विचारकों ने अपने विवेचन में अनुभूति की अखण्डता पर दृष्टिपात किया है और इसे मान्य भी ठहराया है। संभवतः आधुनिक विचारक प्रश्न के इस पहलू से सहमत न हों। अनुभूति के संदर्भ में इसके दो पक्ष सामने आते हैं (१ कलात्मक अनुभूति अखण्ड है (२) कलात्मक अनुभूति अखण्ड नहीं है, यह विविध खण्ड अनुभूतियों का एक सम्मिलित रूप है। डॉ० डी० जी० मूर ने अपनी पुस्तक 'प्रिस्पिआएथिका' में इस बात पर विचार किया है। उनका कथन है कि अखण्ड को खण्ड के आधार पर भी समझा जा सकता है क्योंकि 'खण्ड' के अन्दर अखण्ड की विशिष्टताएँ किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती हैं। **अखंड कलानुभूति त्रिकोणात्मक होती है। इसके एक शीर्ष पर सुन्दरता का उपादान रहता है, दूसरे पर सौंदर्य चेतना और तीसरे पर इसके उपयुक्त कलात्मक मनोभाव पाया जाता है।** स्वतंत्र इकाई में सुन्दर उपादान का महत्व होता है, पर सौन्दर्य चेतना और तत्संबंधी मनोभावों का विशेष महत्व नहीं होता क्योंकि इनका सम्बन्ध अन्य उपादानों से भी उसी रूप में हो सकता है। वस्तुतः 'मूर' साहब का यह विवेचन वस्तुगत दृष्टिकोण का परिचायक है। इसी

तथ्य को और भी स्पष्ट करते हुए मि० 'स्टर्ज मूर' ने लिखा है कि "**सुन्दरता उतनी ही वस्तुगत है जितना प्रकाश। इसकी कलात्मक अनुभूति अभीप्सित उपादानकी मुखापेक्षी है। इसी उपादान की उपस्थिति में कलाकार अपनी विषयिगत अनुभूतियों को प्रस्तुत करता है।**" तात्पर्य यह है कि कलात्मक अनुभूति विषय प्रधान है। किन्तु इस तथ्य को मान्यता प्रदान करना सरल नहीं है; इसके स्पष्टीकरण के लिए किसी कलाकृति का उदाहरण लिया जा सकता है। कलात्मक अनुभूति के लिए उपादान विशेष की उपस्थिति आवश्यक है, पर उपादान ही सब कुछ नहीं, इसकी ऐन्द्रिय अनुभूति भी कुछ हद तक आवश्यक है। **ऐन्द्रिय अनुभूति उपादान के तद्वत चित्रण से ही सम्बन्धित नहीं होती, इसमें कलाकार की आकांक्षा, अभिलाषा और अभिरुचि का भी सहयोग होता है।** इन विशिष्टताओं से अलंकृत होने के कारण कलाकार उपादान को इस रूप में चित्रित करता है कि वह अपने प्रथम स्वरूप से कुछ भिन्न हो जाता है। बर्गसाँ का कहना है कि "जिस अनुपात में हम वाह्य आवरण का परित्याग करके मानस की गहराई में उतरते जाते हैं, और यथार्थ बोध करते जाते हैं, उसी अनुपात में चेतना के स्वरूप सान्निध्य का परित्याग करके आपस में मिलते दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इस सम्मिलन में सभी घटकों की विशेषताएँ विद्यमान रहती हैं।[1] वस्तुतः यह सत्य है कि कलात्मक अनुभूति की तीव्रता की स्थिति में जब हमारा अन्तः ज्ञान उद्बुद्ध और प्रबुद्ध रहता है तो इस प्रकार की संकीर्ण सीमाओं का कोई अर्थ नहीं होता। वे स्वयमेव समाप्त होकर एक व्यापक परिप्रेक्ष्य की जनक बनती हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि **अनुभूति की अवस्था में कलाकार का दीप्तिमय चिंतन** (Luminous apprehension) **और दीप्तिमय परमानन्द** (Luminous silent stasis) **उसे अखण्ड चेतना की ओर उन्मुख करने में समर्थ हैं।** यथार्थ यह है कि अनुभूति की अवस्था में समन्वय और सामंजस्य की प्रक्रिया विविध स्तरों के बीच होकर गुजरती है। प्रथम स्तर पर यह आन्तरिक उपलब्धि और परिवेशीय परिस्थितियों में सामंजस्य स्थापित करती हैं; द्वितीय स्तर पर आत्म की सीमाओं का निरसन या अतिक्रमण करके इसे आनन्द की ओर उन्मुख करती है। यह आनन्द सामंजस्य की आवश्यक शर्त

---

1. "Just in proportion as we dig below the surface and get down to the real self do its states of consciousness cease to stand in juxtaposition and begin to permeate and melt into one another and each to be tinged with colouring of all the others."

और स्थायी मूल्य का आकर होता है। तृतीय स्तर का सम्बन्ध कलाकार की आनन्दावस्था और उसके आंतरिक उद्वेलन (जो उसे स्पन्दित करके सृजनोन्मुख बनाते हैं) के बीच सामंजस्य स्थापित करना है। अनुभूति संबलित कलाकृति इसी विशिष्टता से अलंकृत होने के कारण सतत परिवर्त्तनशील संसार में स्थायी मूल्यों का अवबोध कराने में सक्षम है। कलाकार का जीवन अनुभूति के धरातल पर सतत प्रयोगरत जीवन होता है, **जिस समय उसका युगबोध जीवन सत्य को रूपायित करने के लिये मचल उठता है, उस समय यथार्थ कला को अवतारणा होती है।**

वस्तुतः कलाकार संसृति के क्रिया-कलापों का अनुपम चितेरा होता है। इसके विभिन्न घात-प्रतिघात उसे निरंतर प्रभावित करते रहते हैं। जिस समय कलाकार का संवेदनशील मस्तिष्क वातावरण जनित परिस्थितियों से टकराता है उस समय यह प्रक्रिया उसकी आत्मा और संसृति के अन्तर्द्वन्द्व की परिचायक होती है। यही अन्तर्द्वन्द्व सचेतन अनुभूति का जनक होता है। इस संदर्भ में अनुभूति की परिभाषा 'उन परिस्थितियों और उपाख्यानों के रूप में ही प्रस्तुत की जाती है जो; यथार्थ अनुभव कहे जा सकते हैं और जिनकी स्मृति होते ही हम विह्वल होकर कह पड़ते हैं कि वाह कैसा अनुभव था।' कलाकृति में तथ्य एवं मूल्य का अविच्छिन्न सम्बन्ध रहता है। अनुभूति का इनसे सीधा सम्बन्ध होने से कलाकार विशिष्ट रूप से मानस को आन्दोलित कर सकने वाली घटनाओं से इन्हें सरलतापूर्वक प्राप्त कर सकता है। तथ्य एवं मूल्य की विशिष्ट अभिव्यक्ति होने के कारण कला कलाकार के गवेषणापूर्ण अन्तर्मंथन का प्रतिफलन होती है और उसका यथार्थ से गहन सम्बन्ध होता है। यह भी कहा जा सकता है कि **अनुभूति यथार्थ का अवबोध कराने का प्रमुख साधन है**। संसृति का यथार्थ अपने उपयुक्त स्वरूप में विविध होता है और इस वैविध्य में इसकी सुनिश्चित सत्ता भी हुआ करती है, पर द्रष्टव्य है कि यही यथार्थ सत्ता उसके मूल्य का कारण भी होती है। **अनुभूति अपनी अवबोधक क्षमता में कला के माध्यम से इसी मूल्य का अभिज्ञान कराने का प्रमुख साधन है**। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि यह कैसे सम्भव होता है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि कलाकार अद्भुत सहानुभूति सक्षम व्यक्ति होता है। वह अपनी सहानुभूति के माध्यम से घटनाओं या व्यक्तियों के विषय में कुछ सोचता या अनुभव करता है। उसका दृष्टिकोण स्पष्ट और अंतर्दृष्टि सूक्ष्म होती है। वह अपनी अंतर्दृष्टि के आधार पर उपादान विशेष के रहस्यमय स्वरूप से अवगत होता है। कलाकार वस्तु को उसके यथार्थ स्वरूप में देखता है, पर यह स्वरूप भी

कुछ हद तक सापेक्ष होता है क्योंकि, इसका अन्य परिवेशीय वस्तुओं से सम्बन्ध रहता है। परिणाम स्वरूप इसे इनसे सम्बद्ध करनेवाली भावनाओं को भी कुछ हद तक मान्यता प्रदान करना पड़ता है। इस स्थल पर आकर हमें इस बात को पुनः समझने की आवश्यकता होती है कि कलाकार को यथार्थ बोध कराने का कार्य अनुभूति द्वारा ही संपन्न होता है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या व्यक्ति की सामान्य अनुभूति और कलात्मक अनुभूति में कुछ भिन्नता होती है ? इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं है फिर भी इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि 'कलात्मक अनुभूति सप्राण और दुर्बोध होती है' और सामान्य अनुभूतियों में ये विशेषताएँ नहीं पायी जातीं। कलाकार भी अपनी संवेदनशीलता में सामान्य व्यक्ति से कुछ भिन्न होता है। उसमें अनुभूति को कुछ समय तक बनाये रखने की क्षमता होती है। वह इसी क्षमता के माध्यम से अनुभूति के विषम वैविध्य को एकोन्मुख करके उसमें सामंजस्य उत्पन्न करता है। यह क्रिया न ही सरल होती है और न आनन्दप्रद। इस प्रयत्न में उसे अपने अंतःकरण की विविध तनावपूर्ण भाव-स्थितियों को सुलझाना पड़ता है, अतएव यह क्रिया उसकी विवशता और आन्तरिक दुःखानुभूति की ही परिचायक होती है।[1] सामान्य व्यक्ति प्रकृति के उन नानाविध रूपों से प्रभावित अवश्य होता है जो उसे सर्वसुलभ स्वरूप प्रदान कर सके। कलाकार प्रकृति-दर्शन के समय उससे पूर्णरूपेण तादात्म्य स्थापित कर सकता है और उसकी सौंदर्य चेतना उसकी अनभूति को कला का रूप दे सकती है। इसी को 'हेनरी जेम्स' ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

---

[1] तुलना कीजिए—

(i) भारतीय शोक-श्लोक समीकरण से

(ii) Suffering is permanent, obscure and dark
And has nature of infinity—Wordsworth.

(iii) The culture of poets reality is dark and obscure suffering, he must sustain the suffering of reality, until he can find a body for it,......for a poet, feeling has the intensity of suffering.

(iv) For our own past is covered by the currents of action. But the torment of others remains an experience—unqualified, unworn by subsequent attrition. People change and smile; but the agony abides. —Coleridge.

"To feel a unity, a character and a tone, in one's impressions, to feel them related and all harmoniously coloured, that was positively to faee the aesthetic, the creative, even quite wondrously, the crititical life and almost on the spot to commence author".

वस्तुतः कलाकार अनुभूति की दशा में सत्य से पलायन नहीं करता, अपितु वह उसके रहस्य तक पहुंचने का प्रयत्न करता है। इस अवस्था में वह सत्यान्वेषण में तल्लीन रहता है, इसीलिए उसका सामान्य से सामान्य अनुभव भी कभी-कभी कलात्मक-सर्जन का परिचायक बन जाता है।

पूर्ववर्त्ती विवेचन में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि यह अनुभूति अखण्ड होती है। इसी बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। कलाकार के समक्ष एक व्यापक चित्रफलक क्रमशः उपस्थित किये जाने पर वह सर्वप्रथम उसके आरंभिक अंश को देखता है, पुनः धीरे-धीरे संपूर्ण चित्र उसकी आँखों में घूम जाता है। जिस समय उसने चित्र को पहली बार देखा था उस समय उसके अंतःकरण में उससे संबंधित एक बिम्ब बना था और ज्यों-ज्यों वह चित्र को देखता गया उससे संबंधित बिम्ब बनते चले गये। एक बिम्ब से दूसरे बिम्ब तक का यह प्रत्यावर्त्तन कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है, क्योंकि ये लगातार उसकी अनुभूति के विषय बनते जाते हैं। इस क्रम में एक बिम्ब से दूसरे बिम्ब तक के प्रत्यावर्त्तन के गुणात्मक परिवर्त्तन की निश्चितता से हम भले न परिचित हो सकें, फिर भी उनकी विभिन्नता से तो सरलतापूर्वक परिचित हो सकते हैं। **इन विविध बिम्बों का निर्माण निश्चितकाल का मुखापेक्षी होता है। यदि हम इस काल की सीमा को मिटा सकें तो हमें इस बात का अभिज्ञान हो जायगा कि ये सभी बिम्ब अन्ततोगत्वा एक अखण्ड अनुभूति के जनक बन जाते हैं। आरम्भिक बिम्ब की अवस्था में भाव संवेगों का अभाव रहता है पर बाद में सहभाव की स्थिति आ जाती है। इस अवस्था का प्रादुर्भाव होते ही अनुभूति चमत्कृत हो उठती है और इसमें सार्वभौमिकता और व्यापकता का समावेश हो जाता है।** इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए 'रोस्ट्रीवर हेमिल्टन' ने लिखा है—"हमें इस तथ्य का विश्वास करने को कहा जाता है कि बिम्ब सृजन करने वाले व्यक्तियों के लिए इसका मूल्य केन्द्रीय बोध के अतिरिक्त अन्य स्वरूपों में भी निहित रहता है। ये स्वरूप रहस्यमय अन्तःसम्बन्ध पर आश्रित रहते हैं और विचार तथा संवेग को नियंत्रित करते हैं। बिम्ब वैविध्य की

स्थिति में ये विशेष रूप से सशक्त और सप्राण पाये जाते हैं।"[1] अनुभूति संबंधी उपर्युक्त बातों पर दृष्टिपात करने से हमें ज्ञात होता कि **कलात्मक अनुभूति अखण्ड होती है, फिर भी उसमें आंतरिक विभेदीकरण सम्भव है। कलाकृति कलात्मक और सामान्य दोनों ही प्रकार की अनुभूतियों की जनक होती है और दोनों में सामान्य सम्बन्ध भी होता है।**

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि कला का उद्भव कलात्मक अनुभूति से होता है और यह कलात्मक अनुभूति संवेदन, प्रभाव, कार्य आदि का आकर हुआ करती है। इस अनुभूति की दशा में विषय और विषयि में एक ऐसा निश्चित संबंध होता है जो परिस्थितियों के आधार पर बिविध रूपों में बदलता रहता है। इस पर कलाकार की वैयक्तिकता और भावुकता की छाप रहती है। इसके प्रमुख उपादान वस्तु व्यक्ति, घटना, कार्य तथा कल्पना आदि हुआ करते हैं। कला की व्याख्या करते हुए 'पीकॉक' महोदय ने इस पर सम्यक रूप से विचार किया है।[2] उनका कहना है "सभी प्रकार की

1. "Thus we are asked to believe that, for the persons of the image producing types, the value of images lies some thing more fundamental than their sensory quality, some-mysterious relationship which controls thought and emotion, this mysterious image relationship, it is admitted, is likely to be more potent, where images are more vivid."

2. "All art is thus at one and same time a metaphor of the artists self and a metaphor of humanity in general, since it feeds inescapably on both these sources. It shows a search for self in congruent sensuous analogues, a symbolic delineation of the deep, secretive self in the materials of not self. It is imagery in which self and the world co-habit, self is submerged in the world, but the world speaks out of this self. It is this process that is consummated in the meta-phorical structures of art, which are not object, and subject but both together in an ideal transformation and construc-tion and it accounts for their resonance and reverberation, the sense of infinite significance residing in finite forms, life and intuition, process and imagination, historical particular and supra historical effectiveness merge in art and in this way experience is re-enacted as idea."

कलायें कलाकार की वैयक्तिकता और मानवता का रूपकमय पक्ष प्रस्तुत करतो हैं और इसी से संवर्द्धित और परिवर्द्धित भी होती रहती हैं। इनमें आत्म-समन्वित ऐन्द्रिय-सादृश्य की गवेषणा का भाव पाया जाता है। इसीलिये ये रहस्यमय वैयक्तिक तत्वों को निर्वैयक्तिक तत्वों में परिणित करती रहती हैं। इससे ऐसे बिम्ब का प्रादुर्भाव होता है जिसमें आत्मतत्व और संसृति सहयोगी होते हैं, वैयक्तिकता संसृति में विलीन हो जाने के बावजूद मुखर रहती है। इसी के माध्यम से संसृति अपने को अभिव्यक्त करती है। कला के रूपकमय कलेवर का यही रहस्य है। इसी आधार पर ससीम आकार में असीम जीवन-स्पन्दन निहित किया जा सकता है।''

उक्त उद्धरण में अनुभूति के पुनः विचार के रूप में मूर्तिमान होने की चर्चा की गई है। ये ही विशिष्टताएँ किसी न किसी रूप में अनूभूति की सिसृक्षा में भी विद्यमान रहती हैं।

निष्कर्ष—वस्तुतः अनुभूति ही कला का उपजीव्य है। इसकी मान्य विशेषताओं को हम निम्न रूप से व्यक्त कर सकते हैं—

(१) प्रत्येक अनुभूति में इसका प्रवाह एक वस्तु या उससे संबंधित विचार से दूसरी वस्तु और उससे संबंधित विचार की ओर उन्मुख रहता है। इसका निश्चित स्वरूप हमें दूसरे का अभिज्ञान कराता है। इस स्वरूप से पूर्वानुभूति का भी संबंध रहता है। इस प्रकार प्रत्येक अनुभूति इस समुच्चय के आधार पर विशिष्टता प्राप्त करती है।

(२) अनुभूति की एकोन्मुख तीव्रता के आधार पर ही इसका नामकरण होता है। यह एकोन्मुखता अनुभूति में उस विशिष्ट गुण की उपस्थिति का प्रतिफलन होती है जो हर अवस्था में उसमें बनी रहती है।

(३) विषय की सतत प्रेरणोत्पादकता अथवा स्पन्दित कर सकने की क्षमता के आधार पर अनुभूति अपने उच्चतम स्वरूप को प्राप्त करके धीरे-धीरे विलुप्त होने लगती है। जिस प्रकार समुद्र की उत्ताल तरंगें उठकर आपस में टकराती हुई विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार अनुभूति की दशा में भी विशिष्ट विचार मन में उठते रहते हैं जो यथार्थ में उसके साधक या बाधक होते हैं। अनुभूति की दशा में प्रत्येक उपलब्धि इसी प्रक्रिया की परिणति होती है।

(४) हर चिंतन प्रधान अनुभूति का एक लालित्यबोधीय गुण होता है।

(५) शब्द एवं अर्थ के ही आधार पर अनुभूति का सृजन होता है। 'वर्गसाँ' का कथन है "हमारे पास जितनी गहरी पैंठ, और अन्तर्दृष्टि होती है उसी अनुपात में यथार्थ की पकड़ भी गहन हो जाती है। इस स्तर पर पहुँचकर

चेतना के कई स्तर स्वयं आपस में मिल जाते हैं, उनमें कोई विभेद नहीं रहता। यही समरसता हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करती है। इसमें अनुभूति के विविध स्तरों का ज्ञान करा सकने की क्षमता होती है।"

(६) लालित्यबोधीय अनुभूति विशिष्ट अभिरुचि के कारण स्वतः पूर्ण होती है। यह अविभाज्य होते हुए भी आन्तरिक विभेद सक्षम है। इसके साथ अन्य अनुभूतियाँ भी लिपटी रहती हैं। हर लालित्यबोधीय अनुभूति का सामान्य अनुभूति से संबंध होता है। मस्तिष्क की नमनीयता के कारण इनमें स्पष्टता से भेद नहीं किया जा सकता। सामान्य अनुभूति बौद्धिक होती है।

(७) किसी भी कलाकृति के मूल में लालित्यबोधीय अनुभूति अवश्य उपस्थित रहती है।

(८) इसकी परीक्षा उसकी अविश्लेषित संपूर्णता के ही संदर्भ में की जा सकती है।

(९) कलात्मक अनुभूति मानसिक तनाव को कम करके शांति एवं सामंजस्य उत्पन्न करती है।

(१०) यह आत्मा के सामान्य अंतर्द्वन्द्वों को सुलझाती है।

(११) इससे हमारा अवबोध और विवेक परिष्कृत होता है।

(१२) कलात्मक अनुभूति विधायक कल्पना को प्रशस्त बनाती है। इस माध्यम से कलाकार में नये गुण नई विशेषता एवं नई अंतर्दृष्टि का संचार होता है और जीवन की निरास्थाजनक प्रवृत्तियों से मुक्ति मिलती है। यह मानसिक स्वास्थ्य की जनक है और इसके द्वारा पारस्परिक सहानुभूति और व्यापक दृष्टि-कोण का प्रादुर्भाव होता है। इसके परिणाम स्वरूप एक आदर्श जीवन का चित्र सामने आता है।

विशेष

लालित्य बोधीय अनुभूति :—अनुभूति के इस पक्ष की चर्चा भारतीय रस-सिद्धांत में व्यापकता के साथ की गई है। इस चिन्तन की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें लौकिक और अलौकिक, भौतिक और आध्यात्मक, परोक्ष और अपरोक्ष इस प्रकार अंतर्ग्रथित हैं कि उन्हें सरलतापूर्वक अलग कर पाना कठिन है। आनंद से लेकर ब्रह्मानन्द की उपलब्धि के सभी स्वरूप इसमें विद्यमान हैं। पाश्चात्य साहित्य शास्त्र भी कई दृष्टियों से इस पर प्रकाश डालते रहे हैं। प्रश्न उठता है, लालित्यबोधीय अनुभूति क्या है और यह अन्य सामान्य अनुभूतियों से किस रूप में भिन्न है। विगत पृष्ठों में इस प्रश्न का कुछ हद तक समाधान

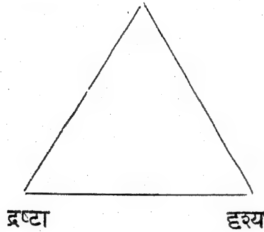
प्रस्तुत किया गया है, पर वह स्वतः पूर्ण नहीं है। इस प्रश्न पर विचार करते समय हमारे समक्ष दो स्वरूप प्रस्तुत हैं जिनमें, एक का संबंध दार्शनिक सौंदर्य शास्त्र से है तथा दूसरे का मनोवैज्ञानिक सौदर्य शास्त्र से। इन दोनों के प्रमुख विचारकों ने एक दूसरे पर परस्पर आक्षेप प्रत्याक्षेप भी किया है और अपने-अपने मत से इन्हें प्रतिपादित करने के लिए कुछ भी उठा नहीं रखा है। दार्शनिक सौंदर्यशास्त्रीय विचारकों में इस शताब्दी के पूर्व यह परिकल्पना विशेष बलवती थी कि उनका दृष्टिकोण अज्ञात चिंतन के स्वरूपों का पथ-प्रदर्शक था। अब इस दृष्टिकोण में परिवर्त्तन हो गया है और ऐसा विश्वास किया जाने लगा है कि यह बात कुछ उलटी है। वस्तुतः दार्शनिक लालित्यबोध का उद्देश्य ऐसे चिंतन के क्षेत्रों का उद्घाटन करना है जो प्रज्ञा के अज्ञात स्वरूपों से कलाकार को अवगत करा सकें। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इस धारा के विचारकों ने ज्ञान और विज्ञान के संश्लेषण पर बल दिया है। मनोवैज्ञानिक निकाय के विचारकों का अपना स्थान रहा है। समानुभूति (Empathy), क्रीड़ा सिद्धांत (Play theory), तथा मानसिक दूरी (Psychical distance) के सिद्धांत की अवतारणा से लालित्य बोधीय क्षेत्र को क्रांतिकारी दिशा मिली है, किन्तु आज के मनोवैज्ञानिक विचारक इसके प्रति भी अन्यमनस्क ही दीख पड़ते हैं। इसके परिणाम स्वरूप इन मान्यताओं पर प्रश्नवाचक चिह्न लग चुका है।

ऐतिहासिक दृष्टि से लालित्यबोधीय अनुभूति पर विचार करने से हमें इसके कई निकायों का दर्शन होता है। उदाहरण के लिए विषयविन्यासवादी और प्रकृतवादी निकाय को लिया जा सकता है। प्रथम निकाय की मान्यता के अनुसार विषय-विन्यास का महत्व विशेष मान्य है। इस मान्यता का आरंभ 'काण्ट' के साथ हुआ और पूर्ण विकास 'क्लाइवबेल' एवं 'रोजर फ्राई' की निष्पत्तियों में देखने को मिला।

सच पूछा जाय तो यह दृष्टिकोण अतिरेकवादी हो गया था, अतएव इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप प्रकृतवादी दर्शन का आविर्भाव हुआ। इस निकाय के विचारकों में 'आई० ए० रिचर्डस्', 'जॉन डेवी' और 'सुसन के लैंगर' का स्थान महत्वपूर्ण था। इनके अनुसार कला के सत्य और जीवन के सत्य में घनिष्ट सम्बन्ध होता है। कला सवेगों के सन्तुलन की मुखापेक्षी होती है और इसका निश्चित मूल्य होता है। **कला यथार्थ में साधारण जीवन अनुभवों का उत्कृष्ट कल्पनामय विकास है। यह इन अनुभवों को उदात्त बनाने का साधन है। इसी-लिए यह सामान्य जीवनानुभूतियों को अधिक सार्थक, सम्बद्ध एवं समन्वित रूप में प्रस्तुत करती है।** इस दृष्टि से कला-जीवनानुभव से अधिक सङ्गत और पूर्ण

होती है। जीवन के सभी अनुभवों में कलात्मक गुण विद्यमान रहते हैं और यही गुण सौंदर्य के जनक माने जाते हैं। सौन्दर्यबोध पुनर्सृजन की विशेषताओं से अलंकृत होता है; यह चेतना को झंकृत कर सकता है। **जिस प्रकार जल में तरङ्गों का बनना आवश्यक है, उसी प्रकार सौंदर्यबोध की स्थिति में भी मानस में विविध तरङ्गें बनती और बिगड़ती रहती हैं।** वस्तुतः यह अन्तःसम्बन्धों और परस्परानुमोदित प्रयासों का मुखापेक्षी है। सौन्दर्य-बोध और जीवन-बोध को समान मानने के कारण कला के क्षेत्र में कुछ अपवादों का आविर्भाव हुआ अतएव कलावाद और जीवनवाद के मध्य निश्चित समाधान की खोज आरम्भ हुई। 'सुसन के लैङ्गर' ने समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा कि कला निश्चय ही अनुभव प्रसूत है, फिर भी जीवन के सामान्य अनुभव को कलाकार की प्रतिभा और विधायक कल्पना की भट्ठी में तपकर एक कठिन अग्नि-परीक्षा के बीच गुजरना पड़ता है। **इस क्रिया में जीवन का अनुभव परिष्कृत, शुद्ध एवं उदात्त होकर कला-सृजन का उपादान बनता है।** इस बात का संकेत पूर्ववर्ती पृष्ठों में किया जा चुका है कि लालित्य-बोधीय अनुभूति त्रिकोणात्मक होती है। यथा:—

द्रष्टा और दृश्य का अंतःसम्बन्ध



(१) द्रष्टा—वैयक्तिक चेतना

(२) दृश्य—वैयक्तिक चेतना द्वारा गृहीत दृश्य

(३) द्रष्टा और दृश्य का अंतः संबंध —दृश्य का परिग्रहण और इसके प्रति सृजक का दृष्टिकोण।

आज तक द्रष्टा और दृश्य की लालित्यबोधीय क्षमता के विषय में निर्णायक रूप से कुछ नहीं कहा जा सका है; केवल इतनी बात अवश्य मान्य है कि इनमें लालित्यबोधीय अनुभूति ग्रहण करने और उसे प्ररोचित करने की क्षमता विद्यमान है। अतएव संपूर्ण समस्या का समाधान इनके अंतःसंबंध को समझने से ही प्राप्त हो सकता है। **इस अंतःसम्बन्ध के दो रूप प्राप्त होते हैं। द्रष्टा द्वारा दृश्य के देखे जाने की विशिष्ट क्रिया और इस क्रिया के प्रति द्रष्टा द्वारा अपनाई गई चित्तवृत्ति।** वस्तुतः ये दोनों बोध के स्वरूप एक दूसरे के पूरक

हैं। फिर भी यह बात विशेषरूप से द्रष्टव्य है कि इस प्रकार के बोध का स्वरूप द्रष्टा के ऐन्द्रिय और तर्क प्रधान वृत्तियों के सहयोग का मुखापेक्षी होता है। इन्द्रियाँ उपादान का अनुभव करती हैं, पर इस प्रकार का अनुभव तभी संभव हैं जब हमारा संपूर्ण अवधान उपादान पर केन्द्रित हो जाय। इसके पश्चात मानव की तार्किक प्रवृत्ति ऐन्द्रिय अवबोध से उपलब्ध सामग्री को सामंजस्य प्रदान करती है। इस संदर्भ में विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि **(१) सुनियोजित, सुसम्बद्ध और समन्वित ऐन्द्रियबोध ही लालित्यबोध का जनक है। (२) उपादान से ऐन्द्रिय प्रभावों का प्रवाह, उससे संपर्क की स्थिति में, निरंतर गतिशील रूप से प्रवाहित होता रहता है और हमारे संपूर्ण जीवन पर छा जाता है। यह स्थिति कुछ अस्पष्ट, संकुल और उलझी हुई होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि यह क्रिया मानस के धरातल पर स्थान ग्रहण करती है जिसमें शारीरिक संवेदन भी किसी न किसी रूप में सक्रिय रहते हैं। अतएव (३) इस आंतरिक क्रिया का कलात्मक संयोजन आवश्यक होता है, जो अमूर्त संवेदनों को मूर्त रूप में प्रकट कर सके। (४) ऐन्द्रिय अनुभूति में कला की दृष्टि से अनावश्यक अनुभूतियों का स्वरूप भी निहित रहता है। लालित्यबोधीय अनुभूति को इनसे मुक्त होना आवश्यक है। (५) कुछ ऐन्द्रिय बोध अस्पष्ट होते हैं। ये लालित्यबोधीय अनुभूति के उपादान तभी बन सकते हैं जब हम इन्हें कम से कम अभिव्यक्ति के धरातल पर पूर्णतया स्पष्ट कर सकें। (६) लालित्यबोधीय अनुभूति की दृष्टि से सृजन के समय एक ऐसी भी स्थिति आती है जब कलाकार वाह्य जगत के अंतःसंबंधों के प्रति कुछ अन्यमनस्क होकर अपने आंतरिक जगत के अंतःसंबंधों पर विशेष रूप से बल देने लगता है। इस क्रिया से लालित्यबोधीय अनुभूति सशक्त, सप्राण एवं दीप्तिमय हो जाती है। (७) कलाकार के उपादान विशेष को देखने और प्रभाव ग्रहण करने की क्रिया तथा सामान्य व्यक्ति को उसे देखने और प्रभाव ग्रहण करने की क्रिया में अंतर होता है। इसका** प्रमुख कारण यह है कि **कलाकार की दृष्टि उपयोगिता और वैयक्तिक स्वार्थ से अंशतः मुक्त होने के साथ ही चिंतन एवं चर्वणा प्रधान होती है। (८) इस दृष्टि से लालित्यबोधीय अनुभूति विशेष रूप से चिंतन प्रधान मानी जा सकती है।**

लालित्यबोधीय अनुभूति के संदर्भ में पेपिटा 'हिज्राही' (Pepitha Hae-zrahi) के निम्नांकित निष्कर्ष विशेष रूप से ध्यातव्य हैं—

(१) संघटन की सहजज्ञेयता और दीप्तिमयता के कारण लालित्यबोधीय उपादान द्रष्टा में प्रकृति और संसृति के स्वरूपों के अभिज्ञान का भाव उत्पन्न करता है। यह अभिज्ञान अंशतः विभ्रमपूर्ण होता है क्योंकि कलाकार केवल

उपादान संबंधी अपने बोध को अधिगत करता है। कुछ साहित्य-सिद्धांत कला को, प्रकृति का नियमपूर्ण समायोजन स्वीकार करते हैं, किन्तु यह दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण है। वह अपने बोध और इससे सम्बद्ध अन्य अनुषंगों को ही संश्लेषित करती है।

(२) लालित्यबोधीय अनुभूति की स्थिति में मानस की क्रिया-प्रतिक्रिया की अंतः संघटना के कारण सामंजस्य, पूर्णता और आत्मतोष के भाव का उदय होता है। कुछ साहित्य सिद्धांत इस क्रिया में निहित आनन्दप्रद स्वरूप को ही कला का उद्देश्य मान लेते हैं। यह तथ्य अंशतः सत्य है, पर जब कलाकार उपलब्ध सामग्री और नवीन उपलब्ध ज्ञान के सामंजस्य पर बल देने लगता है तो इसमें सामान्य परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होने लगता है। इस स्थल पर दो संभावनाओं को बल मिलता है; या तो कलाकार इस क्रिया से आनन्द अर्जित करके यथार्थ से संघर्ष करने की शक्ति अर्जित करता है, या वह अपने को पूर्णतया अपनी लालित्यबोधीय अनुभूति के दिशा-निर्देशक तत्वों के आश्रित छोड़ देता है और इसी अनुभूति में निहित तत्व उसे वह सामंजस्य प्रदान करते हैं जिसका जीवन में अभाव होता है।

(३) लालित्यबोधीय अनुभूति में चिंतनपरक प्रवृत्ति की उपस्थिति के कारण द्रष्टा मुक्ति का अनुभव करता है। यह मुक्ति भी विशिष्ट भोग की जनक होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि यथार्थ संसृति की अनुभूतियाँ कलात्मक अनुभूतियों में इस प्रकार परिणित कर दी जाती हैं कि इसकी छाया उसमें विद्यमान रहती है, पर यथार्थ स्वरूप अंशतः विलुप्त हो जाता है। इस परिवर्त्तन के मूल में लालित्यबोधीय अनुभूति की नमनीयता का विशेष सहयोग रहता है। जीवन की ही अनुभूति कला की जनक बनती है, पर विधायक कल्पना इसे निरंतर कलात्मक रूप में परिणित करती रहती है। इस क्रिया में मानस को निरंतर मौलिक अनुभूति से कलात्मक अनुभूति और कलात्मक अनुभूति से मौलिक अनुभूति तक प्रत्यावर्तित होते रहना पड़ता है। इसी प्रत्यावर्त्तन के निश्चित विन्दु पर कलाकार कला से संबंधित नैतिक, व्यावहारिक और बौद्धिक समस्याओं का चयन करता हुआ उन्हें कलात्मक स्वरूप प्रदान करता है।

(४) द्रष्टा और दृश्य के क्षेत्र आरंभ में भिन्न होते हैं। इसीलिए दृश्य तक पहुँचने और उसे अधिगत करने के लिए द्रष्टा अपनी भावनाओं को दृश्य तक पहुँचाता है। यह प्रयत्न सायास होता है क्योंकि, इसमें यह अभिज्ञान निहित रहता है कि अगर वह दृश्य को हृदयंगम कर लेगा तो उसे संतोष और आनन्द की उपलब्धि होगी।

स्पष्ट है कि 'पेपिटा हीग्राही' का उपर्युक्त विवेचन कई दृष्टियों से द्रष्टा और दृश्य की आंतरिक व्यवस्था पर प्रकाश डालता है और द्रष्टा के लालित्य बोध सम्बन्धी प्रश्न को भी सुलझाता है। पर इसे और स्पष्टतापूर्वक समझने के लिए लालित्यबोधीय प्रतिचेष्टा में निहित संवेदन शीलता (aesthetic response) को समझ लेना आवश्यक है। ऊपर के विवेचन से एक तथ्य स्पष्ट हो गया कि आरंभ में द्रष्टा को उपादान जनित लालित्यबोधका ज्ञान होता है और पुनः उसके मानस में इसको लेकर क्रिया-प्रतिक्रिया का अवतरण होता है। यह स्वरूप कला सृजन तक बना रहता है। लालित्यबोधीय प्रतिचेष्टा का संबंध लालित्यबोध के प्रथम स्तर से होता है। इसका संबंध द्रष्टा की चिंतन परक प्रवृत्ति से भी स्थापित किया जा सकता है। इसमें मान्यता और 'संतोष' की प्रवृत्ति पाई जाती है। इन प्रवृत्तियों का सम्बन्ध विषयिगत सौंदर्य से होता है। लालित्यबोधीय प्रतिचेष्टा परिवर्तनशील होती है। आवृत्ति, तीव्रता और सघनता की दृष्टि से इनमें भिन्नता पाई जाती है। प्रतिचेष्टा की यह भिन्नता विषम तो होती हैं, पर इसका स्पष्ट सम्बन्ध द्रष्टा की मनोवैज्ञानिक स्थिति, सम्वेदनशीलता एवं शिक्षा से होता है, अतः इसे पहचाना जा सकता है। 'जॉन डेवी'; 'विलेन्स्की' और 'के फीडलर' ने इसकी विशिष्टताओं का उल्लेख किया है। 'डेवी' की स्पष्ट धारणा है कि कलाकार को लालित्यबोधीय प्रतिचेष्टा को लम्बे अरसे तक बनाये रखने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। 'विलेन्स्की' ने स्पष्ट रूप से इस तथ्य को प्रतिपादित किया है कि किसी उपादान से व्यक्तिगत रूप से संतोष प्राप्त करना और उसे यथार्थ रूप में समझना परस्पर भिन्न हैं। 'के फीडलर' की धारणा है कि कलाकृति के विभावन के समय कलाकार को इसे कौशल पूर्वक अध्यवसित कला-सृजन के रूप में ग्रहण करना चाहिए। स्पष्ट है कि लालित्यबोधीय अवबोध अनुभूति का अभिन्न उपजीव्य है। अतएव अनुभूति के विवेचन में इसके तारतमिक विकास को दृष्टि-पथ में रखना आवश्यक है।

लालित्यबोधीय अनुभूति और आनन्द—ऊपर के विवेचन में लालित्यबोधीय अनुभूति और सौंदर्यानुभूति पर विचार किया गया है। सत्य यह है कि सौंदर्य आनन्दप्रद होता है, अतएव, लालित्यबोधीय अनुभूति और आनन्द का सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है। लालित्यबोधीय विचारकों में भी कलागत आनन्द के स्वरूप निर्धारण में मतभेद है, आनन्द पर नहीं। प्रो० 'राइल' ने इसीलिए इन्द्रियतोष प्रदाता आनन्द और कलागत आनन्द को भिन्न माना है। उनके अनुसार प्रथम, द्वितीय की आवश्यक शर्तें तो है पर गुण और परिमाण

की दृष्टि से इनमें भिन्नता पायी जाती है। आनन्दवादी विचारकों की दृष्टि इस विभेद की ओर नहीं गई, इसीलिए, 'जार्ज सान्तायन' ने सौन्दर्य और आनन्दको पर्याय मानते हुए वस्तुनिष्ठ आनन्द को सौंदर्य का जनक कहा है। उनके अनुसार विषय पक्ष का सौंदर्य विषयी पक्ष का आनन्द है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि **कला प्रसूत आनन्द सौंदर्यबोध जनित आनन्द है। इसके भोग के समय भोक्ता निर्वैयक्तिक होकर सामान्य धरातल से उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित रहता है।** इस समय उसके मन में किसी अन्य भौतिक आनन्द की चाह नहीं रहती। परवर्ती विचारकों में आनन्द के स्वरूप को मान्यता मिली है। मनोरंजनवादी विचारक भी प्रकारान्तर से इसे आनन्द का ही जनक मानते हैं। इस प्रकार यह स्वतः प्रतिपादित सत्य है कि लालित्यबोधीय अनुभूति मूलतः आनन्दप्रद होती है।[1]

इस संदर्भ में इस तथ्य पर भी विचार कर लेना चाहिए कि यह अनभूति आनन्दप्रद होने के कारण **केवल सुखात्मक है या सुखदुःखात्मक**। भारतीय आचार्यों में 'रामचन्द्र गुणचन्द्र' ने प्रमुख रूप से रस को सुख-दुःखात्मक मानने का उद्घोष किया है। उन्होंने करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स को दुःखात्मक की संज्ञा दी है और शेष पाँच को सुखात्मक की। 'अभिनवगुप्त' ने भी व्यावहारिकता की दृष्टि से रसों की सुख-दुःखात्मकता का समर्थन किया और शान्त रस को छोड़कर अन्य सभी रसों में इसकी उपस्थिति को प्रतिपादित किया है। उस समय यह स्वर उभड़ न सका। आधुनिक युग के प्रमुख विचारक पं० रामचन्द्र 'शुक्ल' ने रसानुभूति को सुखदुःखात्मक माना। आधुनिक पाश्चात्य चिंतकों में भी 'ज्वाय', 'प्लेजर' और 'एक्सटेसी' को अपर्याप्त समझा गया और आनन्द की मनोवैज्ञानिक या समाजशास्त्रीय व्याख्या की गई। इसके परिणाम स्वरूप विविध काव्य सिद्धान्तों की अवतरणा हुई जो मूलतः आनन्द को निषेध रूप में ग्रहण कर सके।[1] फलतः लालित्यबोधीय आनन्द की सुख-दुःखात्मकता प्रकारान्तर से प्रतिष्ठित होती गई।

निष्कर्ष—सृजन के सन्दर्भ में लालित्यबोधीय अनुभूति का विशेष महत्व है। यह चर्वणा के क्षेत्र को सरल, सघन और तीव्र बनाकर विधायक कल्पना को ऐसी सामग्री प्रदान करती है जिससे सृजन सम्भव होता है। इस दृष्टि से कलानुभूति कलासृजन का प्रमुख उपजीव्य है।

●

---

[1]देखिए इसी पुस्तक का 'कलाप्रेरणा और आनन्द'

चतुर्थ तरंग

अनुभूति सम्बन्धी कुछ काव्य-सिद्धांत

तीसरे अध्याय में अनुभूति का विवेचन किया गया है। इस अध्याय में अनुभूति को उद्घाटित करने वाले कुछ काव्य-सिद्धांतों का उल्लेख किया जायगा। हम सर्वप्रथम **अवबोध** सिद्धांत पर विचार करते हैं।

(१) अवबोध (Perception)

अवबोध को लेकर लालित्य-बोध के क्षेत्र में बड़ा विवाद हुआ है। सम्भवत: मनोवैज्ञानिकों ने सर्वप्रथम इसका अध्ययन किया, और वहीं से यह शब्द-साहित्य के क्षेत्र में ग्रहण किया गया। मनोवैज्ञानिक विचारकों ने 'अवबोध को उपस्थित घटना या उपादान से सम्बद्ध अनुभूति की संज्ञा दी है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका सम्बन्ध अनुपस्थित या अदृश्य घटना के साथ नहीं होता। परिवेशीय परिवर्तन इसका जनक और चुनाव की प्रवृत्ति इसकी प्रमुख विशिष्टता है।' किसी व्यक्ति या घटना से सम्बद्ध होने के कारण उसका स्वरूप द्विविध होता है। इसमें द्रष्टा (subjeet) और दृश्य (object) का विधान पाया जाता है। द्रष्टा के रूप में संवेदनशील व्यक्ति और दृश्य के रूप में उपादान प्रस्तुत रहता है। मानव अपनी इन्द्रियों के माध्यम से दृश्य का बोध प्राप्त करता है। उपर्युक्त बातों को एक उदाहरण द्वारा और स्पष्ट किया जा सकता है। मान लिया जाय कि हम एक बहुत ही सुरम्य और मनोहर पर्वत-प्रदेश में हैं। यहाँ द्रष्टा के स्थान पर हमारा संवेदनशील मस्तिष्क क्रिया-शील है और दृश्य के रूप में पर्वत की अलौकिक सुषमा। **हमारा संवेदनशील मस्तिष्क ज्यों ही सुन्दर दृश्य के अवलोकन में रत होता है त्यों ही अवबोध की क्रिया आरम्भ हो जाती है।** अवबोध की इस आरम्भिक अवस्था में ही हमारे लिये यह आवश्यक नहीं है कि हम दृश्य के सभी स्वरूपों से अवगत हो जायँ। इसका मूल कारण यह है कि इस अवस्था में द्रष्टा और दृश्य दोनों अपनी परिवेशीय विशेषताओं से मुक्त नहीं रहते। इसके परिणामस्वरूप आरम्भिक

क्रिया में विषमता पाई जाती है। अवबोध प्रकृत्या संवरणशील होता है। इसका तात्पर्य यह है कि दृश्यावलोकन के समय जो दृश्य हमें जितनी तीव्रता के साथ आकर्षित करता है, उससे हम उसी अनुपात में आकर्षित होते हैं। इस कारण **तात्कालिक अवबोध में अविवेकपूर्ण विभेदीकरण** (Discrimination) **विद्यमान रहता है**। इसका स्वरूप दुहरा होता है। एक ओर तो इसका सम्बन्ध प्रस्तुत दृश्य की विशेषताओं से है और दूसरी ओर स्मृति के कारण भूत-कालीन अनुभूतियाँ भी निरन्तर स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में मानस-पटल पर उभड़ती रहती हैं। द्रष्टा को अचानक किसी को त्यागना और किसी को ग्रहण करना असम्भव हो जाता है। वह मध्यममार्ग का अनुगमन करता है और अनुषंग के माध्यम से विगत अनुभूति से आवश्यक तत्वों को ग्रहण करके समुपस्थित अनुभूति का संवर्धन, परिवर्धन और परिष्कार करता है। दृश्य के अवलोकन में हमारी इन्द्रियाँ विशेष रूप से रत रहती हैं। इस क्रिया से शरीर-संस्थानीय-स्नायुमण्डल प्रभावित होता है और संवेदन (sensation) का आविर्भाव होता है। संवेदन की स्थिति में भी मस्तिष्क पूर्ण रूप से निष्क्रिय नहीं रहता। वह अपना कार्य सम्पादित करने के साथ ही इसे (सम्वेदन को) पूर्ण रूप से नियन्त्रित करता जाता है। इसके परिणामस्वरूप सम्वेदनशीलता (feeling) का आविर्भाव होता है। यही सम्वेदनशीलता लालित्यबोधीय प्रवृत्ति की जनक होती है। मनोवैज्ञानिकों ने इसी प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए लिखा है, 'इसके पूर्व कि हम जीवन और उसकी समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक विचार कर सकें, हम ऐसे स्वरूपों से निर्देशित होने लगते हैं, जो किसी एक अवबोध के चक्र में समाविष्ट नहीं हो सकते। ये निर्देश विवेक से नहीं बल्कि सम्वेदन-शीलता से प्राप्त होते हैं। किसी दृश्य घटना के विचार की स्थिति में हमारी मनोवृत्ति महत्वपूर्ण ही नहीं होती, अपितु अपनी विशिष्टता में घटना से कम यथार्थ भी नहीं मानी जा सकती। मनोवृत्तिपरक प्रतिचेष्टा से सम्बद्ध सम्वेदनशीलता लालित्यबोधीय होती है। यही सम्वेदना हमारे जीवन-स्पन्दन का निर्णय करती है और हमारे जीवन में शक्ति और व्यवस्था उत्पन्न करके उसे सही मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है। किसी भी अनुभूत घटना की उपयुक्तता और औचित्य का अभिज्ञान कराने वाली सम्वेदना लालित्य-बोधीय होती है।'[1]

---

1. "Long before we are able to think about life in general, and about the larger problems, we are guided in the pursuit of ends, that are not comprised within the cycles of single perception. And this guidance is afforded not by

मनोवैज्ञानिकों के अतिरिक्त कुछ बुद्धिवादी और अनुभववादी विचारकों ने भी अवबोध के सिद्धान्त पर विचार किया है। 'यूजीन एफ० केलीन' के अनुसार जहाँ अनुभववादी सिद्धान्त समाप्त होता है, वहीं से बुद्धिवादी सिद्धान्त आरंभ होता है। बुद्धिवादियों ने अपने सिद्धान्त के द्वारा मानव के मानस की क्रिया को सुव्यवस्थित करना चाहा था, पर अनुभववादियों ने प्रभाव की व्याख्या द्वारा इसे समझना चाहा था। अनुभववादियों के प्रभाव की परिकल्पना बुद्धिवाद में नवीन गवेषणा का मार्ग प्रशस्त करने में सक्षम सिद्ध हुई। इन्होंने अवधान (attention) पर विशेष बल दिया था और इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि मष्तिष्क की यह प्रमुख शक्ति उलझे हुए विषम और अस्पष्ट प्रभावों को सुलझे हुए, स्पष्ट और ग्राह्य बिंब में बदलने की क्षमता रखती है। 'इन दोनों सिद्धान्तों में अवबोध के मूलभूत तथ्य को समझने का प्रयत्न किया गया और इस प्रयत्न के आधार पर परिवेशीय परिस्थितियों एवं दृश्य विषय के अनिश्चित स्वरूपों को निश्चित स्वरूप प्रदान किया गया। दोनों सिद्धातों में इस बात को मान्यता मिली थी, कि अवबोध के लिये उपादान आवश्यक है पर यह अपने यथार्थ स्वरूप में तभी समझा जा सकता है जब भावात्मक उद्वेलन नियंत्रित हो और अस्पष्ट स्वरूपों से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त। अस्पष्टता से बचने का प्रमुख साधन आत्मनियंत्रण और अवधान हैं। इनके द्वारा जब हम अस्पष्टता से मुक्ति पा लेते हैं तो मस्तिष्क में उपस्थित विचार सुनिश्चित रूप में अभिव्यक्त होने लगते हैं। **अवधान ही मानव-सचेतनता को अवबोध से अलंकृत करता है।**

प्रत्यक्ष ज्ञान प्रधान मनोविज्ञान और इससे संबंधित साहित्य-सिद्धान्त—अस्तित्ववाद में अवबोध पर विचार किया गया है। यह मनोविज्ञान की वैज्ञानिक शाखा है। इसका सम्बन्ध मन के भाव-प्रवण और प्रभाव-सक्षम

---

discernment, but feeling. In this discernment of a perceived event, our disposition is positive factor, no less real than the event itself. The feeling which attach to a dispositional readiness for response—either in single perception or in series of perceptions interrupted perchance by pauses of sleep and distraction—are aesthetic. It is aesthetic feeling that mark the rhythm of life and hold us to our course by a kind of weight and balance..............A disposition to feel the completeness of an experienced event as being right and fit, constitutes, what we have called the aesthetic factor in perception."

(emotive and effective) स्वरूप से स्थापित किया जाता है। यह शाखा प्रमुख रूप से मन के प्रातिबोधिक-बोध के प्रयोगात्मक पक्ष पर प्रकाश डालती है। इस विचारधारा के मनोवैज्ञानिकों का विश्वास है कि किसी भी प्रकार के अवबोध के लिए मानस की अवबोध-सक्षम क्रिया आवश्यक है। इस क्रिया में "औब्जेक्टिविटी" के लिए कोई स्थान नहीं होता। इस वैज्ञानिक निकाय ने इन्द्रिय-ग्राह्य प्राकृतिक स्वरूपों को अवबोध की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना है। इनकी स्पष्ट धारणा है कि सचेतन व्यक्ति और विश्व की क्रिया-प्रतिक्रिया के फल स्वरूप व्यक्ति में अवबोध की क्षमता उत्पन्न होती है और यह इसके प्रभावों को विश्लेषित भी करती है। इस विवेचन के सन्दर्भ में पूर्व स्मृति संबंधीबिंब (eidetic image) के विधान पर भी विचार किया गया है। 'प्रो० जेन्स्ख' ने सर्वप्रथम इस शब्दावली का प्रयोग किया है। उनका मत है, "इन्द्रियबोध या पूर्व स्मृति विषयक बिंब ऐसे दृग्विषयक गोचर स्वरूप हैं जिन्हें संवेदन और बिंब का मध्यस्थ माना जा सकता है। शरीर-विज्ञान-संबलित अनुबिंब की तरह इन्हें स्पष्ट देखा जा सकता है। इनमें हर स्थिति में आवश्यकता का भाव विद्यमान रहता है। यह संवेदन का सहगामी और बिंब की विशेषताओं से अलंकृत रहता है। ऐसी स्थिति में जब कल्पना का प्रभाव क्षीण होता है तो हमें परिष्कृत अनुबिंब का दर्शन होता है, पर जब कल्पना पूर्णरूप से प्रभाव-अक्षम होती है तो अंशतः सघन-अनुबिंब प्राप्त होता है।"[१] इन पूर्व स्मृति के अनुबिंबों को लेकर मनोवैज्ञानिकों में मतभेद रहा है। इसका प्रमुख कारण इसके पक्ष और विपक्ष के विचार से है। विपक्षी लोगों का कहना है कि ये बिंब प्रमुख रूप से छोटे बच्चों में पाये जाते हैं। द्रष्टव्य भी है कि मनोवैज्ञानिक कम-से-कम इस सत्य को तो मानते ही हैं कि छोटे बच्चों में बिंब-विधान की अद्भुत

1. Optical perceptual or (eidetic) images are phenomena that take up an intermediate position between sensations and images. Like ordinary physiological after-image they are always seen in the literal sense They have this property of necessity and under all conditions share it with sensations. In other respects, they can also exhibit the properties of images. In those eases in which imagin-tion has iltle influence, they are merely modified after images deviating from the norm in a definite way, and when that influance is nearly or completely zero, we can look upon them as slightly intensified after images,

शक्ति होती है। बात जो भी हो, इतना अवश्य मान्य है कि अनुबिंब का विवेचन विवादास्पद है, फिर भी इसका अवबोध से निश्चित संबंध होता है। यह संबंध प्रस्तुत विवेचन की दृष्टि से विशेष समीचीन और उपयुक्त है। इस विचारधारा के लोग मानते हैं कि अवबोध और सामान्य स्मृति-बिंबों में स्मृति संबंधी संघटक तत्व विद्यामन रहते हैं। **ये अन्तर्निहित तत्त्व अवबोध की क्रिया में विकसित हो कर इसे सुनिश्चित स्वरूप प्रदान करते हैं।** अगर यह सत्य है तो, यह कहना अधिक समीचीन ज्ञात होता है कि **अवबोध एक सृजनोन्मुख और निर्माणोन्मुख क्रिया है।** यह क्रिया विकास के कई स्तरों के बीच हो कर गुज़रती है। क्रिया के पूर्ण होने के पूर्व इसके तत्व अवबोध को सक्रिय बनाते रहते हैं। यह तथ्य प्रयोग-सिद्ध है कि स्मृति-संबलित बिंबों और प्रकृति के तथ्यों में निश्चित संबंध पाया जाता है, अतएव सहयोगपूर्ण संबंध की हर संभव स्थिति में इन दोनों में समरस सम्बन्ध का प्रस्तुत होना स्वाभाविक है। अस्तित्ववादी विचारकों में 'सार्त्र' और 'मॉर्ले पौण्टी' ने अवबोध पर विचार किया है। 'सार्त्र' का कहना है, "हर प्रकार के अवबोध में यह चेतना पाई जाती है कि मानव मूलत: यथार्थ को अभिव्यक्त करता है जो अस्तित्व का कारण है। सत्य यह है कि 'मनुष्य के ही माध्यम से संसृति के उपादानों की अभिव्यक्ति संभव होती है।"[1]

लालित्यबोधीय विचारकों ने भी अवबोध पर विचार किया है और इसे लालित्य-बोध का पर्याय माना है। इस दृष्टि से 'स्टीफेन सी पेपर' का नाम उल्लेखनीय है। 'रुडल्फ आर्नहीम' ने 'जेस्टाल्ट मनोविज्ञान' के आधार पर और कुछ अन्य विचारकों ने 'व्यवहारवाद' के आधार पर इसे विवेचित किया है। 'क्रोचे' ने ज्ञान के सामान्य सिद्धान्त के सन्दर्भ में इसे विश्लेषित किया है। 'अल्फ्रेड नार्थ ह्वाइटहेड' और 'मिस एमेट' की दृष्टि अंशत: लालित्यबोधीय और वैज्ञानिक है। इनके विवेचन की प्रमुख विशेषता यह है कि इन्होंने इसकी क्रिया के मानसिक स्वरूप को ही निरूपित नहीं किया है अपितु, इस-प्रश्न पर भी विचार किया है कि, इसमें संवेदना का संचार और मूल्य निर्माण की क्रिया कैसे निष्पन्न होती है।

'ह्वाइटहेड' महोदय ने अपने परिग्रहण के सिद्धान्त (Doctrine of prehension) में कलात्मक अवबोध के दुहरे स्वरूप का उल्लेख किया है। उन्होंने

---

1. "Each perception is accompanied by consciousnes that human reality is revealer, that is, it is through human reality that there is being. or to put it differently that man is means by which things are manifested."

इसके युगपद् स्वरूपों पर विचार करने के साथ ही संवेदना और मूल्य पर भी दृष्टिपात किया है। उन्हीं के शब्दों में ये 'मूल्य और संवेदनायें' प्रातिबोधिक अभिज्ञान हैं न कि प्रत्ययी निर्मित।'[1] इससे यह स्पष्ट है कि प्रातिबोधिक संवेदनशीलता महत्वपूर्ण तथ्य है क्योंकि इसकी अपनी निजी विशेषता है। यह 'क्षिप्र, स्पष्ट, प्रशस्त तथा प्रभाव सक्षम होने के साथ ही क्षिप्रता में सरल और क्षेत्र तथा संकेत की दृष्टि से विषम होती है।'

'ह्वाइटहेड' की अवबोध की व्याख्या व्यापक है। उनके अनुसार अवबोध सकारात्मक, नकारात्मक, सशक्त और अशक्त, किसी भी प्रकार का हो सकता है, पर इनमें भिन्नता होती है। **सशक्त एवं विषम संवित सकारात्मक अवबोध सक्षम और जड़ तथा निष्क्रिय संवित नकारात्मक अवबोध सक्षम होते हैं। जब विषय एवं उससे सम्बद्ध प्रज्ञात्मक अवबोध आपस में सम्बन्धित होते हैं तो एक गतिशील व्याख्या का उद्भव होता है और सशक्त अनुभूति का आदान प्रदान सम्भव होता है। इस प्रकार का आदान प्रदान जब किसी संवेदनशील क्रिया से सम्बद्ध होता है तो अनुभूति के संवित मूर्तिमान हो उठते हैं।'** स्पष्ट है कि 'ह्वाइट-हेड' **महोदय के अनुसार 'अवबोध, एक अस्तित्वमय संवित का दूसरे अस्तित्व मय संवित पर पड़े प्रभाव से भिन्न है। दोनों ही संवित गतिशील माने गये हैं। जब अवबोध द्रष्टा एवं दृश्य के सम्बन्ध द्वारा नवीन सामंजस्य का जनक बनता है तो उसे सम्प्रोहण** (Concrescence) **की संज्ञा दी जाती है।** प्रातिबोधिक अनुभूति में अवबोध का विषय व्यक्ति होता है। अतएव इस स्थिति में संवेदना का प्रवाह विशेष महत्वपूर्ण माना गया है। यह प्रवाह—सचेतन, अचेतन, स्नायुसंथानीय, अन्तरावयीव, और मानसिक-किसी भी प्रकार का हो सकता है।

'ह्वाइट हेड' ने मूल अवबोध के त्रिविध स्वरूप की कल्पना की है। (१) **आकस्मिक प्रभावोत्पादकता की विधि** (mode of casual efficacy), (२) **प्रत्यक्ष दर्शन विषयक तारतम्य की विधि** (mode of presentational immediacy) (३) **प्रतीक-सन्दर्भ-विधि** (symbolic reference mode) प्रथम के अन्तर्गत किसी घटना के घटकों के आकस्मिक सम्बन्ध का निरूपण रहता है। दूसरे में घटना के देश काल जनित सम्बन्ध पर विचार किया जाता है, और तीसरे में प्रथम दो से सम्बन्धित महत्वपूर्ण क्रिया सम्पादित होती है। इसमें प्रत्ययी क्रिया गतिशील होती है और प्रकारान्तर से यही दो पूर्ववर्ती विधियों के संचरण का माध्यम सिद्ध होता है। 'ह्वाइट हेड' ने इसके माध्यम से

---

1. (He) accounts for feeling and value as perceptual recognition and not as conceptual construct.

इस तथ्य को प्रतिपादित किया है, "कि व्यक्ति वस्तुत: संवित् विशेष को देखता ही नहीं अपितु वह युगपद अनुभूतियों के अपने तात्कालिक अवबोध को प्रस्तुत विश्व में सम्प्रेषित भी करता है। यह अवस्था मात्र संवेदन की अवस्था नहीं हुआ करती, जिसका व्यक्ति पहले अनुभव करे और पुनः उसे प्रक्षेपित करे। यह तो वह अवस्था होती है जिसमें प्रक्षेपण परिस्थिति का अविभाज्य अंग होता है और उसमें इन्द्रिय अवबोध की ताजगी भी पाई जाती है। इस सन्दर्भ में अवबोध वह आरंभिक अवस्था है जो यथार्थ प्रकृति के परिवेश में आत्माभिव्यक्ति में समर्थ है। आकस्मिक प्रभावोत्पादकता की विधि प्रभावोत्पादक सम्बन्धों के कूटवेष में वस्तु को अभिव्यक्त करती है और प्रत्यक्ष दर्शन विषयक तारतम्य विधि सद्य:मूर्तीकरण की क्रिया द्वारा संवेदनों को प्रक्षेपित करती है।"

'कुमारी एमेट' ने अवबोध पर विचार करते हुए दो विधियों का उल्लेख किया है। (१) क्रियागत विशेषता की विधि (Adverbial mode), (२) आरोपक विधि (Accusative mode) **"प्रथम विधि इस बात पर प्रकाश डालती है कि व्यक्ति किस प्रकार की क्रिया में दत्तचित्त है और द्वितीय विधि इस तथ्य को उद्घाटित करती है कि व्यक्ति किस बात पर दत्तचित्त है। प्रथम विधि अनुभूति सहित है, इसमें सहभाव का अभिज्ञान निहित रहता है और दूसरी अनुभूति रहित है और इसमें सत्यासत्य के निरूपण के साथ प्रक्षेपण का भाव पाया जाता है।** इस विवेचन से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि अनुभूति और अवबोध का गहरा संबंध है।

(२) अन्तर्भावना (Empathy)

कलात्मक अनुभूति लालित्य बोध और सर्जन का विषय है। अन्तर्भावना के सिद्धान्त में इस तथ्य पर विचार किया गया है। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम मनोविज्ञान के क्षेत्र में किया गया। इसके प्रथम प्रयोक्ता 'एडवर्ड टिचनर' हैं। **'एम्पैथी' शब्द जर्मन 'एनफुहलुंग' का अंग्रेजी अनुवाद है।** इसमें प्रक्षेपण को मान्यता दी गई है। ऐसा माना जाता है कि "संसृति के सामान्य उपादान हमारी कल्पना के लिए उस समय महत्वपूर्ण बन जाते हैं जब हम अपनी संवेदन पूर्ण क्रियाओं को प्रक्षेपित कर के उनसे तादात्म्य स्थापित करते हैं। कला के लालित्य बोधीय पक्ष को वस्तुगत नहीं माना जा सकता। यह दृश्य जगत का विषय और विधायक कल्पना की सृष्टि है। इसके सभी नैसर्गिक तत्व मन से प्रादुर्भूत होते हैं। इसका अभिव्यंजना से अकाट्य संबंध होता है।"

'वर्नन ली' इस सिद्धान्त की प्रमुख प्रतिपादिका थीं। उनके अनुसार कला-सर्जन में सहायक सिद्ध होने वाले अधिकांश सिद्धान्तों का प्रमुख उद्देश्य सौन्द

की उपलब्धि हैं। 'सौन्दर्य' सापेक्ष शब्द है और इसके निर्माण में हमारी इन्द्रियानुभूति का विशेष सहयोग रहता है। यह अनुभूति तभी सौन्दर्य से मण्डित होती है जब इसमें ऐसी क्रियायें प्रक्षेपित की जाती हैं, जो सजीवता एवं स्पन्दन-शीलता को चमत्कृत कर के आनन्द विधायक बन जाती हैं। 'वर्नन ली' ने आरंभ में शारीरिक मुद्रा और अंग-संचालन के साथ कुछ अन्य क्रियाओं को इस दृष्टि से महत्व दिया था, पर बाद में वे इस निष्कर्ष पर पहुँची कि इन क्रियाओं का स्थान गौण है। वस्तुतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व संवेग और विचार हैं। 'ली' महोदया इस बात को मानती थीं कि अन्तर्भावना में विषय-विषयि अथवा द्रष्टा-दृश्य में निकट का संबंध होता है, इसी संबंध के कारण द्रष्टा की क्रियाओं और दृश्य की विशेषताओं में तादात्म्य पाया जाता है। उन्होंने उदाहरण द्वारा इसे और भी स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि अगर हम पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर दृष्टिपात करें तो हमें इस तथ्य का अभिज्ञान होगा कि ज्यों-ज्यों हमारी दृष्टि ऊपर उठती जाती है, त्यों-त्यों उसकी ऊँचाई बढ़ती जाती है। हम यह पूछ सकते हैं कि ऐसा क्यों होता है। इसके उत्तर स्वरूप 'ली' महोदया का कहना है, "दृश्य पर्वत के स्वरूप पर हम केवल उसकी ऊँचाई या बढ़ने का भाव ही नहीं स्थानान्तरित करते, अपितु अपनी अन्तस्थ भावनाओं या विचारों को भी आरोपित करते हैं, जो पर्वत तक पहुँचने के पूर्व हमारे मानस में संग्रहीत थे। इस आरोप की स्थिति में मानस में संग्रहीत विचार और ऊँचाई बढ़ने की क्रिया में एक अन्तः सम्बन्ध पाया जाता है। इस अन्तःसम्बन्ध को 'एनफुहलुंग' या तादात्म्य कहा जाता है।"[१] 'ली' ने 'एम्पैथी' के सन्दर्भ में 'एनफुहलुंग' का

---

1. What we are transferring from ourselves to the looked at shape of mountain, is not merely the thought of rising, which is really being done by us at the moment, but the thought and emotion, the idea of rising as such, which had been accumulating in our mind long before, we ever came into the presence of that particular mountain. And it is this complex mental process by which we all unsuspectingly invest that inert mountain, that bodiless shape, with the stored up and averaged and essential modes of our activity, it is this process whereby we make mountain raise itself, which constitutes what accepting Professor, Tichneri translation of German word 'Enfuhlung', I have called empathy."

पूर्ववर्ती इतिहास भी प्रस्तुत किया है और इसी स्थल पर इस तथ्य को निरूपित करने का प्रयत्न भी किया है कि 'एम्पैथी' मूलतः 'एनफुहलुंग' के उस अर्थ से भिन्न है, जिसका संबंध पूर्ववर्ती परंपरा से है। यह पूर्ववर्ती परंपरा निजंधरी कथा पर आश्रित निष्पत्तियों के आधार पर दृश्य उपादान में 'अहं' के प्रक्षेपण के मूल में विद्यमान सहानुभूति या समानुभूति को 'एनफुहलुंग' की संज्ञा देती है। **'एम्पैथी' अपनी विशेषता के कारण 'एनफुहलुंग' के इस अर्थ से भिन्न है। इसका मूल कारण यह है कि इसमें एक ओर द्रष्टा** की आन्तरिक क्रियाओं के साथ दृश्य का तादात्म्य रहता है और दूसरी ओर सहानुभूतिपूर्ण विधायक कल्पना का सहयोग भी पाया जाता है।

अन्तर्भावना के प्रतिपादकों में 'थिओडोर मेयर ग्रीन' का स्थान भी महत्व-पूर्ण है। इन्होंने लालित्यबोधीय आनन्द के सन्दर्भ में लालित्यबोधीय उपादान की चर्चा की है। उनकी मान्यता है, "जब हम किसी लालित्यबोधीय उपादान को देखते हैं तो हमारा केन्द्रीय अवबोध उद्बुद्ध हो कर बिंब विशेष के माध्यम से आनंद का जनक बन जाता है। यहाँ लालित्यबोधीय उपादान में ऐन्द्रिय साक्षात्कार (sensuous appearance) की विशेषतायें पाई जाती हैं। इसीलिये इसे केवल स्थूल या भौतिक कह कर टाला नहीं जा सकता। इसमें कल्पना प्रसूत और सार्थक तथ्यों से पूर्ण बिंब का भी सहयोग पाया जाता है। इसे सुचिन्तित सौन्दर्यो-पादान कहा जा सकता है, जो अपने मूलरूप में चिन्तन की क्रिया से भिन्न है।"

'लिप' के अनुसार लालित्यबोधीय उपादान और लालित्यबोधीय आधार भी भिन्न हैं। उनका कहना कि **सौन्दर्य का ऐन्द्रिय अवबोध उपादान है और ऐन्द्रिय अवबोध होने पर उत्पन्न होने वाली विविध संवेदनायें आधार हैं।** लालित्य-बोधीय आनन्द के उपादान को भी वे आनन्दोपलब्धि कराने वाला आकार या स्वरूप मानते हैं। इसी से आनन्द सम्बद्ध रहता है और वही उसका मूलकारण भी होता है। इस तरह इस प्रश्न के दो पहलू हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं—

(१) लालित्यबोधीय आनन्द का कोई उपादान नहीं है, क्यों कि यह मूलतः आत्मानंद है। यह हमारे अन्तर्निहित मूल्य का सद्यः अवबोध है।

(२) लालित्यबोधीय आनन्द में हमारे मूल्य की भावना को बल मिलता है, और यह इसी के माध्यम से अभिव्यक्ति भी पाता है, अतएव इसका एक निश्चित उपादान है, जो प्रकारान्तर से उसका आधार भी सिद्ध होता है। 'लिप' महोदय

द्वितीय पक्ष के प्रतिपादक हैं। इसीलिये उन्होंने लालित्यबोधीय आनन्द को उपादानमय और उपादान को लालित्यबोधीय आनन्दमय माना है।[1]

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि लिप महोदय भी द्रष्टा और दृश्य के एवंभूत संयोग को अन्तर्भावना मानते हैं। 'एम० राडार' ने ठीक ही लिखा है कि, "उनके विचार से लालित्यबोधीय उपादान से सम्बन्धित विश्लेषण द्विविध है। प्रथम विधा का सम्बन्ध आन्तरिक क्रिया या भावसंवेग से है और द्वितीय का भौतिक प्रेरणा तथा ऐन्द्रिय अवबोध प्रदान करने वाले बाह्य स्थूल उपादान से। इन्हीं दोनों का संयोग लालित्यबोधीय उपादान का जनक है। अन्तर्भावना में द्रष्टा और दृश्य सम्बन्धी सचेनता निरसित हो जाती है और इसके परिणाम स्वरूप पेशल अनुभूति का प्रादुर्भाव होता है।"

अन्तर्भावना के ही सन्दर्भ में 'लिप' ने अनुकरण पर भी विचार किया है। यहाँ उसके दो स्वरूपों की चर्चा की गयी है। (१) **ऐच्छिक अनुकरण** (voluntary Imitation) **और(२) लालित्यबोधीय अनुकरण** (Aesthetic Imitations)। उनके अनुसार ऐच्छिक अनुकरण की तीन विशेषतायें हैं। (१) इसमें गति के ज्ञान के साथ ही उसकी अनुभूति का ज्ञान भी निहित होता है। (२) इसमें अनुभूति से सम्बन्धित मानसिक बिंब पाया जाता है और (३) इसमें कर्त्ता से भिन्न द्रष्टा को भी अपनी गति और क्रिया का ज्ञान रहता है। लालित्यबोधीय अनुकरण में यह द्वैत नहीं रहता। यह अन्तः और बाह्य दोनों क्रियाओं से सम्बद्ध रहता है। यह आत्मा की सर्जनात्मक प्रवृत्ति कहलाता है। इस क्रिया में ऐन्द्रिय अवबोध की तीव्रता जितनी ही विरल होती है, लालित्यबोधीय उपादान का चिन्तन उसी मात्रा में सघन होता जाता है। इस प्रकार "अन्तर्भावना मात्र शारीरिक मनोविकार जनित उद्वेग नहीं संवेदन है, जिसमें द्रष्टा और दृश्य में तादात्म्य रहता है।"

'हरबर्ट सिडनी लैंगफील्ड' ने अन्तर्भावना पर विचार करते समय पूर्ववर्ती लेखकों के मतों की आलोचना की है। उनका प्रमुख विवेच्य अवबोध और प्रेरक चित्तवृत्तियाँ है। वे अवबोध को इन्हीं प्रेरक चित्तवृत्तियों का मुखापेक्षी मानते हैं। उन्होंने उदाहरणों के माध्यम से अपनी इस मान्यता को सिद्ध किया है। प्रेरक चित्तवृत्ति में अनुभूति की विशेषता और सामंजस्य पाया जाता है। यह

1. It is the enjoyment of an object, which however, so far, as it is the object of enjoyment, is not an object, but myself. Or it is the enjoyment of ego, which however so far as it is aesthetically enjoyed is not myself, but objective.

संश्लेषणात्मक होती है। इस क्रिया को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, "संश्लेषण की स्थिति में ऐन्द्रिय बोध द्वारा उपलब्ध उपादान पूर्ववर्ती गति के भाव को प्रबुद्ध करता है। इस उद्‌बोधन का प्रभाव हमारे स्नायु-संस्थान की संघटना पर पड़ता है। अधिक प्ररोचित होने पर इसमें यथार्थ गति के भाव का समावेश होता है। इसके कारण विषय-विन्यास, चिकनाहट, कोमलता और अन्य विशेषताओं से संबधित अनुभूति होती है।"[१]

'लैंजफील्ड' ने संश्लेषणात्मक और अवबोधात्मक स्वरूपों पर दृष्टिपात करते समय प्रेरक चित्तवृत्ति के प्रकारों का उल्लेख भी किया है। उनके अनुसार ये दो प्रकार की होती हैं, (१) लालित्यबोधीय और (२) इससे भिन्न। **प्रथम उपादान से संबंधित सामंजस्य का निरूपण करती है और द्वितीय उपादान में निहित सामंजस्य की जनक बनती है।**[२] इन्होंने 'कार्लग्रूज' के आन्तरिक वस्तु-सादृश्य के सिद्धान्त (Inner mimicry) का भी उल्लेख किया है। यह सिद्धान्त 'लिप' से भिन्न रूप में इस सत्य को प्रतिपादित करता है कि जब हम किसी दृश्य उपादान के आकार को देखते हैं तो हमारे अवयवों की यथार्थ संवेदनशीलता गतिशील हो उठती है। 'मिस् सी एन्स्ट्रूथर टामसन' की वैज्ञानिक गवेषणा भी इसी पर आधारित है। उनका कहना है, 'मेरी आँखें मिलो' के 'वीनस' की मूर्ति पर टिक जाती हैं। मुझे ऐसा ज्ञात होने लगता है कि मेरे युगल पदों का दबाव चित्र के युगल पदों के दबाव का सूचक है। मेरे शरीर का उतार चढ़ाव चित्र अथवा संगमरमर की मूर्ति का उतार चढ़ाव ज्ञात होने लगता है। मेरे सिर का निरन्तर बना रहने वाला भार मूर्ति के सिर का सामंजस्य सिद्ध होता है। ऐसा ज्ञात होने लगता है कि अपने शरीर के माध्यम से हम उस मध्ययुगीन मूर्ति का अनुकरण कर रहे हैं।'[3] इस निरीक्षण का उपर्युक्त स्वरूप प्रकारान्तर

---

1. The object observed, whether through the eye, ear or another of senses, arouses the memory of the former movement, which are so revived that they form a nervous pattern, which is ready on additional stimulation to produce actual movement, is sufficient to give us perception of the space, weight, form, smoothness, delicacy, and many of our other experiences.

2. One is adjustment towards and other is an adjustment in the object.

3. "My eye falls on the Venus of the Milo......The preassure of my feet on the ground is the preassure that I see

से हमारी प्रेरक चित्तवृत्ति का ही विश्लेषण है। इससे इतना तो स्पष्ट है ही कि इस प्रकार की क्रिया से हमारी तात्कालिक अनुभूति की भावना बलवती होती है, और इसके अभिज्ञान से हमारी समीक्षा दृष्टि भी उदात्त बन जाती है। 'प्रो० ग्रूज' ने इस विवेचन के पश्चात् अपनी दृष्टि से इसे सूक्ष्मता पूर्वक विश्लेषित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने अन्तर्भावना पर आश्रित संवेदन-शीलता को त्रिस्तरीय माना है। "**इसका प्रथम स्तर वह है जहाँ शारीरिक संवेदन पूर्णरूप से शरीर में ही केन्द्रित नहीं ज्ञात होते। ऐसी स्थिति में वे उपादान से पूर्णतया सम्बद्ध रहते हैं। दूसरी अवस्था वह है जहाँ ये शारीरिक सम्वेदन इतने अशक्त हैं कि वे उपादान से ध्यान को विकेन्द्रित करने में तो असमर्थ हैं, पर इनमें चेतना को प्रभावित करने की क्षमता विद्यमान है। ऐसी स्थिति में हम अपने को उपादान में प्रक्षेपित करते हैं। तीसरी स्थिति वह है जब ये संवेदन अधिक सशक्त हैं। ऐसी स्थिति में उनका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है और उनके प्रक्षेपित होने का प्रश्न ही नहीं उठता।**"

मत वैभिन्न्य विकास का ही सूचक है। अन्तर्भावना के सम्बन्ध में विचारकों में एकता नहीं है, फिर भी इतना तो मान्य है ही कि यह सिद्धान्त अनुभूति से सम्बन्धित है और इससे कलाकार के सृजन पर प्रकाश भी पड़ता है। 'अन्तर्भावना' का सिद्धान्त मूल रूप में मनोवैज्ञानिक निष्पत्तियों के आधार पर अनुभूति को विश्लेषित करता है। इसकी उपलब्धि और सीमायें कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। 'मनोविज्ञान के विकास के साथ इस पर प्रश्नवाची चिह्न लग चुका है, फिर भी विषयिगत निरूपण और आन्तरिक सामंजस्य की दृष्टि से इसका सर्वथा बहिष्कार असंभव है।

(३) कल्पनावाद (Theory of Abstraction)

'एम्पैथी' के सन्दर्भ में इस बात का उल्लेख किया गया है कि इसके माध्यम से सृजन के स्वरूपों को कुछ समय तक समझा जाता रहा, पर बाद में यह भी

---

in a marked degree in the feet of a statue. The lift up of my body I see done more strongly and amply in her marble body, and the steadying preassure of my head, I see in the diminished degree in the poise of statue's beautiful head. These movements I may be said to imitate, but I should find them and imitate them equally in a renaissance monument or a medieval chalice. They are the basis of all art. Another connexion that I feel with her is by balance and shifting of my weight from side to side in order to follow her balance."

अपूर्ण सिद्ध हुआ। जर्मन लेखक 'विलहेमवोरिंगर' (willhelm Worringer) ने इस पर आक्षेप करते हुए इसकी अपूर्णता का संकेत किया और यह मत प्रतिपादित किया कि इसके आधार पर हर देश और हरकाल की कला का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। उन्होंने अपने प्रमुख लेख 'एम्पैथी और एब्स्ट्रैक्शन' में इन दोनों क्रियाओं के विभेद को निरूपित किया। **उनका कहना था कि 'अन्तर्भावना की स्थिति में मस्तिष्क उपादान से तादात्म्य स्थापित करता है, पर 'कल्पनावाद' की स्थिति में यह उसकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकृति प्रदान करता है। अन्तर्भावना की स्थिति में द्रष्टा अपनी स्पन्दनशील भावनाओं को उपादान में प्रक्षेपित करता है, पर 'ऐब्स्ट्रेकशन' की दशा में वह अपनी विषयगत भावनाओं को उससे अलग रखने के लिये तत्पर रहता है। मस्तिष्क के कल्पनावादी स्वरूप में कलाकार कला के आकार की कल्पना करता है। इस आकार की अपनी विशेषता होती है क्योंकि यह ऐन्द्रिय अवबोध द्वारा उपलब्ध आकार से अधिक स्थायी और महत्त्वपूर्ण होता है। अन्तर्भावना में मस्तिष्क और उसकी परिवेशीय विशेषता में सामञ्जस्य रहता है, कल्पनावादी स्वरूप में यह बात नहीं पाई जाती। इस स्थिति में मात्र परिवेशीय विशेषता ही महत्त्वपूर्ण नहीं होती। इसका प्रमुख कारण यह है कि यह (कल्पनावाद) अपने को केवल ऐन्द्रिय आनंद तक ही सीमित नहीं रखता। इसका उद्देश्य कुछ उदात्त और महान होता है। ऐसी स्थिति में द्रष्टा ऐन्द्रिय सम्मोहन और प्रवंचक प्रभाव के एक ऐसे क्षेत्र की कल्पना करता है जिस में कला की स्थायी प्रवृत्तियों का आधिपत्य रहता' है। कल्पनावाद भौतिकतावाद का विरोधी है। इसके विचारक कलात्मक उद्देश्य** (Artistic Purpose) **को महत्वपूर्ण मानते हैं।** इनके अनुसार 'कलात्मक उद्देश्य का निश्चित अर्थ होता है, क्योंकि, इससे प्रेरित होने पर कलाकार उपादान और सृजन प्रक्रिया से सर्वथा मुक्त होकर उस आन्तरिक आवश्यकता पर बल देता है, जो अपनी सत्ता में निर्माणोन्मुख होती है। **यही उद्देश्य सम्बलित आन्तरिक आवश्यकता हर प्रकार के कलात्मक सर्जन का मेरुदण्ड है और इसी के अभिव्यक्तीकरण पर प्रमुख रूप से कला निर्भर भी करती है।** इस विचारधारा के लोगों की दृष्टि में कला का इतिहास मात्र कौशल का इतिहास नहीं होता। वस्तुतः **कलात्मक उद्देश्य प्रमुख है और कला कौशल गौण।** इनके अनुसार कला के क्षेत्र में उपयोगितावादी दृष्टिकोण तथा उद्देश्य के साथ ही उसके निर्माण तत्व और तकनीक आदि सब का महत्व होता है। अनुकरण की प्रवृत्ति आवश्यक होते हुए भी मानव की लालित्य-बोधीय चेतना से परे की वस्तु सिद्ध होती है। इसीलिये इसका प्रमुख सम्बन्ध मूर्तिकला और सामान्य रूप से प्रतीक कलाओं से रहा है। कला का प्रमुख

उद्देश्य आनंद प्रदान करना है। इस उद्देश्य का मनोवैज्ञानिक आवश्यकता से विशेष सम्बन्ध होता है। इसे केवल कला ही सन्तुष्ट कर सकती है। कल्पनावादी विचारकों ने मनोवैज्ञानिक आवश्यकता को विशेष रूप से प्रतिपादित किया है। 'बोरिंगर' के ही शब्दो में **'इसका इतिहास समष्टि संवेदन का इतिहास है, क्योंकि इसी के माध्यम से व्यष्टि समष्टि के क्रमबद्ध स्वरूप का साक्षात्कार करता है।** यह आवश्यकता शैली के आवरण में अभिव्यक्त होती है, इसीलिये शैलीगत विशेषता इस का प्रमुख अभिघटक सिद्ध होती है। शैली का उद्देश्य उच्च-कोटि का आनंद प्रदान करना है। कल्पनावादी विचारक भावना और उसके परिवेश के अन्तर्द्वन्द्व को विशेष महत्वपूर्ण मानता है। इसके विचारकों का विश्वास है कि व्यक्ति भौतिक दृष्टि से बाह्य संसृति के क्रिया-कलाप का चितेरा मात्र है, अतएव वह इसके अन्तराल में प्रच्छन्न रूप से सक्रिय सत्य का आभास नहीं प्राप्त कर पाता है। विश्व के क्रिया-कलाप अधिकांशतः निरास्था और निराशा मूलक होते हैं। व्यक्ति इसकी कटुता और विद्रूपता से हटकर आनंद और शान्ति की खोज में रत होता है, इस शान्ति की प्राप्ति के लिए वह समष्टि के कुछ स्वरूपों को उनके बन्धन से मुक्त और परिष्कृत करके स्थायित्व प्रदान करता है। कला इसी प्रकार की क्रिया की सहयोगी है। इसीलिये **वह नश्वर को अनश्वर, क्षण-भंगुर को शाश्वत और सामान्य को असमान्य कलेवर प्रदान करके हमारे आनंद का स्थायी-स्रोत बन जाती है।** अन्तर्भावना के विचारकों ने आनंद को विषयाश्रित माना था, पर कल्पनावादी विचारकों ने इसे विषयि-आश्रित माना। उनकी स्पष्ट धारणा है कि कल्पना-प्रवण मस्तिष्क जब चिन्तन के माध्यम से सर्व-सामान्य भौतिक स्वरूपों का अतिक्रमण करके स्थायी तत्वों का साक्षात्कार करता है, तो इस तथ्योपलब्धि से जो आनंद प्राप्त होता है उसे लालित्यबोधीय आनंद की संज्ञा दी जाती है।

(४) मानसिक दूरी (Psychical distance)

इस मत के प्रतिपादक 'एडवर्ड बुलो' (Edward Bullough) अंग्रेज मनोवैज्ञानिक थे। इनके पूर्व साहित्य के क्षेत्र में विषयि-विषयगत अनुभूतियों का विवाद अपने चरमउत्कर्ष पर पहुँच चुका था। 'कांट' के दर्शन के क्षेत्र में अवतरण के साथ विषयगत दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा भी हो चुकी थी। 'बुलो' महोदय इसी परंपरा के विचारक थे इन्होंने अपने निबंध के आरंभ में ही कई प्रकार की दूरियों की चर्चा किया है। उदाहरण के लिए हम **दर्शक और कलाकृति के बीच की दूरी** (actual spatial distance), **कलाकृति में निरूपित दूरी** (represented spacial distance) **और कालगत दूरी** (Temporal dist-

ance आदि को ले सकते हैं। उनके अनुसार प्रथम प्रकार की दूरी के प्रतिपादक 'अरस्तू' थे और द्वितीय की प्रतिष्ठा चित्र-कला के पार्श्व-दृश्य के सन्दर्भ में हुई थी। 'दूरी' का इस प्रकार का विवेचन महत्वपूर्ण है। जब हम मानसिक दूरी के अर्थबोध पर विचार करते हैं तो इससे उपलब्ध निष्पत्ति लालित्यबोधीय गुण की संसूचक ज्ञात होती है। उन्होंने कुहरे के उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि इसे देखकर दो प्रकार की भावनायें उत्पन्न होती हैं (१) दुखद और (२) सुखद। सुखद भावना का संबंध व्यक्ति के वैयक्तिक हानि-लाभ से भिन्न रूप में उसके विषयगत दृष्टिकोण से होता है। इस प्रकार के व्यतिरेक को 'बुलो' साहब आकस्मिक और चकपकाहट उत्पन्न करने वाला मानते हैं।[1]

लेखक ने इसी सन्दर्भ में आत्मा और उससे उद्भूत मनोवेगों की दूरी का उल्लेख किया है। उनके अनुसार यह दूरी हमारे अन्दर संवेदन अवबोध, भावात्मक स्थिति या विचार को उत्पन्न करती है। ऐसा भी माना जा सकता है कि यह व्यक्ति की सचेतन सत्ता और भाव उत्पन्न करने वाले मनोवेगों के बीच की दूरी है। "इसकी क्रिया विषम और दुहरी है। प्रथम पक्ष का संबंध इसके उस नकारात्मक पक्ष से है, जो उपादान को हमारी व्यावहारिक आवश्यकताओं और उद्देश्यों से असम्बद्ध मानता है, द्वितीय पक्ष का संबंध इसके उस सकारात्मक पक्ष से है, जो दूरी के नकारात्मक पक्ष द्वारा प्रस्तुत आधार पर हमारी अनुभूतियों का संवर्द्धन और परिवर्द्धन करके उनको परिष्कृत बनाता है। यह दूसरा पक्ष हमारी मानसिक अनुभूति का सहयोगी होता है। इस पक्ष में द्रष्टा की अनुभूति उसकी आन्तरिक विशिष्टता से भिन्न रूप में उपादान की विशिष्टता के सन्दर्भ में प्रस्तुत की जाती है।"

---

1. This contrast often emerging with startling suddenness is like a momentary switching or some new current, or passing ray of bright light illuminating the outlook upon perhaps the most ordinary and familar objects—impression which we experience sometimes in the instants of direct extremity, when our practical interest snaps like wire from sheer over-tension, and we watch the consumation of some impending catastrophe with the marvelling unconcern of mere spectator.

'एडवर्ड बुलो' ने लालित्यबोधीय अनुभूति को 'औब्जेक्टिव' माना है, पर उन्होंने इस शब्द का प्रयोग इसके परंपरित अर्थ से भिन्न रूप में किया है। उनके अनुसार कोई **कलाकृति न तो परंपरित अर्थ में पूर्ण 'औब्जेक्टिव' हो सकती है और न 'सब्जेक्टिव'**। साहित्य के क्षेत्र में इन दोनों शब्दों का परस्पर विरोधी अर्थों में प्रयोग होता है। इसीलिये यह प्रयोग अस्पष्टता का कारण बन जाता है। कला के क्षेत्र में इन शब्दों के अतिरिक्त अन्य पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है, पर ये सब यथार्थ-अर्थ वाहक नहीं हैं। लेखक के अनुसार **मानसिक दूरी के क्षेत्र में विरोधाभास स्वयंमेव संश्लेषित हो जाते हैं। यही सौन्दर्य का आवश्यक मानदण्ड प्रस्तुत करती है और कला की प्रकृति के निरूपण द्वारा सर्जन के रहस्य को उद्घाटित करती है। यही लालित्यबोधीय चेतनता की प्रमुख विशिष्टता है और अनुभूति के अभिघटक मानसिक चित्तवृत्ति और दृष्टिकोण को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होती है।"**

'मानसिक दूरी' के क्षेत्र में तटस्थ दृष्टिकोण यथार्थ चिन्तन की संभावनाओं को सशक्त बनाता है, पर यह तटस्थता एक विशेष प्रकार की तटस्थता है। इसमें विज्ञान की तटस्थता का सर्वथा अभाव रहता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि यहाँ द्रष्टा और दृश्य में एक विशेष प्रकार का संबंध रहता है। **इसी सम्बन्ध के कारण द्रष्टा की विषयगत भावनायें निरसित हो जाती हैं।** यह तटस्थता या दूरी की भावना उपादान से हमारे संबंध को इस रूप में नियोजित करने में समर्थ है कि वे हमें काल्पनिक मालूम होने लगते हैं। ये संबंध वैयक्तिक होते हुए भी निर्वैयक्तिक ज्ञात होने लगते हैं। इस दृष्टि से कला के क्षेत्र में तटस्थता या दूरी के अन्तर्विरोध (antinomy of distance) की बात महत्वपूर्ण है। जब हम कलागत प्रभाव ग्रहण करने के लिये पूर्णतया तैयार रहते हैं, तो कला भी हमें अच्छी तरह प्रभावित करती है, इस तैयारी के अन्तर्गत हमारी आन्तरिक और बाह्य – बौद्धिक, भावात्मक और शारीरिक-सभी क्रियायें आती हैं। हम सतर्क होकर जिस अनुपात में प्रभाव ग्रहण करने के लिये तत्पर रहते हैं, अथवा जिस अनुपात में बौद्धिक और भावात्मक स्तर पर उसे ग्रहण करते हैं, उसी अनुपात में कला हमें प्रभावित भी करती है। पर इस अवस्था की आश्यक शर्तें 'दूरी' के अन्तर्विरोध की जनक हैं। अतएव सृजन और विभावन दोनों दशाओं में तटस्थता के सन्दर्भ में इनका निश्चित आनुपातिक तिरोभाव आवश्यक है।

तटस्थता या दूरी उपादान के साथ ही व्यक्ति की क्षमता पर भी निर्भर है।

बुलो महोदय का कहना है, "व्यक्ति के दूरीकरण की क्षमता और उपादान की विशेषता के अनुसार दूरी में भिन्नता आती जाती है।"[1]

'दूरी' (या तटस्था) की कमी के दो कारण हैं—

(१) दूरी की अपर्याप्तता (under distancing)

(२) दूरी की अधिकता (over distancing)

'प्रथम के परिणाम स्वरूप नग्न यथार्थवादी कला का प्रादुर्भाव होता है, और दूसरे के परिणाम-स्वरूप, असम्भव, कृत्रिम, खोखली और निरर्थक कला का' लेखक ने दूरी की सीमा (distance limit) का भी उल्लेख किया है और उसे वह "बिन्दु घोषित किया है जिस पर तटस्थता की परिसमाप्ति के कारण समीक्षा भी या तो समाप्त हो जाती है या अपनी विशिष्टता का स्वरूप बदल देती है। इस विवेचना से यह तथ्य सरलता से स्पष्ट हो जाता है कि हर औसत व्यक्ति के लिए कम से कम वह न्यूनतम सीमा (mimimum limt) अवश्य प्रस्तुत रहती है, जहाँ से वह उसे सौन्दर्य के लालित्यबोधीय गुणों को बनाये रखने में समर्थ है। उसकी यह सीमा कलाकार की सीमा से बड़ी और उत्कृष्ट होती है। व्यक्ति-विभेद के कारण इस सीमा को निर्धारित करना कठिन है।" इसके परिणाम-स्वरूप कभी-कभी बहुत बड़ी गलतियाँ हुई हैं, और कलाकार को अकारण ही अमानवीय आलोचना का भाजन बनना पड़ा है। यहाँ एक और सत्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है। **वह तटस्थता या दूरी "जहाँ से लालित्य-बोधीय क्रिया सम्भव होती है, वस्तुत: कला की उस सामान्य विशिष्टता की ओर संकेत करती है, जो प्रकृत्या यथार्थवाद की विरोधी है।"** आदर्शवाद और यथार्थ-वाद जैसे शब्द भी अब निश्चित अर्थ के परिचायक बन गये हैं, पर यह भी द्रष्टव्य हैं कि **जो एक के लिए यथार्थ है, वही दूसरे के लिए आदर्श** भी है। इस बात को तटस्थता या दूरी के आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है।

(५) कला का अमानवीकरण (Dehumanisation of Art)

इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक 'जो सी आर्टेगा वाइ गैसेट' हैं। ये स्पेन के दार्शनिक हैं। इन्होंने 'बुलो' से भिन्न रूप में लालित्य बोधीय तटस्थता का निरूपण किया है। इनका निबन्ध 'डी ह्यूमेनाईजेशन ऑव आर्ट' कई शीर्षकों में विभक्त है। सर्वप्रथम इन्होंने कलात्मक कला (artistic art) पर विचार

---

1. Distance may be variable both according to the distancing power of the individual and according to the character of the object.

किया है। इसी विवेचन के अन्तिम भाग में लेखक ने 'डीह्यूमेनाइजेशन' के सिद्धान्त की व्याख्या की है। उन्हीं के शब्दों में 'विशुद्ध कला सम्भव नहीं है। इसका कारण पर्याप्त विषम और उलझा हुआ है। अगर यह मान भी लिया जाय कि विशुद्ध कला संभव नहीं है, तो भी यह प्रश्न उठ सकता है कि इसके बावजूद उसका शुद्धीकरण तो हो सकता है। पर द्रष्टव्य है कि यह शुद्धीकरण तभी संभव है, जब हम मानवीय तत्वों को कम करते जाँय, जो मूलतः स्वच्छन्द साहित्य और प्रकृतवादी साहित्य के मेरुदण्ड हैं। इस क्रिया में एक ऐसी भी स्थिति आ सकती है, जब मानवीय तत्व इतने विरल हो जायँ कि उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाय। ऐसी स्थिति में हमें ऐसा कलात्मक उपादान मिल जाता है, जो अद्‌भुत संवेदनशील व्यक्ति के अवबोध का विषय हो सकता है। यह कला कलाकार के लिए होती है जनता के लिए नहीं, इसीलिये इसे कलाकार की कला कहा जाता है। निबंध का द्वितीय शीर्षक 'प्रत्यक्ष ज्ञान के कुछ स्वरूप' (Some scraps of phenomenology) है। इसे स्पष्ट करने के लिए लेखक ने एक मरणासन्न व्यक्ति के निकट उपस्थित डॉक्टर, पत्नी, चित्रकार और संवाददाता का उदाहरण लिया है और उनके दृष्टिकोण की भिन्नता को प्रतिपादित किया है। इस विश्लेषण द्वारा उन्होंने तटस्थता-प्रसूत उस दूरी को समझने का प्रयत्न किया है, जो हर दर्शक मरणासन्न व्यक्ति के प्रति बनाये रखता है। पत्नी का प्रश्न जटिल है। उसकापति के साथ घनिष्ट संबंध रहा है। वह उसके सुख-दुख के पालने पर निरन्तर झूलती रही है। स्पष्ट है कि मरणासन्न व्यक्ति की हरवेदना उसके हृदय को दुख से विभोर कर देती है। वह पति के कष्ट में घुल-मिल जाती है। अतएव यहाँ तटस्थता की मात्रा न्यूनतम है।

डॉक्टर के लिये मरणासन्न व्यक्ति से संबन्धित सब कुछ व्यावसायिक है। वह उसका पत्नी जैसी तीव्रता से अनुभव नहीं करता, फिर भी उसकी प्राणरक्षा उसके व्यवसाय और सम्मान का अभिन्न अंग है। वह रुग्ण व्यक्ति का निकट से अध्ययन करता है, यहाँ उसका हृदय आर्त नहीं होता। वह उस घटना के साथ निकट का संबंध बनाये रखता है। उसकी तटस्थता तुलनात्मक दृष्टि से पत्नी से अधिक है।

यहाँ संवाददाता भी एक व्यवसायनिष्ठ व्यक्ति के रूप में उपस्थित है। वह घटना का अध्ययन अधिक तटस्थतापूर्वक करता है। अपने निरीक्षण को बाद में वह पत्र में प्रकाशित करता है। उसका निरीक्षण इस रूप में किया जाता है कि

वह स्पष्टतापूर्वक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा सके। अतएव वह उस घटना के यथार्थ-स्पन्दन को ग्रहण करने का स्वांग करता है।

चित्रकार की स्थिति संवाददाता से भिन्न है। उसका घटना से विशेष सम्बन्ध नहीं है क्योंकि (उसका) दृष्टिकोण चिन्तन प्रधान है। वह घटना के निरीक्षण को अपना विवेच्य बनाता है और इसे रेखा और रंगों द्वारा बाँधना चाहता है। इस प्रकार चित्रकार की तटस्थता की मात्रा पूर्ववर्ती लोगों से अधिक है।

उपर्युक्त विवेचन से एक बात सरलता से स्पष्ट हो जाती है कि द्रष्टा और दृश्य के बीच पाई जाने वाली तटस्थता ही यथार्थ को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत करती है। एक ही यथार्थ दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण विविध रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है। यह भिन्नता भी किसी न किसी प्रकार हमारे यथार्थ भोग पर आश्रित है। यही भोगा हुआ यथार्थ अपने व्यापक रूप में समष्टि यथार्थ का परिचायक होता है। इसीलिये उपर्युक्त उद्धरण में प्रस्तुत संवाददाता या चित्रकार के दृष्टिकोण को हम अमानवीय कह सकते हैं। अमानवीयता पर दृष्टिपात करते समय लेखक स्पष्ट रूप से कहता है, "ऐसे लेखक जो कलाकृति में अपने समादर के अभाव को चित्रित करते हैं उन्हें इस गुरुतर उत्तरदायित्व से शीघ्रता से विलग हो जाना चाहिए। **आज का लेखक समष्टि चेतना या नवीन लालित्यबोधीय संवेदना को महत्व देता है।** इस संवेदनशीलता के माध्यम से ऐसे वर्गगत चरित्र प्रस्तुत किये जाते हैं, जो विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों के जनक हैं। नवीन कला-कृति में यह वर्गगत संवेदनशीलता कला को अमानवीय स्तर पर ले जाती है।" **आज साहित्य और कला में भोगे हुए जीवन सत्य के नाम पर अयथार्थ और विकृत स्वरूपों की बाढ़ आ गई है। प्राचीन-कला ऐसे तत्वों के साक्षात्कार का प्रयत्न करती थी जिनके साहचर्य से हमारा दृष्टिकोण व्यापक और प्रशस्त होता था, पर आज की कला में ऐसे भाव-संवेगों की प्रचुरता है, जो हमारे मानसिक स्वरूपों को प्रतिच्छायित और आच्छादित करते हैं और सामान्य जीवन के संवेगों से कुछ भिन्न और अजनबी ज्ञात होते हैं।** आज का कलाकार मानवीय तत्वों को विजित करके लालित्यबोधीय आनन्द प्राप्त करता है।

आधुनिक कलाकार 'कला के उत्कृष्ट मार्ग (Royal Road of Art) का अनुगमन करना चाहता है। इसके परिणामस्वरूप उसकी शैली विशिष्टीकरण से ग्रसित हो जाती है। उसमें तटस्थता की मात्रा आवश्यकता से अधिक पाई जाती है। इसी कारण कला डी-ह्यूमेनाइज्ड हो जाती है। 'गैसेट' ने इसी

का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है, "कला का हर महत्वपूर्ण काल मानवीयतत्व से बचने के लिए प्रयत्नशील रहा है। **विगत शताब्दी के नग्न यथार्थवाद का प्रभाव लालित्यबोध के विकास में अद्वितीय अमानवीयता और निरंकुशता का परिचायक सिद्ध हुआ है। इसके कारण अतिशय नियम विहीन प्रेरणा का स्वर कला का प्रमुख केन्द्र-बिन्दु बन गया है। इसी को अभिनव शैली की संज्ञा दी गई है। पर सत्य यह है कि यह यथार्थ को कलुषित और विद्रूप बनाने का प्रमुख साधन सिद्ध हुई है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शैली का विशिष्टीकरण कला के अमानवीकरण का प्रमुख साधन है।**"[1]

'गैसेट' के विचार का विरोध भी हुआ है। विरोधियों में 'केनेथ क्लार्क' का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने **अपने प्रसिद्ध लेख 'नेकेड और न्यूड' द्वारा इस सिद्धान्त पर जम कर प्रहार** किया है। उनका कहना है कि अमानवीय तत्व कला का उपजीव्य नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है 'कि "कलाकार केवल अनुकरण नहीं करता, वह तो इसके माध्यम से कला को पूर्णता प्रदान करता है। उसकी कृति में आन्तरिक और वाह्य में विशिष्ट सामंजस्य पाया जाता है।"

'ह्यगोमुन्स्टरबर्ग' ने तटस्थता से संबंधित एक और सिद्धान्त प्रतिपादित किया है और इसे **'आइसोलेशन'** (isolation) **की संज्ञा दी है।** वे लालित्यबोधीय विभावन और वैज्ञानिक ज्ञान को परस्पर भिन्न मानते हैं। उन्होंने कहा है, "हमें ज्ञान की उपलब्धि उस समय होती है जब हम उपादान को बदल कर इस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि वह अन्य उपादानों से सम्बद्ध हो सके, पर हमें सौन्दर्य की उपलब्धि उस समय होती है जब हम उपादान-विशेष को इस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि वह अन्य सब कुछ से विच्छिन्न हो कर अकेला दिखाई पड़े।"

---

1. All the great epochs of art have avoided the human as the centre of gravity in their creations. And the imperative of exclusive realism, which has ruled over the sensibility of past century, signifies precisely a monstrosity without equal in aesthetic evolution, from which it results that new inspiration, so extravagant in appearance comes back at least in one point to the royal road of art. Because this road is called the "Will to style'......well now to style is to deform the real, to derealise stylisation implies dehumanisation.

सामंजस्य (Synaesthesis)

इस सिद्धान्त का सूत्रपात पहले भी हो चुका था, पर इसे सही रूप सी० के० ऑग्डेन, आइ० ए० रिचर्ड्स और 'जेम्स वुड' की निष्पत्तियों में मिला। 'सिनेस्थेसिस' नामक लेख के शीर्ष पर इन लोगों ने 'युंगचुंग' से एक उद्धरण प्रस्तुत किया है।[1]

वस्तुतः यह उद्धरण कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।[1] इसमें उन सभी तत्त्वों का उल्लेख है जो 'सिनेस्थेसिस' के लिये महत्त्वपूर्ण हैं। सर्वप्रथम-'चुंग और युंग' की व्याख्या की गई है। किसी परिवर्तन की अपेक्षा न रखना 'चुंग' और संसृति के क्रिया-कलाप को नियंत्रित करना 'युंग' कहलाता है। चुंग सन्तुलन का प्रतीक है। "इस स्थिति में हर वस्तु का निश्चित स्वरूप होता है जो निरंतर विकसित होता रहता है।" यथार्थ में इन लेखकों का दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक है। मनोविज्ञान की अधुनातन निष्पत्तियों के आधार पर इन्होंने इस तथ्य को निरूपित किया है कि **सौन्दर्यानुभूति मानव अनुभूतियों में**

---

1. My master the celebrated chang says, "having no leaning is called chung, admitted of no change is called yung. By chung is denoted equilibrium, yung is fixed principle regulating everything under heaven.

"What heaven has ordained is man's nature; and accordance with this is the Path, the regulation of it is instruction.

"There is nothing more visible than what is secret—nothing more manifest than what is minute. The superior man is careful, he is but one.

"When anger, sorrow, joy, pleasure are in being, but are not manifested, the mind may be said to be in state of equilibrium, when the feelings are stirred and cooperate in due degree the mind may be said to be in state of Harmony. Equilibrum is great principle.

"In both Equilibrum and Harmony exist everything will occupy its proper place and all things will be nourished and flourish.

सामंजस्य उत्पन्न करती है। यह सामंजस्य प्रवृत्तियों के दमन से नहीं अपितु उनकी सक्रियता से उत्पन्न होता है। सौन्दर्य के अवबोध की दृष्टि से भी यह आवश्यक है। सामंजस्य की स्थिति में भावक सक्रिय तटस्थता बनाए रहता है। लालित्यबोध की स्थिति सर्वथा विशिष्ट है। कारण यह है कि इस स्थिति में विविध अभिरुचियाँ क्रियाशील रहती हैं और इनकी प्रमुख विशेषता यह है कि इनसे प्राप्त होने वाला संतुलन मुख्य रूप से सक्रिय और स्पन्दनपूर्ण होता है।

'रिचर्ड्स' और उनके सहयोगियों ने **सामंजस्य की अनुभूति की स्थिति में आत्मनियंत्रण, स्वतंत्रता, और प्रांजलता** (Lucidity, self-possession and freedom) **को महत्त्व दिया** है। वे इस बात से पूर्ण अवगत हैं कि ये अवस्थायें आनंद अथवा क्रोध की तीव्रतम स्थिति में भी किसी न किसी रूप में प्रस्तुत रहती हैं। इसीलिये उन्होंने सामंजस्य और तीव्र संवेगों की पहचान के लिये अपना मानदण्ड प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार **'सिनेस्थेसिस' में विश्रान्ति का भाव निहित रहता है, परिश्रान्ति का नहीं।**[1] 'रिचर्ड्स' ने मनोभावों को आदिम क्रिया की संज्ञा दी है। उनका मत है कि 'सिनेस्थेसिस' की स्थिति में ये आदिम क्रियायें इस प्रकार नियंत्रित हो जाती हैं कि उनका अधिकतम अंश इसमें सक्रिय हो उठता है और निम्नतम अंश निष्क्रिय। लेखकों की दृष्टि में 'सिनेस्थेसिस' मार्ग विशेष को चुनने की पद्धति भी सिद्ध हुई है, पर द्रष्टव्य यह है कि इस स्थिति में यथार्थ चुनाव का प्रश्न नहीं उठता। इस सिद्धान्त पर बाद में 'सान्तायन' ने भी विचार किया है।

(७) भ्रमवाद (Illusionism)

कलात्मक अनुभूति के सन्दर्भ में भ्रमवाद की चर्चा करने वालों में 'ई० एच० गोम्ब्रिच' का नाम विशेष महत्वपूर्ण है। इन्होंने अपनी पुस्तक 'आर्ट ऐण्ड इल्यूजन' में इसका उद्‌घोष किया है। इनके पूर्व 'अफलातून' ने कला को भ्रमोत्पादक माना था। इसी विशेषता के कारण उन्होंने इसे अपने आदर्श-राज्य से बहिष्कृत करने की बात भी कहा था। 'गोम्ब्रिच' का दृष्टिकोण 'प्लेटो' से भिन्न था। इन्होंने सर्वप्रथम 'भ्रमवाद' के सन्दर्भ में कला के विधायक स्वरूप को विश्लेषित किया और पुनः इसकी सर्जनात्मक क्षमता के उस स्वरूप का उल्लेख किया जिसके माध्यम से यह कलात्मक उपादान को भिन्न रूप में प्रस्तुत करने में सक्षम थी। 'गोम्ब्रिच' के सिद्धान्त में 'काव्य' की मान्यताओं के साथ

---

1. Synaesthesis refreshes never exhausts.

विज्ञान का भी समावेश था। इस प्रभाव की अन्विति के कारण उनके विचार में सूक्ष्म-प्रत्यक्ष ज्ञान के मर्म को समझने की शक्ति आई। वे अणुवादी प्रभाव से मुक्त थे। अन्य कलाकारों की तरह उनके समक्ष भी यही प्रश्न विद्यमान था कि मस्तिष्क किस प्रकार अनिश्चित तत्वों को निश्चित स्वरूप प्रदान करता है। इस प्रश्न पर विचार करते समय उन्होंने निर्माण और साहश्य का विवेचन किया। उनके अनुसार, "निर्माण की दशा में मस्तिष्क 'स्कीमेटा' का प्रयोग करता है जो अनुभूति की सामग्री को व्यवस्था से संबंधित रचनात्मक स्वरूप प्रदान करता है। **उपलब्ध सामग्री में आकार का आरोप होने पर वस्तुओं की निर्मिति का आविर्भाव होता है। यह मस्तिष्क की आरंभिक और तात्विक सर्जनात्मक क्रिया है और यही उसके समक्ष अनुभूति की सामग्री भी प्रस्तुत करती है। इस प्रकार की निर्मिति मस्तिष्क की स्वतःस्फुरित निर्मिति से निकृष्ट होती है।** अतएव इसे तथ्यान्वेषण की संज्ञा दी जा सकती है।" तथ्यान्वेषण के पश्चात् मस्तिष्क की साहश्य-विधान क्रिया आरंभ होती है। इस क्रिया के द्वारा ऐसी निर्मिति का आविर्भाव होता है जो कलात्मक सर्जन की विशेषताओं से अलंकृत होती है। कलाकार वस्तुओं से आकार की कल्पना करता है, और उपलब्ध सामग्री को प्रतिभा द्वारा इस रूप में परिवर्तित कर देता है कि वह पूर्व-कल्पित आकार के सदृश ज्ञात होने लगती है।

'ग्रोम्ब्रिच' के शब्दों में कला-निर्माण एक प्रवंचक क्रिया है। "इस क्रिया में यथार्थ अनुकरण संभव नहीं होता और वैयक्तिक, सांस्कृतिक और मानसिक स्वरूप भी छद्मवेश में ही अपना योगदान देते हैं। यथार्थ का अनुकरण न करने और मानसिक स्वरूपों के छद्मवेश में उपस्थित रहने के कारण कला यथार्थ से भिन्न स्वरूपों को चित्रित करती है। इस चित्रण से भ्रम को प्रश्रय मिलता है। लेखक ने अपने विवेचन के द्वारा भ्रम को पूर्ण स्पष्टता के साथ निरूपित नहीं किया है। उनका तो मात्र इतना ही कहना है, "एक अर्थ में हर कला भ्रम को स्थान देती है, क्योंकि कलाकार के समक्ष ऐसा कोई आदर्श नहीं रहता जिसका वह अनुकरण करे। दूसरे अर्थ में, निश्चित आदर्श का अनुकरण कला में यथार्थ और वस्तुगत प्रतिमानों का परिचायक नहीं हो सकता। कुछ अन्य मानों के अनुसार कलाकृति को भ्रमविहीन माना जा सकता है। 'एडविन बोरिंग' की यह उक्ति सर्वथा उपयुक्त है कि जहाँ यथार्थ के अनुकरण का भ्रमपूर्ण छल (Pretense) नहीं होता वहाँ (कला में) भ्रम की गुंजाइश नहीं रहती।"

भ्रम पर विचार करने वाले दूसरे प्रमुख विचारक 'बीयर्ड्स्ले' हैं। उनका मत है कि "प्रत्यक्ष-ज्ञान-संबलित तथ्य जब लालित्यबोधीय अनुभूति के जनक होते हैं तो ऐसी क्रिया का दर्शन होता है जो अवधान को ऐसे लालित्यबोधीय उपादान तक सीमित रखती है जो या तो प्रत्यक्ष ज्ञान से प्राप्त प्रातिबोधिक उपादान हैं या ऐन्द्रिय उपादानों से प्राप्त प्रातिबोधिक क्षेत्र। इस समय निर्माण का प्रमुख संबंध कला की सामग्री नियोजन से होता है। इसी नियोजन से कला का उद्भव होता है। इस स्थिति में कलाकृति विशिष्ट प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक उपादान सिद्ध होती है।" अनुभूति के क्षेत्र में विषयगत अनुभूतियों तथा शारीरिक मनोवैज्ञानिक निष्पत्तियों का महत्व अमान्य है। लालित्यबोधीय अनुभूति वस्तुगत होती है पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि कलात्मक अनुभूति में मस्तिष्क का कोई सहयोग नहीं रहता। 'बीयर्ड्स्ले' महोदय ने 'वर्जिल सी० एल्ड्रिच' के शब्दों में इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि, भ्रम का उद्भव वहीं पर होता है जहाँ हम कलाकृति को ऐसी विशिष्टता से अलंकृत करते हैं जो यथार्थतः उसमें अनुपस्थित है। 'ओथेलो' में वस्तुतः ईर्ष्या का अभाव है, यदि हम ईर्ष्यालु व्यक्ति हैं तो हमें संपूर्ण नाटक में मात्र ईर्ष्या का ही दर्शन हो सकता है। इस प्रकार का अभिज्ञान भ्रम है।

'मनोविश्लेषणवादी' विचारकों की मान्यता से भी कला में भ्रम के सिद्धान्त को गौरवपूर्ण स्थान मिला है। 'फ्रायड' ने दमित वासनाओं और 'युंग' ने सामूहिक अवचेतन के आधार पर कला को समझने और समझाने का प्रयत्न किया है। धार्मिक विचारकों ने कला के मूल में संसृति के शाश्वत स्वरूपों की छाया का दर्शन किया है। ये सभी निष्पत्तियाँ कला के क्षेत्र में ऐसे तथ्यों को मान्यता देती हैं, जिनका कोई ठोस प्रामाणिक आधार नहीं है। इन विचारकों ने केवल इतना ही कहा है कि कला भ्रमोत्पादक भाषा के माध्यम से अपने भाव-संवेगों को अभिव्यक्त करती है।

इन विचारकों के अतिरिक्त 'सुसनके लैंजर' ने कला के क्षेत्र में 'अदरनेस फ्रॉम रियलिटी' और 'शिल्लर' ने अपनी Schein की मान्यता द्वारा भ्रमवाद की ही प्राण-प्रतिष्ठा की है। 'लैंजर' महोदया ने कला को ऐसे अतिथि की संज्ञा से अभिहित किया है जो संसृति के निरास्थामूलक परिवेश में अनाहूत उपस्थित हो जाता है। इन्होंने 'अतिथि' के द्वारा अपने 'अदरनेस' के भाव को अच्छी तरह अभिव्यक्त किया है। 'लैंजर' के अतिरिक्त सैमुएल 'अलेक्जेण्डर' ने भ्रम को कला की दृष्टि से महत्व दिया है। उनके अनुसार हर सौन्दर्य भ्रमपूर्ण होता है। भारतीय काव्यशास्त्र में अध्यास या अन्य धर्मारोप के सन्दर्भ में 'प्रतिभास' शब्द

का प्रयोग किया गया है। यह 'प्रतिभास' शब्द कई दृष्टियों से 'इल्यूजन' की कतिपय विशेषताओं से अलंकृत है। विद्वानों ने इसके स्फुरण को लोकाश्रितता और संभावनीयता का मध्यवर्ती माना है।

(८) कला का शब्दार्थ सम्बन्धी सिद्धान्त (Art as Semantic)

बहुत समय तक इस तथ्य पर विश्वास किया जाता था कि प्रकृति, सौन्दर्य की सामग्री प्रदान करती है और कलाकार इस उपलब्ध सामग्री से आवश्यक बातों को चुनकर कलाकृति का निर्माण करता है। बाद में इस दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ और ऐसा माना जाने लगा कि कलाकृति निर्माण लिये कलाकार केवल सामग्री का ही चयन नहीं करता अपितु अपनी निर्माणोन्मुख क्रिया द्वारा प्रकृति की व्याख्या भी करता है। कलाकृति प्रमुखरूप से कलाकार के वैयक्तिक स्वप्नों और मनोसृष्टियों की अभिव्यक्ति है। इनके माध्यम से कलाकार प्रकृति को अभिनव परिवेश प्रदान करता है। इस स्तर पर आते-आते कला में अभि-व्यक्ति की व्याख्या की प्रतिष्ठा हो गई है। 'मेटिस्से' ने इसी का संकेत करते हुए कहा है, "मैं अभिव्यक्ति को सर्वाधिक महत्व प्रदान करता हूँ क्योंकि, यही मेरे चित्र की परिचायिका है। मेरे लिये यह संभव नहीं कि मैं प्रकृति का अन्धानुकरण करूँ। इसका प्रमुख कारण यह है कि मैं अपनी दृष्टि से उसकी ऐसी व्याख्या करने को बाध्य हूँ कि वह मेरे चित्र का विषय बन जाय।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कला अभिव्यक्ति है। प्रश्न उठता है, यह क्या अभिव्यक्त करती है? इसका उत्तर यह है कि **यह हमारी संवेदना और अनुभूति को अभिव्यक्त करके अवर्णनीय को वर्णनीय और अमूर्त्त को मूर्त्तस्वरूप प्रदान करती है।** इस उद्देश्य के लिये प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है। शब्दार्थ-वादी सिद्धान्त की भी यही मान्यता है कि, **कला मूलतः प्रतीकवादी है और वह इनका प्रयोग संप्रेषण को सुगम बनाने के लिये करती है।** समय की गति के साथ इस सिद्धांत को 'सुसन के लैंजर' 'टामस क्लार्क पोलक' और 'आइ० ए० रिचर्ड्स' जैसे सहयोगी और समर्थक प्राप्त हुए। इन विचारकों और समर्थकों ने भाषा की उत्पत्ति पर विचार करके इसे निश्चित स्वरूप प्रदान किया। समाज-शास्त्रीय दृष्टि से 'सुसन के लैंजर' के विचार विशेष महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। भाषा

---

1. What I seek to get above everything is expression...... The expression is the whole disposition of my picture. It is not possible for me to copy nature servilely, because I am forced to interpret it and to subject it to the spirit of picture.

के सन्दर्भ में अर्थ का विवेचन भी किया गया और इसके अन्तर्गत सांकेतिक चिह्न (sign), प्रतीक (symbol), अभिधान (Denotation), अभिप्राय (signification) और संप्रेषण (Communication) का विश्लेषण किया गया। विचारकों ने इन शब्दों और अर्थ के स्वरूपों के विभेद को भी निर्धारित किया। 'लैंजर' का कहना था, "प्रतीक में मिथक, रूपक और सांकेतिक चिह्न हो सकते हैं। अर्थ न तो अभिधान है और न अभिप्राय। इसका स्वरूप केवल प्रेरणा की प्रतिक्रिया का आश्रित होता है।"[1] ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में विचार करने पर सरलता से ज्ञात हो जाता है कि प्रतीक की नई दिशा का आविर्भाव 'काण्ट' की अनुभूति के विवेचन के साथ हुआ और 'कैसिरर' की मान्यता में यह अपने विकास के चरम स्वरूप को प्राप्त कर सका। 'लैंजर' का विवेचन कई दृष्टियों से पूर्ण है। आरम्भ में शब्दार्थवाची विचारकों ने प्रतीक की व्याख्या तर्क और संप्रेषण की दृष्टि से किया, पर बाद में संप्रेषण ही उनका प्रमुख विवेच्य बन गया।

प्रतीक पर विचार करते समय दो समानार्थी शब्द उपस्थित होते हैं—(१) सांकेतिक चिह्न (Sign) (२) प्रतीक (Symbol)। बहुधा देखा जाता है कि शब्दार्थ के क्षेत्र में एक वस्तु दूसरी वस्तु के परिचायक के रूप में मस्तिष्क में उपस्थित रहती है, इसे चिह्न कहा जाता है। 'सांकेतिक चिह्न में अनुभूति का व्याख्यात्मक स्वरूप प्रत्ययी विचार के अनुरूप नहीं होता है, यह स्वयं चालित होता है, पर प्रतीक की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। इसकी व्याख्या प्रत्ययीकरण पर निर्भर रहती है। इस दशा में मस्तिष्क में प्रत्यय-निर्माण गतिशील रहता है। **इसीलिये प्रतीक को उपादान-विशेष का प्रतिनिधि नहीं अपितु उसके प्रत्यय का प्रमुख साधन माना जाता है**। इसी सत्य को हृदयंगम करके 'अर्नेस्ट नगेल' ने कहा है कि "**प्रतीक भाषा विषयक सहमति है। यह व्यंजना के माध्यम से किसी अन्य वस्तु का बोध कराता है**।"[2] 'लैंजर' ने भी विभेदीकरण के साधन को प्रतीक-तत्व और स्वयं विभेदीकरण को प्रतीक की संज्ञा दी है।[3]

---

1. A symbol may be a myth, a root metaphor or chemical symptom. Meaning likewise is neither signification nor denotation. It is anything from the stimulus response relation to wish behind a dream.

2. By a symbol I understand any occurrance (or type of occurance) usually linguistic in status which is taken to signify something else by way of tacit or explicit convention or rules of language.

3. Any device whereby we make an abstraction is symbolic element and all abstraction involves symbolisation.

कुछ विचारकों ने प्रतीकों को वर्गीकृत भी किया है जो निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) परंपरित (Conventional)

(२) अर्द्ध परंपरित (Semi-Conventional)

(३) सहज और स्वाभाविक (Natural)

शब्दार्थवादी सिद्धान्त इस तथ्य को प्रतिपादित करता है कि कला मूलतः अनुकरणात्मक है। यह यथार्थ, कल्पित या अनुभूत परिस्थितियों को प्रतीक के द्वारा प्रस्तुत करती है। साहित्य प्रायः इस कार्य के लिये परंपरित प्रतीकों का प्रयोग करता है और दृश्यकला स्वाभाविक प्रतीकों का। साहित्य का प्रमुख उद्देश्य प्रातिबोधिक अनुभतियों को संप्रेषित करना है। इस सन्दर्भ में विशेषरूप से ध्यातव्य है कि "प्रतिबोध की निजी विशेषतायें होती हैं। यह अनुभूति के यथार्थ अभिघटक से भिन्न है। प्रत्ययप्रधान अवबोध, विभेदीकरण पर आश्रित रहता है। इसीलिये प्रत्ययीकरण और भाषा, अनुभूति का वर्गीकरण ही नहीं करते अपितु इसे स्पष्टता के साथ अभिव्यक्त भी करते हैं। शब्दार्थवादी विचारक इस बात पर भी बल देते हैं कि प्रत्यय-बोध की क्रिया का विकास भाषा के विकास के साथ हुआ है।" इस विकास के बावजूद भाषा की निश्चित सीमा है। वह जीवन-भोग को स्पष्टता से अभिव्यंजित करने में असमर्थ है। '**भाषा के भाण्डार में कुछ ऐसे शब्द अवश्य हैं जो निश्चित प्रकार के भाव-संवेग को अभिव्यक्त कर सकते हैं पर भाव-संवेग से सम्बन्धित परिस्थितियों में ऐसे सूक्ष्म तत्व भी विद्यमान रहते हैं जिन्हें भाषा, सरलता से प्रस्तुत नहीं कर पाती।** अनुभूति के मसृण ऐन्द्रिय अवबोधों को रूपायित करने में भी यह अशक्त सिद्ध होती है। प्रतीक भाषा को अभिव्यक्ति सक्षम बनाता है। **भाषा का कलेवर प्रतीकमय ही नहीं अपितु शब्दों का स्वरूप भी प्रतीकबद्ध होता है।** इसीलिये यह प्रतीक के सहयोग से अनन्त रहस्यमय भाव-कोणों को मूर्तिमान करने का प्रमुख साधन सिद्ध हुई है।" शब्दार्थ पर आधारित सिद्धान्त भाषा और अनुभूति के इसी स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न है।

(६) सत्य और कला (Art as Truth)

पिछले पृष्ठों में हम इस तथ्य का विवेचन कर चुके हैं कि 'साहित्य में परंपरित प्रतीकों का प्रयोग होता है और ये प्रतीक अपने सांकेतिक उपादान के सन्दर्भ से संबद्ध रहते हैं। यह सम्बन्ध प्रमुख रूप से आनुषंगिक द्वारा अर्जित संस्कारों का प्रतिफलन होता है। **साहित्य में प्रतीक और अनुभूत तथ्य, सामंजस्य के ही मुखापेक्षी नहीं होते अपितु, प्रातिबोधिक**

सांकेतिक उपादान और अतिरिक्त साहित्यिक अनुभूति के सहभाव के मुखापेक्षी भी होते हैं। इस सहभाव और सह सम्बन्ध को सत्य के नाम से अभिहित किया जाता है।" प्रश्न पूछा जा सकता है कि साहित्य का सत्य क्या है? उत्तर स्वरूप कई प्रकार के विचार हमारे समक्ष उपस्थित हो जाते हैं किन्तु इतना तो निर्विवाद रूप से माना ही जाता है कि साहित्य का सत्य विज्ञान के सत्य से भिन्न होता है। विज्ञान का सत्य प्रयोगशाला द्वारा सिद्ध सत्य है, **साहित्य का सत्य हृदय और मस्तिष्क की तेजोद्दीप्त प्रयोगशाला से प्राप्त और अनुभूति द्वारा सिद्ध सत्य है। यह भावप्रवण अभिव्यक्ति है।** इसके अन्तर्निहित स्वरूप पर भाव-प्रवण अन्तःस्पन्दनों की एक अमिट छाप लगी रहती है। संस्कृत और हिन्दी साहित्य में शब्द-शक्तियों पर पर्याप्त विचार किया गया है। योरोपीय साहित्य में भी 'इमोटिव' और 'रीफरेण्ट' लैंग्वेज की बात उठाई गई है। 'डुकासे' का कहना है कि "कला प्रमुख रूप से भाषा का एक प्रकार है। यह वस्तुतः अनुभूति, संवेग, चित्तवृत्ति और भाव-संवेग की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम है।"[1] 'रिचर्ड्स' ने भाषा के निम्नांकित चार प्रमुख कार्यों का उल्लेख किया है—(१) यह विचार को प्रतीक रूप में प्रस्तुत करती है, (२) यह वक्ता की चित्तवृत्ति का अभिव्यक्तीकरण है—(३) यह श्रोता की चित्तवृत्ति को उद्बुद्ध करती है, और (४) यह निश्चित प्रभावों को अभिप्रेरित करती है। इन चार कार्यों को दो वर्गों में निभक्त किया गया है—(१) प्रतीकात्मक और (२) भावप्रवण। प्रथम को उन्होंने संप्रेषण का माध्यम माना है और द्वितीय को प्रेरणा, अभिव्यक्ति और संवेदन को उद्बुद्ध करने का साधन। रिचर्ड्स' के अतिरिक्त 'टी० एम० ग्रीन', 'होस्पर्स' और 'बी० सी० हेल' ने भी इसे विवेच्य बनाया है। इसी सन्दर्भ में 'डेविट पार्कर' ने 'डेप्थमीनिंग'[2] का सिद्धान्त

---

1. Art is essentially a form of language—namely the language of feeling, emotion, mood, sentiment and emotional attitude.

2. (I) Many poems and some works of plastic arts possess what I like to call 'depth meaning,—meaning of universal scope underneath relatively concrete meanings or ideas. Thus in the following line of one of 'Frosts' little poem

'Nothing gold can stay'

the gold has its usual surfaee meaning, but underneath that its depth meaning, precious, so in addition to saying

प्रस्तुत किया है। उनके इस सिद्धान्त से कला में सत्य के अन्वेषण को नई दिशा मिली है। 'पार्क' ने अपने विवेचन में सामान्य अर्थ (अभिधेयार्थ) और व्यंग्यार्थ—इमोटिव और रेफरेण्ट—दोनों के महत्व को स्वीकार किया है। इस सन्दर्भ में विचारणीय प्रश्न यह है कि साहित्य में अभिधेयार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों का प्रयोग होता है, फिर भी व्यंग्यार्थ कई दृष्टियों से विशिष्ट माना जाता है। 'अल्फ्रेडनायर' ने बाद में इसी तथ्य को प्रतिपादित भी किया है। उनका कहना है, "कविता में पदों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि शब्द और अर्थ की दृष्टि से वे अधिक से अधिक सांकेतिक ज्ञात होते हैं।"

साहित्य, शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है, पर उसका यह स्वरूप वाह्य और स्थूल होता है। इसे जीवन्त बनाने का कार्य आन्तरिक स्वरूप में निहित संवेदन और अभिनव-संस्पर्श द्वारा सम्पादित होता है। **यही संवेदन सत्य का जनक माना जाता है**। साहित्य शब्द एक अभिनव-बोध उत्पन्न करता है। इसके संदर्भ में "ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निखरै सी निकाई" की बात विशेषरूप से चरितार्थ होती है। 'रसेल' ने सामान्य अर्थ (अभिधेयार्थ) और विशिष्ट अर्थ (व्यंग्यार्थ) पर अधिक स्पष्टता से विचार किया है। उनके अनुसार साहित्य में अर्थ के कई स्तरों का दर्शन होता है। प्रथम कोटि का अर्थ (First order of meaning) वाह्यरूप से निश्चित प्रत्यय का बोध कराता है। इस अर्थ को साहित्य का लक्ष्य नहीं माना जा सकता। वाह्यरूप से ज्ञात होने वाले अर्थ के अन्तराल में द्वितीय कोटि का अर्थ (Second order of meaning) पाया जाता है। यह अर्थ कार्य और प्रकृति से प्रमेयपूर्ण (propositional) होता है। उदाहरण के लिये 'राम ने रावण को मारा' वाक्य लिया जा सकता है। प्रथम कोटि के अर्थ के सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि अयोध्यावासी दाशरथि राम ने लंका के निशाचरों के राजा रावण को मार डाला। गंभीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'राम' और 'रावण' से सम्बन्धित अर्थ-संदर्भ इतना ही ध्वनित नहीं करता। वस्तुतः राम, सत्य, ज्ञान और प्रकाश के प्रतीक हैं और रावण असत्य, अज्ञान और अन्धकार का। इस दृष्टि से राम ने रावण को मारा का अर्थ हुआ, सत्य ने असत्य पर

---

that nothing valuable can abide a more universal statement.

२. (II) 'डेप्थ मीनिंग' को ध्वनि-सिद्धान्त के व्यंग्यार्थ के सन्दर्भ में भी विवेचित किया जा सकता है।

विजय प्राप्त की, ज्ञान ने अज्ञान पर और प्रकाश ने अंधकार पर। प्रमेय सिद्धान्त (Proposition Theory) के आधार पर इस तथ्य को और भी स्पष्टता से अभिव्यक्त किया जा सकता है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों का मत है कि "अव्यक्त लालित्य-बोधीय उपादान में प्रमेय निहित रहता है। भाषा सम्बन्धी उक्तियों के सन्दर्भ में वाक्य और प्रमेय को भिन्न माना जा सकता है। **वाक्य, भाषा का प्रमुख-साधन और प्रमेय का प्रमुख उपकरण है।**" वाक्य के सुनते ही हमारा ध्यान प्रमेय पर केन्द्रित हो जाता है, वाक्य पर नहीं। 'राम ने रावण को मारा', इसका प्रमेय है, इसीलिये पूरे वाक्य के स्थान पर हम केवल उसके प्रमेय को ग्रहण करके उसे अपनी दृष्टि से अभिव्यक्त करते हैं।

इस विवेचन से साहित्य के व्यंग्यार्थ पर किसी तरह के शक की गुञ्जाइश नहीं रह जाती और 'डेप्थ मीनिंग' की बात भी पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाती है। पर यह प्रश्न भी उलझनपूर्ण है कि यह (Depth meaning) क्या है, अथवा इसे किस रूप में निरूपित किया जा सकता है। एक वर्ग के लोगों के अनुसार यह कलाकृति का प्रतिमान है और दूसरे वर्ग के लोगों के अनुसार अनुभूति के संप्रेषण का प्रमुख उपकरण। एक तीसरा वर्ग भी है। इन लोगों का कहना है कि "सभी प्रभावोत्पादक स्थितियों में ज्ञान का अभिज्ञान पाया जाता है, परन्तु प्रातिबोधिक प्रज्ञा के लिये यह पूर्णरूप से अनभिगम्य है। प्रभावोत्पादक परिस्थितियों को अभिप्रेरित करने वाली वही कलाकृति सत्य मानी जा सकती है जिसमें यथार्थ का अप्रत्ययी ज्ञान निहित रहता है।" तीसरी श्रेणी के विचारकों की यह मान्यता रहस्यवादी सत्य के विश्लेषण में सहायक हो सकती है, अतएव यहाँ केवल प्रथम दो कोटियों पर ही ध्यान केन्द्रित करना समीचीन ज्ञात होता है। यह तो सर्वविदित है कि कवि या कलाकार यथार्थ सत्य के स्थान पर संभावित सत्य को मुखरित करते हैं। पर इस संभावित सत्य के स्वरूप पर भी लोगों में मतभेद है। इस मतभेद को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। कुछ लोगों के अनुसार इसे न्याय्य और तर्कसंगत होना आवश्यक है और कुछ के अनुसार विश्वसनीय। इन दोनों पहलुओं को सर्वथा भिन्न रूप में देखना अनुचित है। साहित्य की दृष्टि से इनका तर्कपूर्ण, न्याय्य, और विश्वसनीय होना आवश्यक है, पर जीवन की दृष्टि से इन विशेषताओं से अगर ये अलंकृत हैं तो कोई हरज़ नहीं, अगर ये विशेषतायें न भी पाई जायँ तो भी उसको सर्वथा तिरस्करणीय नहीं समझा जाना चाहिए। **संस्कृत काव्यशास्त्र में लोकधर्मी को नाट्यधर्मी रूप देने का प्रयत्न इस बात को सिद्ध करता है कि लौकिक सत्य यथातथ्य अथवा अपरिवर्तित रूप में कला का सत्य नहीं बन सकता।** पाश्चात्य-

साहित्य चिन्तकों को भी इसका ज्ञान था, इसीलिये उन्होंने सामान्य और सर्वातिशयी सत्य (General and Transcendental Truth) का उल्लेख किया। 'डॉ० जान्सन' ने इसी बात को प्रस्तुत करने हुए लिखा, "कलाकार का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति के स्थान पर जाति के मूल्यांकन द्वारा सामान्य गुणों का निर्देश करना है। उसका कार्य कन्दपुष्प की रेखाओं को गिनकर उस पर पड़ी हुई छाया और प्रकाश का दिग्दर्शन कराना नहीं। वह तो वस्तुत: अपने प्रतिचित्रण द्वारा ऐसी प्रमुख प्रभावोत्पादक विशेषताओं का निरूपण करता है जो हर व्यक्ति के मानस में मौलिक तथ्यों की उद्भावना में सफल होती हैं।"[1] यह सिद्धान्त आज भी किसी न किसी रूप में प्रचलित है। इसके अतिरिक्त प्रगतिवादी विचारकों ने विशिष्ट सत्य (Typical Truth) का नारा बुलन्द किया, पर यह अधिक लोकप्रिय नहीं हो सका। चिन्तन की कड़ी यहीं समाप्त न हुई अपितु यह निरन्तर विकासोन्मुख बनी रही। परवर्ती विचारधारा में अनुभूति की तीव्रता, संवेग को अभिप्रेरित करने की क्षमता और विवेक को प्रबुद्ध करने आदि पर प्रकाश डाला गया। बाद में 'रिचर्ड्स' और उनके सहयोगियों ने सत्य और कला पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया, फिर भी, यह विचार सर्वथा समाप्त न किया जा सका। 'ओसबॉर्न' ने इस बहुचर्चित विवाद को निश्चित दिशा देना चाहा। उन्होंने कलाकृति के रूप में कला की उत्कृष्टता (Excellence of literary products as work of art) और उसकी महत्ता (greatness) में विभेद करना आवश्यकता समझा। उनकी यह मान्यता 'पेटर' की 'गुड आर्ट' और 'ग्रेट आर्ट' की भावना से प्रभावित थी।

(१०) आनन्दवाद (Hedonism)

कला के सन्दर्भ में आनन्दवाद की प्रतिष्ठा का इतिहास है। इस पर पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनों विचारकों ने दृष्टिपात किया है। पौरस्त्य देशों में रस और

---

1. The business of the poet is to examine, not the individual but the species, to remark general properties and large appearances, he does not number the streaks of the tulip, or describe the different shades in verdure of the forest. He is to exhibit in his portraits of nature, such promiment and striking feature as recall the original to everymind, and must neglect the minuter discriminations which one may have remarked and another have neglected, for those characterstics which are alike obvious to vigilance and carelessness.

चमत्कार के सन्दर्भ में इसका व्यापक विवेचन किया गया है। पाश्चात्य देशों में भी 'अरस्तू' से लेकर आज तक यह परम्परा निर्वाध रूप में गतिशील है। आनन्दवादी विचारक कला की व्याख्या या तो आनन्द के सन्दर्भ में करते हैं या संवेग के प्रथम कोटि के विचारकों का मत है कि, "कला ऐसी प्रवृत्ति से उद्‌भूत होती है जिसका उद्देश्य निश्चित प्रकार के सर्जन से उपयोगिताहीन आनन्द प्राप्त करना है। इसके सृजन के अतिरिक्त विभावन से भी आनन्द की ही उपलब्धि होती है।" दूसरी कोटि के विचारकों का कहना है कि "ललित-कला ऐसी निर्मिति है जिसके द्वारा कलाकार हमारे भाव-संवेग को प्रबुद्ध करता है। इसका उपयोगिता से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता, फिर भी यह स्थायी और वस्तुगत आनन्द प्रदान करने में पूर्ण सफल होती है।" इन विवेचनों के पूर्व भी कला के आनन्द विवेचन की लम्बी परम्परा रही है। 'अरस्तू' ने अनुकरण से प्राप्त होने वाले आनन्द की चर्चा की हैं तो 'सिसेरो' ने शिक्षा, आनन्द और प्रभाव का उल्लेख किया है। 'ड्राइडेन' ने शिक्षा को गौण और आनन्द को प्रमुख माना है।

उपर्युक्त विचारकों ने कला को आनन्दपूर्ण तो माना था पर इसकी अन्य सूक्ष्मताओं पर विचार नहीं किया था। इन विशेषताओं का काव्य के क्षेत्र में अवतरण लालित्यबोधीय चिन्तन के साथ हुआ। इन विचारकों ने कला के निर्माण की क्रिया को लालित्यबोधीय क्रिया और कलाजन्य आनन्द को लालित्य-बोधीय आनन्द की संज्ञा दी। ये लोग इस तथ्य से पूर्णरूप से अवगत थे कि केवल कला ही आनन्दप्रद नहीं होती, संसृति की अन्य वस्तुएँ भी आनन्द प्रद होती हैं। पर कला द्वारा उपलब्ध होने वाले आनन्द और अकलात्मक वस्तुओं द्वारा प्राप्त आनन्द में अन्तर होता है। अगर हम इन दोनों के विभेद को नहीं समझ सकते तो हमें कला में ऐसी चीजों को स्थान देना आवश्यक हो जायगा जो सर्वथा अकलात्मक होंगी।

आनन्द के विवेचन की अन्य भी कठिनाइयाँ हैं। सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि अब तक इसकी मात्रा के नाप-तोल का कोई साधन नहीं उपलब्ध हो सका है। केवल सौन्दर्य को ही मानदण्ड मान लेने से भी कई प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं। सर्वप्रथम इस बात को समझना आवश्यक हो जाता है कि सौन्दर्य की आनन्दप्रदातृ क्षमता भी भिन्न व्यक्तियों में भिन्न रूप में उपस्थित रहती है। आनन्दवादी विचारकों ने अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख के द्वारा इसका समाधान प्रस्तुत किया था, पर यह बात साहित्य के क्षेत्र में मान्य न हो सकी। इन उलझन पूर्ण प्रश्नों के उत्तर की आवश्यकता निरन्तर बनी

रही और आनन्दवादी विचारक इससे पूर्णरूप से अवगत भी रहे। इसके परिणाम-स्वरूप उन्हें नई बात सूझी। उन्होंने एक विशिष्ट कोटि के सौन्दर्य संघटक और उपस्कारक आनन्द को कलात्मक आनन्द की संज्ञा से अभिहित किया और उसे सामान्य वस्तुओं से प्राप्त होने वाले आनन्द से उत्कृष्ट घोषित किया। काण्टोत्तर साहित्य में इसकी वस्तुवादी व्याख्या की गयी और इसे इच्छा और अभिलाषा से मुक्त माना गया। यह विचार भी अपवादों से मुक्त न हो सका। इसका प्रमुख कारण यह था कि परिभाषा के स्तर पर आनन्द का विभेद तो स्पष्ट हो गया, पर इसके गुणात्मक विभेद को समझने-समझाने का कोई साधन उपलब्ध न हो सका। इसके साथ ही लोगों को इस बात का ज्ञान हो गया कि, हमें आनन्द की अनुभूति न होकर ऐसी अनुभूति होती है जो आनन्दप्रदातृ मानी गयी है। इस विवेचन के अनुसार आनन्द, अनुभूति का तत्व न रहकर उसकी विशेषता का परिचायक सिद्ध हुआ। उसे सामान्योन्मुख नहीं अपितु विशेषोन्मुख माना जाने लगा। इसके प्रमाण-स्वरूप यह तथ्य प्रस्तुत किया गया कि आनन्दप्रद अनुभूति से आनन्द को प्राप्त करना वैसे ही निरर्थक है जैसे सिकता को पेर कर तैल प्राप्त करना। इससे एक तथ्य स्पष्टता के साथ लोगों के सामने आया कि **आनन्द की विशेषता उसके आनंदित करने के गुण की मुखापेक्षी है न कि आनन्द की।** इसके पश्चात् इस तथ्य का ज्ञान भी हुआ कि सामान्य प्रकार के आनन्द को विशेष प्रकार के आनन्द से अलग करना भी सरल नहीं है।

'प्रोफेसर डुकासे' ने अपने विवेचन में लालित्यबोधीय चिन्तन से प्राप्त होने वाले विशिष्ट प्रकार के आनंद की चर्चा की। 'ग्रोसबार्न' ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा—

"what they in effect propose to do is to discriminate the class of objects which they will classify as works of art as the class of all artefacts, which are, or are capable of becoming objects of aesthetic contemplation."

उपर्युक्त उद्धरण में लालित्यबोधीय चिन्तन बहुत स्पष्ट नहीं हो सका है फिर भी इसके आधार पर कलाजन्य आनंद की व्याख्या की जा सकती है।

कलाजन्य आनंद को वस्तुगत मानने वालों में 'एच० आर० मार्शल' और 'सान्तायन' का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। 'मार्शल' का कहना है, **"पुनरुद्दीपित होने पर स्थायी और आनंदप्रद मानसिक अवस्था उत्पन्न करने वाले उपादान को सुन्दर माना जा सकता है।** लालित्यबोधीय शब्दावली में हर आनंद प्रभावोत्पादक होता है और उसी उपादान को लालित्यबोधीय भी

माना जा सकता है जो अपनी स्मृति मात्र से आनंद का उन्नयन कर सकता है।" लालित्यबोधीय आनंद की इस विशेषता के उल्लेख के पश्चात् उन्होंने अलालित्य-बोधीय आनंद का निर्वचन किया है। उनके अनुसार, "**वह उपादान अलालित्य-बोधीय उपादान होता है जो पुनरुद्दीपित होने पर भी असामंजस्यपूर्ण मानसिक अवस्था उत्पन्न करता है।**" मार्शल की दृष्टि विवेचन के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वरूपों को स्पष्ट करने में सक्षम है। उन्होंने इसी सन्दर्भ में लालित्यबोध और आनंद पर विचार किया है और लालित्यबोधीय क्षेत्र की कल्पना से हमें अवगत कराया है। **लालित्यबोधीय क्षेत्र को सापेक्ष दृष्टि से पुनरुद्दीपन का स्थायी आनंद क्षेत्र माना गया है।**

'मार्शल' ने लालित्यबोधीय प्रभावक्षेत्र (The field of aesthetic impression) तथा लालित्यबोधीय निर्णयक्षेत्र (The field of aesthetic judgment) की भिन्नता पर विचार किया है। उन्होंने प्रथम को द्वितीय से व्यापक माना है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इसमें सभी प्रकार के आनंद आ जाते हैं और निर्णय के क्षेत्र के लिये इनमें विशेष स्थान नहीं रहता। इस सन्दर्भ में एक बात विशेष रूप से ध्यातव्य है। निर्णय का क्षेत्र अभिरुचि उत्पन्न करने में सक्षम होता है और प्रभाव क्षेत्र अक्षम। "आनंद के नश्वर स्वभाव और स्रोत के पुनरुद्दीपन की परिवर्तनशील विशिष्टता के कारण हमें उसके तात्कालिक अनुभव के लिये वैयक्तिक लालित्यबोधीय निर्णय क्षेत्र (field of individual aesthetic judgement) की आवश्यकता होती है। यह प्रकृति से परि-वर्तनशील, असामान्य और सापेक्ष दृष्टि से व्यक्ति के स्थायी लालित्यबोधीय क्षेत्र (relatively stable aesthetic field of individual) से भिन्न होता है। स्थायी लालित्यबोधीय क्षेत्र ही निर्णय का आधार और हमारी अभिरुचि का संघटक होता है।" यह क्षेत्र सापेक्ष दृष्टि से ही स्थायी माना जा सकता है, क्योंकि इसमें समयानुसार परिवर्तन होता रहता है। व्यक्ति की अभिरुचि आनंद का सर्वमान्य मानदण्ड नहीं बन सकती। इसका प्रमुख कारण यह है कि इसके विभिन्न स्तर और निर्माणक तत्व हुआ करते हैं। इस दृष्टि से आनंद के सर्जक, व्याख्याता और उपभोक्ता को स्थायी लालित्यबोधीय क्षेत्र की अपेक्षा होती है। इसे प्राप्त करने के लिये व्यक्ति को वैयक्तिक क्षेत्र से वस्तुगत क्षेत्र में पदार्पण करना पड़ता है। इस क्षेत्र को सुसंस्कृत व्यक्ति द्वारा कल्पित क्षेत्र (field of athighly cultivated man as he conceives him) की संज्ञा दी जाती है। यह क्षेत्र तुलनात्मक दृष्टि से अपरिवर्तनशील और स्थायी अवश्य होता है, फिर भी इसे बिलकुल स्थायी नहीं माना जा सकता। इसका प्रमुख

कारण यह है कि, "व्यक्ति ज्यों ही जीवन और संसृति से संबंधित अपने विचारों को सीमित करता है, अथवा अपने दृष्टिकोण को अधिक व्यापक और प्रशस्त बनाता है, त्यों ही यह परिवर्तन का विषय बन जाता है।"

इस विवेचन के सन्दर्भ में लेखक ने आदर्श लालित्यबोधीय क्षेत्र (ideal aesthetic field) की कल्पना की है। इनका विश्वास है कि धर्मगुरु की तरह कलाकार इसी आदर्श लालित्यबोधीय क्षेत्र को प्रभावोत्पादक ढंग से अन्य लोगों के समक्ष प्रस्तुत करता है। इसकी यह प्रमुख विशेषता है कि इस प्रस्तुतीकरण के विषय में लोग पहले से अभिज्ञ नहीं होते। इस स्थल पर लेखक ने प्रभाव से लेकर उसके आदर्शीकृत निरूपण के क्षेत्र के विकास-क्रम को चित्रित किया है और प्रकारान्तर से वस्तुगत दृष्टिकोण को मान्यता दी है। 'मार्शल' के इस विवेचन को, 'आनंद' को समझने का प्रमुख साधन माना जा सकता है।

'सान्तायन' ने अपने प्रमुख ग्रंथ 'सेंस ऑव ब्युटी' में आनंद पर विचार किया है और इसे वस्तुगत माना है। इन्होंने सामान्य आनंद और लालित्य-बोधीय आनंद के भेद को स्पष्टता के साथ निरूपित किया है। उनका कहना है कि **"अन्य प्रकार के आनंद से हमारे मनोविकार और इन्द्रियों का परितोष होता है, पर सौंदर्य-जनित आनंद में यह बात नहीं पाई जाती। इसका प्रमुख कारण यह है कि इसके चिन्तन के समय हम 'स्व' के संकीर्ण घेरे से मुक्त हो जाते हैं और ऐसी उत्कृष्टता का अभिज्ञान करते लगते हैं जो हममें नहीं पाई जाती।"** लालित्यबोधीय आनंद विश्वजनीन नहीं होता। इसका सभी लोग अपने वासना-जन्य संस्कार के अनुरूप आस्वादन करते हैं। सौंदर्य में मूल्य का भाव पाया जाता है और इसका बोध संभव होता है। आरंभिक अवबोध की स्थिति वैविध्यपूर्ण होती है, पर जब यह स्थिति सामञ्जस्य से अन्वित हो जाती है तब स्थायी बन जाती है।

'सान्तायन' ने सौन्दर्य को विषयाश्रित मूल्य का सकारात्मक पक्ष और वस्तुओं के गुण पर आश्रित आनन्द कहा है। इस आनन्द का सम्बन्ध वस्तु के उपयोगिता वादी स्वरूप से नहीं होता। **'ऐन्द्रिय आनन्द सौन्दर्य बोध से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार संवेदन अवबोध से। जैसे संवेदन क्रमशः अवबोध में परिणित हो जाता है उसी प्रकार ऐन्द्रिय आनन्द भी सौन्दर्य में बदल जाता है।'** तात्पर्य यह कि सौन्दर्य आनन्द का सहगामी और इसी के अभिव्यक्तीकरण से संघटित होता है। इस रूप में इसे आनन्द का अंगीभूत या पदार्थवाचक रूप कहा जा सकता है।

(११) संवेग सम्बन्धी सिद्धांत—

सम्पूर्ण विश्व साहित्य में संवेग पर पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ है। भारतीय साहित्य के रस-सिद्धांत और शोक-श्लोक समीकरण में इसकी अद्भुत व्याख्या मिलती है। पाश्चात्य साहित्य में 'अरस्तू' से लेकर आज तक उसकी विभिन्न व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं। साहित्य के क्षेत्र में इस बात पर विशेष रूप से विचार किया गया है कि कला संवेग की अभिव्यक्ति है, पर इस बात पर बहुत कम प्रकाश डाला गया है कि वस्तुतः संवेग है क्या और यह कैसे अभिव्यक्त होता है। 'स्टीफेन सी पेपर' ने इस बात का विश्लेषण करते हुए कहा है, 'इसे विश्लेषित करके सही रूप में निरूपित करना सरल नहीं है। हमें केवल इतना ज्ञान है कि इसका आवास हमारा हृदय है। अगर हम इस बात को मान लें कि संवेग किसी प्रभावोत्पादक घटना के गुण का सार है तो दृश्य विरोधाभास कुछ कम हो जाता है, फिर भी घटना की प्रकृति के विषय में जिज्ञासा बनी रहती है। पेपर महोदय ने स्पष्टता से उस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि संवेग उत्पन्न करने वाली घटना परिमाणपूर्ण, तीव्र और संश्लेषित होती है। गुण सापेक्ष दृष्टि से इसी संश्लेषण से निर्मित होता है।'[1] स्पष्ट है कि लेखक ने इसे घटना विशेष की अन्तर्निहित विशेषता मान कर उलझन को समाप्त करने का प्रयत्न किया है। उनके इस विचार को उदाहरण द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है। मान लिया जाय कि हम किसी अँधेरी रात में अकेले पैदल यात्रा कर रहे हैं। कुछ दूर आगे बढ़ने पर हमें एक छोटी-सी कँटीली झाड़ी दिखाई पड़ती है। इस झाड़ी को देखकर हमारे मन में छद्मवेष में बैठे डाकू या चोर की भावना समा जाती है। इस भावना के उत्पन्न होते ही हमारे अन्दर भय का संचार होता है। इसके परिणामस्वरूप शरीर पसीने से लथ हो जाता है, हाथ-पाँव में सिहरन दौड़ जाती है, वाणी अवरुद्ध हो जाती है और हम किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर खड़े रह जाते हैं। यहाँ भय उस घटना की विशेषता माना जायगा और उत्पन्न होने वाली संवेदनाओं को इसके परिणाम की संज्ञा दी जायगी। तीव्र संवेग में एक विशेषता विद्यमान

---

1. It baffles analysis, yet it lies in our bosoms. The paradox I suggest disappears, if we recognise that emotion is the very essence of quality. It is the very quality of event itself, when this event is voluminous intense and highly fused. It is in short a relative term and its correlate is analysis.

रहती है। यह अपने पूर्णवेग में क्रियाशील होने पर व्यक्ति के ऊपर पूर्ण आधिपत्य जमा लेता है। उसकी इस विशेषता को संवेदना के द्वारा सरलता से विश्लेपित किया जा सकता है। संवेग की तीव्रता भी विचित्र होती है। व्यक्ति अपनी आदत से कार्य करने के लिये मजबूर है। वह अपनी पूरी शक्ति को कार्य में प्रवृत्त कर देता है और उसे अपनी दृष्टि से शीघ्रता से पूरा करना चाहता है। कार्य की पूर्ति में अवरोध उपस्थित होता है। इस प्रतिरोध से कर्ता के अन्दर कार्यसंपादन की परिमाणात्मक और गुणात्मक तीव्रता आती है। उसकी वृत्तियाँ विशेष रूप से सक्रिय हो उठती हैं और मनोभाव संश्लेषणोन्मुख हो जाता है। **व्यक्ति के अन्दर की इस परिमाणात्मक और गुणात्मक तीव्रता को संवेग माना जाता है।**[1] किसी सशक्त कार्य के मार्ग में ज्यों ही व्यवधान उपस्थित होता है त्यों ही संवेग का प्रादुर्भाव हो जाता है।[2] संवेग के उत्पन्न होते ही कार्य के आदर्श का अग्रधावक उसे निश्चित दिशा में प्रवाहित करके व्यावहारिक उद्देश्य की पूर्ति से संलग्न कर देता है।[3] संघर्ष संवेग का प्रमुख स्रोत माना जाता है और कार्य की संघटना भी संवेग के इसी स्वरूप को प्रतिभासित करती है। शारीरिक संचारी इस स्थिति में विशेष महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि संवेगात्मक उत्तेजना का एक स्वरूप इनसे सम्बद्ध रहता है। संघर्ष के विकास और संवेग के विकास के लिये कलाकार को अधिक समय की आवश्यकता नहीं होती। संवेग में प्रभावित करने की अद्भुत क्षमता होती है। कार्य के आदर्श के सूक्ष्म विवरण के माध्यम से यह दर्शक को शीघ्र ही सशक्त, सोद्देश्य संघर्ष और सप्राण संवेग में निमज्जित कर सकता है।

'पेपर' ने कलाकृति के माध्यम से संवेग उत्पन्न करने के तीन प्रमुख स्वरूपों का उल्लेख किया है। (१) प्रत्यक्ष उद्दीपन (Direct stimulation) (२) निरूपण (Representation) और (३) अभिव्यक्ति (Expression) "प्रत्यक्ष उद्दीपन की दशा में प्रेरक संवेग को अभिप्रेरित करता है। निरूपण

1. A pattern of action is habit and tends to run itself off and be done. It acquires volume and qualitative intensity—in a word emotion—only through obstruction.

2. Block a vital pattern of action, and emotion emerges,

3. To be sure, no sooner does the emotion arise, than the natural onrush of the pattern of action tends to drain off the quality of emotion in the pursuit of practical end.

की अवस्था में ये अभिप्रेरित स्वरूप मानव संवेगों को प्रकट करते हुए चित्रित किये जाते हैं। इन्हें देखकर कर हमारे अन्दर भी उन्हीं के सदृश भाव जागृत होते हैं। तृतीय अवस्था में कलाकार के वैयक्तिक संवेग कला में दिखाई पड़ने लगते हैं। इन्हें देखते ही हमारे संवेग भी उद्बुद्ध हो उठते हैं।" इन तीनों के सम्मिलित स्वरूप कला में मिल जाते हैं। जब प्रथम दो की प्रधानता होती है तो कला वस्तुगत दृष्टिकोण से मण्डित पाई जाती है और जब तृतीय की प्रधानता होती है तो उसमें भावगत दृष्टिकोण का प्राधान्य हो जाता है।

निष्कर्ष :—विगत पृष्ठों में अनुभूति संबंधी सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है। इन्हें दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है (१) विषयिगत (२) विषयगत। कुछ विचारकों ने उसे प्रथमकोटि का माना है और कुछ ने द्वितीय कोटि का। बाद में एक तीसरे प्रकार के लोगों का दर्शन भी होता है जो समन्वयवादी हैं। वस्तुस्थिति यह है कि आज इसी तीसरे प्रकार के लोगों की बात विशेष रूप से मान्य है। पर एक बात विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण ज्ञात होती है और वह यह है कि अनुभूति की दशा और अभिव्यक्ति की दशा में सामान्य भिन्नता का पाया जाना स्वाभाविक है। अभिव्यक्त होने के पूर्व अनुभूति के कई स्तर स्पष्ट रूप से विषयिगत होते है। अभिव्यक्ति के समय इन भावगत स्वरूपों को वस्तुगत रूप प्रदान किया जाता है। इस प्रकार सृजन भाव-गत धरातल से आरंभ होकर वस्तुगत धरातल तक के प्रयाण का प्रतिमान है। विभावन के विषय में समन्वयवादी दृष्टिकोण मान्य हो सकता है।

पंचम-तरंग
अभिव्यक्ति

प्रथम उल्लास में अनुभूति और अनुभूति संबंधी काव्य-सिद्धान्तों पर विचार किया गया है। सृजन का संबंध अनुभूति की अभिव्यक्ति से होता है। इस दृष्टि से अभिव्यक्ति पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। अभिव्यक्ति शब्द विविधार्थी है। अधिकांश विचारकों ने इसके विवेचन द्वारा इसी निष्कर्ष की पुष्टि की है। प्रमुख विचारक 'ओसबॉर्न' ने इसका प्रयोग आत्माभिव्यक्ति, संवेग चित्तवृत्ति या संवेगात्मक परिस्थिति के साथ ही कलाकार की मानसिक दशा की अभिव्यक्ति के अर्थ में किया है। 'थिओडोर मेयर ग्रीन' ने अभिव्यक्ति को निम्नांकित प्रकारों में विभाजित करके उसका विशद विवेचन किया है।

(१) वैज्ञानिक अभिव्यक्ति।

(२ कलात्मक अभिव्यक्ति।

(३) नैतिक अभिव्यक्ति।

इन पर हम विषय-वस्तु और विषय-विन्यास के सन्दर्भ में विचार करेंगे। यहाँ हम ऐसे अन्य स्वरूपों का उल्लेख करना समीचीन समझते हैं जिनका बिषय-प्रतिपादन की दृष्टि से अपना महत्व है। इन स्वरूपों में प्राकृतिक अभिव्यंजना और मानवीय अभिव्यंजना की विशेष चर्चा की जाती है। प्राकृतिक अभिव्यंजना की दृष्टि से प्रकृति शब्द के निहितार्थ को समझ लेना विशेष महत्वपूर्ण हैं। भारतीय दर्शन में प्रकृति और पुरुष की मान्यता पर्याप्त प्राचीन है। इस शब्द का प्रयोग शक्ति, प्राकृतिक उपादान, और मानव प्रकृति के लिये किया गया है। प्रकृति को पुरुष की इच्छा का प्रसार अथवा स्वतंत्र माना गया है। प्रकृति और पुरुष के संयोग का सिसृक्षा का मूलमंत्र घोषित किया गया है। शैव-प्रत्यभिज्ञा दर्शन की आत्मस्थलीन और सिसृक्ष की परिकल्पना इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। वहाँ प्रकारान्तर से आत्माभि-व्यक्ति, आत्म प्रसार अथवा युगनद्ध संबंध को ही सृष्टि प्रसार (अभिव्यक्ति)

का माध्यम माना गया है। भारतीय चिन्तन के मूल में इच्छाशक्ति और अभिव्यक्ति का सम्बन्ध विशेष रूप से विद्यमान है। पाश्चात्य-विचारधारा का दार्शनिक पक्ष भारतीय पक्ष से भिन्न है। साहित्य के क्षेत्र में परम्परादर्शवादी विचारकों ने 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग अधोलिखित अर्थों में किया है :—

(१) 'प्रकृति' अनुकरण के वाह्य यथार्थ की निरूपक और सत्याभास की परिचायक है।

(२) इसका अर्थ मानव प्रकृति है, अतएव इसमें मानव की स्वभावगत विशिष्टता विद्यमान रहती है।

(३ यह शब्द मानव-प्रकृति और अन्य विशेषताओं का सूचक है।

(४) प्रकृति में निहित सौन्दर्य के चुनाव द्वारा हम जिस आदर्श स्वरूप को प्राप्त करते हैं यह उसी की परिचायक है।

(५) यह अर्द्ध-नैसर्गिक क्रिया का बोध और जागतिक नियमों का ज्ञान कराने का प्रमुख माध्यम है।

स्वच्छन्दधारा में इस का प्रयोग प्रकृति में निहित सप्राण और जीवन्त-स्पन्दनों के लिये किया गया है। कला के क्षेत्र में कलाकारों ने बहुधा 'कला और प्रकृति' का प्रयोग किया है। इस सन्दर्भ में यह शब्द प्रकृति के विविध क्रिया-कलाप के साथ ही मानव के विविध स्वरूपों का परिचायक सिद्ध हुआ है। परवर्ती लेखकों में इसके विविध स्वरूपों का उल्लेख मिलता है। विज्ञान, मनोविज्ञान और समाजशास्त्रीय मान्यताओं के विकास के साथ इसके अर्थ-सन्दर्भों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन हुआ है।

प्रकृति के विवेचन के सन्दर्भ में प्रकृति क्या है और यह क्या अभिव्यक्त करती है जैसे वाक्यों पर अत्यधिक विवाद हुआ है। इन प्रश्नों का उत्तर भी दिया गया है। गंभीरतापूर्वक विषय का मंथन करने से यह सत्य पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि, '**प्रकृति शब्द में निहित अर्थ-सन्दर्भ देश-काल से संबन्धित उपादानों का पूर्ण प्रसार और हमारे इन्द्रिय बोध के आयामों का जनक है।** इसमें सभी मनोवैज्ञानिक पक्ष निहित रहते हैं जो जीवन की उत्कृष्टता और निकृष्टता के सहगामी हैं।' **जो भी उच्च आदर्शमय, उपयुक्त, समन्वयपूर्ण और विकासोन्मुखी क्रिया का द्योतक है वह प्रकृति शब्द से अभिहित किया जाता है और जो कुछ निम्न और विकासावरोधक है वह प्रकृति-विकृति शब्द से।** प्रकृति शब्द यथार्थ में उस अनन्त प्रसार का द्योतक है जो अपने अनंत वैविध्य और

अनन्त व्यंजना से अलंकृत होकर हमारे चतुर्दिक विकीर्ण है। यह हमारी चेतना से बाहर स्वतंत्ररूप में क्रियाशील वस्तुगत यथार्थ का परिचायक है। देश-काल के संबंध की दृष्टि से इसमें परिवर्तन होता रहता है। मानव ने प्रकृति के उपयोग और उपभोग द्वारा वैभव और आनंद प्राप्त किया है। उसकी इस क्रिया के मूल में प्रकृति और द्वितीय प्रकृति (Second nature)—कृत्रिम साधन जो प्रकृति के उपयोग के लिये प्रयुक्त होते हैं—के घात-प्रतिघात विद्यमान रहते हैं। मानव और प्रकृति का संबंध सामाजिकता के विकास में सहायक सिद्ध हुआ है। इस संबंध की कतिपय उलझनें भी हैं। **"प्रकृति अभिव्यंजना की दृष्टि से मूलत: निष्क्रिय, उद्देश्यहीन और अचेतन है और मानव अभिव्यंजना सक्षम, सक्रिय, उद्देश्यपूर्ण और चेतन।"** प्रकृति हमारे बोध का संभव उपादान होते हुए भी स्वयं अपने रहस्यों के उद्घाटन के लिये प्रयत्नशील या समुत्सुक नहीं दीख पड़ती। इसके रहस्यों को जानने और उससे अवगत होने का प्रमुख साधन निरीक्षण और प्रयोग है। इन्हीं के द्वारा हम इसके अन्तराल में निहित अनन्त रहस्यमय वैविध्य से अवगत हो सकते हैं। 'बर्ट्रण्ड रसेल' ने इसी तथ्य को हृदयंगम करके इसे अनन्त शक्तिमयी पर अन्धी (omnipotent but blind) तथा अचेतन शक्तियों का प्रमथित करने वाला विकास (trampling march of unconscious powers) कहा है। प्रकृति की सावयवता से एक अदृश्य अथवा अचेतन सोद्देश्यता की झलक मिलती है। यह अपनी अन्तर्निहित एकता, समन्वय, विकास और परिवर्तन के माध्यम से हमें सन्देश देती है, पर इन क्रिया-कलापों का महत्व उसी व्यक्ति के लिये है जो इन्हें देखने और परखने की क्षमता रखता है, जो अपनी चेतना को प्रकृति पर आरोपित करने में सक्षम है या उसके साथ तादात्म्य स्थापित करने में दक्ष। प्रकृति सामीप्य के लिये व्यक्ति में उपयुक्त-बोध का होना आवश्यक है। 'कोलरिज' ने कहा भी है,

"O lady ! we receive but what we give,
In our life does nature alone live"

'सेसिल डे लेविस' ने प्रकृति के स्थान पर मानव-जीवन और कला पर दृष्टिपात किया और वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "जीवन विशृंखल है और

---

1. Life is chaotic, art orderly, the novelists problem is to evoke an orderly composition, which is also a convincing picture of life."

कला सुश्रृंखल। कलाकार का यह धर्म है कि अपने सृजन द्वारा जीवन का ऐसा स्वरूप प्रस्तुत करे जो विश्वसनीय हो।"

अभिव्यक्ति को कोरी अभिव्यंजना (manifestation) से भिन्न माना गया है। यह (अभिव्यक्ति) वस्तुतः मानव चेतना और प्रामाणिक अनुभूति से उद्‌भूत होती है, अतएव इसका भिन्न होना स्वाभाविक है। **चेतना और प्रामाणिक अनुभूति कलाकार को एक ओर परिवेशीय अन्तर्दृष्टि से अलंकृत करती हैं और दूसरी ओर विवेकपूर्ण व्याख्या की सामर्थ्य प्रदान करती हैं। अभिव्यक्ति मूलतः कलाकार के अन्त संबंध को स्पष्ट करने का माध्यम है।** इस अन्तःसंबंध को समझने तथा अन्य लोगों को उसके सहयोगी होने के कारण उसका सही अभिज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस दृष्टि से कलात्मक अभिव्यक्ति सचेतन और सोद्देश्य क्रिया सिद्ध होती है। अब रही मानव अभिव्यक्ति की बात। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यह अभिव्यक्ति कलात्मक अभिव्यक्ति से भिन्न होती है। जब व्यक्ति को विचार-संप्रेषण या वैचारिक आदान-प्रदान की आवश्यकता होती है तो वह अभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार करता है। इस धरातल पर यह अभिव्यक्ति एक सामाजिक क्रिया मानी जा सकती है। सत्य यह है कि कलात्मक अभिव्यक्ति, मानव अभिव्यक्ति और प्रकृति अभिव्यक्ति से निश्चित अनुपात में सामग्री ग्रहण करती है। जीवन अगर उलझनपूर्ण है तो प्रकृति भी उलझनपूर्ण है, पर कलाकार इन्हें इस विशेषता के कारण त्याग नहीं देता है। वह दोनों का उपयोग करता है। उसकी अभिव्यंजना जीवन और प्रकृति से संवर्द्धित और परिवर्द्धित होती रहती है। सृजन की स्थिति में उसकी जीवनानुभूति प्रकृतिमय हो जाती है, प्रकृति से संबंधित अनुभूति जीवनमय। इनका जटिल द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। प्रकृति कला को सप्राण बनाती है और जीवन रोगोद्रिक्त। प्रकृति जीवन के धरातल पर पूर्णता को प्राप्त होती है और जीवन प्रकृति के धरातल पर अपने शाश्वत जीवन-स्पंदन की परख करता है। इस प्रकार कला के क्षेत्र में ये दोनों ही अभिव्यक्तियाँ एकमेक हो जाती हैं। यही कला की महत्ता का रहस्य है।

अभिव्यक्ति के लिये मानसिक तरलता (fluidity of the mind) अनावश्यक है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अभिव्यक्ति की घटक अनुभूति प्रकृत्या, अस्पष्ट, दुरूह और उलझनपूर्ण होती है। यह मूर्त-रूप में प्रतिच्छायित भी नहीं हो पाती कि मानसिक तरलता के कारण हमारा ध्यान विकेन्द्रित हो जाता है, इस स्थिति में अभिव्यक्ति के सम्मुख बाधा आ जाती है। पहली बाधा

यह कि ध्यानापकर्षण के कारण पूर्ववर्ती स्थिति स्पष्ट नहीं हो पाती और दूसरी बाधा यह कि इसमें वह तीव्रता नहीं आ पाती जो अभिव्यक्ति को महत्वपूर्ण और सार्थक बना सके। कलाकार की चेतना और बोध, अभिव्यक्ति के लिये, अनुभूति को सहानुभूति पूर्ण ढंग से सुलझाते हैं और उसकी जटिलता और विषमता को समन्वित करके इसे आनन्द प्राप्ति का साधन बनाते हैं। यह आनंद-प्राप्ति द्विविध होती है। इस समन्वय से सर्जक भी आनंद प्राप्त करता है और सामाजिक भी! अभिव्यक्ति की यह विशेषता होती है कि इसमें उपादान के गुणों के साथ ही अभिव्यक्ति से संबन्धित आन्तरिक अनुषंग विद्यमान रहते हैं। 'सान्तायन' ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "कि अभिव्यक्ति के उपकरण के रूप में केवल एक उपादान अपने संवेगात्मक प्रभाव के साथ प्रस्तुत रहता है, पर यथार्थ अभिव्यक्ति की दशा में इसका स्वरूप दुहरा हो जाता है। इसके प्रथम पक्ष का सम्बन्ध उपादान के यथार्थ स्वरूप से होता है और दूसरे पक्ष का संबंध यथार्थ-स्वरूप द्वारा अभिव्यंजित सांकेतिक अर्थ से।" कलाकार की स्मृति अभिव्यक्ति का प्रमुख उपजीव्य है। यही उसके स्वरूप को प्ररोचित और उद्बोधित करती है। यथार्थ में अभिव्यक्ति स्थूल उपादानों के दृश्य संबंध की मुखापेक्षी नहीं होती। इसमें अभिव्यंजना से सम्बन्धित मानसिक विचार प्रस्तुत रहते हैं। इसीलिये लालित्यबोधीय विचारकों ने इस सन्दर्भ में विधायक कल्पना और प्रज्ञा के महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

कलाकार किसी अनुभूतिमय भाव को अभिव्यक्त करता है। प्रश्न पूछा जा सकता है **यह भावाभिव्यक्ति क्या है?** 'कोलिंगवुड' का कहना है, 'कलाकार आरंभिक स्थिति में यह तो जानता है कि उसके अन्तराल में भाव हैं, पर उसे इस बात का ज्ञान नहीं रहता कि यह भाव क्या है। इस स्थिति में उसे केवल चित्त-विक्षोभ का ज्ञान रहता है। यह विक्षोभ उसे अन्तर्मथित करता रहता है। इस दशा में वह कुछ अनुभव तो करता है, पर वह जान नहीं पाता कि किस बात का अनुभव कर रहा है। उसकी यह अवस्था अत्यन्त असहाय और दयनीय होती है। वह इससे मुक्ति पाना चाहता है। मुक्ति साधन केवल आत्माभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति का सम्बन्ध भाषा से हो जाता है जो सार्थक अर्थ-सन्दर्भों का समुच्चय है। अभिव्यक्ति के इस भाषामय कलेवर से कलाकार की चेतना पूर्ण परिचित रहती है।

भावाभिव्यक्ति विशेषीकरण (Individualisation) की क्रिया है। इसे तथ्य वर्णन से भिन्न होना आवश्यक है। अभिव्यक्ति की क्रिया के दौरान

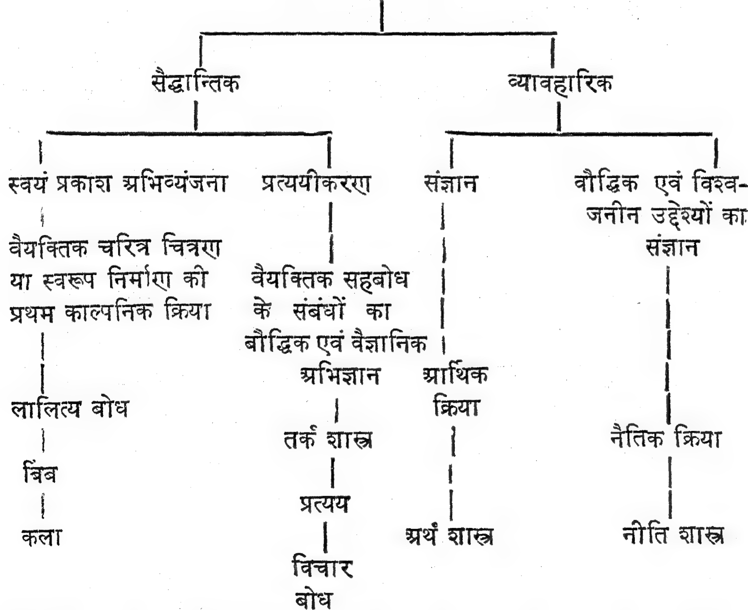
कलाकार अभिव्यंग्य की विशेषताओं से परिचित ही नहीं रहता अपितु वह उन्हें अभिव्यक्त भी करता है। **इस अर्थ में कलात्मक अभिव्यक्ति विशेषीकृत अभिव्यक्ति सिद्ध होती है। इस दशा में संवरण या चुनाव के लिये कम से कम स्थान होता है। जब लेखक किसी परंपरित या पूर्वप्रस्तुत ढाँचे के अनुसार अनुभूतियों को अभिव्यक्त करना चाहता है तो इससे मान और कल्पना की सजीवता नष्ट हो जाती है और कलाकार सफल अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं हो पाता है।** अभिव्यक्ति की दशा में भाव-संवेग के विशिष्टता की परख आवश्यक है। अभिव्यक्ति अन्य रूप में भी विशेषीकरण की क्रिया मानी जा सकती है। कला एक प्रकार का 'क्रैफ्ट' है और इसे कौशल की अपेक्षा होती है। कलाकार में सामान्य व्यक्ति की तुलना में यह विशेषता अधिक मात्रा में पाई जाती है। इस दृष्टि से उसकी अभिव्यक्ति को किसी न किसी विशेषता से मण्डित हो जाना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। भाव विश्व जनीन होते हैं। इनकी अनुभूति व्यक्ति या कलाकार विशेष की बपौती नहीं। हर व्यक्ति उनका अनुभव करता है, वह दुख से दुखी और सुख से सुखी होता है, पर यह क्षमता केवल कलाकार में ही पाई जाती है और वह इन्हें इस रूप में अभिव्यक्त भी करता है कि वे मानवता की अमरनिधि बन जाते हैं। अनुभूति की तीव्रता, सच्चाई, निश्छलता और उपादान के साथ एवम्भूत संयोग का अभिव्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है। जिस वस्तु को कलाकार ने हृदयंगम किया या भोगा है, उसके विषय में उसकी सुनिश्चित धारणा होती है। अनुभूति तद्वत् अभिव्यक्ति का विषय नहीं, अभिव्यक्त होते-होते उसका स्वरूप कलात्मक परिवर्तन का विषय बन जाता है। अतएव उसके आदिरूप और अभिव्यक्त रूप में भिन्नता पाया जाना स्वाभाविक है। कलाकार का भाग, स्मृति और विधायक कल्पना अनुभूति को स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान करने के प्रमुख साधन है।बायवी, ख्वाबी और हवाई कल्पना का कला की दृष्टि से कोई अर्थ नहीं होता।

अभिव्यक्ति संबंधी दृष्टिकोण :—

लोगों ने अभिव्यक्ति पर कई दृष्टियों से विचार किया है। स्वच्छन्दतावादी और मनोवैज्ञानिक विचारकों ने कला को आत्माभिव्यक्ति माना है। इस धारा के बुद्धिजीवियों ने कलात्मक अभिव्यंजना के सन्दर्भ में "भाषा को अनुभूति और संवेग प्रधान भाषा कहा है।" इसमें जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड और इटली के साथ ही युरोप और एशिया के अन्य कलाकार भी आते हैं। स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण का दूसरा रूप आदर्शवादी दर्शन में विकसित हुआ है। इसके प्रमुख विचारकों में 'वेरोन' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। 'वेरोन' ने ही 'टालस्टॉय' को प्रभावित किया था। इन्होंने 'इन्फेक्शन थियरी आँव आर्ट'

के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। 'वेरोन' ने कला की उत्पत्ति के मूल में भाव-संवेगों की अभिव्यक्ति के लिये स्वाभाविक चिह्नों को मान्यता दी थी। उनकी मान्यता है कि विकास-क्रम के परिपक्व होने पर मनुष्य ने स्वाभानिक चिह्नों के स्थान पर परंपरित चिह्नों का प्रयोग किया है और इसी के परिणाम-स्वरूप भाषा का अवतरण हुआ है। भाषा के दो रूप सामने आये हैं, (१) वैज्ञानिक भाषा और (२) कला की भाषा। वैज्ञानिक भाषा विचार की अभि-व्यक्ति का माध्यम है और कलात्मक भाषा चित्तवृत्तियों और भाव संवेगों की अभिव्यक्ति का साधन। उनका यह सूत्र वाक्य 'सिसीयरिटी इन आर्ट बाइ स्पॉन्टेनियस मैनिफेस्टेशन ऑव द पर्सनल इमोशन'[1] अभिव्यक्ति की भाववादी व्याख्या का मूल मंत्र है।

'जर्मनी' में 'विल्हेमडिल्थे' अनुभववादी और विज्ञानवादी निकाय के विचारक थे, स्वच्छन्दतावादी लेखक 'नोवालिस' के प्रभाव से उन्होंने इस चिंतन को अपना उपजीव्य बनाया। यह विचारधारा अन्य जर्मन स्वच्छन्दतावादियों में अपने चरम उत्कर्ष में दीख पड़ी। इससे दृश्य या अदृश्य रूप से संपूर्ण योरप प्रभावित हुआ। इसी का एक रूप हमें क्रोचे' के चिन्तन में दृष्टिगोचर हुआ। ये वस्तुतः 'हीगेल' 'विको' और 'दी साँते' की परंपरा के लेखक माने जाते हैं।' उनके बिचार को निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—



1. Sincerity in art by spontaneous manifestation of the personal emotion.'

उपर्युक्त स्वरूप पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि 'क्रोचे' के अनुसार कला स्वयं प्रकाश है और स्वयं प्रकाश अभिव्यंजना। इतालवी लेखक 'गिओवानो पैपिनी' ने ठीक ही कहा है कि "उसकी संपूर्ण लालित्यबोधीय क्रिया कला के उपनामों की गवेषणा है। अगर शाब्दिक और आर्थिक विभेद को हम दृष्टि से ओझल कर दें तो हमें सरलता से यह सूत्र मिल सकता है कला = स्वयंप्रकाश = अभिव्यंजना = विधायक कल्पना = ललित कल्पना = सौन्दर्य। 'क्रोचे' का विवेचन अन्तर्विरोध से ग्रसित है, फिर भी उनकी मान्यताओं से युरोपीय विचारधारा प्रभावित हुई हैं। परवर्ती लेखकों में 'कोलिंगवुड' 'रिचर्ड्स' 'एबर क्रॉम्बी', 'अलेक्ज़ेण्डर' और 'सान्तायन' अभिव्यक्ति की स्वच्छन्दतावादी विचारधारा के ही समर्थक रहे हैं। इन लेखकों के अनुसार कलाकार का प्रमुख उद्देश्य अपने अनुभूति के क्षणों को दूसरे के मानस में प्रतिच्छायित करना है। सहृदय भी कलाकार की अनुभूति का सहयोगी बनकर ही कलाकृति का आस्वादन करता है। कलाकार सर्वप्रथम अनुभूति के माध्यम से जीवन के पक्षविशेष को भोगता है। पुनः उसका भोग अन्य मानसिक स्वरूपों से मिलकर कलात्मक कलेवर ग्रहण करता है। भावक इसी को अपनी कल्पना और चर्वणा का विषय बनाता है और उसकी अनुभूति के प्रतिरूप का मानस प्रत्यक्ष प्राप्त करता हे। इन विचारकों ने अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में भाषा पर भी विचार किया है। 'रिचर्ड्स' ने भाषा के तथ्यात्मक प्रयोग (referential use) **और रागात्मक प्रयोग** (emotive use) का उल्लेख किया है। **प्रथम प्रकार का प्रयोग वैज्ञानिक और दार्शनिक विचारकों की भाषा में मिलता है और द्वितीय प्रकार का प्रयोग साहित्य और कला में पाया जाता है। पहले प्रकार की भाषा सूचना प्रधान होती है और द्वितीय प्रकार की भाषा संवेगात्मक। संवेगात्मक भाषा का उद्देश्य अन्य प्रकार के व्यक्तियों में उसी प्रकार का संवेग उत्पन्न करना है।** मि० टॉमस पोलक 'रिचर्ड्स' से असहमत थे। उनके अनुसार भाषा प्रमुख रूप से **तथ्यात्मक** (referential) **और प्रबोधात्मक** (evocative) **होती है। प्रथम कोटि की भाषा के प्रयोग से अनुभूति की सूचना मिलती है और दूसरे प्रकार के प्रयोग से वह रूपायित** होने लगती **है**। साहित्य में अनुभूति, चित्तवृत्ति और संवेग के साथ ही चिन्तन, विचार और अवबोध का भी महत्व हे। इस दृष्टि से साहित्य को दो प्रकार का माना जा सकता है, (१) **मौलिक साहित्य** (genuine literature) और (२) **कल्पित साहित्य** (Pseudo-literature)। "प्रथम प्रकार के साहित्य में कलाकार भाषा-

शास्त्रीय ढंग से अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि वह भावक तक संप्रेषित हो जाय। उसका प्रमुख उद्देश्य अनुभूति की अभिव्यंजना के साथ ही उसका उद्बोधन भी है। कल्पित साहित्य में (राजनीति और विज्ञापन में) विचारक अपनी अनुभूति के स्थान पर ऐसी अनुभूति को पाठक में उद्बोधित करता है जिसकी उसे अपेक्षा है। इस प्रकार के साहित्य में भाषा के माध्यम से ही अनुभूति प्रस्तुत की जाती है, पर यह अनुभूति उसकी निजी अनुभूति नहीं होती।

इस बात का संकेत किया जा चुका है कि अभिव्यंजना को लेकर मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना की कहावत चरितार्थ होती है। एक ही भाषा में इसके लिये एकाधिक शब्द मिल जाते हैं। अंग्रेजी में 'वेरोन' ने इसे 'मैनिफेस्टेशन' 'स्पार्शाट' ने 'आर्टिकुलेशन' और 'लेविस' ने 'कांक्रीटनेस' के प्रयोग द्वारा अभिव्यक्त किया है। हिन्दी में भी अभिव्यक्ति, अभिव्यंजना, व्यंजना, प्रकटीकरण, निरूपण, मूर्तीकरण, रूपायन आदि शब्द देखने को मिल जाते हैं। अंग्रेजी और हिन्दी के इन शब्दों में साम्य दीख पड़ता है। उदाहरण के लिये, 'मैनिफेस्टेशन' का अर्थ प्रकटीकरण, आंगिक, चेष्टा, या उद्गार होता है और आर्टिकुलेशन का अर्थ विवक्षा, व्यक्तीकरण अथवा मूर्तीकरण। इन शब्दों के निहितार्थ से स्पष्ट है कि संवेग के उद्गार उसकी स्थिति का अभिज्ञान करा सकते हैं, पर अनिवार्य रूप से अभिव्यक्ति का ज्ञान नहीं करा सकते. क्योंकि स्वतःप्रेरित और स्वोद्भूत क्रियायें कभी-कभी अचेतन और अनुत्तरदायित्वपूर्ण होने के साथ ही उलझी भी होती हैं। आर्टिकुलेशन का अर्थ मूर्तीकरण है। इससे यह साफ जाहिर होता है कि कला अमूर्त को मूर्त, अनभिव्यक्त को अभिव्यक्त, अपरोक्ष को परोक्ष और अदृश्य को दृश्य स्वरूप प्रदान करती है। मूर्तीकरण की इस क्रिया द्वारा कलाकार के निराकार भावों को साकार रूप की उपलब्धि होती है। **निराकार से साकार की ओर अभिमुख होने की इसी क्रिया में कलात्मक रूपायन निहित रहता है।**

अगर कला अभिव्यक्ति है तो इस प्रश्न का उठना आवश्यक है कि वह क्या अभिव्यक्त करती है और अभिव्यंजित और अभिव्यंजक में क्या संबंध होता है। सर्वप्रथम विचारकों ने कला को संवेग की अभिव्यक्ति की संज्ञा दी है। इनमें 'कोलिंगवुड', 'डुकासे' और 'एकेन' का नाम महत्वपूर्ण है। इन लोगों के अनुसार **अभिव्यंजित और अभिव्यंजक के बीच आनुषंगिक संबंध होता है।** 'सान्तायन' ने भी प्रकारान्तर से इसी बात से सहमति प्रकट की है। पर इस विचार का विरोध

हुआ है। 'जेरोम स्तोलनित्ज़' अनुषंग को उपस्कारक साधन तो मानते हैं, पर इसके अतिरिक्त अन्य तथ्यों की आवश्यकता पर भी बल देते हैं। परवर्ती विचारकों ने संवेग की अभिव्यक्ति पर प्रश्नवाची चिह्न लगा दिया है और नई विश्लेषण पद्धति के आधार पर इन्हें अन्वित मानकर इनकी व्याख्या की है। इस विचारधारा के प्रमुख स्तंभ 'प्रोफेसर बाउस्मा' हैं। 'सुसन के लैंजर' ने भी अपनी अनुभूति की व्याख्या के सन्दर्भ में कलाकृति को इन अनुभूतियों (feelings) और उनके घटकों के बिंबों का समुच्चय माना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कलाकृति क्या अभिव्यक्त करती है और अभिव्यंजित और अभिव्यंजक में क्या संबंध है आदि को लेकर लालित्यबोध के क्षेत्र में पर्याप्त विवाद हुआ है और अभिव्यंजित पर प्रश्नवाची चिह्न ही नहीं लग गया है, अपितु इस शब्द को अन्त्यज मानकर कला के क्षेत्र से वहिष्कृत करने का प्रयत्न भी हुआ है। इस मान्यता की उपयुक्तता और अनुपयुक्तता पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

'स्पाँर्शाट' का उल्लेख ऊपर किया गया है। इस सन्दर्भ में इस तथ्य की ओर भी संकेत किया गया है कि उन्होंने अभिव्यक्ति के स्थान पर विवक्षा (articulation) शब्द का प्रयोग किया है। हमें यह जान लेना आवश्यक है कि उपर्युक्त लेखक ने इसके माध्यम से क्या प्रकट करना चाहा है। यह एक निर्विवाद सत्य है कि भाव-संवेग अपने स्वाभाविक स्वरूप में अमूर्त और अस्पष्ट होता है। रूपायन की दृष्टि से इसका मूर्तीकरण आवश्यक है। यह मूर्तीकरण विवक्षा द्वारा ही संभव होता है। इस सन्दर्भ में विवक्षा ऐसी क्रिया सिद्ध होती है जो अमूर्त को मूर्त स्वरूप प्रदान करके उसे बुद्धि ग्राह्य और प्रत्यक्ष स्वरूप प्रदान करती है। इसका सारांश यह है कि अविवक्षित स्वरूप के अस्पष्ट, संकुल, अमूर्त, निराकार और विशृंखलित आवेग को विवक्षा के द्वारा ही मूर्त, स्पष्ट, समन्वित और साकार संघटनायुक्त कलेवर प्रदान किया जाता है।

'एफ० आर० लेविस' ने अभिव्यक्ति के परिप्रेक्ष्य में सम्मूर्तन-विधान की आवश्यकता पर बल दिया है। उनका दृष्टिकोण यथार्थवादी और मूल्यवादी है। सम्मूर्तन के सन्दर्भ में उन्होंने विशेषता (specificity), तथ्यपरकता (actuality), उपलब्धि (Realisation) और वैविध्य (vividness) की चर्चा की है। इन शब्दों में अन्तर्निहित अर्थ द्वारा लेखक ने सम्मूर्तन की विकासोन्मुख क्रिया को स्तरों में अभिव्यंजित किया है। उनकी मान्यता है कि लेखक को अभिव्यंग्य को इस प्रकार अभिव्यक्त करना चाहिए कि वह भावक की अनुभूति का विषय बन जाय। 'कांक्रीटनेस' के प्रयोग द्वारा उन्होंने इसी उद्देश्य की सिद्धि करना

चाहा है। उपर्युक्त विवेचन में उपलब्धि आत्मोपलब्धि का पर्याय है। यह शब्द प्रकारान्तर से "सृजन की व्यंजना के साथ ही वस्तुसत्य के निरूपण" और आत्माभिव्यक्ति का परिचायक है। इसे आत्मबोध की संज्ञा दी जा सकती है। लेखक ने काव्यमय यथार्थ (poetic reality) और कलात्मक ईमानदारी (artistic sincerity) को भी समानार्थी माना है। काव्य के मूर्तकथन को हृदयंगम करने से उपलब्ध होने वाली जीवन से भी अधिक संवेदनशील, जीवन्त और प्राणवान जटिल संघटना भी उनकी दृष्टि से नहीं बच पाई है।

ऊपर के विवेचन में लैंजर का नामोल्लेख किया गया है। इस सन्दर्भ में उनकी मान्यता[1] को भी स्पष्टतापूर्वक समझ लेना विषय के प्रतिपादन की दृष्टि से आवश्यक है।

(१) कलाकार अनुभूति को अभिव्यक्त तो करता है, पर यह अभिव्यक्ति विशिष्ट कोटि की होती है।

(२) वह वस्तुतः यथार्थ के नियमविहीन और अव्यवस्थित स्वरूप के भ्रान्तिपूर्ण पक्ष को चित्रित करता है।

(३) वह अपनी अनुभूति द्वारा अपने मानवीय अनुभूति के ज्ञान को भी अभिव्यक्त करता है।

(४) अभिव्यक्ति सक्षम प्रतीकों के उपलब्ध होते ही कलाकार वैयक्तिकता का अतिक्रमण करने लगता है।

(५) कला-कृति जीवन के बोध, संवेग और आन्तरिक यथार्थ को मुखर करती है। इसमें कलाकार की चेतना का प्रमुख सहयोग रहता है।

---

1. The artist expresses feeling, but not in the way a politician blows off steam or baby laughs and cries. He formulates that elusive aspect of reality that is commonly taken to be amorphous and chaotic, that he objectifies the subjective realm. What he expresses, therefore, is not his own actual feelings, but what he knows about human feelings. Once he is in possession of rich symbolism, that knowledge may actually exceed his entire personal experience. A work of art expresses a conception of life, emotion, inward reality, but it is neither a confessional nor a frozen tantrum, it is a developed metaphor, a non-discursive symbol, that articulates what is verbally in effable—the logic of consciousness itself.

'लैंजर' ने कलाकृति को संवेग के स्थान पर अनुभूति का अभिव्यक्तीकरण कहा है। इसे अनुभूति के ऐसे बिंब (Image of feeling) की संज्ञा दी गई है जो अन्तस्थ अनुभूतियों के साथ ही उन्हें उत्पन्न करने वाले विधानों से भी संबद्ध होता है। 'लैंजर' ने अभिव्यक्ति को प्रतीकमय माना है और इन प्रतीकों का वर्गीकरण किया है। उनके अनुसार ये दो प्रकार के होते हैं (१) तर्कपूर्ण (Discursive) प्रतीक (२) कलात्मक (Presentational) प्रतीक। **प्रथम प्रकार के प्रतीक का प्रयोग विज्ञान में किया जाता है। इसमें हर शब्द का निश्चित अर्थ होता है, पर द्वितीय प्रकार का प्रतीक इससे सर्वथा भिन्न है। इसके घटक भी अनिश्चित हैं और इसका अर्थ इसके संपूर्ण-विन्यास पर आश्रित होता है। इसके द्वारा चित्तवृत्ति, इच्छा, संवेग, गति, विकास, अनुभूति और मानसिक तनाव आदि को मूर्तिमान रूप दिया जाता है।** यह सब भाव के अनियंत्रित प्रवाह के स्थान पर विषयगत स्वरूपों के विवेकपूर्ण मूर्तीकरण से संभव होता है। "**मूर्तीकरण अभिव्यक्तीकरण का पर्याय है।**" लेखिका ने इस मूर्तीकरण को 'जेस्टाल्ट मनोविज्ञान' के माध्यम से समझाने की कोशिश भी की है। उनके अनुसार इसके मूल में इन्द्रियग्राह्यता और कला के संघटन की संगति अवश्य विद्यमान रहती है। यह संगति इन्द्रिय-बोध और कला-विन्यास की संगति होती है। इसे उन्होंने संगीत की विशेषता के माध्यम से समझाना चाहा है। उनका कहना है कि, 'संवेगात्मक संघटना को संगीत के सदृश माना जा सकता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अनुभूतिप्रवण संवेदनशीलता और संगीत की संघटना एवं अभिव्यक्ति में साम्य पाया जाता है। **इसमें संगीत की ही तरह विकास और विकासावरोध, प्रवाह और स्थिरता, संघर्ष और सुलझाव, गति और गतिहीनता, भयंकर उत्तेजना, शान्ति, सूक्ष्म-प्रेरणा और स्वप्निल अन्तराल पाया जाता है।**'[१] स्पष्ट है कि 'लैंजर' ने विषयिगत अनुभूति को संघटना-सक्षम माना है। इस संघटना को कला-विन्यास द्वारा मूर्तित किया जा सकता है। इसके लिए प्रतीकों का अवलंब ग्रहण करना पड़ता है। भाषा का विकास भी मानवता ने समर्थ-प्रतीक-समुदाय के रूप में किया है। यही कलात्मक चिन्तन और अभिव्यक्ति का कार्य संपादित करती है।

---

1. The tonal structure we call music, for example, bear a close logical similarity to the forms of human feeling—forms of growth and attenuation, flowing and slowing, conflict & resolution, speed arrest, terrific excitement, calm and sudden activation and dreamy lapses."

ऐन्द्रिय अवबोध और अभिव्यक्ति के अनुषंग पर परंपरित दृष्टि से विचार किया गया है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक इस बात को मानते हैं कि हम सर्वप्रथम इन्द्रिय-बोध की सामग्री को देखते हैं और पुनः इसको भाव-संवेग और विचार से संबद्ध करते हैं। यही अनुषंग अभिव्यक्ति को संभव बनाता है। उदाहरण के लिए आग लगने के स्वरूप को लिया जा सकता है। सर्वप्रथम (आग लगने पर) हमें अग्निशिखा दिखाई पड़ती है, पर अपनी भूतकालीन अनुभूति के आधार पर हम इसकी भयंकरता की कल्पना कर लेते हैं। इसके विभिन्न स्वरूपों से सम्बद्ध विचार और भाव-संवेग थोड़े ही समय में सक्रिय हो उठते हैं और अभिव्यक्ति रूपायित होने लगती है। इस उदाहरण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि हम **इन्द्रिय-प्रदत्त सामग्री के आधार पर स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और ध्वनि आदि का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस ज्ञान के साथ ज्यों ही विचारों का सामंजस्य संभव होता है, अभिव्यक्ति की क्रिया स्वयमेव आरंभ हो जाती है।** 'रुडाल्फ आर्नहीम' ने इस विचार से असहमति प्रकट की है। उनके अनुसार इन्द्रिय प्रदत्त सामग्री और विचारों के सामंजस्य की बात त्रुटिपूर्ण और तथ्यहीन है। अभिव्यक्ति का सीधा संबंध दृश्य उपादान से होता है। 'आर्नहीम' महोदय कला-मर्मज्ञ होने के साथ ही वैज्ञानिक भी हैं। उनकी यह मान्यता जेस्टाल्ट मनोविज्ञान से प्रभावित है। उन्होंने अपने विवेचन के आरम्भ में 'बर्कले' और 'चार्ल्स डार्विन' का मत उद्धृत किया है। बर्कले के अनुसार, 'मनोवेग अदृश्य होते हैं। ये हमारे शारीरिक अवयवों द्वारा प्रकट किये जाते हैं। ये शारीरिक प्रतिक्रियायें मनःसृष्टि के क्षिप्रबोध से उत्पन्न होती हैं।'[1] इसका स्पष्ट अर्थ है 'मनोवेग' की अभिव्यक्ति में वाह्य और आन्तरिक संकेतों में सामंजस्य पाया जाता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त के सन्दर्भ में 'विभावानुभाव संचारि संयोगाद्रस निष्पत्ति' की बात भी इसी तथ्य की पोषक है। वाह्य आन्तरिक सामंजस्य के इसी परिवेश में लेखक ने इस बात को प्रतिपादित किया है कि अभिव्यक्ति प्रमुख रूप से सामाजिक परिवेश से प्राप्त होने वाले अपरिवर्त्तनशील और सान्द्र (Stereotyped) स्वरूपों पर आश्रित होती है। इस सिद्धान्त का परिष्कृत स्वरूप 'लिप' महोदय के 'अन्त-र्भावना' में दृष्टिगोचर हुआ है। उन्होंने जड़ वस्तुओं की अभिव्यक्ति के मूल में

1. Those passions are themselves invisible, they are nevertheless let in by the eye along with colors and alterations of countenance, whieh are immediate object of vision, which signify them for no other reason than barely because they have been observed to accompany them.

भाव-प्रक्षेपण और भाव आरोपण की बात पर विचार किया है। उनके समक्ष यह प्रश्न प्रस्तुत रहा है कि भाव-प्रक्षेपण में लालित्यबोधीय गुणों का समावेश कैसे संभव होता है। इसका उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा है **'जब हम अपनी शक्तियों और मनोभिलाषाओं को प्रकृति में प्रक्षेपित करते हैं तो इनके द्वारा उत्पन्न संवेदनशीलता के स्पन्दन के दिशानिर्देशक तत्वों के आग्रह पर भी ध्यान देना पड़ता है। इन्हीं तथ्यों को स्वीकृत करने के कारण अन्तर्भावना में लालित्य-बोधीय गुण का समावेश होता है।'**[1] इनके अनुसार अभिव्यक्ति का सम्बन्ध वाह्य और आभ्यंतरिक संघटना से होता है, फिर भी उसके अभिज्ञान के मूल में दृश्य संघटना क्रियाशील पाई जाती है। इससे सिद्ध होता है कि अभिव्यक्ति और संघटना का अभिन्न सम्बन्ध होता है।

'जॉन होस्पर्स' ने इस प्रश्न पर अधिक गंभीरता से विचार किया है। उनके अनुसार अभिव्यक्ति और कलाकृति में निहित विशेषता में भेद करना आवश्यक है। आरम्भ में ही लेखक ने 'क्रोचे—कोलिंगवुड' की उस मान्यता का उल्लेख किया है जो कलाकार के मस्तिष्क में सक्रिय पाई जाती है। उन्होंने 'कोलिंगवुड' के उस विचार को प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार कलाकार अपने को आवश्यक रूप से अभिव्यक्त करता और यही अभिव्यक्ति उसे संकुल भाव-संवेगों से मुक्त करती है। लेखक ने 'जानडेवी' की उस मान्यता का उल्लेख भी किया है जिसके अनुसार कलाकार की अभिव्यक्ति सावयवता (organism) तथा परिवेश (Environment) की आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रतिफलन मानी जाती है। अन्य कुछ तथ्यों का उल्लेख करने के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि **कला-कृति के लालित्यबोधीय मूल्यांकन के समय हम उसकी अभिव्यंजना पद्धति को दृष्टि से ओझल कर देते हैं, अतएव उसको समग्रता में** आकलित नहीं कर पाते हैं। कम से कम इतना तो अवश्य मान्य है कि अभिव्यक्ति के समय कलाकार कुछ न कुछ अनुभव करता रहता है, उसके हृदय में निश्चित भाव-संवेगों का उत्थान पतन चलता रहता है और वह एक अप्रतिम मानसिक उद्वेलन महसूस

1. When I project my striving, and my forces into nature, I do so also, as to the way, my striving and forces make feel, that is I project my pride, my courage and my stubbornness, my lightness, my playful assured, my tranquil complacence. Only thus my empathy with regard to nature becomes more truly esthetic empathy.

करता है। यह विशेषता हर प्रकार की अभिव्यक्ति में नहीं पाई जाती है। अभिव्यक्ति को समझने की दृष्टि से यह तथ्य परम आवश्यक है कि हम कलाकार की सर्जनात्मक-क्रिया के रहस्य से पूर्णरूप से परिचित रहें। यह कार्य वैसे तो सरल नहीं है, फिर भी इसको सर्वतोभावेन तिरस्कृत भी नहीं किया जा सकता।

इस तथ्य का उल्लेख किया जा चुका है कि 'अभिव्यक्ति' शब्द विविधार्थी है। उदाहरण के लिए हम इस वाक्य को ले सकते हैं, "कलात्मक संगीत विषाद को अभिव्यक्त करता है।" इसका तात्पर्य यह है कि वह विषादमय स्थिति को प्रकट (Reveal) करता है। इस शब्द का कला के क्षेत्र में कम से कम प्रयोग किया जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रकटीकरण भाव भंगिमाओं द्वारा निरूपित आंगिक चेष्टा के लिए रूढ़ हो चला है। प्रश्न उठ सकता है 'अभिव्यक्ति' शब्द का क्या अर्थ है। इसके उत्तरस्वरूप दूसरा पहलू हमारे सामने आता है। 'जॉन होस्पर्स' ने(इस स्तर पर) **इसे उद्बोधन का पर्याय माना है**। उनके अनुसार कला दर्शक या पाठक में भावों का उद्बोधन करती है। पर मात्र भावोद्बोधन कला का उद्देश्य नहीं है। **भाव के उद्बोधन की क्रिया भाव-संप्रेषण में आकर पूर्ण होती है**, अतएव इसको मान्यता देना पर्याप्त समीचीन है। संप्रेषण के धरातल पर अभिव्यंजना के दो पार्श्व दृष्टिगोचर होते हैं। (१) कलाकार और (२) कलाकृति। कलाकार अपने भाव को प्रेषित (Transmit) करता है। यह क्रिया जल के पाइप द्वारा प्रेषित जल अथवा विद्युत के तारों द्वारा प्रेषित विद्युत के सदृश और असदृश होती है। जिस प्रकार जल एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रेषित किया जाता है तो वह उसी रूप में वहाँ पहुँच जाता है, उसी प्रकार भावानुभूतियाँ भी जब एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रेषित की जाती हैं तो वे भी गन्तव्य पर पहुँचती तो हैं, पर इसके पूर्व कुछ परिवर्तित हो जाती हैं। यह परिवर्तन परिमाणात्मक और गुणात्मक दोनों होता है। जल और विद्युत को प्रेषित करने के लिए उन्हें एक स्थान पर एकत्रित करना पड़ता है। भाव संवेगों को इस अर्थ में एकत्रित नहीं माना जा सकता है। अतएव 'प्रेषण' शब्द भाव संवेगों के सन्दर्भ में अनुपयुक्त सिद्ध होता है। अभिव्यंजना के लिए 'कॉनवे' (convey) शब्द का प्रयोग भी किया जाता है, पर इसे भी उपयुक्त नहीं माना जा सकता। संप्रेषण (communication) उपर्युक्त शब्दों की तुलना में अधिक नमनीय और भाव-शबल है। भाव-संवेगों के संप्रेषण की लालित्यबोध में विशेष चर्चा भी है।

'हॉस्पर्स' ने इससे संबंधित आपत्तियों को सतर्कतापूर्वक निरूपित किया है। इन्हें निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) सृजन के क्षण में कलाकार कई प्रकार के भावों और तकनीकगत स्वरूपों का आश्रय ग्रहण करता है, सामाजिक या दर्शक इनसे पूर्ण परिचित नहीं हुआ करता। कलाकार की इस आन्तरिक अनुभूति से लिपटे अन्य स्वरूपों का संप्रेषित होना आवश्यक नहीं है। इस दृष्टि से उसकी अनुभूति के विशिष्ट एवं आवश्यक पक्ष ही संप्रेषित हो पाते हैं। अतएव यह निर्विवाद रूप में स्वीकार किया जा सकता है कि कलाकार की अनुभूति समग्र रूप में नहीं प्रक्षेपित की जा सकती है।

(२) अगर हम इस तथ्य को मान भी लें कि कलाकार अपने भाव संवेगों को समग्रता के साथ संप्रेषित करना चाहता है तो अभिव्यंजनावादी सिद्धान्त की यह मान्यता अग्राह्य सिद्ध हो जाती है कि सृजन के समय भी वह संप्रेषण की इस भावना के प्रति चैतन्य रहता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि सृजन की स्थिति में जब वह भावसंवेगों से उन्मथित और उद्वेलित रहता है तो उसका उन पर पूर्ण अधिकार नहीं रहता। संप्रेषण, चेतनता, तटस्थता, मानसिक दूरी, स्पष्टता और अभ्यसित नियंत्रण का अनुगामी होता है। इसी तथ्य का दृष्टि-पथ में रखकर 'वर्ड्स्वर्थ' ने भाव-संवेगों के शान्ति के क्षणों में पुनर्ग्रहण की और 'ईलियट' ने निर्वैयक्तिकता की चर्चा की है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि कलाकार भी भाव-संवेगों का अनुभव करता है। सामान्य व्यक्ति भी ऐसे भाव-संवेगों का अनुभव करता है जिनमें कलाकार द्वारा अनुभूत भाव-संवेग भी होते हैं। ऐसी स्थिति में कलाकार और सामान्य व्यक्ति के भेद को स्पष्ट करना सरल नहीं है।

(३) इस बात को स्वीकार करने में भी कठिनाई है कि दर्शक ठीक उसी प्रकार के भाव-संवेगों का अनुभव करता है जिस प्रकार के भाव-संवेग कला-निर्माण के जनक हैं। संगीत और गेय कविता के सन्दर्भ में इस तथ्य को मान्य ठहराया जा सकता है, पर अन्य काव्य विधाओं के सन्दर्भ में यह विशेष सहायक नहीं सिद्ध होता। कभी-कभी तो ऐसा देखा जाता है कि कलाकृति की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हम जिन संवेगों का अनुभव करते हैं वे सर्वथा भिन्न प्रकार के होते हैं। यह भी सत्य है कि खुद कलाकार के भाव-संवेग कला के रूप में मूर्तिमान होने तक अपने पूर्ववर्ती स्वरूप से इस प्रकार भिन्न हो जाते हैं कि उन्हें पहचान पाना कठिन हो जाता है।

(४) अभिव्यंजना के सन्दर्भ में इस तथ्य का अभिज्ञान प्राप्त करना भी सरल नहीं है कि दर्शक उसी बात का अनुभव करता है जिसका अनुभव कलाकार को अभीप्सित था। वस्तुतः इस सादृश्य और असादृश्य से संबंधित हमारे निर्णय त्रुटिपूर्ण हो सकते हैं क्योंकि यह (निर्णय) मात्र अनुमानाश्रित होगा।

इन आपत्तियों के बावजूद हम कह सकते हैं कि दर्शक उसी तथ्य का अनुभव करता है जिसका कलाकार उसे अनुभव कराना चाहता है। इसमें मात्रा और गुण की दृष्टि से भिन्नता हो सकती है। कुछ लोगों ने इस पर भी आपत्ति की है। उनके अनुसार अभिव्यक्ति को कलाकृति की विशेषता के रूप में ग्रहण करना चाहिए, न कि अनुभूति के रूप में।

इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। ऐसे विचारकों में 'ओसबॉर्न' और 'जॉन डेवी' प्रमुख हैं। ओसबार्न ने कलाकृति के सर्जन को द्विविध माना है। उनकी स्पष्ट धारणा है कि प्रथम विधा में कलाकार के मस्तिष्क में कला से संबंधित सामग्री सक्रिय रहती है और द्वितीय विधा में मस्तिष्क में प्रस्तुत इस सामग्री को मूर्त स्वरूप प्रदान किया जाता है। विश्लेषण की दृष्टि से ये दोनों क्षण स्पष्ट होते हैं, पर व्यवहार में ये सदैव अविभाज्य पाये जाते हैं।

'जॉनडेवी' महोदय ने अपनी प्रमुख पुस्तक 'आर्ट एज़ एक्स्पीरिएंस' में इस समस्या पर गंभीरता से विचार किया है। उन्होंने इसको अन्त:प्रेरणा और प्रोत्तेजना के सन्दर्भ में विवेचित किया है। उनके अनुसार सभी प्रकार की अनुभूतियों में मानसिक प्रोत्तेजना विद्यमान रहती है। **इस प्रोत्तेजना की अपनी निजी विशेषतायें हैं। यह विशिष्ट मानसिक स्थितियों के माध्यम से कलाकार के अन्त:स्पन्दनों को अभिव्यक्त करने का प्रमुख साधन हैं। यह प्रोत्तेजना केवल कलात्मक संघटना को ही गतिशील नहीं बनाती अपितु सभी प्रकार की पूर्ण अनुभूति की जन्मदात्री भी होती है।** प्रोत्तेजना के मूल में ही संघटना भी विद्यमान रहती है, पर इसे मूर्तिमान करने के लिए कलात्मक रूप की आवश्यकता पड़ती है। अपने मूर्तिमान स्वरूप के अधार पर कला परिवेश से संबंध स्थापित करती है। मानसिक प्रोत्तेजना में सदैव कोई न कोई अनुभूति निहित रहती है। यह यथास्थान अवरोध एवं प्रतिबन्ध का विषय होती है, इसका स्वरूप स्पष्ट रूप से परावर्तित हो सकता है। यह परावर्तन भी विशिष्ट माना गया है। इस स्थिति में नियंत्रित अवस्था एवं अहं के बीच संबंधसूत्र बना रहता है। इसीलिए पूर्व अनुभूतियों के आधार पर प्रमुख क्रिया का ज्ञान

भी होता रहता है। यदा कदा ऐसी स्थिति भी आती है जब इस क्रिया में निहित शक्तियाँ आरंभिक प्रोत्तेजना को प्ररोचित करती हैं। इस स्थिति में यह शैली और उद्देश्य की दृष्टि से अधिक अन्तर्दृष्टि प्रवण रूप में क्रियाशील होती है। इस क्रिया में पुरातन और नवीन अनुभूतियों एवं प्ररोचनाओं का सम्मिलन हुआ करता है। 'डेवी' का कहना है कि, "**यह पुरातन और नवीन का संधिस्थल मात्र उन शक्तियों का सम्मिलित स्वरूप ही नहीं है, अपितु पुनर्निर्माण की ऐसी क्रिया से संम्बद्ध भी है जिसमें वर्तमान मानसिक प्रोत्तेजना भूत मानसिक प्रोत्तेजना की उपस्थिति में निश्चित स्वरूप ग्रहण करती है और मानस में संग्रहीत पुरातन अनुभूतियों को नवीन परिस्थितियों के संपर्क तथा उनके नवोन्मेष के कारण सजीवता की उपलब्धि होती है।**" लेखक महोदय ने इसी दुहरे परिवर्तन को अभिव्यक्ति का प्रमुख कारण माना है। स्पष्ट है कि 'डेवी' की दृष्टि में भावनामय संवेग के उद्दाम वेग का प्रवाह आवश्यक है, पर यही सब कुछ नहीं है। कुछ अन्य तथ्यों और सत्यों की आवश्यकता होती है। 'सेमुएल एलेक्जेण्डर' ने कहा है, "कलाकार की कलाकृति पूर्व निश्चित कल्पना के स्थान पर विषय-वस्तु के मनोभावपूर्ण प्ररोचन से सृजित होती है। कवि के काव्य के मूल में यही प्रेरणा क्रियाशील पाई जाती है।"[1] इस गद्यांश पर 'डेवी' साहब का भाष्य अभिव्यक्ति पर अच्छा प्रकाश डालता है। उनका कहना है :—

१—विजातीय तथा परिवेशीय परिस्थितियों एवं शक्तियों की प्रतिक्रिया के आधार पर यथार्थ कलाकृति अविकल अनुभूति का सृजन करती है।

(२) अभिव्यक्त वस्तु सृजक की स्वाभाविक मनोवृत्ति एवं प्रवृत्ति पर विषयगत प्रवृत्तियों के दबाव और प्रभाव के कारण उद्भूत होती है।

(३) कला-निर्माण-सक्षम अभिव्यक्ति निश्चित काल की सीमा में निर्माण की परिचायिका है, किसी तात्कालिक उत्सर्जन का परिणाम नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि किसी माध्यम विशेष से कला निर्माणक आत्माभिव्यक्ति विषयगत परिस्थितियों में आत्म से ही उत्पन्न क्रियाओं का प्रतिफलन है। इसी

---

1. The artist's work proceeds not from the finished imaginative experience, to which the work of art corresponds, but from passionate excitement about subject matter. The poet's poem is wrung from him by the subject which excites him.

क्रिया की स्थिति में ये दोनों उस स्वरूप और नियम को उपलब्ध करते हैं, जो इनमें इसके पूर्व नहीं था।

(४) जब विषय से संबंधित उत्तेजना घनीभूत होती है तो यह पूर्व अनुभूतियों से प्राप्त मनोवृत्ति एवं अर्थ का मनोरम स्रोत प्राप्त करती है। जब इसका क्रिया विशेष से तादात्म्य हो जाता है, तो यह चेतन विचार एवं संवेग अथवा मनोवेग प्रधान बिंब का रूप ग्रहण कर लेती है। **किसी भी विचार विशेष से प्रहर्षित अथवा प्ररोचित होना प्रेरणा है।**

पौरस्त्य विचारकों ने भाव की अभिव्यक्ति का उल्लेख किया है। आनंद-वर्धन ने इसी आधार पर 'अभिव्यक्तिवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। पर द्रष्टव्य यह है कि भारतीय अभिव्यक्तिवाद आत्माभिव्यक्ति के धरातल पर नहीं प्रतिष्ठित है। इसका मूल कारण यह है कि भारतीय विचारक अहं या वैयक्तिकता के हिमायती नहीं हैं। रस-सिद्धान्त में लौकिक भाव-संवेगों के स्थान पर साधारणीकृत भावों और लौकिक पात्रों के स्थान पर साधारणीकृत पात्रों को मान्यता मिली है। यहाँ पर अभिव्यंजक और अभिव्यंजित की अलौकिकता को दृष्टि से ओझल नहीं किया गया है।

संस्कृत-साहित्य में क्रौंच-बध से उत्पन्न वेदना का स्वतःप्रेरित रूप में काव्य में परिणित होने की बात का उल्लेख मिलता है। 'आनंदवर्धन' के अनुसार इस प्रकार की अनुभूति की काव्य के रूप में अभिव्यक्ति चार स्तरों से होकर गुजरती है। सर्वप्रथम उन्होंने घटना के प्रातिबोधिक अवबोध को लिया है और पुनः इस अवबोध के विधायक कल्पना में रूपान्तरित होने का उल्लेख किया है। तृतीय स्तर पर 'शोक-श्लोक' अथवा शोक के काव्यमय स्वरूप ग्रहण करने की चर्चा की है, और अन्तिम स्तर पर आनन्द की प्राप्ति का निरूपण किया गया है। उन्होंने दृश्यकाव्य के सन्दर्भ से यह बात उठाई है। उनका कहना है कि प्रेम की स्थिति में कलाकार प्रेमी युगल से संबंधित विचार के माध्यम से एक दूसरे का आलिंगन और चुंबन करते हैं। उनका यह कार्य प्रेम का ही व्यंजक होता है। जब वे सही अर्थों में प्रेममय हो उठते हैं तो उनकी अन्तर्दृष्टि इसे संश्लिष्ट अनुभूति का रूप देती है। यही अनुभूति अभिनय द्वारा अभिव्यक्त की जाती है। उनका यह अभिनय ऐसी कलाकृति का परिचय देता है जिसमें प्रेम के मानसिक भाव निहित रहते हैं। यही क्रिया रस-निष्पत्ति की जनक है।

अभिव्यक्ति और उसकी प्रेरणा का मनोवैज्ञानिक स्वरूप

अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में भाव-संवेग और प्रोत्तेजना का उल्लेख किया गया है। ये बातें विवादास्पद हो सकती हैं, पर इतना तो अवश्य मान्य है कि अभिव्यक्ति अनाहत नहीं घटित होती। **यह कलात्मक अभियान है जिसकी प्रेरणा दृश्य या अदृश्य रूप से इसी में निहित रहती है। सृजन के क्षण अन्तर्परीक्षण सापेक्ष होते भी हैं और नहीं भी होते।** कलाकार के मस्तिष्क में उत्पन्न और कलाकृति में ढले विचारों को कला की सामग्री का प्रमुख तत्त्व माना जा सकता है। ये विचार जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, किसी भी अवस्था में कलाकार के मस्तिष्क में प्रतिच्छायित हो सकते हैं। कलाकृति कलाकार की सचेतन इच्छा से निरपेक्ष होकर विकसित होती है और अपने विशिष्ट स्वरूप को निर्धारित करती है। कभी-कभी ऐसा ज्ञात होता है कि यह उसके मस्तिष्क की उपज नहीं है। यह तो ऐसे वाह्य और वायवी प्रभाव से उत्पन्न हुई है जिसे कलाकार पूर्णरूप से समझ भी नहीं पाता। 'कीट्स' 'जार्ज इलियट' और 'थैकरे' के मत इस तथ्य के ज्वलंत प्रमाण हैं। कीट्स का कहना है कि उसकी कृतियाँ कभी-कभी उसे विस्मय-विमुग्ध का देती हैं और उसे ऐसा ज्ञात होने लगता है कि वे यथार्थ में स्वनिर्मित नहीं अपितु पर-निर्मित हैं। 'जार्ज इलियट' ने भी स्वीकारोक्ति के धरातल पर जी० डब्ल्यू० क्रॉस से कहा है, "उसकी रचनाओं में उसके व्यक्तित्व से भिन्न अन्य वस्तुओं का सहयोग भी रहता है। व्यक्तित्व ही वह माध्यम है जिसके द्वारा वह भिन्न वस्तु सक्रिय होती है।" थैकरे ने प्रकारान्तर से इसी तथ्य को स्वीकार किया है। उसका कहना है, "उनके द्वारा निर्मित पात्रों का अन्तर्परीक्षण उन्हें स्तंभित कर देता है। उन्हें ऐसा ज्ञात होने लगता है मानो कोई अदृश्य शक्ति उनकी लेखनी को सक्रिय बना रही है।" मनोविश्लेषकों ने इस अचेतन माध्यम का कला के स्तर पर पर्दाफाश किया है। 'ओसबॉर्न' भी प्रकारान्तर से यही मानते हैं, "सर्जन के क्षण घनीभूत प्रेरणा और उत्तेजना के सहगामी होते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि अनुभूति अचानक सचेतन मस्तिष्क पर छा जाती है और मानसिक प्रोत्तेजना भी तीव्र से तीव्रतर और तीव्रतम हो उठती है। इस स्थिति में विचार ज्यों-ज्यों मस्तिष्क के धरातल पर आते जाते हैं त्यों-त्यों उनमें सामान्य परिवर्तन भी घटित होता जाता है और सृजन के संपूर्ण प्रसार में वे किसी न किसी रूप में परिपक्व भी होते जाते हैं। इस धरातल पर उत्तेजना पूर्ववर्ती स्थिति से अशक्त होती है। ये सभी बातें आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा प्रतिपादित हैं। मनोविश्लेषणवाद में कला सृजन के सन्दर्भ में अर्द्धचेतन के धरातल से चेतन

मन के धरातल पर आने की बात का उल्लेख मिलता है। अभिव्यंजनावादी कलाकारों ने स्वयं प्रकाश्य अभिव्यंजना द्वारा इसी तथ्य को स्वीकार किया है। ऐसा देखा जाता है कि कलाकार के जीवन-स्पन्दन कभी यथार्थ रूप में अभिव्यक्त होते हैं तो कभी प्रच्छन्न रूप में। इन तथ्यों को दृष्टिपथ में रखते हुए 'ओस-बॉर्न' ने निम्नांकित निष्कर्ष प्रस्तुत किया है—

(१) सृजन मनोविज्ञान के विविध स्तर हैं।

(२) कुछ कलाकार अनुभूति के विषयगत स्वरूप पर बल देते हैं तो कुछ उसके विषयिगत स्वरूप पर।

(३) विषयिगत स्वरूपों को मान्यता देने के बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि कलाकार रसिक या सहृदय के मस्तिष्क में अपनी अनुभूतियों को उसी रूप में उत्पन्न करने में सफल है, जिस रूप में वह उन्हें अभिव्यक्त कर रहा है। उसका दृष्टिकोण रसिक के मानस में भाव-संवेगों को उद्बुद्ध करना और उन्हें उनके प्रति सचेतन बनाना है।

निष्कर्ष

अभिव्यक्ति कला-सृजन का प्रमुख उपस्कारक तत्व है। विगत पृष्ठों में इससे संबन्धित विविध मतों का उल्लेख किया गया है। मत-वैविध्य प्रकारान्तर से विषय के महत्व को ही प्रतिपादित करता है। सम्पूर्ण कला प्रमुख रूप से अनुभूति और अभिव्यक्ति की ऋणी है। अनुभूति उसकी आत्मा है और अभि-व्यक्ति उसका शरीर। कलात्मक अभिव्यक्ति इसी भावपक्ष को प्रभावोत्पादक एवं प्रभाव-सक्षम कलापक्ष में परिणत करने का प्रमुख साधन है। जिस प्रकार शरीर से आत्मा प्रतिच्छायित होती है, उसी प्रकार अभिव्यक्ति से कला के अन्त:स्पन्दनों का अभिज्ञान हो जाता है। कलात्मक अभिव्यक्ति विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति है। इसी विशेषता के कारण उसकी व्यंजना अद्भुत और चमत्कारपूर्ण होती है। इसे आत्माभिव्यक्ति से लेकर संवेगों की अभिव्यक्ति तक के सैद्धान्तिक विकास-क्रम में विश्लेषित और विवेचित किया गया है और अन्त-तोगत्वा भाव-संप्रेषण के धरातल पर मूल्यांकित करके अभिनव सन्देश का वाहक माना गया है। कला के सर्वांगीण विवेचन की दृष्टि से हमें अनुभूति के साथ ही अभिव्यक्ति की सूक्ष्मताओं को समझ लेना आवश्यक है। किसी भी एक पक्ष की अवहेलना करने से विवेचन त्रुटिपूर्ण और एकांगी हो जाता है।

षष्ठ तरंग

विषय-विन्यास (Form)

Form is "Character of an object, as experienced, or the structure into which the elements of the experience or a thing or things are organised." *Dictionary of World Literature.*

"I defined the artistic form of a work of art as artistically expressive organisation of its matter, or more accurately of the medium in which it has its being." *Arts & Arts of Criticism.*

"The term form derived from latin word 'forma' meaning an appearance refers primarily to anything that can be perceived by senses, and in the higher arts by one of two senses, that of hearing and of seeing. But besides this the term has a secondary and metaphorical meaning, it refers to any conception, the whole and parts of which appeal to the imagination, *i. e.*, the imagining powers of the mind-in a clearly articulated, distinctly outlined, or graphic way, so that one may liken the conception to a thing that senses can perceive."

शीर्ष पर प्रमुख लालित्यबोधीय विचारकों का उद्धरण प्रस्तुत किया गया है। हर विचारक ने इस प्रश्न पर अपना दृष्टि से विचार किया है। **इससे एक बात सरलता से स्पष्ट हो जाती है कि साहित्य के क्षेत्र में विषय-वस्तु और विषय-विन्यास का प्रश्न बहुत अधिक उलझनपूर्ण और विवाद-पूर्ण रहा है।** इससे सम्बन्धित दृष्टिकोण के मूल में हमें दो प्रकार की विचार-धारा दृष्टिगोचर होती है। पहली विचारधारा को प्रतिपादित करने वाले लोग इस बात को तरजीह देते हैं कि कला का प्रमुख उद्देश्य आन्तरिक क्रिया या स्थिति को चित्रित करना है और दूसरी विचारधारा को मानने वाले लोग

इस तथ्य को प्रतिपादित करते हैं कि इसका प्रमुख उद्देश्य बिंब-सृजन है। इन बिंबों का विन्यास स्पष्ट और सामंजस्यपूर्ण होता है, इसीलिए कलाकार इनके माध्यम से दृश्य के वैविध्य को सरलता और सफलतापूर्वक चित्रित करता है। **यथार्थ में संपूर्ण विवेचन दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है, (१) रूप या विन्यासवादी और (२ अन्तर्वस्तु या विषय-वस्तुवादी।** इन वर्गों के समर्थक अपने उत्साह में विचारातिरेक से ग्रसित हो गये हैं। इसके परिणाम-स्वरूप **तीसरी विचारधारा का आविर्भाव हुआ है जो मूलतः समन्वयवादी है।** इस वर्ग के लोगों ने विवेच्य को अतिरेक से मुक्त करके विषयवस्तु और विषय-विन्यास को एक दूसरे का पूरक माना है। इन तीनों प्रकार की विचार-धाराओं का महत्व है। विवेचन सौकर्य की दृष्टि से यह आवश्यक है कि इन्हें अलग-अलग विवेचित और विश्लेषित करके प्रस्तुत समस्या का समाधान ढूँढ़ा जाय।

विषय-विन्यास

शीर्ष पर प्रस्तुत उद्धरणों में कला के विषय-विन्यास की कुछ विशेषताओं का निर्देश किया गया है। उनको दृष्टिपथ में रखते हुए हम इस तथ्य को सरलता से प्रस्तुत कर सकते हैं कि **विषय-विन्यास कलात्मक उपादानों का अभिव्यंजनापूर्ण संगठन और कला को व्यंजित करने वाले माध्यम का सुनियोजित अभिव्यक्तीकरण है। यह अपनी विशिष्टता के कारण संसृति के अन्य अकलात्मक विन्यासों से भिन्न और उत्कृष्ट माना जाता है। यह कलाकार की अनुभूति के संप्रेषण का माध्यम और उसके तकनीकी कौशल को प्रदर्शित करने का प्रमुख साधन है।** इसमें सहृदय को आकर्षित करने और आनन्द प्रदान करने की अद्भुत क्षमता पाई जाती है। इसीलिए कला-कृति पर दृष्टिपात करते ही उसे माध्यम की पूर्णता, समस्याओं के समाधान के उपक्रम और कलात्मक मौलिकता का ज्ञान होने लगता है। यह ज्ञान प्रकारान्तर से कला में निहित अभिनव-विचार और इस विचार को रूपायित करने के तकनीकी पक्ष का द्योतक होता है। **तकनीकी ज्ञान आनन्दप्रद होता है।** इसी के माध्यम से व्यक्ति कला के अन्तस्थ स्वरूप और उसकी क्षण-क्षण नवीन व्यंजना के परिवेश से परिचित होता है। हर प्रकार की कला का शिल्प उसकी सृजनात्मक एकता तथा तकनीकी पूर्णता का प्रतीक माना जाता है। कला का क्षेत्र मूलतः कौशल का क्षेत्र माना गया है, यही कारण है कि इसकी आवश्यक विशेषताओं

से अलंकृत सृजक उत्कृष्ट कला का सृजन और भावक उसका उपयुक्त आस्वादन कर सकता है। कला का सौन्दर्य केवल विन्यास का सौन्दर्य ही नहीं अपितु उसकी आत्माभिव्यक्ति और संप्रेषण का माध्यम भी होता है। यह सदैव सौन्दर्यानुप्राणित सशक्त अभिव्यक्ति से अलंकृत पाया जाता है। तात्पर्य यह कि विन्यास में कलावादी और जीवनवादी दृष्टिकोणों का मणिकांचन योग होता है।

विन्यास की दृष्टि से कला के **संरचनात्मक उपकरणों का विशेष महत्व होता है**। सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने से यह भलीभाँति ज्ञात हो जाता है कि हर कलाकृति ऐसे कलात्मक अवयवों की संकुल संरचना (Complex organism) होती है जिसके अभिघटक आपस में संबद्ध होते हैं। इन अभिघटकों और उनके अन्तः-सम्बन्धों का अलालित्यबोधीय आधार भी होता है और ये इसी शब्दावली में अभिव्यक्त किये जा सकते हैं, फिर भी कला के रचनात्मक उपकरणों पर दृष्टि-पात करते समय हमारी दृष्टि कलात्मक होनी चाहिए। इसके अभाव में हम उसके सभी रहस्यों से नहीं परिचित हो सकते। **कलात्मक अभिघटकों के दो प्रमुख पार्श्व होते हैं, (१) कलात्मक विचार और (२) कलात्मक तत्व**। इनकी व्याख्या करते हुए 'थिओडोर मेयरग्रीन' ने लिखा है, [१] "कलात्मक विचार को हम सापेक्ष दृष्टि से आत्म-केन्द्रित और अंशतः विषम कलात्मक इकाई की संज्ञा दे सकते हैं। यह जब कलाकृति की संपूर्णता के कलात्मक संबंध के सन्दर्भ में विवेचित और विश्लेषित किया जाता है तो इसकी कलात्मक विशेषता और गुण मुखर होकर हमारे सामने प्रस्तुत हो जाते हैं। कला के तत्व, इससे भिन्न रूप में, ऐसी इकाई माने जा सकते हैं जिनमें न तो स्वतंत्र रूप से कलात्मक गुण पाये

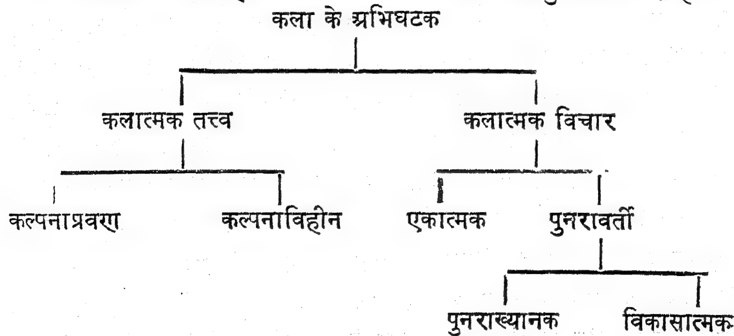
---

1. An artistic idea may be defined as a relatively self-contained, more or less complex artistic unit which, while standing in definite artistic relation to the work of art as a whole has artistic quality and an artistic individuality of its own. An artistic element, in contrast, may be defined as an artistic unit which, taken by itself, has no artistic quality or individuality of its own, is in no sense artistically self-contained, and derives its artistic significance, entirely from the artistic context in which it appears, but which none the less directly or indirectly makes a definite contribution to the work of which it is a part.

जाते हैं और न उनकी कोई निजी विशेषता होती है। कला की दृष्टि से यह आत्म-केन्द्रित भी नहीं होता। कला का अन्त:सम्बन्धाश्रित निश्चित सन्दर्भ होता है जो इसे स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में जीवन्त और सप्राण बनाता है। जब इस निश्चित सन्दर्भ में ये तत्व विवेचित किये जाते हैं तो इनकी उपयुक्तता और अर्थवत्ता स्वत: स्पष्ट हो जाती है।" इस उद्धरण के द्वारा लेखक ने कलात्मक विचार को स्पष्ट किया है, फिर भी इसका प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थ-सन्दर्भों में किया जाता है, अतएव यह बहुत स्पष्ट अर्थ का वाहक नहीं माना जा सकता है। यह मानसिक विचार, वैयक्तिक चेतना से संबन्धित विचार, प्रत्ययी माध्यम द्वारा अभिव्यक्त अथवा संप्रेषित विचार तथा प्लेटो की शब्दावली में प्रयुक्त 'आइडिया' में निहित विचार से सर्वथा भिन्न है। इसकी प्रमुख विशेषता है कि कलाकृति की ही तरह यह विचार भी इन्द्रिय और कल्पना के लिए मूर्त स्वरूप ग्रहण कर लेता है। इसे विधायक-कल्पना-संबलित कलात्मक पुनर्सृजन से सरलता से ग्रहण किया जा सकता है। कुछ ललित कलाओं में इस विचार को कथानक रूढ़ि (motif) की संज्ञा दी जाती है। आन्तरिक विषमता, सामंजस्य और संबंध की दृष्टि से कलात्मक विचारों में भिन्नता पाई जाती है। इन्हें दो प्रकार का माना गया है, (१) एकात्मक (unitary) और पुनरावर्ती (repetitive)। एकात्मक कलात्मक विचार ऐन्द्रिय-संघटना में निहित रहता है, पर पुनरावर्ती कलात्मक विचार की स्थिति दो या दो से अधिक ऐन्द्रिय ढाँचों में पाई जाती है। पुनरावर्ती विचार भी दो तरह का होता है (१) पुनराख्यान मूलक (Reiterative) और (२) विकास मूलक (Developmental)। अगर संबद्ध ऐन्द्रिय ढाँचा बिना किसी परिवर्तन के दुहराया जाता है तो इसे पुनराख्यानक कलात्मक विचार माना जाता है, अगर इसकी पुनरावृत्ति में इच्छित परिवर्तन निहित रहता है, जो कलात्मक विचार के स्वरूप को अधिक स्पष्ट और विकासपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त करता है, तो इसे विकासात्मक कलात्मक विचार कहा जाता है।

ऊपर के विवेचन को हम निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा प्रस्तुत कर सकते हैं—

कला के अभिघटक



साहित्य में इन कलात्मक विचारों के प्रभूत उदाहरण ढूँढ़े जा सकते हैं। एकात्मक कलात्मक विचार का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण साहित्यिक-बिंब है।

कला के तत्व भी दो प्रकार के होते हैं, (१) कल्पनाप्रवण (ideational element) (२) कल्पनाविहीन (non-ideational element)। कल्पना-प्रवण तत्त्व कलात्मक तत्व का प्रमुख अंग होता है और कल्पनाविहीन तत्व विचार का सहयोगी और प्रमुख उपस्कारक।

वैज्ञानिक, इतिहासकार, दार्शनिक और सामान्य व्यक्ति भाषा का प्रयोग अपनी-अपनी दृष्टि से करते हैं। कुछ लोग इसे केवल तथ्य का वाहक बनाते हैं और कुछ अन्य लोग कल्पनाश्रित तथ्य का। यह बात विशेष रूप से ध्यातव्य है कि केवल तथ्यात्मक मान्यता, वह चाहे अधिक से अधिक स्पष्ट, पूर्ण, बौद्धिक और विश्वासमय क्यों न हो, साहित्य नहीं हो सकती। साहित्य की प्रमुख विशेषता यह है कि जो भी विषय जिस भी शैली में विवेचित किया जाय, वह ऐसा हो कि उससे हमारा चिन्तन तीव्र हो और हमारी भाव-प्रेरक (emotive) और भावनात्मक (conative) प्रतिक्रिया उद्‌बुद्ध।

विषय विन्यास के सन्दर्भ में ही **लालित्यबोधीय उपादान** का उल्लेख भी महत्वपूर्ण है। विचारकों ने इसे तीन स्तरों में विभाजित करके विश्लेषित किया है। इन स्तरों को अधोलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

(१) लालित्यबोधीय सतही पहलू (aesthetic surface)
(२) वस्तु-विन्यास (form)।
(३) विन्यास द्वारा अभिव्यंजित विषय-वस्तु (Content)।

इस विवेचन के क्रम में दो वर्ग के विचारकों का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। एक तो वे जो इन स्तरों को सर्वथा स्वतंत्र मानते हैं और दूसरे वे जो इन्हें परतंत्र और परस्पर सम्बद्ध मानते हैं। कुछ ऐसे विचारक भी सामने आते हैं जो लालित्यबोधीय स्तर (aesthetic surface) की बात पर ही विशेष ज़ोर देते हैं। इन विचारकों में 'प्रॉल' विशेष महत्वपूर्ण माने जा सकते हैं। इन्होंने लालित्यबोधीय धरातल को माध्यम की आसन्न ऐन्द्रिय विशेषता (Immediate sensuous properties of medium) की संज्ञा दी है। उनके अनुसार विन्यास में ये ऐन्द्रिय विशेषतायें, पहले से ही पाई जाती हैं, अतएव वह प्रमुख रूप से इन्हीं का आश्रित होता है। कलाकार अपनी क्षमता से जब इन्हें सुनियोजित और नियंत्रित करता है तो विन्यास का उद्‌भव होता है। 'प्रॉल' महोदय ने उस नियंत्रण की प्रकृति पर भी विचार किया है जो ऐन्द्रिय विशेषताओं को विन्यास

में परिणित कर सकती है। उन्होंने विभिन्न इन्द्रियों पर विचार करके इनके उच्च और निम्न स्वरूप का निरूपण किया है। उनके अनुसार इन्द्रियों के उच्च स्वरूप में ऐसी विभेदक और स्पष्ट रूप से विवेकपूर्ण शृंखला पाई जाती है जो निश्चित लालित्यबोधीय विन्यास ग्रहण करने में समर्थ है। इस उच्च स्वरूप को उन्होंने पुनः वर्गीकृत किया है। उनका कहना है[1] 'जो कुछ भी प्रकृति में घटित होता है, उसे कला की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसका प्रमुख कारण यह है कि कलाकार को ऐसे कलात्मक उपकरणों का उपयोग करना पड़ता है जो आपस में सम्बद्ध, गुणात्मक-विभेद-सक्षम, विभेद के पूर्व निश्चित नियमों पर आश्रित और संघटना के नियमों के प्रतिपादक होते हैं। हमें सौन्दर्य के संघटक स्वरूपों से हर प्रकार के ऐन्द्रिय तत्त्वों को ग्रहण करने के लिए तत्पर रहना चाहिए, क्योंकि इनमें ऐसी विशेषतायें विद्यमान रहती हैं जिन्हें लालित्यबोधीय आनन्द का जनक माना जा सकता है। इस ग्राहकता के बावजूद हमें इन तत्त्वों के स्वरूप के विषय में विशेष सतर्क होना आवश्यक हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि स्वाद और घ्राण से सम्बन्धित कुछ ऐसे ऐन्द्रिय स्वरूप भी होते हैं जो जब तक प्रकृति की घटनाओं से सम्बद्ध नहीं हो जाते जो कला कि दृष्टि से उनका परिष्कार कर सकें और उन्हें निश्चित रूप में मूर्तिमान कर सकें तब तक वे उपयुक नहीं सिद्ध होते।" इस उद्धरण से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि प्राँल महोदय **कला को सङ्घटना पूर्ण-नियम सम्पन्न किया मानते हैं और ऐसे ऐन्द्रिय स्वरूपों को इस दृष्टि से महत्त्व प्रदान करते हैं जो परिष्कृत** रूप में उसके उपयुक्त सिद्ध हों।

---

1. What happens in nature is not of course art, and an artist must work with materials that have relations, degrees of qualitative difference, established orders of variations and structural principles of combinations, while we must be careful to include in the materials of beauty sense elements of all sorts, since all senses by virtue of being senses, may take such pleasures in their specific objects as in all rigor to be called aesthetic pleasure, we must admit that these elements of smell and taste remain mere elements, except where natural occurrances happen to combine them, and through familiarity sometimes to sanctify the combinations to men and to art, on no principles intelligible or available to human being, but some of the richest of natural or of representative beauties.

इस सन्दर्भ में विशुद्ध अथवा परिष्कृत ऐन्द्रिय तत्त्वों की अभिव्यंजना की समस्या भी सामने आती है। यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि ये तत्व स्वयं अभिव्यंजक होते हैं या नहीं। इसका उत्तर अन्य दो लालित्यबोधीय स्तरों के सन्दर्भ में सरलता से मिल जायगा।[1]

आधुनिक लालित्यबोधीय चिन्तन का इतिहास विन्यास के कई स्वरूपों को प्रस्तुत करता है। 'गॉटशॉक' (Gotshalk) और 'बेल' की दृष्टि में **विन्यास वह रचना की विधि है जिसके द्वारा माध्यम के भौतिक गुणों को सुनियोजित किया जाता है।** ये विचारक उपादान के गुणों को भी कौशल की आवश्यक शर्त के रूप में विवेचित करते हैं। अतएव उनकी दृष्टि में विन्यास का प्रमुख महत्व होना आवश्यक है। ये विचारक अन्तर्वस्तु को विन्यास पर लदी वस्तु मानते हैं। इस सिद्धान्त का विरोध भी हुआ है। **'ब्रैडले' और 'इज़नबर्ग' ने विषयवस्तु को महत्व दिया है** और **विन्यास को उपादान में निहित विशेषताओं को संग्रथित करने का कौशल कहा है।** इन लेखकों ने प्रकारान्तर से विषय-वस्तु और विषय-विन्यास की अभिन्नता पर बल दिया है।

विन्यास के सन्दर्भ में **लालित्यबोधीय उपादान की विन्यास सम्बन्धी सङ्घटना** भी महत्त्वपूर्ण है। इस पर 'बेन बो रिची' ने गंभीरतापूर्वक विचार किया है। उन्होंने सर्वप्रथम उपादान के विन्यास सम्बन्धी (formal) और विन्यासातिरिक्त (Extra formal) मूल्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है और इनके विभेद को स्पष्टतापूर्वक निरूपित करने की कोशिश की है। उनका कहना है कि **विन्यास सम्बन्धी मूल्य ऐसी अभिरुचि को सन्तुष्ट करता है जो लालित्य-बोधीय उपादान के किसी पक्ष से प्ररोचित और उद्बोधित होती है और विन्यासातिरिक्त मूल्य ऐसी अभिरुचि को शान्त करता है जो पूर्ण निर्मित** (Ready made) **रूप में उपादान से सम्बद्ध होती है।** विन्यास सम्बन्धी मूल्य लालित्यबोधीय प्रतिक्रिया के लिए सीमा-निर्धारण का कार्य संपादित करता है। इस सीमा या ढाँचे (Framework) के निर्माण की निश्चित क्रिया होती है। लालित्यबोधीय क्रिया मूल्य निर्माण की क्रिया होती है। इस मूल्य निर्माण की क्रिया और ढाँचे के निर्माण की क्रिया का सम्बन्ध होता है। 'रिची' महोदय ने इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है "मानव के शरीर की संघटना सशक्त और

---

१. इसी अध्याय में इस पर आगे विचार किया गया है।

यथार्थ क्रियाओं की पद्धति पर आधारित होती है। इन क्रियाओं की यह विशेषता होती है कि ये सम्पूर्ण वातावरण के महत्त्वपूर्ण परिवेश में अपनी विशिष्टता का अनुगमन करती हैं। जब वातावरण परिवर्तित होता है तो उसी के अनुसार ये क्रियायें भी परिवर्तित होती जाती हैं। वातावरण का परिवर्तन नवीन वातावरण का जनक बनता है। इस नवीन वातावरण के उपस्थित होते ही मानव की क्रियायें अपने को इस परिवर्तन के अनुसार बदल कर पुनः वातावरण और क्रिया में सामंजस्य स्थापित कर लेती हैं। जिस प्रकार क्रिया और वातावरण परस्पर समायोजित होते हैं, उसी प्रकार क्रियायें भी परस्पर समायोजित होती हैं। इस समायोजन के कारण ही क्रियायें वातावरण में निश्चित स्वरूप का अनुगमन कर पाती हैं। **इस दुहरे समायोजन को सन्तुलन की संज्ञा दी जाती है।** इस सन्तुलन की स्थिति में ही मानव क्रियायें उपयुक्त स्वरूप में क्रियाशील होती हैं।"[1] **यही सामंजस्य की प्रवृत्ति मूल्य का निर्माण करती है। यह** सामंजस्य दो कारणों से विघटित हो जाता है, (१) वातावरण में निहित शर्तें जब इसे स्पष्ट होने के लिए बाध्य करें। (२) जब वातावरण इस क्रिया के प्रतिकूल हो। किसी कारण जब सामंजस्य समाप्त हो जाता है, तो इसके प्रतिक्रिया स्वरूप नयी क्रिया आरम्भ हो जाती है। इस क्रिया को संवेगात्मक और इससे घटित कार्य को संवेग माना जाता है। यह क्रिया उस समय अर्थवती या सोद्देश्य बन जाती है जब वातावरण जनित परिस्थितियों को यह भविष्य की

---

1. A human organism is a system of potential and actual activities, each of which under specifiable circumstances tends to pursue its own career within the total environment. As changes take place within this environment, the activities tend to change also. Thus an activity is said to adjust itself to a change in the environment, if it selects an appropriate way of pursuing its career within the new environmental situation. In the similar manner activities tend to adjust themselves to each other, so that each activity can follow its own career within the total environment. When all the activities of the organism are adjusted both to each other and to environment, then we shall say that they are in equilibrium, a condition in which each activity finds a state of affairs, within the total environment, suitable to its career.

परिस्थितियों में बदल देती है, और (यह) भविष्य-प्रक्रिया की परिचायक बन जाती है। "जब मानवीय संघटना इस क्रिया को इस रूप मेंग्र हण करके इसके प्रतीक कार्य की योजना तैयार करने लगती है तो यह (क्रिया) महत्वपूर्ण सिद्ध होने लगती है।"[1] यह क्रिया तब तक चलती रहती है जब तक वातावरण की प्रतिकूलता के साथ ही वह परिस्थिति भी बनी रहती है जिसे इस प्रकार की क्रिया की अपेक्षा है। ज्यों ही इनमें से किसी का लोप होता है, तो संवेग पूर्ण हो जाता है और सामंजस्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस सन्दर्भ में इस बात को स्पष्टता से निरूपित किया जा सकता है कि मूल्य ही संवेग को पूर्णता प्रदान करता है और ऐसी घटनायें विशेष महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती है जो सामंजस्य उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध होती हैं। 'रिची महोदय' इस तथ्य की 'शेरलॉक होम्स' के उद्धरण द्वारा स्पष्ट करते हैं। उनका कहना है कि जब 'वाटसन' महोदय उनसे किसी अपराध का उल्लेख करते थे तो वे अपने स्थान पर उछल पड़ते थे और उद्वेगपूर्ण स्थिति में कमरे में घूमने लगते थे। कुछ क्षण की चिन्तनपूर्ण जिज्ञासा के पश्चात् वे संकलित तथ्यों के द्वारा उसे सुलझाने की कोशिश करने लगते थे और पुनः प्रयोगात्मक योजनायें बनाते थे। बाद में वे किसी भी योजना में रुचि और क्रियाशीलता प्रदर्शित करने लगते थे इस योजना को कार्यान्वित करके वे अन्य संकेत भी प्राप्त कर लेते थे और अन्ततोगत्वा इन संकेतों के माध्यम से वे अपराधों का पता लगा लेते थे। यही उनका सामंजस्य है। लालित्यबोधीय उपादान का निर्धारण कई दृष्टियों से इस क्रिया से मिलता-जुलता है। इस स्थिति में प्रेरणा का मूल स्रोत वातावरण जनित असामंजस्य में निहित रहता है और इसी असामंजस्य को सामंजस्य में बदलना आवश्यक होता है। सामंजस्य अनुभूति में ही उत्पन्न और उसी के विकास के साथ विकसित होता है। विशिष्ट लालित्य-बोधीय अनुभूति की दशा में यह सामंजस्य माध्यम के उपकरणों के विकास के साथ विकसित होकर कला-कृति का दिशा-निर्देशक तत्त्व बन जाता है। इस प्रकार के लालित्य-बोधीय उपादान के सृजन के लिये कलाकार को संघटना की विशेषताओं से पूर्ण अवगत होना आवश्यक है। सत्य यह है कि कलाकार और उसके माध्यम की क्रिया प्रति-क्रिया को हम केवल मनोवैज्ञानिक आधार पर स्पष्ट कर सकते हैं।

---

1. When human organism, has begun to take account of this activity in this manner, and to symbolise to himself the plans of action, then the activity has become an interested activity.

अनुभूति भी उपादान के निर्धारण में विशेष सहायक होती है। आरम्भ में इसका संबंध मूल्य की निरुद्देश्य गवेषणा से होता है। इस स्तर पर इसकी क्रिया द्विविध होती है। एक ओर यह माध्यम में प्रयुक्त होने वाली सामग्री की गवेषणा करती है। इस गवेषणा में संवेग के कुछ सहायक तत्त्वों का निर्माण होता है। यह प्रकारान्तर से माध्यम के तत्वों का निर्माण होने के कारण मूल्य निर्माण की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। इसका दूसरा पक्ष वहाँ आरम्भ होता है जहाँ उपर्युक्त विवेकपूर्ण आलोड़न से ऐसे चिन्तन का श्रीगणेश होता है जिसके सन्दर्भ में मूल्य की परीक्षा की जाती है। यह निरीक्षण विशेष महत्वपूर्ण होता है। "इस परीक्षण में हम अनुभूति को सर्वप्रथम संवेग और विरूपण अथवा विकृति के संबंध के सन्दर्भ में मूल्यांकित करते हैं। इस क्रिया के द्वारा नवीन सन्दर्भ से प्राप्त मूल्य के परिवेश में विश्लेषित होने से आरम्भिक संवेग विशिष्ट स्वरूप ग्रहण कर लेता है। इस विशिष्टीकरण से मूल्य का वह अनगढ़ स्वरूप प्रतिभासित होने लगता है जिसकी हमें अपेक्षा है। इस क्रिया के पश्चात् शेष गुप्त और अनन्वेषित सामग्री से भी मूल्य-निर्माण की आशा बलवती हो जाती है[1]।" हमें प्रतीक रूप में मूल्य के स्वरूप का ज्ञान भी होने लगता है।

इस नव-निर्मित प्रतीक को हम चिह्न मान सकते हैं। माध्यम के तत्त्वों की परवर्ती गवेषणा इस चिह्न की आश्रित होती है। चिह्नों के उद्भव के कारण इस स्तर पर मूल्य की गवेषणा सुनिश्चित स्वरूप ग्रहण करती है। इस प्रकार पुनः नये मूल्यों की अवतारणा होती है और इसके परिणाम-स्वरूप नये चिन्तन और आनन्द का उद्भव होता है। इस स्तर पर प्राप्त मूल्य पहले की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होता है। इसे पुनः चिह्नों में परिणित करके हम अवशिष्ट तत्वों की गवेषणा करते हैं। इन दोनों स्तरों की अनुभूति में पुनः घात-प्रतिघात चलता है, **अन्ततोगत्वा ऐसे पूर्ण मूल्य का अवतरण होता है जो संवेग को संतुष्ट करता है। वस्तुतः मूल्य-निर्माण की यह क्रिया द्वन्द्वात्मक होती है।**

---

1. First it is studied in relation to impulse or distortion. In this manner the direction of the original impulse is made more specific by viewing it in relation to the value which has just been created. Second as a result of this specification of direction of original impulse, we get a rough indication of the general kind of value for which we are searching. That is, expectations are aroused of further similar values latent within the unexplored and unformed stuff remaining.

ऊपर लालित्यबोधीय उपादान की क्रिया पर विचार किया गया है। अब इस स्थल पर **विन्यास** की चर्चा कर लेना उपयुक्त है। डी० डब्ल्यू० गॉटशॉक (D. W. Gotshalk) ने इस पर विचार करते हुए लिखा है, "प्रकृति के भौतिक, दृश्य और अंतस्थ अवधान तथा सामाजिक परिवेश के लिए ललित कला, संवरण, परिष्करण और अनुप्राणन का प्रमुख साधन सिद्ध होती है। यह भौतिक स्वरूपों को परिष्कृत और संवरणशील रूप में प्रस्तुत करती है। इसी कारण हम प्रातिबोधिक गुणों, संभावनाओं और मूल्यों के शुद्ध स्वरूप को लालित्यबोधीय धरातल पर ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार हम इस तथ्य को प्रतिपादित कर सकते हैं कि यह (ललित-कला) अपने उत्कृष्ट स्वरूप में विन्यास की अन्विति के प्रातिबोधिक अन्तस्थ अवधान के लिये चुनाव, शुद्धीकरण और उद्बोधन का कार्य संपादित करती है।"[1] यह प्रश्न पूछा जा सकता है, ऐसा क्यों होता है? इसके उत्तर स्वरूप यही कहा जा सकता है कि दैनिक-जीवन का सामान्य अनुभव विशिष्ट प्रकार के कलात्मक सामंजस्य से रिक्त होता है, पर कलाकृति में यह बात नहीं पाई जाती। सामान्य अनुभव की तुलना में कलाकृति की यह विशिष्टता विन्यासाश्रित होती है। इसीलिए विन्यास को विशेष महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। सत्य भी है कि कलाकृति हमारे अनुभूति से सम्बद्ध विशृंखलित और असामंजस्यपूर्ण तत्वों को अभिनव समन्वित कलात्मक परिवेश प्रदान करने का प्रमुख साधन है। यह देशकाल के पटल पर सामंजस्य का अद्भुत अग्रदूत (मानी जा सकती) है। यह स्थान के परिवेश में सहभाव (togetherness) और काल के परिवेश में क्रमबद्धता (Successiveness) से अलंकृत रहती है। वास्तुकला, स्थापत्यकला और चित्रकला में स्थान का उत्कृष्ट नियोजन दीख पड़ता है और संगीत नृत्य और साहित्य में काल का। देश और काल इसके स्थायी और शाश्वत तत्व हैं। **कलाकृति अपनी अवबोधजनित अनुभूतियों**

---

1. Fine art at its best, we might say, is selection, refinement, and vivification for intrinsic attention of perceptible material aspect of nature and social world. It selects and refines these material aspects, so that we are given purified revelations of these perceptual properties, possibilities and values on the aesthetic level. But we might equally say that fine art at its best is selction, refinement and vivification for intrinsic attention of perceptible unities of forms."

के परिवेश में देश-काल के परिष्कार और वैविध्यनिरूपण द्वारा अपने सबल पक्ष का निर्माण करती है।

कलात्मक-विन्यास के कुछ मान्य सिद्धान्त और विशेषतायें हैं, जिन पर अधिकांश लालित्यबोधीय लेखकों ने विचार किया है। 'गॉटशॉक' ने **समन्वय** (Harmony), **सामंजस्य** (balance), **केन्द्रीयता** (centrality) **और विकास को विशेष महत्वपूर्ण माना है तो 'डी० विट् पार्कर' ने सावयव एकता** (organic unity), **विषय के सिद्धान्त** (principles of theme), **विषय के परिवर्तन** (Thematic variation) **सामंजस्य** (balance) **'धर्मसत्ता के सिद्धान्त** (principle of Hierarchy) **और विकास** (Evolution) **को।** 'सान्तायन ने भी इन्हीं विशेषताओं को उल्लेख्य माना है। वस्तुतः इनका कला-सृजन में विशेष स्थान है। 'गॉटशॉक' का कहना है[1] कि, 'समन्वय, सामंजस्य, केन्द्रीयता और विकास विषय-विन्यास के प्रमुख उपस्कारक हैं। प्रतिवर्तन, सादृश्य, वर्गीकरण, विभेदीकरण, आरोह, अवरोह, सन्तुलन, विरोध, वैपरीत्य, सामंजस्य, तालानुगति, मान, आधिपत्य, उत्कर्ष, धर्म-सत्ता, विकास आदि उपर्युक्त चार विशेषताओं के सहयोगी और धातुज रूप माने गये हैं। ये कला विन्यास के प्रमुख अभिवटक हैं। **कलाकार की विधायक कल्पना कलाकृति की प्रस्तुत संघटना के शुद्धीकरण और संवर्द्धन तथा परिवर्द्धन के लिए इनका उपयोग करती है।** इनके प्रयोग के द्वारा कलाकार कलाकृति के सूक्ष्म विवरण और सर्वाच्छादक स्वरूप में देशकाल और नियमपूर्ण तथा नियम-हीन अन्वितियों की योजना करता है।' 'गॉट-शॉक' द्वारा निरूपित इन तत्वों के अतिरिक्त, सृजन की दृष्टि से, **सावयव एकता के सिद्धान्त का भी महत्व है। इसका तात्पर्य यह है कि कला के सभी तत्व उसकी अर्थवत्ता की दृष्टि से महत्वपूर्ण**

1. The four principles of harmony, balance, centrality and development with their associates and derivatives, recurrence, similarity, gradation, variation, modulation, symmetry, contrast, opposition, equilibrium, rhythm, measure, dominance, climax, hierarchy, and progression—are the chief formal principles used by the imagination of the artist for the purification and enhancement, of existential structure in works of art. Employing these principles, artists build up perceptually vivid spatial, temporal, casual and telic unities in the details and over all designs of their work.

है । कला मूलतः संश्लेषरण और नियोजन की क्रिया है । इसके निर्मारण में प्रयुक्त सभी तत्व उसकी स्थिति की आवश्यक शर्तें हैं । इन तत्वों में कई दृष्टियों से अन्योन्याश्रय संबंध भी पाया जाता है । यह सम्बन्ध वाह्य तत्वों के साथ ही कलाकार और दर्शक की आन्तरिक अनुभूति से भी होता है । इसीलिए कलाकृति कलाकार की अनुभूति की एकता और दर्शक की भावना तथा अनुभूति की एकता का केन्द्र-बिन्दु मानी गई है । दर्शक दत्तचित्त होकर कला का आस्वादन करता है । कलाकृति की सावयव एकता उसके आस्वादन की सहायक सिद्ध होती है । इस तरह कलाकार के सृजन के समय की पूर्णता सामाजिक के आस्वादन के समय की पूर्णता में परिरगत हो जाती है । हर प्रकार की कलाकृति में आकार, रंग, रेखा, स्वर संघटन और अर्थ आदि तत्वों की प्रधानता होती है । ये तत्व उसके चिन्तन और विषय-विन्यास के निर्मारण के प्रमुख आधार माने जाते हैं । यह विशेषता विषय-वस्तु के सिद्धान्त की संज्ञा से अभिहित की जाती है । तृतीय विशेषता का संबंध विषय-वस्तु के परिवर्तन से होता है । परिवर्तन का मतलब यह है कि विषय-वस्तु के किसी स्वरूप को चित्रित करने के पश्चात् कलात्मक दृष्टि से उसमें कुछ जोड़-तोड़ या परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है । यह इसलिये किया जाता है कि इस स्तर पर भी कला को परिष्कार की अपेक्षा होती है । **सामंजस्य को विरोधी और असदृश तत्वों की समता माना जा सकता है** । विरोधी और असदृश तत्त्वों की अपनी विशेषता होती है । ये दृश्य रूप में परस्पर भिन्न ज्ञात होते हैं, सृजन के क्षेत्र में इन्हें एक दूसरे की अपेक्षा होती है । इसीलिए सामंजस्य संभव होता है । सामंजस्य वस्तु की पूर्णता का परिचायक होता है । इसमें भी विरोध की स्थिति बनी रहती है, यह सदैव प्रच्छन्न होता है । **इसमें व्यापकता पाई जाती है, विश्वजनीनता नहीं** । कुछ कलाओं में सामंजस्य के स्थान पर गति और तालबद्धता पाई जाती है । तालबद्धता (Rhythm), देश-काल की सीमा में, लहरों की गति का समुच्चय मानी जाती है । ये लहरें समान और असमान किसी भी प्रकार की हो सकती है । कुछ लोगों के अनुसार तालानुगति सामंजस्य की विरोधी घोषित की गई है । यथार्थ में यह मान्यता सत्य से दूर है । इस स्थिति (तालानुगति की स्थिति) में सामंजस्य अवश्य प्रस्तुत रहता है, पर इसे सरलता से पहचाना नहीं जा सकता । इसका प्रमुख कारण यह है कि यह उस संकुल संघटना का एक तत्त्व बन जाता है जिसे तालानुगति की संज्ञा दी गई है । अन्तिम तत्त्व **विकास** (Evolution) है । **यह मूलतः क्रिया की ऐसी एकता को ध्वनित करता है जिसमें पूर्व का अंश पर के**

अंश का निर्णायक या दिशा-निर्देशक होता है। उदाहरण के लिए हम सुनियोजित कहानी और नाटक को लेकर इस बात को स्पष्ट कर सकते हैं। सूक्ष्मता पूर्वक विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि, इन साहित्य रूपों में पूर्ववर्ती घटना परवर्ती घटना को निश्चित मोड़ प्रदान करती है और हर स्थिति में माध्यम और परिणाम में आवश्यक सम्बन्ध बना रहता है। यही कार्य-कारण संबंध ध्वन्यार्थ के रूप में अभिव्यंजित होता है। ताल-बद्धता या तालानुगति कुछ अर्थों में विकास से भिन्न है, फिर भी इनमें परस्परानुमोदन की स्थिति पाई जाती है। इसी भिन्नता एवं अन्योन्याश्रयिता पर प्रकाश डालते हुए 'पार्कर' साहब ने लिखा है, "**तालानुगति अगर विकास से सम्बद्ध न हो तो इसमें स्पष्ट क्रमिक उन्नति और उद्देश्य की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति का अभाव पाया जाता है। तालानुगति हृत्संकोच और हृत्स्फुरण का पुनरावर्तन और सामंजस्य है।**[1] इसमें एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप तक का विकास नहीं होता। कहीं-कहीं 'रिद्म' को विकास के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है, पर यहाँ उसकी स्थिति संगठन में पाई जाती है। उदाहरण के लिए 'रिद्म ऑव लाइफ' को लिया जा सकता है।

ऊपर विन्यास की चार विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। कुछ लोगों के अनुसार कलाकार **इन विशेषताओं का सृजन के दो स्तरों पर प्रयोग करता है (१) साक्षात्कार के स्तर पर** (presentational) **और (२) पुनर्साक्षात्कार के स्तर पर** (Representatiaoal level)। इन्हें चित्रकला के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। सर्वप्रथम हम देखते हैं कि कलाकार ने चित्र के रंग, रूप, और रेखाओं में सामंजस्य प्रस्तुत किया है। यह स्तर साक्षात्कार का स्तर माना जाता है। यहाँ हम पुनः देखते हैं कि इस चित्र द्वारा सूचित कार्य और मनोवृत्ति में एकता होती है। यह उसका पुनर्साक्षात्कार का स्तर है। कुछ लेखकों ने इस बात को प्रतिपादित किया है कि द्वितीय स्तर का कला की दृष्टि से विशेष उपयोग नहीं, पर इसे सर्वथा उपयुक्त नहीं माना जा सकता है। सत्य यह है कि यही विन्यास के सिद्धान्त को सक्रिय होने का प्रमुख क्षेत्र है।

---

1. For in rhythm, unless combined with evolution, there is no obvious development, no tendency toward a goal. Rhythm is rccurrence and balance, of systol and diastol, with no growth from one phase to another.

उपर्युक्त विशेषताओं को दृष्टिपथ में रखते हुए कलात्मक-विन्यास की निम्नांकित परिभाषा की गई है 'कलात्मक-विन्यास ऐसे सम्बन्धों का स्वरूप है जो सामान्य उपादान के तत्वों और सामग्रियों को प्रातिबोधिक पूर्णता से सम्बद्ध करता है या ऐसी संघटना प्रस्तुत करता है जो साक्षात्कार और पुनर्साक्षाकार के स्तर के कला के तथ्यों को पुनर्गठित करती है। कला की सामग्री के विविध स्तर होते हैं।... इसे सर्वद्धित अस्तित्वमय आकार की संज्ञा दी जा सकती हे। यह वस्तुतः सम्पूर्ण भौतिक अस्तित्व के स्वरूप का परिचायक है। यहाँ कलाकार निश्चित क्षेत्र में सङ्गति सामंजस्य, केन्द्रीयता, विकास और इनके सहगामी अन्य सिद्धान्तों के माध्यम से देशकाल के नियमपूर्ण तथा नियम-विहीन तथ्यों को मूर्तिमान स्वरूप प्रदान करता है। अधिक स्पष्टता और सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने पर कहा जा सकता है कि विषय-विन्यास कला की सामग्री को इस प्रकार अन्वित करता है कि सभी प्रकार के श्रेणी विभाजन, वर्गीकरण और अस्पष्ट सङ्घटनायें तिरोहित हो जाती हैं और इनके स्थान पर व्यवस्थित स्वतः पूर्ण और स्पष्ट संघटना का आविर्भाव होता है। इस कलात्मक संघटना में हर प्रकार की कला की सामग्री भौतिक माध्यम के साथ इस प्रकार सूक्ष्मता और पूर्णता के साथ सम्बद्ध हो जाती है कि कलाकृति अवबोध की दृष्टि से छोटे से पृथक अस्तित्वमय जगत सी ज्ञात होने लगती है।"[1]

1. Artistic form in this sense might be described as the system of relations uniting the materials of public object into perceptual whole, or the system of pattern pervading and organising the presentational and representational levels of materials of work of art.........We have also described it as enhanced existential form. It is the form of all material existence—space, time, casuality, teleology, one or all—transformed in a certain area by application of such principles as harmony, balance, centrality, development and their association and derivatives. More precisely artistic form at its best is such unification of materials that all the conflicting ramification and lose ends of ordinary existential pattern are eliminated and a certain systematic self-completeness is installed in the work of art. Every material item is connected so subtly and amply with the material items that the work of art becomes for perception a tiny isolated universe.

कलात्मक-विन्यास कलाकृति के उपकरणों के सहसंबंध का परिणाम होता है। यह सहसंबंध 'पैटर्न' के निहितार्थ से भिन्न दिशा का द्योतक है। 'पैटर्न' का प्रयोग विविध सन्दर्भों में किया जाता है। इसमें शक नहीं कि इसमें विन्यास की कुछ विशेषतायें विद्यमान रहती हैं। इस दृष्टि से **कला-विन्यास किसी भी सृजन में पाये जाने वाले इस प्रकार के 'पैटर्न' का समुच्चय है।** एक दूसरा पक्ष भी है जो विवेचन की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जा सकता है। विन्यास के सन्दर्भ में हम संपूर्ण कलाकृति के उपकरणों के संघटन को विशेष उल्लेखनीय मानते हैं। पर इतना ही सब कुछ नहीं है। **विन्यास की पूर्णता की दृष्टि से इन उपकरणों के संघटन और अभिव्यक्ति के सम्बन्ध के साथ ही उनके आयामों के आपसी सम्बन्ध का भी अपना निजी स्थान होता है।** इसीलिए कलात्मक-विन्यास की दृष्टि से आयाम की आन्तरिक व्यवस्था के साथ ही उपादान के स्वरूप के अभिव्यंजक पक्ष पर ध्यान देना विशेष समीचीन है।

वस्तुतः कला कृति का **सुनिश्चित आयाम होता है,** और इसमें उपकरणों के अन्यान्य आयामों का समावेश भी होता है। कलात्मक उपकरण की निजी विशेषतायें हैं। **ये वस्तुतः ऐन्द्रिय, सहज ज्ञान प्रधान और बौद्धिक पक्षों से सम्बलित होते हैं।** इसी विशेषता के कारण इनमें अद्भुत प्रभावोत्पादक क्षमता पाई जाती है। **जब कलात्मक उपकरण सृजनोन्मुख होते हैं और इनका ऐन्द्रिय-सहज ज्ञान प्रधान-प्रभावोत्पादक पक्ष तालानुगति, समन्वय और विकास द्वारा मूर्त हो उठता है तो कला-कृति कतिपय सम्बन्धों की द्योतक बन जाती है और इसे साक्षात्कार के स्तर पर कलात्मक-विन्यास की संज्ञा दी जाती है।** वस्तुतः **यह ऐन्द्रिय-सहजज्ञान प्रधान-प्रभावोत्पादक पक्ष असंघटनात्मक प्रतिक्रिया** (non-associational reaction) **का परिचायक है, पर कल्पना प्रधान-बौद्धिक-प्रभावोत्पादक पक्ष संघटनात्मक प्रतिक्रिया का द्योतक माना जाता है।** इसीलिए जब **यह पक्ष सृजन का विषय बनता है और इसके उपकरण समन्वित और अर्थपूर्ण व्यवस्था में ढलते हैं तो इसमें साक्षात्कार और पुनर्साक्षात्कार, दोनों की विशेषतायें विद्यमान रहती हैं और विषय की सम्बन्धजनित संघटना** (relational pattern) **भी पाई जाती है। इसे पुनर्साक्षात्कार के स्तर पर गृहीत विन्यास** (artistic form on representational level) **की संज्ञा दी जाती है।** इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विन्यास का साक्षात्कार और पुनर्साक्षात्कार के स्तर पर विविध कलात्मक उपादानों से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है।

संघटना की यह व्यवस्था कला की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है, इसीलिए

इसे **सर्वच्छादी, समावेशक विन्यास** (over all form) कहा जाता है। कला-सृजन की अन्तर्निहित भिन्नता के कारण विन्यास में भी भिन्नता आ जाती है, पर कलाकृति का यही आनन्दप्रद विरोधाभास है कि विन्यास की अनन्त विषमता के बावजूद यह सहज अपनपा तथा विन्यास की एकता का भाव पैदा करती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कलाकृति की गहन संकुलता कलाकार की कल्पना के द्वारा समन्वित हो जाती है।

विन्यास के क्षेत्र में विशिष्ट विन्यास (Type-Design) भी महत्वपूर्ण है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कलाकृति के रूप में हर सर्वच्छादी विन्यास वैयक्तिक और परंपरित होता है। यह कला के विवेचन और विभावन की दृष्टि से विशेष सहायक सिद्ध होता है।

निष्कर्ष

विन्यास संबंधी विवेचन पर दृष्टिपात करने से हमें अधोलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

(१) कला ऐन्द्रिय और अभिव्यंजक तत्वों की संकुल संघटना है। यही संघटना विन्यास कहलाता है।

(२) यह विशिष्ट होता है और इसी विशिष्टता के कारण अन्य अकलात्मक स्वरूपों से भिन्न माना जाता है।

(३) इसके दो प्रमुख अभिघटक माने गये हैं, (१) कलात्मक विचार (२) कलात्मक तत्व।

(४) विन्यास के सन्दर्भ में लालित्यबोधीय उपादान महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। इसके तीन स्तर—लालित्यबोधीय सतही स्तर, विन्यास, विषय वस्तु—माने गये हैं जो आपस में परस्पर सम्बद्ध हैं।

(५) प्रकृति की विशृंखलित घटनाओं में कला की विशेषतायें नहीं पाई जातीं। कलात्मक विन्यास के लिए ऐसे तत्वों का उपयोग अपेक्षित है, जिनका आपस में संबंध, गुणात्मक अन्तर, सुनिश्चित परिवर्तन का क्रम और संघटना का सिद्धान्त होता है।

(६) विन्यास संबंधी और विन्यासातिरिक्त मूल्यों का विन्यास की संघटना से विशेष संबंध होता है।

(७) विन्यास संबंधी मूल्यों का निश्चित ढाँचा होता है, और ये इसी ढाँचे में निर्मित होते हैं।

(८) कलात्मक विन्यास के मान्य सिद्धान्त और विशेषतायें हैं । इनका विन्यास-निर्माण में प्रमुख योगदान होता है ।

(९) इन विशेषताओं का कलाकार साक्षात्कार और पुनर्साक्षात्कार के धरातल पर प्रयोग करता है ।

(१०) कलात्मक विन्यास 'पैटर्न' से भिन्न अर्थ का सूचक है ।

(१२) ये कलाकृति के उपकरणों के संघटन के साथ ही इनकी अभिव्यक्ति के अन्तः संबंध और उसके अन्तर्निहित आयामों पर प्रकाश डालते हैं ।

(१२) संघटना की व्यवस्था के महत्व के कारण इसको सर्वच्छादी या समावेशक विन्यास की संज्ञा दी गई है ।

(१३) कला के विशिष्ट विन्यास भी महत्वपूर्ण होते हैं ।

सप्तम तरंग

विषय-वस्तु

कला के विषयवस्तु को जानने और उसको परिभाषित करने का प्रयत्न साहित्य-मीमांसा में प्रायः नहीं के बराबर मिलता है। अतएव इसकी निर्विवाद परिभाषा करना सरल नहीं है। केवल इतना कहा जा सकता है कला का विशिष्ट विन्यास होता है और वह इसके माध्यम से कुछ व्यंजित करती है। सत्य यह है कि कला यथार्थ को व्याख्यायित ही नहीं करती अपितु अभिव्यक्त भी करती है। **इन विशेषताओं को दृष्टिपथ में रखकर हम विषय-वस्तु को कलात्मक विन्यास की विशिष्ट शैली द्वारा अभिव्यक्त विचार और भाव का तत्त्व मान सकते** हैं। कलाकार संवेदनशील व्यक्ति होता है। संसृति के विविध क्रिया-कलाप उसकी अनुभूति को आन्दोलित करते रहते हैं। तरह-तरह की आशा-निराशा, अभिलाषा आकांक्षा उसके मानस को मथते रहते हैं। इसके परिणामस्वरूप वह अपनी अनुभूति और अर्न्तदृष्टि को—**अपने आन्तरिक तनाव को**—संप्रेषित करके इनसे मुक्त होना चाहता है। उसकी शैली इन्हीं विचारों को अभिव्यक्त करने का प्रमुख साधन सिद्ध होती है।

कलाकार अपनी कला के द्वारा विषय-वस्तु को सुनिश्चितता और पूर्णता प्रदान करता है। इस क्रिया में उसकी कलात्मक चेतना का प्रचुर सहयोग रहता है। **मानव-चेतना असम्बद्ध मानसिक स्थितियों का असम्बद्ध संघटन नहीं होती। यह मूलतः अधिक व्यापक स्थायी और विश्वजनीन व्यक्तित्व का प्रतिरूप मानी जाती है। देश-काल की सीमा में यह स्मृति, व्यवहार और प्रोत्तेजना द्वारा उद्भूत आत्म (self) का एक रूप होती है। हर मानसिक स्थिति इसी का विषय होती है और इसे ही प्रतिभासित भी करती है।** इससे कलाकार के व्यक्तित्व की उदात्तता उसी प्रकार प्रकट होती है जिस प्रकार सूर्य को रश्मि से प्रकाश। 'लीबनिज' के शब्दों में वह (कलाकार) उसी परिवेश को अभिव्यक्त करता है जिसका वह अभिन्न अंग है। वह इसकी अर्न्तनिहित

संकुलता से लड़ता-झगड़ता है, इन्हें दुलारता-पुचकारता है और अन्तोगत्वा इनकी अनुभूतिमय प्रतिक्रिया को कलात्मक कलेवर प्रदान करता है। इस प्रकार कला के विषय-वस्तु से उसका 'आत्म' ही ध्वनित नहीं होता, अपितु वह वस्तुगत स्वरूप भी स्पष्ट होता है जिसका कलाकार ने अपने आत्म-विकास में उपयोग किया है। सामान्य कोटि के कलाकार के लिए आत्माभिव्यक्ति अपने को प्रकट करने का प्रमुख साधन है, पर असामान्य और उत्कृष्ट कोटि का कलाकार इसी के माध्यम से व्यापक और विश्वजनीन सत्यों को अभिव्यक्त करता है। कलाकार सौन्दर्यचेता जीव होता है, पर उसका सौन्दर्य निरूपण मात्र विन्यास की आवश्यकताओं से सम्बद्ध नहीं होता। वह तो अपनी सौन्दर्य-प्राण अनुभूति के द्वारा व्यापक सत्य की व्याख्या निरूपित करता है। उसके द्वारा निरूपित यह सत्य भावक से भी उसी कोटि की सौन्दर्य चेतना की अपेक्षा रखता है। अतएव सौन्दर्य के लिए सौन्दर्य का निरूपण कला के विषय-वस्तु को आघात पहुँचाता है। 'क्रोचे' जैसे विचारकों ने कला को सहजानुभूति संबलित अभिव्यक्ति कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि वे भी विषय-वस्तु की सत्ता के हिमायती हैं। 'एम० एच० एबराम' ने इस तथ्य पर अधिक गंभीरता से विचार किया है। उनका कहना है, "कलाकृति मूलतः आन्तरिक स्पन्दन को वाह्य रूप में अभिव्यक्त करती है। इसके मूल में संवेदन के सन्दर्भ में क्रियाशील होने वाली सृजन-क्रिया सक्रिय रहती है। इस सृजन-क्रिया में कवि के अवबोध, विचार और संवेदना का मिश्रित स्वरूप विद्यमान रहता है। इस दृष्टि से विषय-वस्तु का प्रमुख स्रोत कलाकार के मानस की क्रियायें और विशेषतायें हैं। वाह्य भौतिक तत्त्व इसके विषय तभी हो सकते हैं, जब वे कवि की मानसिक क्रिया के द्वारा तथ्य से काव्य के रूप में परिणित कर दिये जायँ।"[1] स्पष्ट है कि कलाकृति अमूर्त को मूर्त, अस्पष्ट को स्पष्ट और परोक्ष को अपरोक्ष स्वरूप प्रदान करती है। वह कलाकार के अवबोध, विचार और अनुभूति की अद्भुत पत्रक

1. 'A work of art is essentially the internal made external, resulting from a creative process, operating under the impulse of feeling and embodying the combined product of poet's perceptions, thoughts and feelings. The primary source of subject matter of the poem, therefore, are the attributes and actions of poets own mind, or if aspects of external world, then these only, as they are converted from the fact to poetry, by feeling and operating of poets mind.'

सिद्ध होती है। इसका प्रमुख उपजीव्य कलाकार की आन्तरिक भावना और यथार्थ का मानस-प्रत्यक्ष होता है।

प्रायः यह प्रश्नपूछा जाता है कि कलाकार अपने **विषय-वस्तु का चुनाव किस प्रकार करता है**। उसका इससे क्या सम्बन्ध होता है और उसकी इस क्रिया में किन स्थितियों का विशेष सहयोग रहता है। इनका दो टूक उत्तर देना सरल नहीं। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि **कलाकार विषय पर कलात्मक चिन्तन की अवस्था में विचार करता है। इस अवस्था को सक्रिय सहयोग, प्रतिबद्धता, निःसङ्ग अथवा अनासक्त अनुसन्धान की अवस्था** कहा जाता है। **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे 'करण विगम' की संज्ञा दी है।** सन्तों ने 'मरजीवा' शब्द का प्रयोग किया है और संस्कृत साहित्य में इसे 'समाधि' शब्द से अभिहित किया गया है। इन सब का अर्थ यह है कि मानव-इन्द्रियाँ वाह्य विषयों से निवृत्त होकर तात्त्विक चिन्तन की ओर उन्मुख हों। ज्यों ही चिन्तन की इस तत्परता का आविर्भाव होता है त्यों ही चिन्तनपरक दृष्टि सूक्ष्म, अन्तर्दृष्टि पर पूर्ण और विधायक तत्त्वों से अलंकृत हो जाती है। अनासक्त-अनुसंधान वाह्य दृष्टि से विरोधाभासी ज्ञात हो सकता है, पर वह भी प्रकारान्तर से इसी उपर्युक्त तथ्य का प्रतिपादक सिद्ध होता है। ऊपर हमने सक्रिय सहयोग (active participation) और प्रतिबद्धता (commitment) का उल्लेख किया है। इन शब्दों का निहितार्थ उपर्युक्त विचार को स्पष्ट करने में विशेष रूप से सहायक ज्ञात होता है। यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि मानव केवल भौतिक ही नहीं, अपितु सामाजिक और आध्यात्मिक परिवेश में निवास करता है। उसे जीने और जीवन-क्रम को सुचारु रूप से अग्रसर करने के लिए भौतिक परिवेश की आवश्यकताओं के अनुसार अपने को ढालना पड़ता है। वह इनमें से कुछ को चुनता और ग्रहण करता है और कुछ को त्याग देता है। वह **निश्चित प्रकार के परिवेश में निश्चित रूप से क्रियाशील होता है।** व्यक्ति अथवा कलाकार किसी भी परिवेश में सक्रियता खो कर नहीं जी सकते। उनके लिए यह आवश्यक है कि वे अपने समक्ष प्रस्तुत परिवेश में क्रियाशील हों और अपने कार्य के परिणाम को भुगतें। उनकी संपूर्ण इच्छायें, आकांक्षायें अथवा क्रियायें अपने को केवल भौतिक परिवेश तक ही सीमित नहीं रखतीं, अपितु उन्हें इसका अतिक्रमण करने के लिए बाध्य करती हैं। उसकी अनन्त जिज्ञासा भौतिकता के आवरण को भेद कर उसे इसके परे देखने की तत्परता प्रदान करती है। यह है उसका भावनात्मक पक्ष। इसके अतिरिक्त समाज शास्त्रीय दृष्टि भी किसी भी प्रकार

कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस दृष्टि से कलाकार व्यक्ति है और वह निश्चित समुदाय में रहता है। सामाजिकता की दृष्टि से उसे कुछ धार्मिक, आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों को मानना पड़ता है। **अनुभूति के हर पहलू पर उसे अपने परिवेश के साथ समन्वय स्थापित करना पड़ता है।** इस प्रकार वह लौकिक क्रिया का सहयोगी माना जा सकता है। इस सहयोग के परिणामस्वरूप उसकी प्रतिबद्धता का आविर्भाव होता है। यह प्रतिबद्धता ऐच्छिक ही नहीं होती, स्वयं प्रेरित और निरपेक्ष भी होती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि यह सत्य से विच्छिन्न होती है। उसकी इस संपूर्ण क्रिया से किसी न किसी रूप में मानव-सत्य की अभिव्यंजना होती है। इस सन्दर्भ में विशेष रूप से विचारणीय बात यह है कि इस सत्य के अनन्त पक्ष उसके सामने विद्यमान रहते हैं। अतएव उसे अपने निरीक्षण, रुचि और आवश्यकता के अनुसार अनुकूल पक्षों का चुनाव करना पड़ता है। इस चुनाव में उसे आंशिक तटस्थता बरतनी पड़ती है। इसी तटस्थता को दृष्टि में रखकर विषय के चुनाव की दृष्टि से अनासक्त अनुसंधान, सक्रिय सहयोग और प्रतिबद्धता की बात उठाई गई है।

कलापूर्ण चिन्तन (artistic contemplation) भी विषय-वस्तु के चुनाव का सहायक सिद्ध होता है। चिन्तन का अर्थ है किसी विषय-विशेष या विचार-विशेष का एकोन्मुख आलोड़न और मंथन। कलात्मक चिन्तन का अर्थ है, कला की आवश्यकताओं को हृदयंगम कर के किसी विषय विशेष या विचार विशेष पर एकोन्मुख अथवा निर्विशेष भाव से सोचना। इस प्रकार का चिन्तन विधायक कल्पना की क्रोड़ में पलता और उसी से संवर्द्धित और परिवर्द्धित होता है। यह विशेषता चिन्तन की प्रवृत्ति को घनीभूत और तथ्यान्वेषी बनाती है। इससे कलाकार में साक्षात्कार की अद्भुत क्षमता उत्पन्न होती है। कलाकार की विधायक कल्पना जिस अनुपात में सघन और तीव्र होती है उसी अनुपात में उसकी कलात्मक उपलब्धि भी महत्वपूर्ण होती जाती है। विधायक कल्पना शून्य में नहीं सक्रिय होती, इसकी क्रियाशीलता की कुछ आवश्यक शर्तें होती है। यह शर्तें संसृति के विविध स्वरूपों द्वारा पूरी की जाती है। विधायक कल्पना का क्षेत्र संसृति का विशाल क्षेत्र होता है। इसी के माध्यम से कलाकार व्यापक परिवेश और परिप्रेक्ष्य से संबंधित अनुभूति वैविध्य को हस्तामलकवत प्राप्त कर लेता है। उसे संसृति के उपादानों का प्रत्यक्ष बोध होता है। यह बोध सक्रिय सहयोग और निरीक्षण द्वारा प्राप्त किया जाता है। वह जीवन का सार्थक भोक्ता माना जाता है। इस भोग की स्थिति में वह जीवन की आशा-निराशा, ईर्ष्या,

द्वेष-घृणा, तथा सुख-दुख का अनुपम साझीदार बना रहता है। उसका यह भोग उसके जीवन का संस्कार बन जाता है, अतएव **वह इन्हें भोगता ही नहीं अपितु किसी न किसी प्रकार इन्हें जीता है**। इस क्रिया से उसे इनकी अद्‌भुत अनुभूति होती है। इस अनुभूति में जिस मात्रा में निश्छलता, सशक्तता और तीव्रता का समावेश होता जाता है, उसी मात्रा में यह कलात्मक गुणों से अलंकृत होती जाती है। जिस घटना को कलाकार जीवन के धरातल पर उतार कर जीता या भोगता है उसका वर्णन सदैव प्रभावोत्पादक और विश्वसनीय हुआ करता है। कल्पना में विधायक और संश्लेषणात्मक क्षमता पाई जाती है। उसकी यह विधायक क्षमता पुनरुत्पादक, पुनर्निर्माणक और अभिनव उन्मेषपूर्ण होती है। इसकी तुलना भगवान् शंकर के तृतीय नेत्र से की गई है जो संसृति रहस्य को जानने में समर्थ होता है। प्रतिभा के सन्दर्भ में "**यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते**' की बात विशेष रूप से चरितार्थ होती है। 'महिमभट्ट' ने कहा भी है—

> 'रसानुगुण शब्दार्थं चिन्तास्तिमित चेतसः।
> क्षणं स्वरूप स्पर्शोत्था, प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः।
> साहि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
> येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्य वर्तिनः।"

विधायक कल्पना में त्रिलोक के भावों को अधीत करने की क्षमता है। यह जिस कवि या कलाकार में विशेष रूप से पाई जाती है, उसकी कला में विषय-वस्तु के द्वारा अधिक से अधिक आनन्द प्रदान करने की शक्ति विद्यमान रहती है। ऐसे कलाकार में सहानुभूति की अनंत क्षमता होती है, इसीलिए उसका विषय, विवेच्य या प्रतिपाद्य भी व्यापक और विश्वजनीन होता है। विधायक कल्पना संपन्न कलाकार जिस भी पात्र, परिस्थिति या मनोभाव का चित्रण करता है वह उसकी व्यापक सहानुभूतिपूर्ण अन्तर्दृष्टि द्वारा विश्वसनीय और उपयुक्त कलेवर प्राप्त कर लेता है। सहानुभूति का अर्थ है, सह-अनुभूति, अर्थात् दूसरों के साथ उसकी अनुभूति को हृदयंगम करने की क्षमता। कलाकार अपने पात्रों परिस्थितियों, मनोभावों एवं चित्तवृत्तियों के निरूपण के लिए अपने को दूसरों की स्थिति में रखकर उनका अनुभव करता है, उन्हें अपने चिन्तन में उतार कर उनका साक्षात्कार करता है और पुनः इस अनुभूति को अभिव्यक्त करता है। 'प्राउस्ट' ने इसी बात का समर्थन करते हुए कहा था कि, "जीवन तभी समाकलित किया जा सकता है, जब उसे पुनर्स्मृति के धरातल पर पुनः भोगा

जाय।"[1] 'वर्ड्सवर्थ' ने भी 'शान्ति के क्षणों में पुनर्गृहीत संवेग'[2] के द्वारा इसी तथ्य का संकेत किया है। तात्पर्य यह कि कलाकार का यह पुनर्भोग विशेष महत्वपूर्ण माना गया है। इसी विशेषता के कारण संस्कृत कवि की यह उक्ति—

"यानेव शब्दान् वयमालयामः।
यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः।
तैरेव विन्यास विशेष भव्यै।
सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति।"

पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है।

जीने, भोगने और जीवन की अनुभूति को पुनस्मृति के धरातल पर ग्रहण करने की बात का सम्यक उल्लेख ऊपर किया गया है। वस्तुतः सामग्री से संबंधित **अनुभूति की अवस्था और उसकी अभिव्यक्ति की अवस्था में स्पष्ट भेद कर पाना असम्भव है, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति की दशा में कलाकार को विषयगत स्वरूप को वस्तुगत स्वरूप में परिणित करना पड़ता** है। 'एडवर्डबुलो' ने अपने 'मानसिक अन्तराल' के सिद्धान्त द्वारा इस पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। इसीलिए यह विषय-वस्तु और उपादान के चुनाव की दृष्टि से उल्लेखनीय है। 'बुलो' महोदय ने अपने सिद्धान्त द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि उपादान के साथ अत्यधिक निकटता या दूरी चिन्तन की क्षमता को कुण्ठित कर देती है। अतएव इस दृष्टि से मध्यम दूरी महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है। स्पष्ट है कि अनुभूति की दशा में विषय के साथ तादात्म्य भले हो, पर अभिव्यक्ति दशा में आंशिक तटस्थता का होना आवश्यक है। अगर कलाकार इसमें किसी भी प्रकार असफल होता है तो वह विषय के साथ न्याय नहीं कर पाता।

'कलात्मक चिन्तन' की स्थिति में विषय-वस्तु के चयन की चर्चा की गई है, **अब कलात्मक बोध** (artistic Cognition) **के सन्दर्भ में भी इस पर विचार कर लेना चाहिए**। इस विवेचन की दृष्टि से प्रातिबोधिक और अप्रातिबोधिक चेतनता का विशेष महत्त्व होता है। यह सर्वविदित सत्य है कि "ऐन्द्रिय अवबोध (Sense perception) में परिवर्तन-स्थायित्व, नवीनता-क्रम तथा सादृश्य-असादृश्य की विशेषता पाई जाती है। उपादान और घटनाओं का देश-काल से संबंधित स्वरूप परिवर्तन में भी अपरिवर्तन का परिचायक माना जाता

1. Life is truly comprehended, only when relived in recollection.
2. Emotions recollected in tranquility.

है। हर उपादान की सापेक्ष दृष्टि से स्वतःपूर्ण सत्ता होती है, अतएव उसमें स्थायित्व भी पाया जाता है और वह अपने स्वरूप में कुछ समय तक बना रहता है।" यह स्थायी उपादान प्रच्छन्न रूप से निरन्तर शनैः-शनैः परिवर्तित होता रहता है। इसी परिवर्तन के गर्भ से नवीन उपादनों का उद्भव होता है जिनमें, क्रमबद्धता के साथ ही पहले के उपादान की कुछ विशेषताएँ पाई जाती हैं। नवीन और प्राचीन के इसी सादृश्य और असादृश्य से संबंधित कुछ परिवर्तन विशेष महत्त्वपूर्ण होते हैं और कुछ कम। इन्हें विवेचन सौकर्य की दृष्टि से **सार्वजनीनता और वैयक्तिकता** (universality and Individuality) की संज्ञा देना विशेष समीचीन है।

सार्वजनीनता का संबंध उस पुनरावर्ती गुण, विशेषता, स्थिति या सम्बन्ध से होता है जो अपने को दो या दो से अधिक व्यक्तियों में अथवा दो या दो से अधिक अवसरों पर अभिव्यक्त करती है, या अभिव्यक्त कर सकती है। विश्वजनीन की यह व्याख्या केवल प्रातिबोधिक उपादानों के लिए ही नहीं सत्य है, अपितु व्यापक परिप्रेक्ष्य में चिन्तन की सभी विशेषताओं के लिए सत्य है। विवेचन के इस क्रम में "प्रातिबोधिक सार्वजनीन (Perceptual universal) वह पुनरावर्ती गुण, विशेषता, स्थिति या सम्बन्ध है जिसकी सहायता से दो या दो से अधिक प्रातिबोधिक उपादान या घटनायें यथार्थ या आन्तरिक गुण की दृष्टि से एक दूसरे के सदृश या असदृश होती हैं।" यह प्रातिबोधिक सार्वजनीन कई प्रकार का होता है, यथा (१) कुछ में ऐन्द्रिय विशेषता विद्यमान रहती है, यथा ललाई, मिठाई, चिकनाई। (२) कुछ सम्बन्ध-सूचक होते हैं, जैसे ऊपर, नीचे, दूर, पास (३) कुछ परिमाणात्मक होते हैं, यथा आयतन, वजन (४) कुछ प्राकृतिक या मनुष्य निर्मित ज्ञात होते हैं, यथा जानवर, कुत्ता, वृक्ष, कुर्सी और (५) कुछ क्रियाओं की विशेषताओं के सूचक होते हैं, यथा विकास, सजीवता, शक्ति, गति।

वैयक्तिक प्रातिबोधिक विशेषता, देश या देश-काल के सम्बन्ध में निहित ऐसी अभिव्यक्ति है जिसमें किसी न किसी मात्रा में सार्वजनीन संघटन विद्यमान रहता है। इसकी चार प्रमुख विशेषतायें हैं—

(१) इसमें सार्वजनीनता और विशेषता के दो तत्त्व सदैव प्रस्तुत रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यह सार्वजनीन को अभिव्यक्त करने के साथ ही व्यक्तिगत-विशेषता को भी अभिव्यक्त करती है।

(२) हर प्रातिबोधिक वैयक्तिक विशेषता, परिवर्तन के बावजूद अपने को कुछ समय तक बनाये रखती है। इसकी कुछ सुनिश्चित विशेषताएँ होती हैं।

ये विशेषतायें जिस भी उपादान में पाई जाती हैं, वह उसी की जाति का होता है।

(३) ये सार्वजनीन की अभिव्यक्ति और देशकाल के अभिघटकों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से भिन्न हैं।

(४) प्रातिबोधिक चिन्तन में अपने द्वारा अभिव्यक्त सार्वजनीन के साथ ही यह उसके अन्त: सम्बन्ध को भी स्पष्ट करती है।

उपादन के बोध-पक्ष को ग्रहण करने की क्रिया भी महत्वपूर्ण है। ऐसा माना जाता है कि ऐन्द्रिय बोध-पक्ष का अवतरण किसी भी प्रकार के विश्लेषण के पूर्व होता है। इस अवबोध को आसन्न चेतना (Immediate awareness) माना जा सकता है। इस स्थिति में अगर हम अवबोध को विश्लेषित करें तो हमें सरलता से इस बात का अभिज्ञान हो जायगा कि, इसकी विषम-क्रिया में प्रत्येक क्षण स्थान ग्रहण करने वाला मनोवेग और इससे सम्बन्धित प्रत्ययी क्रिया विद्यमान रहती है। सामान्य व्यक्ति को इन पूरक क्रियाओं का ज्ञान नहीं होता। इसका प्रमुख कारण यह है कि ये ऐन्द्रिय-बोध में घुली-मिली रहती हैं। इसके बावजूद इनका विभेद संभव है। प्रमुख विचारक 'टी० एम० ग्रीन' ने इस विभेदीकरण पर प्रकाश डालते हुए लिखा है,[1] "मनोवेग प्रधान

1. The object of pure sensation is a specific sensitive quality, quale or datum, i.e. red patch, and only through sensation do we become aware of the specific sensory qualities and configuration of the perceptual world. The primary object of pure sensation in contrast, is an abstracted universal sensation and conception then differ in their characteristic objects. They differ also in that, pure sensation is an ideal limit, which can be approximated but never reached, whereas pure conception is possible and actually takes place in purest abstract thinking. It is, psychologically impossible to have a sensation, without consciously or unconsciously interpreting it in some way. We are bound to relate it to other sensations, and to set it in perceptual frame of reference. But we can think abstractly, that is isolate a universal or pattern of universals and conceive of it as abstracted in thought from its perceptual context. Even the common man makes use of abstractions in his daily experience, as language testifies for every word he employs, except demonstrative words, and proper names, signifies one or more universals, it is this conceptual meaning of words which the dictionary attempts to define.

सामान्य प्रत्यय उद्देश्य की दृष्टि से भिन्न हैं। विशुद्ध मनोवेग का उपादान विशिष्ट एवं निर्दिष्ट अनुभवग्राही गुण होता है। इसी के द्वारा हम विशिष्ट ऐन्द्रिय गुण और प्रातिबोधिक सम्मूर्तन से परिचय प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत विशुद्ध प्रत्यय का उद्देश्य अन्यमनस्क विश्वजनीन व्यापकता है। मनोवेग और सामान्य प्रत्यय में अन्य दृष्टि से भी भिन्नता है। विशुद्ध मनोवेग आदर्श सीमा है जिसके निकट तो पहुँचा जा सकता है पर उसे उपलब्ध नहीं किया जा सकता। विशुद्ध प्रत्यय संभव हैं और अमूर्त चिन्तन में यथार्थरूप में क्रियाशील भी पाये जाते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसे मनोवेग से अवगत होना कठिन है जो चेतन या अचेतन स्तर पर किसी प्रकार की आख्या से सम्बद्ध नहीं है। हमें बाध्य हो कर इसे अन्य मनोवेगों से सम्बद्ध और अवबोधात्मक सन्दर्भ के बाह्य कलेवर में व्यवस्थित करना पड़ता है। पर प्रत्यय की स्थिति भिन्न है। हम इस पर सूक्ष्मता से विचार कर सकते हैं और सार्वजनीन संघटना को प्रातिबोधिक सन्दर्भ से अलग कर के विचार के धरातल पर पृथक रूप में इसे विश्लेषित भी कर सकते हैं।"

उपर्युक्त तथ्य के सन्दर्भ में **अवबोध, मनोवेग और प्रत्ययी व्याख्या का एकीकरण सिद्ध होता है। यह वस्तुतः विषम मनोवेग होता है जिसकी व्याख्या विगत मनोवेगों और सार्वजनीनों के सन्दर्भ में की जा सकती है। अवबोध के विशिष्ट उपकरण निश्चित व्यक्ति के विशेषीकृत सार्वजनीन[1] हैं।**

मानव की आन्तरिक अनुभूति और उसके उपादानों का विश्लेषण तथा विशेषता उसकी वाह्य् अनुभूति और उसके उपादानों की विशेषता के समान होती है। वाह्य दृष्टि से आन्तरिक अनुभूति और वाह्य अनुभूति का प्रयोग विरोधाभासी ज्ञात हो सकता है, पर तथ्य इससे सर्वथा भिन्न है। इस बात को सूक्ष्मता से समझने की आवश्यकता है। आन्तरिक अनुभूति के तत्व दो विशिष्ट प्रकारों में विभाजित किये जा सकते हैं। प्रथम प्रकार वह है जो हर बिंब-बोध की सचेतन क्रिया और भावप्रेरक-भावनात्मक तथा प्रभावोत्पादक स्थिति को अपने अन्दर निहित किये रहता है। दूसरा वह है जो प्रत्ययी भावों द्वारा अभिव्यंजित होता है। कलाकार विधायक कल्पना के सृजनात्मक और पुनर्सृजनात्मक पक्ष से अवगत होता है। वह अन्तर्परीक्षण के माध्यम से अपने बोध की क्रिया, भाव-वेग, संवेदन और अनुभूति से पूर्ण परिचित हो सकता है। बिंब और सार्वजनीन विशेषतायें अन्तर्परीक्षण के अभाव में भी पहचानी जा सकती हैं, पर बोध की क्रिया और

1. Universals as particularised in concrete individual.

भावनात्मक तथा भाव-प्रेरक स्वरूपों को अन्तर्परीक्षण द्वारा ही जाना जा सकता है।

वाह्य अनुभव की ही तरह आन्तरिक अनुभव के उपादान भी विशेषीकृत सार्वजनीन माने जा सकते हैं। उदाहरण के लिए कलाकार के वर्तमान संवेग उसकी विशिष्ट संवेगात्मक स्थिति के परिचायक होते हैं, मानस द्वारा गृहीत दृश्य बिंब विशिष्ट बिंब हो सकते हैं और वर्तमान प्रत्ययी प्रातिबोधिक और मूर्त क्रियायें अवबोध की विशिष्ट क्रिया की संज्ञा से अभिहित की जा सकती हैं। इन वैयक्तिक घटनाओं का संबंध अनुभव की अन्य वैयक्तिक घटनाओं से होता है, अतएव ये एक या अधिक सार्वजनीन विशेषताओं की अभिव्यक्ति मानी जा सकती हैं। **ये स्थितियाँ या क्रियायें अलग अथवा असम्बद्ध रूप में घटित नहीं होतीं, अपितु चेतना प्रवाह** (Stream of Consciousness) **की संकुल क्रिया का अंग होती हैं और इस प्रवाह में वैयक्तिक विशेषताओं का प्राधान्य पाया जाता है, अतएव इन्हें व्यक्ति की वैयक्तिक चेतना का विशिष्ट क्षण या अंश माना जा सकता है।**

इस पृष्ठभूमि में **वैज्ञानिक और कलात्मक बोध के उपादानों** पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जा सकता है। विज्ञान मानव की निरीक्षण क्षमता को तीव्र करता है। यह प्रत्ययी व्याख्या का परिष्कार करते हुए प्राकृतिक घटनाओं और उपादानों को विकसित करके उनका अतिक्रमण करना चाहता है। इसका प्रमुख उद्देश्य देश-काल की घटनाओं का प्रत्यय बोध है। यह वैयक्तिक घटना से सम्बद्ध नहीं होता। यह वस्तुतः इन घटनाओं की वर्गगत विशेषता और इस विशेषता में निहित प्राकृतिक संघटन और क्रिया से सम्बद्ध है जो इसके कार्य को स्पष्ट बनाती हैं। इसका विवेच्य सार्वजनीन होता है, इसीलिए यह प्रकृति के वाह्य संघटन के साथ ही उसकी उस क्रिया पर दृष्टिपात करता है जो अपने समष्टि रूप में प्रकृति के क्रम का निर्माण करती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वैज्ञानिक संघटनात्मक एकता और उसकी गतिशील नियमबद्धता की अवहेलना करता है। वह प्रकृति के ऐन्द्रिय स्वरूपों का ज्ञान प्राप्त करता है और इसके माध्यम से अपने सैद्धान्तिक पक्ष को अनुभवसिद्ध सार्थकता प्रदान करता है। वैज्ञानिक "व्यक्ति के व्यक्तिगत आनुभविक-घटना-प्रधान-कार्य के महत्वपूर्ण निरीक्षण को निहित संघटना और अदृश्य गतिशील क्रिया का सूत्र मानता है।"[1] वह

1, He values specific observation of individual empirical phenomena only as a clue to underlying sturcture and types of invisible dynamic process.

अपनी विवेच्य घटना की वस्तुगत विशेषता का सर्वथा परित्याग नहीं करता। ज्योतिष में ग्रहों और नक्षत्रों की विशेषताओं का महत्व स्वीकार्य है। इतना अवश्य सत्य है कि विज्ञान वैयक्तिक विशेषता की तुलना में पुनरावर्ती विशेषता को महत्त्व-पूर्ण मानता है। यह सार्वजनीन विशेषताओं को अलग करके उन्हें अपने प्रत्ययबोध का विवेच्य बनाता है। यह अनिश्चित वर्णन के स्थान पर निश्चित और स्पष्ट वर्णन का मुखापेक्षी है। इसीलिए हर वैज्ञानिक निरीक्षण सूत्र-बद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसी सन्दर्भ में 'एडिंगटन' के द्विविध विश्व का सिद्धान्त चरितार्थ होता है। इसका मूल कारण यह है कि यह सामान्य ऐन्द्रिय अवबोध के गुणात्मक, वैभवमय और विविध स्वरूप के स्थान पर निष्क्रिय निर्जीव और वैज्ञानिक दृष्टि से पृथक स्वरूप के प्रति आग्रही बन जाता है। इस तथ्य को और सरलता से समझने के लिए हम वैज्ञानिक के मनुष्य के यथार्थ अनुभवों पर विचार करने की क्रिया को ले सकते हैं। वह इन अनुभवों पर वाह्य निरीक्षक की दृष्टि से विचार करता है। जब तक वह वैज्ञानिक सत्य की गवेषणा में लगा रहता है तब तक उसमें सहानुभूति का अंश अवश्य विद्यमान रहता है, पर इस स्थिति में भी वह अन्य मूल्यों को वाह्य दृष्टि से आँकता है। यही दृष्टिकोण वह मानव के सामाजिक और भौतिक परिवेश के प्रति अपनाता है। उसकी दृष्टि मनोवैज्ञानिक, मानवशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय विचारक से भिन्न होती है। ये उपर्युक्त विचारक मनुष्य को व्यावहारिक, लालित्यबोधीय, नैतिक और धार्मिक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकित करते हैं। वैज्ञानिक को यह तथ्य ज्ञात रहता है कि जिस व्यक्ति के व्यवहार का वह विवेचन कर रहा है, वह मूलतः मनोवेग प्रधान है और इसी मनोवेग के वशीभूत हो कर वह अन्य प्रकार की क्रियायें संपादित करता है। इस अभिज्ञान के बावजूद बोध का प्रमुख पक्ष उसकी दृष्टि सीमा में नहीं बँध पाता है। **"यह सत्य है कि अन्य प्रमुख विशेष-ताओं की तरह, मूल्य अपने को वैयक्तिक सीमा में अभिव्यक्त करता है, अतएव इसे सार्वजनीन माना जा सकता है। यह भो सत्य है कि प्राकृतिक एकता से परे उसका सर्वातिशायी स्वरूप भी होता है और विचारक उसे ऐसा आदर्श मानकर उस पर विचार करता है जो न तो पूर्णरूप से प्राप्त किया जा सकता है और न देशकाल की सीमा से बाँधा जा सकता है। यह भी सत्य है कि मनुष्य मूल्य पर भिन्न रुप से विचार करता है और उसे सर्वातिशायी सिद्धान्त के रुप में मान्यता देता है।"** पर यह भी सत्य है कि **"यद्यपि मूल्य को प्रत्ययी रुप में समझा और कालनिरपेक्ष सत्ता के रुप में प्रत्यक्ष संसृति के अस्तित्व से**

स्वतंत्र स्थिति में संजोया जा सकता है फिर भी वह हमारे लिए अनुभवगम्य वैयक्तिक सन्दर्भ में ही हो पाता है।" वैयक्तिकता मूल्य का उचित अनुभव-सिद्ध आधान मानी जाती है। व्यक्ति का महत्व भी मूल्य का सहयोगी हो कर उसे प्रकट करने में ही निहित होता है। इस दृष्टि से यह महत्व मूल्य सापेक्ष होता है। यथार्थ में वैयक्तिकता और मूल्य के सिद्धात मानव जीवन की प्रामाणिक अनुभूति के रूप में एक दूसरे को नियंत्रित और अनुशासित करते हैं। वैज्ञानिक व्यक्ति अथवा घटना की विशिष्टता के प्रति अन्यमनस्क होता है, अतएव, वह अपनी साहसपूर्ण क्रिया के अनुकूल कुछ विशेषताओं से अभिज्ञ हो सकता है पर अन्य स्वरूपों को वह समझने में सदैव असमर्थ सिद्ध होता है।"[1]

कलाकार का यथार्थ बोध वैज्ञानिक से भिन्न होता है। वह, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि के प्रति जागरूक रहता है और इन्हें इनके प्रातिबोधिक सन्दर्भ से अलग कर के अपने आस्वादन का विषय बनाता है। वह स्पष्ट रूप के कहता है, **"मानवता और प्रकृति का निरीक्षण करो, मानव अनुभूति और परिवेश पर विशेष संवेदनशीलता और व्यापकता से बिचार करो। यही तुम्हारा परिवेश है और इससे प्राप्त होने बाली सामग्री तुम्हारा उपजीव्य। यह सुन्दर-असुन्दर नियमबद्ध और नियम विहीन कुछ भी हो सकती है, पर इसकी निहित विशेषता ही तुम्हारे जैसे अन्य व्यक्तियों के अनुकूल है, जो इस पर कलात्मक दृष्टि से विचार करते हैं। मैंने कलाकार के रूप में इस संकुल दृश्य का वैज्ञानिक तटस्थता से अध्ययन करने की कोशिश नहीं की है, फिर भी मैंने इससे संबंधित**

1—But although values can thus be conceptually apprehended and even cherished as timeless essences, independent of phenomenal existence, they can take an empirical reality for us only in the individual context. Individuality is the empirical locus of values. Individuals in turn, acquire significance only through participation in value and through the manifestation of value, for significance in this sense is definable as possessing value or worth. The principles of individuality in short condition one another as complementary principles in man's normative experience. It is not strange accordingly, that scientists disregard for the individuality of a person and events, should prevent him as a pure scientist from first hand comprehension of all values other than the one which is integral to scientific enterprise.

अपनी व्याख्या को प्रस्तुत करने में कोई हिचक भी नहीं दिखाया है। इसकी व्याख्या के द्वारा हमने इसकी यथार्थ प्रकृति और व्यापक मानवीय व्यंजना को प्रस्तुत करने की कोशिश की है। मेरा प्रमुख उद्देश्य इसका सूक्ष्म निरीक्षण नहीं यथार्थ निरीक्षण रहा है। मैंने अपने इस प्रकार के चिन्तन को किसी कार्य का साधन नहीं अपितु साध्य माना है। अन्य लोग भी अपने समक्ष प्रस्तुत मानव जीवन की व्याख्या करते हैं। मेरे द्वारा प्रस्तुत ये निरीक्षण-संवलित-कलात्मक-प्रतिमान उनका मार्ग-दर्शन कर सकते हैं। उनके लिए यह आवश्यक है कि वे आनन्द को साध्य मान कर जीवन पर तटस्थता से विचार करना सीखें। अन्य लोग अपनी रुचि के अनुसार मेरी इस परामर्श का उपयोग कर सकते हैं।"[१] इस उद्धरण में कलात्मक निरीक्षण संबन्धी अधिकांश आवश्कताओं का उल्लेख कर दिया गया है। **वस्तुत: कलाकार का यथार्थबोध सत्य पर आधारित नहीं होता, तथ्य के बोध पर आधारित होता है। वह वाह्य घटनाओं का दर्शक मात्र नहीं होता, अपितु अपने संवेदन-शील मानस और विधायक कल्पना द्वारा उसके रहस्य की अनुभूति का चितेरा भी होता है। वह स्रष्टा और द्रष्टा दोनों की विशेषताओं से अलंकृत रहता**

1—Behold mankind and nature, consider human experience and man's environment in all its individuality and universality. This is the situation as I find it, good and bad, beautiful and ugly, orderely and chaotic, but whatever its character, intrinsically interesting to me and to all men who can approach to it with an artistic attitude. I as artist, have not attempted to view this complex scene with scientific impartiality, and I have not hesitated to offer you my interpretation of it. But in interpreting it, I have attempted to exhibit, what seems to me to be its true nature and its universal human import, My object has been to apprehend it correctly, not abstractly, and I regard this apprehension, as an end in itself, not merely as a means to an action. Hence, however, you may ultimately interpret human life and realities which confront you, I offer you an artistic record of my observations and interpretations. Enjoy it for itself and learn to contemplate life, as I have with artistic impartiality. Then if you care to do so put whatever fresh insight you have derived from me to any use you like.

है। द्रष्टा की स्थिति में वह संसृति के घात-प्रतिघात को देखता और उसके अन्तर्निहित स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है और स्रष्टा की स्थिति में इसी अनुभूतिमय बोध को मूर्तिमान करता है।

'थिओडोर मेयर ग्रीन' ने **विषय-वस्तु के प्रकारों** का उल्लेख किया है। इस प्रकार विश्लेषण के आरंभिक स्तर पर वे इसकी विशेषताओं का उल्लेख करते हैं। उनका कहना है :—

(१) विशिष्ट कला के विषय-वस्तु को विशिष्ट विन्यास की अपेक्षा है। अतएव इसे सभी दृष्टियों से विशिष्ट माना जा सकता है। इस विषय-वस्तु की निम्नांकित विशेषतायें होती हैं :—

(२) (अ) विषय-वस्तु को विशिष्ट माध्यम नहीं बल्कि कला की विशिष्टता का प्रमुख स्वरूप माना जा सकता है।

(ब) यह विषय-विन्यास के विन्यासगत लालित्यबोधीय गुण से भिन्न होता है। विन्यासगतसौन्दर्य विषय-वस्तु का दिशानिर्देशक तत्त्व होता है, फिर भी यह न तो विषय-विन्यास के सदृश है और न उसकी अभिव्यंजना की आवश्यक शर्त।

(स) विषय-विन्यास कलाकार की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम है और विषय-वस्तु उस अभिव्यक्ति द्वारा प्रतिभासित तथ्य।

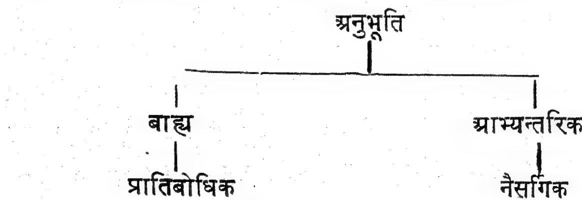
(द) विषय-वस्तु का संबंध कलाकार के विशिष्ट विषय के तथ्यों से ही नहीं होता। आलेख्य और अनालेख्य (portraiture & non-portraiture) कलाओं का विषय-वस्तु विशिष्टीकृत होता है। अनालेख्य कला में यह विशिष्ट विषय-वस्तु सार्वजनीन की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम होता है और आलेख्य-कृतियों में सार्वजनीन के साथ ही वस्तुगत विशेषता की अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन।

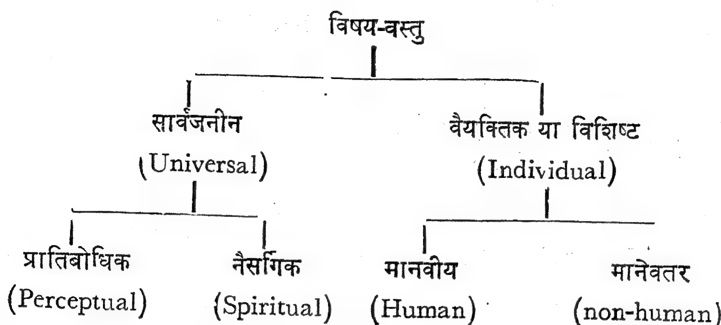
(३) कलाकृति की ये सार्वजनीन और वस्तुगत विशेषतायें कलात्मक-विन्यास द्वारा अभिव्यक्त की जाती हैं। इन्हें सर्जक या भावक विच्छिन्न रूप में नहीं ग्रहण करता। कलाकार उन्हें उसके वैयक्तिक विशिष्ट सन्दर्भ में अनुभव का विषय बनाते हैं। भावक की कलात्मक प्रतिक्रिया कलाकार की सृजन-क्रिया को प्रतिकृत रूप में भावन का विषय बनाती है। वह कलाकृति के द्वारा उस आदर्श निर्देश को ग्रहण करता है जिसके माध्यम से उसमें निहित यथार्थ रूपायित होता है। वह सर्वप्रथम कलाकृति में निहित इसी आदर्श स्वरूप का भावन करता है। इस क्रिया द्वारा शनैः शनैः कलाकार का पुनर्सृजन स्पष्ट होने

लगता है। इ। परिवेश में भावक जातीय विशेषता और उपादान से संबंधित अनुभूति को हृदयंगम करने लगता है। भावक भी संवेदनशील होता है। अतएव उसके अनुभव की यह क्रिया आस्वादन की स्थिति में निरन्तर बनी रहती है। इसी पुनर्सृजन और भावन की स्थिति में भावक को कलाकार द्वारा निरूपित व्यापक अनुभूति और व्यापक यथार्थ का दर्शन होता है।

(४) यह विशिष्ट पद्धति जिसमें सार्वजनीन, विश्वजनीन और वस्तुगत विशेषतायें निहित रहती हैं, विषय-वस्तु के वर्गीकरण को समझने की दृष्टि से आवश्यक है।

इस स्थान पर हमें इस तथ्य को समझ लेना आवश्यक है कि विषय-वस्तु के इस वर्गीकरण का आधार क्या हो सकता है? इस प्रश्न के सही समाधान के लिए हमें पूर्ववर्ती विवेचन को दृष्टिपथ में रखना आवश्यक है। हमने विगत पृष्ठों में इस सत्य को निरूपित किया है कि, **"कलाकार कलाकृति में मानवीय अनुभूति के कुछ पक्षों को अभियक्त करने के साथ ही भाव-बोध की चेतना को भी अभिव्यंजित करता है।" अतएव विषय-वस्तु के विभाजन के मूल में मानव अनुभूति की जातीय विशेषता और इस विशेषता को उत्पन्न करने वाले उपादान पर विचार किया जा सकता है।** विगित पृष्ठों में वाह्य और आन्तरिक अनुभूति का उल्लेख किया गया है। **अगर हम वाह्य अनुभूति को प्रातिबोधिक और आन्तरिक अनुभूति को नैसर्गिक मान लें तो विवेचन सरल हो जाता है।** प्रातिबोधिक अनुभूति वह अनुभूति है जिसके उपादान ऐन्द्रिय अवबोध से सम्बन्धित होते हैं और नैसर्गिक अनुभूति वह अनुभूति है जिसके उपादान ऐन्द्रिय अवबोध द्वारा पूर्ण स्पष्टता से ग्रहण नहीं किये जा सकते हैं। इन दोनों प्रकार की अनुभूतियों के उपादान सार्वजनीन और वैयक्तिक होते हैं। इस प्रकार कला के जातीय विषय-वस्तु में (Generic-content) प्रातिबोधिक और आध्यात्मिक सार्वजनीनों की व्याख्यात्मक अभिव्यंजना के साथ ही विविध प्रकार की मानवीय और अमानवीय विशेषतायें विद्यमान रहती हैं। इस वर्गीकरण के आरंभिक स्वरूप को निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—



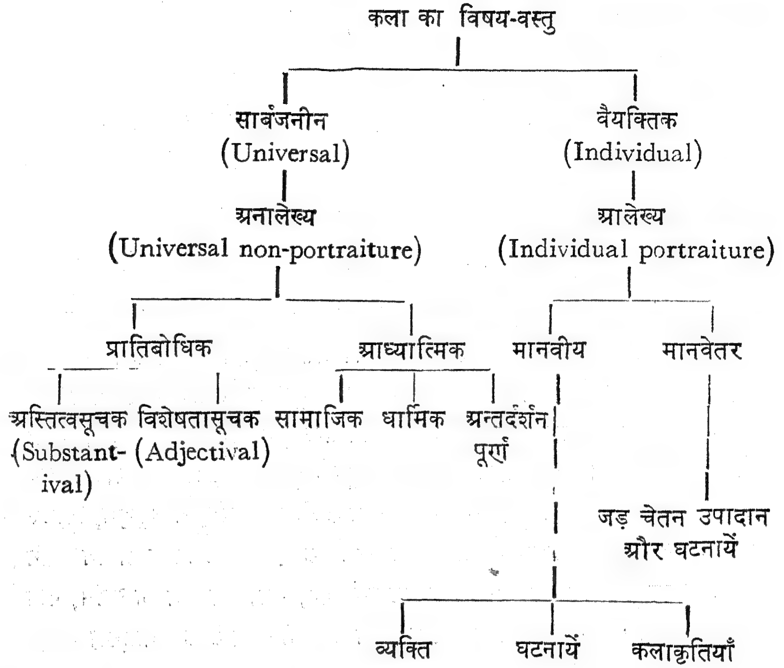


सर्वप्रथम हम **प्रातिबोधिक सार्वजनीन** को लेते हैं। इस प्रकार के विषय-वस्तु का विषय या तो विशिष्ट, सापेक्ष दृष्टि से स्वतः पूर्ण प्रातिबोधिक उपादान हो सकता है या इस उपादान द्वारा अभिव्यक्त विशिष्ट गुण, संबंध, अवस्था, या घटना हो सकती है। हम प्रथम कोटि को अस्तित्वसूचक (Substantival) और द्वितीय कोटि को विशेषतासूचक (Adjectival) मान सकते हैं। पर्वत, नाले, वृक्ष, विभिन्न जातियों के लोग, जानवर—अर्थात् सभी तरह के इन्द्रिय गोचर उपादान प्रथम कोटि के उदाहरण हैं और ऐन्द्रिय विशेषतायें, रंग, गंध, देशकाल का संबंध, गति और स्थिरता की स्थिति तथा अन्यान्य घटनायें द्वितीय कोटि के उदाहरण।

आध्यात्मिक सार्वजनीन का आधार या तो धर्म होता है या सामाजिकता और दर्शन। इसका विषय-वस्तु के रूप में प्रयोग करते समय कलाकार अपनी आन्तरिक अनुभूति का निरीक्षण और परीक्षण भी कर सकता है। इस दृष्टि से इसके धार्मिक, सामाजिक और आत्म-दर्शन प्रधान तीन आयाम हो सकते हैं। इन तीनों में अन्त:संबंध की स्थिति पाई जाती है। कोई भी धार्मिक आचार-व्यवहार तभी पूर्ण हो सकता है जब उसका सामाजिक पक्ष ही प्रबल न हो अपितु, वह अन्तर्परीक्षण पर भी आधारित हो। यही बात सामाजिक आचार-विचारों के विषय में भी सत्य है।

मानवीय चित्रण के अन्तर्गत मानव की विशेषताओं के साथ ही ऐतिहासिक पुरुषों, घटनाओं और चरित्रों को काव्य का उपजीव्य बनाया जाता है। उनकी निजी विशेषता होती है।

मानवेतर चित्रण के अन्तर्गत ऐसे जड़ और चेतन उपादानों को लिया जा सकता है जो एक प्रकार की विशेषता को चित्रित करते हैं और जिनमें एक निश्चित कलात्मक व्याख्या निहित पाई जाती है।



विशेष :—विषयवस्तु और विषय-विन्यास एक विवेचन—

विषय-वस्तु और विषय-विन्यास का विवाद प्रमुख रूप से तीन मुख्य दृष्टि-कोणों को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। प्रथम विषय-वस्तु को महत्त्व देता है, द्वितीय विषय-विन्यास को और तृतीय दोनों के आवश्यकतानुसार सामंजस्य को। प्रथम वर्ग के लोगों का मत है कि **सौन्दर्य विचार की दीप्ति है**[1] **और विषय-विन्यास प्रत्यय का दृश्य प्रकटीकरण है।**[2] **प्रत्यय (विचार) कला की आत्मा है और आकार उस का बाह्य आवरण। आत्मा या आन्तरिक विचार के सुन्दर और आकर्षक हो जाने पर आवरण स्वयमेव दीप्तिमय हो जाता है।** द्वितीय दृष्टिकोण के प्रतिपादकों का कहना है कि **विषय-विन्यास लालित्यबोधीय दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण होता है।** इतालवी विचारक 'दी साँते' के अनुसार

---

1. Beauty is radiation of ideas—Edouard Von Hartman.
2. The form is but the visible manifestation of idea—Hegall.

"**विषय-वस्तु मूर्त विन्यास के लिए आवश्यक है, पर इस का अमूर्त स्वरूप किसी भी प्रकार विन्यास का निर्णायक नहीं होता।** कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि विषय-वस्तु स्वतः में महत्त्वपूर्ण है, पर यह कलाकार के मस्तिष्क में निर्जीव और निष्क्रिय रूप में पड़ा रहता है। इसके परिणामस्वरूप यह बहुत ही कमज़ोर विन्यास के द्वारा अभिव्यक्त हो पाता है। इस प्रकार के विषय-वस्तु का अपने में जो भी महत्त्व हो, वह साहित्य की दृष्टि से बेकार होता है। कभी हम देखते हैं कि विषय-वस्तु त्रुटिपूर्ण, गलत, अनैतिक और महत्त्वपूर्ण है, पर यह निश्चित देश, काल और वातावरण में कलाकार के मस्तिष्क को आन्दोलित कर देता है। इस क्रिया के परिणामस्वरूप जो विन्यास प्राप्त होता है वह स्थायी होता है।......विषय-वस्तु इतिहास के विभिन्न स्वरूपों के अनुसार बदलता और परिवर्तित होता रहता है, पर **विषय-विन्यास कला का स्थायी तत्त्व सिद्ध होता है।**[1] इस प्रकार के विचारकों का क्रम **निरन्तर चलता रहा है**[2] **और**

---

1. Content is essential for production of concrete form, but the abstract quality of content does not determine the quality of artistic form. If the content though beautiful and important remains inoperative, lifeless or waste within the mind of the artist, if it had no sufficient generative power and reveal itself in weak, false or vitiated form, then the content may be important in itself, as literature it is worthless. On the other hand the content may be immoral, absurd, false or frivolous, but if at certain times or in certain circumstances it has worked powerfully on the brain of the artist and taken form, such content is immortal............The content is subject to all the hazards of history. It is born and it dies, the form is immortal.

2. To me the content of a work of art is everything that existed before its artistic creation. For instance the story of daokon before the making of well known Statue.........Form is everything that artist brings to this content, whether it had been suggested to him by someone else, or whether he has freely chosen it for himself. In other words, form is the manner and mode in which the artist perceives and conceives this given content in his heart, and the manner and mode in which he gives it concrete shape in his work.

'कोर्नाडलेंज' ने इसे नये रुप में विश्लेषित करने का प्रयत्न किया है। इन्होंने विषय-वस्तु और विषय-विन्यास को दो अलग रूपों में प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि विषय-वस्तु कला-सृजन के पूर्व प्रस्तुत सामग्री है और विषय-विन्यास इस सामग्री की अभिव्यक्ति का उपक्रम। 'लैंज' महोदय की यह मान्यता कटु आलोचना का विषय बनी। 'वेलरी' ने इन दोनों को विशिष्ट और भिन्न माना है, फिर भी उनकी निष्पत्ति 'लैंज' से सर्वथा भिन्न है। उनकी दृष्टि से कलाकार अपनी कला के विषय का गवेषक और कलाकृति का निर्माणक है। उसके विषय स्थायी, मूलादर्शात्मिक और सार्वजनीन किसी भी प्रकृति के हो सकते हैं। इस क्रिया के पश्चात् वह विशुद्ध विन्यास-प्रधान तत्त्वों की ओर झुकता है। उसकी क्रिया निर्माण और पुनर्निर्माण की क्रिया होती है। सत्य यह है कि विषय-वस्तु और विषय-विन्यास एक दूसरे को इतना नियंत्रित और प्रभावित करते हैं कि उन्हें **सर्वथा अलग करके मूल्यांकन का विषय बनाना कठिन है।**

यह उपर्युक्त दृष्टिकोण विशेष महत्त्वपूर्ण है और आज यही किसी न किसी रूप में मान्य भी है। इस दृष्टि से हम दो विचारकों की मान्यता को प्रस्तुत करते हैं। पहले प्रमुख विचारक हैं 'मोरिस वेइत्ज़'। इनका कहना है कि **कलाकृति की सभी विशेषतायें न तो विषय-वस्तु में निहित रहती हैं और न विषय-विन्यास में।** वे वस्तुतः इन दोनों के परस्परानुमोदित स्वरूप पर निर्भर रहती हैं। कलाकृति मूर्त माध्यम द्वारा व्यक्त सावयव रचना है। इस रचना में अनेक तत्त्वों और व्यंजक विशेषताओं के साथ ही इनसे उत्पन्न संबंध भी सहायक सिद्ध होते हैं। इस दृष्टि से केवल विषय-वस्तु और विषय-विन्यास संबंधी विवेचन एकांगी और निरर्थक हैं। इनसे सौन्दर्यशास्त्रीय विवाद का जन्म हो सकता है, समस्या का समाधान नहीं। दूसरे विचारक हैं 'वारेन' और 'वेलेक'। ये भी स्पष्ट रूप से इसी बात को निरूपित करते हैं। इनका कहना है, "**विषय-विन्यास को ललित्यबोधीय दृष्टि से सक्रिय और विषय-वस्तु को निष्क्रिय मानना अदूरदर्शिता** का परिचायक है। एक दृष्टि से इनकी विभाजक रेखा स्पष्ट हो सकती है। अगर हम विषय-वस्तु को कलाकृति में निरूपित विचार और संवेग मान लें तो विन्यास को ऐसा भाषाशास्त्रीय स्वरूप मानना आवश्यक हो जायगा जो इस विचार और संवेग को अभिव्यक्त करने के साधन हैं। परन्तु इस विभेद को और सूक्ष्मता से विश्लेषित किया जाय तो यह सरलता से स्पष्ट हो जाता है कि विषय-वस्तु में विषय-विन्यास के कुछ

तत्त्व निहित रहते हैं और विषय-विन्यास में विषय-वस्तु के। कलात्मक संघटना में इन दोनों का अद्भुत समन्वय होता है। यह समन्वय सुनिश्चित लालित्य-बोधीय स्वरूप का परिचायक माना जा सकता है।[1] ये मान्यतायें विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त इस सन्दर्भ में कुछ अन्य सिद्धान्तों का उल्लेख भी अपेक्षित है। इस दृष्टि से 'डोनैल्ड टोवे', 'स्पेण्डर' और 'विमसाट्' का नामोल्लेख किया जा सकता है। प्रथम दो विचारकों ने अपने विवेचन के क्रम में **अन्तर्विरोधपूर्ण तनाव के सिद्धान्त** को प्रस्तुत किया है। 'टोवे' ने स्पष्ट रूप से इस तथ्य को प्रतिपादित किया है कि, प्रत्येक कला के विषय-विन्यास और विषय-वस्तु में अन्तर्विरोध पाया

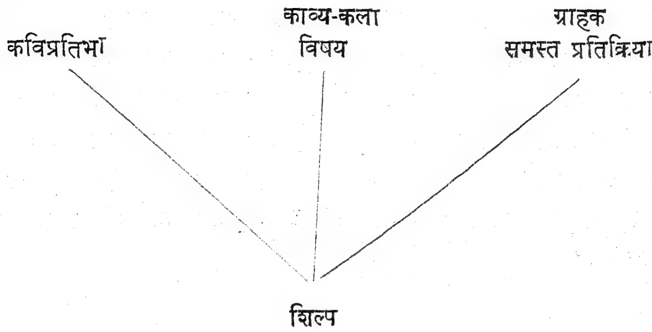
---

1. A distinction between form as the factor aesthetically active and the content aesthetically indifferent meets with insuperable difficulties. At first sight the boundary line may seem fairly definite. If we understand by content the ideas and emotions conveyed in work of literature, then the form would include all linguistic elements by which contents are expressed. But if we examine this distinction more closely, we see that content implies some element of form, e. g. the events told in a novel are parts of the content, while the way in which they are arranged into a 'plot' is a part of the form. Things become even more disastrous for the traditional concepts, when we realise that even in language commonly considered part of the form it is necessary to distinguish words in themselves, aesthetically indifferent and the manner in which individual words make up units of sound and meaning aesthetically effective. It would be better to rename all the aesthetically indifferent elements materials, while the manner in which they acquire aesthetic efficacy may be styled structure. This distinction is by no means a simple renaming of the old pair content and form. It cuts right across the old boundary lines. 'Material' includes elements formerly considered part of the content and parts formerly considered formal. 'Structure' is the concept including both content and form and as they are organised for aesthetic purpose. The work of art is then considered as a whole system of signs, or structure of signs serving a specific aesthetic purpose.

जाता है। यह अन्तर्विरोध कलाकार के कला की रचना में सफल हो जाने के पश्चात् अदृश्य हो जाता है। इस सुलझाव की स्थिति के बावजूद यह अन्तर्विरोध कलाकार और भावक के मस्तिष्क में विद्यमान पाया जाता है कि विषय वस्तु का कुछ अंश शिल्प के नियम का विशेष उपादान है। संगीत को छोड़कर अन्य कलाओं में यह अन्तर्विरोध सदैव किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। 'स्टीफेन स्पेण्डर' भी प्रकारान्तर से इसी तथ्य के समर्थक हैं। वे स्पष्ट रूप से इस बात को प्रतिपादित करते हैं कि निश्चित ढाँचे में किसी सामग्री को प्रस्तुत करना कला नहीं है। कलाकार अपने जीवन्त विचारों को कलात्मक स्वरूप प्रदान करने अथवा अपनी इच्छा-शक्ति को अभिव्यक्त करने के लिए आदर्श रूप का निर्माण करता है जो सर्वतोभावेन उसके उपयुक्त होता है और किन्हीं अंशों में रूप की सीमा का अतिक्रमण भी करता है। उनका कहना है कि चिन्तन और कलासृजन के परि-प्रेक्ष्य में, "हमें इस बात का अभिज्ञान हुआ कि कलात्मक रूप का उद्भव कड़ाई के साथ नियम-पालन से नहीं होता। यह तो वस्तुतः उस प्रयत्नपूर्ण संघर्ष से होता है जो किसी सुनिश्चित विन्यास में महत्वपूर्ण सामग्री को समेट लेने के लिए किया जाता है।" उदाहरण के लिए रचना के दो स्वरूपों को लिया जा सकता है। एक स्वरूप तो वह है जब निर्दोष छन्द रचना के लिए हम अपनी सामग्री में काट छाँट करते हैं, दूसरा स्वरूप वह है जब हम छन्द की सदोषता और निर्दोषता से अपनी दृष्टि हटा कर सामग्री को अभिव्यक्त करने में तल्लीन रहते हैं। इस दूसरी स्थिति में हमें एक विशेष प्रकार की शक्ति का अनुभव होता है। इस अनुभव में विन्यासोन्मुख संघर्ष विद्यमान रहता है। "इसीलिये इस स्थिति में गति, उद्देश्य और इच्छा-शक्ति के उस स्वरूप का तिरोभाव रहता है जो आदर्श विन्यास के निरूपण के साथ ही कला के उस स्वरूप का संकेत करता है जिसमें वह उस सीमा का अतिक्रमण करने में समर्थ है।"

'विमसाट' ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' में विन्यास की सीमा, विषय-वस्तु और विषय-विन्यास के अन्तःसंबंध और सृजक, भावक तथा कलाकृति आदि से संबंधित महत्वपूर्ण समस्या पर विचार किया है। पूर्ववर्ती पृष्ठों में कवि और प्रतिभा के साथ ही कला एवं उसके विषय-वस्तु पर विचार किया गया है। यह सत्य है कि कलाकार प्रतिभासंपन्न व्यक्ति होता है और वह अपनी क्षमता से परोक्ष और अपरोक्ष तथ्यों का अवगाहन कर सकता है। वह संपूर्ण संसृति के दृश्य और अदृश्य स्वरूप का आलोड़न और मंथन करता है और उपलब्ध विषय-वस्तु को शिल्प के माध्यम से प्रस्तुत करता है। यह विषय-वस्तु-

विन्यासमय कलाकृति भावक के समक्ष प्रस्तुत होती है। कवि परिभू, स्वयंभू और प्रजापति है, भावक अपनी भावना में उसके द्वारा प्रस्तुत सामग्री का पुनर्सृजन करने वाला मनीषी। इस प्रकार कला की स्थिति कवि और भावक की मध्य-वर्तिनी मानी जा सकती है। इसे निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :—



स्पष्ट है कि विषय और शिल्प अन्योन्याश्रित होते हैं, फिर भी कलाकार इनकी स्थिति से कुछ अवगत अवश्य रहता है। उसकी दृष्टि में विषय-वस्तु और विषय-विन्यास दोनों का महत्त्व होता है। वह किसी का सर्वथा परित्याग नहीं करता। वह (कलाकार) अपने समक्ष विषय-वस्तु, तकनीक के रूप, कलात्मक सामग्री, व्यक्तित्व के आग्रह, योग्यता और प्रेरणा सब कुछ को उपस्थित पाता है। उसे अपनी विषम अनुभूति को अभिव्यक्त करना पड़ता है। इसकी अभिव्यक्ति का स्रोत केवल विषय-विन्यास होता है। वह इसी के द्वारा अमूर्त को मूर्त स्वरूप प्रदान करता है। अतएव इन पर दृष्टिपात करना उसकी निजी विशेषता और गुण है। उसे इन दोनों पर विचार करना पड़ता है। आलोचक भी इन्हीं शब्दों के माध्यम से कलाकार की संपूर्ण क्रिया का ज्ञान प्राप्त करता है। व्यावहारिक दृष्टि से इनकी उपर्युक्त मान्यता विशेष सहायक सिद्ध होती है, पर सैद्धान्तिक दृष्टि से यही कहना उपयुक्त है कि कला के घटक न तो केवल विषय-वस्तु से सम्बद्ध होते हैं और न विषय-विन्यास से। इनका सम्बन्ध दोनों से होता है। अतएव इन्हें सर्वथा भिन्न मानना त्रुटिपूर्ण है। वस्तुस्थिति यह है कि समन्वित विषय-वस्तु कलात्मक विषय-विन्यास का उपजीव्य है। अतएव हमें अभिव्यंग्य और अभिव्यक्त के विभेद से परिचित होना चाहिए। तात्पर्य यह कि व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दृष्टियों से इन पर विचार करना आवश्यक है।

आचार्य हजारी प्रसाद 'द्विवेदी' ने इस विवादास्पद प्रश्न का जो समाधान

प्रस्तुत किया है वह भी महत्वपूर्ण है। उनका कहना है, ''मनुष्य छन्द से, वर्ण-विन्यास से, काकु से, वचन-वक्रता से अपार इच्छाशक्ति का समाधान करना चाहता है। इच्छा अनन्त है, क्रिया सान्त है। इच्छा काल है, क्रिया देश है। गति और स्थिति का यह द्वन्द्व चलता रहता है, इसी से रूप बनता है, इसी से छन्द बनता है, इससे नृत्य बनता है, इसी से धर्माचरण बनता है, इसी से नैतिकता बनती है। इन सब को छाप कर, सबको अभिभूत करके, सबको अन्तर्ग्रथित करके जो सामग्र्य भाव प्राप्त होता है वह सौन्दर्य का दूसरा रूप है। एक प्राकृतिक सौन्दर्य है, दूसरा मानवीय इच्छाशक्ति का विलास। दूसरा सौन्दर्य प्रथम द्वारा चालित होता है, पर है मनुष्य के अन्तरतम की अपार इच्छा-शक्ति को रूप देने का प्रयास। एक केवल अनुभूति देकर विरत हो जाता है, दूसरा अनुभूति द्वारा अभिव्यक्त होकर अनुभूति की परंपरा का निर्माण करता है।''

अष्टम तरंग

प्रतीक

अभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रतीक, बिंब, मिथक और रूपक विशेष महत्वपूर्ण माने जाते हैं। प्रतीक का आलोचना और लालित्यबोध के क्षेत्र में पर्याप्त विवेचन भी किया गया है। इस पर मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक और समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार किया गया है। **दार्शनिक विचारकों ने प्रतीक का प्रयोग व्यापक अर्थ-सन्दर्भ में किया है और इसके अन्तर्गत शब्द, भाषा, मुद्रा एवं सम्पूर्ण वाङ्मय को समेट लेने का प्रयत्न किया है। समाजशास्त्रीय विचारकों ने इसे सामाजिक रीति-रिवाज, श्रद्धा और विश्वास तथा धर्म और संस्कार के परिप्रेक्ष्य में विवेचित और विश्लेषित किया है और मनोवैज्ञानिक विचारकों ने इसे मानसिक क्रियाओं के घात-प्रतिघात के सन्दर्भ में निरूपित करने की चेष्टा की है।** बाह्य दृष्टि से देखने पर ऐसा लग सकता है कि इन सभी विचारकों का दृष्टिकोण एकांगी है, पर आन्तरिक दृष्टि से इन पर मनन करने से यह सरलता से ज्ञात हो जाता है कि ये सभी दृष्टिकोण एक दूसरे के पूरक और प्रकाशक हैं।

दार्शनिक विचारकों ने सर्वप्रथम आनुभविक ज्ञान की विशिष्टता को निरूपित किया है और इस प्रकार के ज्ञान के मूल में प्रस्तुत ऐन्द्रिय बोध की पृष्ठभूमि में प्रतीक की व्याख्या की है। इस विवेचन-क्रम में उन्होंने द्रष्टा और दृश्य, आलंबन और आश्रय तथा शब्द और अर्थ पर गम्भीरता से विचार किया है। पौरस्त्य साहित्य इस प्रकार के विवेचन का आगार है। इसमें शब्द और अर्थ के साथ ही अनुभूति तथा अभिव्यक्ति और आलंबन तथा आश्रय के विविध सूक्ष्मातिसूक्ष्म आयामों को ग्रहण करने की कोशिश की गई है। 'कालिदास' ने '**वागर्थाविव संपृक्तौवागर्थ प्रतिपत्तये**' कह कर इसका अभिज्ञान कराया है तो आचार्य 'कुन्तक' ने इसकी परस्परस्पर्द्धी चारुता के उल्लेख द्वारा इनके निहित अन्त: सम्बन्ध का भान कराया है। पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनों साहित्यों में

शब्द-शक्तियों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है और इनके परिग्रहरण के विविध स्वरूपों और सोपानों को स्पष्टतापूर्वक निरूपित करने की कोशिश की गई है। 'जर्मनी' की 'वेजेटेबुल ग्रोथ ऑव जीनियस' की विचारधारा इस तथ्य को पूर्णरूप से प्रतिध्वनित करती है। परवर्ती विचारकों में 'कोलरिज' 'कोलिंगवुड' 'कैसिरर', 'लैंजर' और 'रिचर्ड्स' ने इस पर सूक्ष्म-व्यापकता के साथ विचार किया है। 'रिचर्ड्स' आदि ने स्पष्टता से इस तथ्य को निरूपित भी किया है, कि "**यथार्थ प्रतीक-निर्माण है और इसे अर्थ-संघटन से जाना जा सकता है।**"

'प्रतीक' के दार्शनिक पक्ष के निरूपण में शब्दार्थ के माध्यम से अनुभूति की अभिव्यक्ति के साथ इसके साधक और बाधक स्वरूप का अवलोकन करना विशेष समीचीन है। पाश्चात्य साहित्य में शब्द और अर्थ के दार्शनिक विवेचन की निश्चित परम्परा का दर्शन होता है। 'एमर्सन' ने, भारतीय विचारकों की ही तरह, शब्दार्थ को अलौकिक माना है और इसकी क्रिया को अन्योन्याश्रित। परवर्ती विचारक उनकी इस मान्यता से सहमत न हुए। इस असहमति के मूल में ऐन्द्रिय अवबोध-सम्बन्धी क्रियाओं का नया अभिज्ञान निहित था। 'एमर्सन' के अनुसार मानव का मानस सर्वातिशायी क्रियाओं का पुञ्ज माना गया था। उपर्युक्त मान्यता के 'अवतरण' के साथ इसका विरोध होना स्वाभाविक था। **परंपरा और प्रयोग का द्वन्द्व सदैव नये साहित्य सिद्धान्त का जन्मदाता सिद्ध हुआ है।** हुआ भी यही। 'मेलवाइल' ने **पद्धतिपरक विरोधाभास** (methodological significance) के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए, इस बात पर बल दिया कि महत्व की दृष्टि से द्रष्टा और दृश्य में अभेद की स्थिति पाई जा सकती है, फिर भी इसका उद्भव और अन्त विरोधाभास में होता है। इनके पश्चात् इस विचार का सूत्र आगे बढ़ा और 'एड्गर एलेन पो' ने कलाकार और कौशल की बात उठाई। **उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि कलाकार कौशल से अलंकृत होता है, इसीलिए वह शब्दों को सुनिश्चित ढाँचे में ढालने का कार्य संपादित करता है।** उनकी यह मान्यता परवर्ती प्रतीकवादी विचारकों की प्रेरणा-स्रोत सिद्ध हुई।

इस निकाय के आलोचकों में 'ह्वाइट हेड' और 'सुसन के० लैंजर' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'ह्वाइट हेड' ने अवबोध के सन्दर्भ में **परिग्रहण के सिद्धान्त** (Doctrine of prehension) की चर्चा की है। इस सिद्धान्त के द्वारा वे उपादानों और वस्तुओं के सम्बन्ध का विवेचन करते हैं।

उनकी धारणा है कि कलात्मक अवबोध द्विविध होता है। यह सकारात्मक-नकारात्मक अथवा सशक्त-अशक्त किसी भी प्रकार का हो सकता है। सशक्त एवं विषम संवित सकारात्मक अवबोध सक्षम होता है और जड़ एवं अशक्त संवित नकारात्मक अवबोध सक्षम। जब विषय एवं उससे सम्बद्ध प्रज्ञात्मक अवबोध आपस में मिलते हैं तो सप्राण व्याख्या और सशक्त अनुभूति का आदान-प्रदान संभव होता है। जब यह आदान-प्रदान किसी संवेदनशील क्रिया का अंग हो जाता है तो अनुभूति के संवित् निर्मित होते हैं। उनके अनुसार मूल अवबोध के दो प्रकार हैं :—

(१) आकस्मिक प्रभावोत्पादक विधि (mode of casual efficacy)

(२) प्रत्यक्ष दर्शन विषयक तारतम्य की विधि (mode of presentational immediacy)

इनके अतिरिक्त उन्होंने तृतीय विधि की कल्पना भी की है। इसे प्रतीक-सन्दर्भ-विधि की संज्ञा दी जाती है। यह तृतीय विधि विशेष महत्त्वपूर्ण मानी गई है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इसी विधि में प्रत्ययी क्रिया गतिशील होती है और प्रथम दो विधियों का संचरण भी संभव होता है। अनुभूत विचारों के सक्रिय होने की कतिपय शर्तें हैं। जब ज्ञान-संवित् पृथक रूप से प्रतीक-सन्दर्भ के माध्यम से स्मृति में प्रस्तुत प्रतीकों से सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो अनुभूत विचार सप्राण हो उठते हैं। स्पष्ट है कि इस सन्दर्भ में परिस्थितियों का सद्यः अवबोध विशेष महत्त्वपूर्ण होता है। प्रतीक सन्दर्भ की यह मान्यता उन्हें कई अपवादों से मुक्त करती है। वे इस तथ्य से अवगत हैं कि परिस्थितियों में भेद हो जाने से आश्रय और आलंबन में भेद हो जाना स्वाभाविक है। इनके सम्बन्ध का भी अपना महत्त्व होता है। प्रतीकों का सम्बन्ध द्रष्टा की मानसिक स्थिति या मनोदशा से भी हुआ करता है। इसमें उसकी अनुभूति का आवश्यक सहयोग रहता है। पर **सभी मनोदशायें और अनुभूतियाँ प्रतीक की जनक नहीं होतीं।**

'सुसन के० लैंजर' ने प्रतीक पर गंभीरता से विचार किया है उनके विचारों से कला के क्षेत्र में प्रतीकों की पुनर्प्रतिष्टा हुई है, इस दृष्टि से इनका अपना महत्त्व हैं। 'लैंजर' महोदया ने प्रतीक के सन्दर्भ में भाषा पर विचार किया है। उनका विचार है कि "भाषा का प्रमुख उद्देश्य संप्रेषण माना गया है, पर शिशुओं द्वारा प्रयुक्त कलात्मक भाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसे (भाषा को) केवल संप्रेषण का माध्यम मानना अतिरंजनापूर्ण है। इस तथ्य

का अभिज्ञान विशेष महत्त्वपूर्ण है कि यह (भाषा) स्वर का मूर्तीकरण है जो यथार्थ को प्रतीक रूप में देखने के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होता है। यही विशेषता भाषा को संप्रेषण सक्षम बनाती है। यह वैचारिक आदान-प्रदान का प्रमुख साधन है। इसी क्रिया के क्रम में इसके विषम और संकुल स्वरूप परिष्कृत होकर निश्चित स्वरूप के परिचायक बन गये हैं।"[1] स्पष्ट है कि **यथार्थ को प्रतीक रूप में देखना भाषा की प्रमुख विशेषता है। इसे उन्होंने उच्चकोटि का प्रतीकवाद** (High form of Symbolism) **माना है।** इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने स्वीकार किया है कि "**भाषा केवल प्रतीकों का समुच्चय नहीं अपितु सक्रिय सावयव संघटना है। वस्तुतः प्रतीक इस संघटना के प्रमुख तत्त्व हैं। भाषा के शब्द भिन्न प्रस्तर खण्डों की तरह बिल्कुल असम्बद्ध नहीं होते। इनका आपस में निश्चित सम्बन्ध ही नहीं होता, अपितु निश्चित संकुल संघटना भी होती है। इसी अन्तःसम्बन्ध और सङ्घटना के कारण ये विषम सांसारिक सम्बन्धों को सार्थक रूप में अभिव्यक्त करते हैं।**"[2] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भाषा में उत्कृष्ट प्रतीकवाद के साथ ही अन्य विशेषतायें भी रहती हैं। इसे सावयव संघटना माना गया है, और इसके प्रमुख तत्त्व और निर्मित उपादान को प्रतीकवादी कहा गया है। भाषा के शब्दों का निश्चित सन्दर्भ और परिवेश भी होता है।

1. The primary function of speech is generally said to be communication. The artistic speech of children seems to show that the purely communicative aspect of language has been exaggerated. It is best to admit that language is primarily a vocal actualisation of the tendency to see reality symbolically. That is precisely this quality which renders it fit instrument for communication and that it is in the actual give and take of social intercourse that it has been complicated and refined in the form in which it is known to-day.

2. For language is much more than a set of sumbols. It is essentially an organic functioning system, of which the primary elements as well as the constructed products are symbols. Its forms do not stand alone, like so many monoliths each making its own isolated grave, but instead, they tend to integrate, to make complex patterns and thus to point out equally complex relationships in the world, the realm of their meaning.

'लैंजर' महोदया ने शब्दार्थ-विज्ञान के क्रमिक विकास का उल्लेख किया है। उनके अनुसार सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के विचारकों ने ज्ञान को ज्ञाता और ज्ञेय अथवा इन्द्रिय प्रदत्त सामग्री और उसके अनुषंग के सन्दर्भ में विवेचित किया है। 'देकार्त' (Descarte) के विवेचन से मानस और उसके विवेचन का शास्त्रीय मनोविज्ञान अवतरित हुआ है। 'लॉक' (Lock) ने ऐन्द्रिय त्वरा (sensory immediacy) को यथार्थ का मानदण्ड बतलाया है। 'हॉब्स' ने उत्पत्ति विषयक विधि (Genetic method) के माध्यम से साधारण विचारों से असाधारण विचारों की ओर उन्मुख होने की चर्चा की है। इनके अतिरिक्त 'बर्कले' और 'ह्यूम' ने भी महत्त्वपूर्ण निष्पत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। 'हॉब्स' की मान्यता से हीं 'पावलोव' के नियंत्रित प्रत्यावर्तन (conditioned reflex) और 'ल्योब' के प्रतीक अलंकरण (Tropism) को प्रेरणा मिली है।

१६वीं शताब्दी का इतिहास 'काण्ट' के अनुभूति के सर्वातिशायी सिद्धान्त से आरम्भ हुआ। इसके विकास के प्रथम चरण में ही द्रष्टा-दृश्य, प्रत्यय-बोध और विषय-वस्तु और विषय-विन्यास सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण पक्ष सामने आये। अनुभववाद और सर्वातिशायी सिद्धान्त दो भिन्न दिशाओं की ओर उन्मुख होते रहे, प्रथम का उपजीव्य विज्ञान था और द्वितीय का धर्म। इनके द्वारा उन प्रश्नों का समाधान न मिल सका जो उस समय विशेष महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। इन सिद्धान्तों में शब्दार्थवादी सिद्धान्त किसी न किसी रूप में विद्यमान था। बाद में यह विचारधारा दार्शनिक चिन्तन में परिणित हो गई। इसके परिणामस्वरूप सांकेतिक चिह्न, प्रतीक, इनके माध्यम से अभिव्यक्ति, अर्थपूर्ण स्वरूप प्रदान करने की विधा और संप्रेषण पर विविध रूपों से विचार किया गया। गणित की मान्यताओं से इसमें नवीन मान्यताओं का समावेश हुआ। शब्दार्थ-सम्बन्धी मान्यताओं के अन्तर्विरोध भी अब तक स्पष्ट हो चुके थे। इन सब को हृदयंगम करने और उन पर वैज्ञानिक ढंग से विचार करने के पश्चात् 'लैंजर' ने अपनी प्रतीक-सम्बन्धी निष्पत्ति को प्रस्तुत किया है। विवेचन के आरम्भ में ही उन्होंने इन्द्रिय-प्रदत्त सामग्री के प्रयोग की बात उठाया है और प्रतीकीकरण को मनुष्य के जीवन की प्रमुख आवश्यकता घोषित किया है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वैचारिक अभिव्यक्ति को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करने के लिए यह परम आवश्यक है। वे कहतीं हैं, "तथ्य रूप में मानस की क्रिया को प्रतीकीकरण न मानकर विचार की क्रिया को

मानस का विशिष्ट प्रतीक मानना अधिक उपयुक्त है। इस क्रिया को प्रमुख क्रिया माना जा सकता है।"[1] प्रतीकीकरण सोद्देश्य और सबल माध्यम सिद्ध होता है। आरम्भ में लेखिका ने इसे ऐसा कौशल माना था जो विभेदीकरण को संभव बनाता है।[2] बाद में उन्हें इस बात का एहसास हुआ कि विभेदीकरण की क्रिया को प्रतीक माना जा सकता है और नहीं भी माना जा सकता। अतएव इस ज्ञान के कारण उन्हें अपनी उपर्युक्त मान्यता को परिवर्तित करना आवश्यक हो गया। उन्होंने कहा भी कि, "वह विधा जिससे विभेदीकरण संभव है प्रतीक तत्त्व है और हर विभेदीकरण में प्रतीक निहित रहता है।"

'लैंजर' महोदया ने **कला के प्रतीक और कला में निहित या प्रयुक्त प्रतीक को परस्पर भिन्न माना**। यह विभेद कार्य और प्रकार की दृष्टि से किया गया था। कला में प्रयुक्त प्रतीक अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। उनके निहितार्थ को शब्दार्थवादी विचारक स्वीकार करता है। इन निहित अर्थों और बिंबों को कला-निर्माण का संघटक तत्त्व माना जा सकता है। इन्हीं के आधार पर कलाकृति और उसके अभिव्यंजक स्वरूप का निर्माण होता है।

उसके **अभिव्यंजक विन्यास को कला-प्रतीक के नाम से अभिहित किया जाता है**। यह उपर्युक्त अर्थ में प्रतीक नहीं माना जा सकता, इसका प्रमुख कारण यह है कि यह अपने से परे किसी वस्तु को अभिव्यक्त नहीं करता। इसमें अर्थ के स्थान पर ध्वनितार्थ को महत्त्व दिया जाता है। इसकी कुछ मान्य विशेषतायें होती हैं। 'लैंजर' के शब्दों में, "इसमें यथार्थ प्रतीक की सभी विशेषतायें नहीं पाई जातीं, अतएव इसे विशिष्ट अर्थ में प्रतीक मानना उचित है। यह स्पष्ट बौद्धिक बोध या स्वयंप्रकाश के लिए अनुभूति को सूत्रबद्ध रूप में प्रस्तुत कर सकता है, पर अव्यवस्थित विचार के लिए कोई अमूर्त-प्रत्यय नहीं प्रस्तुत कर पाता। इसकी विशेषतायें इसमें प्रस्तुत रहती हैं, परन्तु ये कला में निहित प्रतीक की विशेषताओं से भिन्न होती हैं। **कला में प्रयुक्त प्रतीक स्पष्ट**

1. As a matter of fact it is not essential act of mind that is symbolisation, but an act essential to thought symbolisation is the special act of mind.

2. Any device whereby we are enabled to make an abstraction.

या अस्पष्ट रूप से साहित्यिक अभिप्राय, पूर्ण रूपक या बिंब माने जाते हैं।''[1]
'लैंजर' की यह मान्यता महत्त्वपूर्ण है।

दार्शनिकों के अतिरिक्त **मनोवैज्ञानिकों** ने भी प्रतीक पर विचार किया था। इस निकाय के विचारकों ने दमित भावनाओं की छद्म अभिव्यक्ति, प्रतीक और परिस्थिति के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध और संवेग-संदर्भ पर विशेष रूप से ध्यान दिया है। मनोवैज्ञानिक इस बात को मानते हैं कि व्यक्ति, मानस-प्रतीकों के माध्यम से भावाभिव्यक्ति करता है। इस अभिव्यक्ति में अचेतन की दमित भावनाओं की प्रतीकात्मक व्यंजना का विशेष महत्त्व होता है। 'ई० जोन्स' का कहना है,[2] "दमित भावनायें प्रायः सामान्य क्रिया में प्रतिच्छायित होती रहती हैं। इनमें संवेदनशीलता पाई जाती है, अतएव ये अचेतन को परिवर्तित रूप में चेतन के स्तर पर लाकर उसके अनुरूप परिवेश प्रदान करती रहती हैं। अचेतन से चेतन तक आने की संपूर्ण क्रिया को केवल प्रतीक

---

1. It is symbol in the special and derivative sense, because it does not fulfill all functions of a true symbol. It formulates and objectifies experience for direct intellectual perception, or intuition, but it does not abstract a concept for discursive thought. Its import is seen in it, not like the meaning of genuine symbol, by means of it, but separable from the sign. The symbol in art is a metaphor, an image with overt or covert literal significance.

2. A final means of expression of repressed material, one which lends itself to very general use, on account of its special sensibility for disguising the unconscious and adapting it (by compromise-formation) to new contents of consciousness is the symbol. By this term we understand a special kind of indirect representation which is distinguished by certain peculiarities from the simile, metaphor, allegory, allusions and other forms of pictorical representations of thought material to all of which it is related. The system represents an almost ideal union of all these means of expression, it is a substitutive perceptual replacement, an expression for something hidden, with which it has evident characterstics in common, or is coupled by internal associative connections.

द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। प्रतीक विशिष्ट प्रकार के अपरोक्ष-निरूपण का परिचायक है। यह अपनी विचित्रता के कारण, उपमा, रूपक, अध्यवसित रूपक, संकेत और अन्य प्रकार के चित्रमय निरूपणों से भिन्न है। प्रतीक में अभिव्यक्ति के सभी आदर्श सम्बन्धों का समावेश पाया जाता है। **यह वस्तुतः स्थानापन्न प्रातिबोधिक प्रतिस्थापन है जो किसी प्रच्छन्न वस्तु को अभिव्यक्त करता है।** इसके साथ उसका आन्तरिक सहकारी सम्बन्ध होता है। इसीलिए इन दोनों की अधिकांश विशेषतायें उभयनिष्ट होती हैं।" इस उद्धरण में प्रतीक की परिभाषा और उसकी कुछ शर्तों का उल्लेख किया गया है। इसे मूलतः दमित अचेतन भावनाओं के प्रच्छन्न स्वरूप को चेतन विन्यास द्वारा अभिव्यक्त करने का उपयुक्त माध्यम माना गया है। यह उपमा, रूपक अध्यवसित रूपक से भिन्न, पर उन सभी की विशेषताओं से अलंकृत होता है। प्रतीकीकरण में मानसिक पक्ष से सम्बन्धित त्रिविध स्वरूपों का समावेश रहता है। ये स्वरूप निम्नांकित हैं—(१) **अचेतन ग्रंथि** (२) **इनको दमित रखने वाले स्वरूप, और** (३) **अचेतन ग्रन्थियों से प्राप्त उदात्तीकरण की प्रवृत्ति।** उनका यह विवेचन 'फ्रायड' के विचारों से प्रभावित है। 'फ्रायड' ने आरम्भ में मन को चेतन, अर्द्धचेतन और अचेतन में विभाजित किया था। बाद में उन्होंने इस विभाजन के स्थान पर इदं, अहं और आदर्श अहं का नवीन वर्गीकरण प्रस्तुत किया। मनोवैज्ञानिकों ने मन की स्थिति को जल पर तैरते हुए बरफ के पिण्ड सदृश माना है, जिसका ८/९ भाग जल में रहता है और १/९ भाग जल के ऊपर। स्पष्ट है कि मन का अधिकांश भाग अचेतन स्वरूपों का विषय होता है। सामाजिक अंकुश के कारण व्यक्ति की दमित भावनायें इसी में किसी न किसी रूप में निहित रहती हैं। ये दमित भावनायें कभी-कभी चेतन मन के स्तर पर आने का प्रयत्न करती हैं, पर अधीक्षक की मध्यस्थता के कारण अपने मौलिक स्वरूप में नहीं आ पाती हैं। अतएव जब भी ये चेतन धरातल पर आती हैं तो इनका स्वरूप पहले से कुछ भिन्न होता है। हम यह भी कह सकते हैं कि ये छद्मवेष में चेतना के धरातल पर आती हैं। 'लिबिडो' (Libido) के समर्थक मनोविश्लेषक मानते हैं कि ये दमित भावनायें काममूलक होती हैं। इसीलिए जब स्वप्न की स्थिति में ये प्रतीक रूप में अभिव्यक्त होती हैं तो इनका निश्चित सन्दर्भ होता है। मनोविश्लेषणवादी आलोचक मानते हैं कि **चेतन और अचेतन मन में संघर्ष की स्थिति बनी रहती है।** 'डॉ० जोड' ने इसकी तुलना उस कैदी से किया है जो जेल में डाल दिया

गया है, पर अपनी संपूर्ण शक्ति से बाहर आने के लिए प्रयत्नशील है। प्रतिबंधक उस पर रोक तो लगाता है फिर भी वह अपने प्रयत्न से विरत नहीं होता। वह बाहर आने के लिए प्रयत्न करता जाता है। मनोवैज्ञानिक निकाय के कुछ विचारकों ने **कला को इच्छापूर्ति का साधन माना है**। अगर सृजक कला प्रतीकों से अपनी अतृप्त इच्छाओं को पूरा कर लेता है तो उसके व्यक्तित्व में पूर्णता का समावेश हो जाता है। कला आत्म परिष्कार का प्रमुख माध्यम मानी गई है। प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्ति के पश्चात् कलाकार आत्म-सन्तोष और आत्म-परिष्कार का अनुभव करता है।

कुछ अन्य मनोविश्लेषक 'फ्रायड' की इस मान्यता के विरोधी रहे हैं। 'एडलर' ने दमित काम-वासना के स्थान पर अहं के प्रतिस्थापन को महत्त्व दिया है। 'युंग' ने इस विचार-क्रम को सर्वथा अभिनव परिवेश प्रदान किया है। इन्होंने **फ्रायड से भिन्न रूप में मन को चेतनमन, व्यक्तिगत, अचेतन मन और सामूहिक अचेतन मन में विभाजित किया** है। स्पष्ट है कि युंग ने अचेतन मन को द्विविध माना है, (१) व्यक्तिगत अचेतन मन (२) सामूहिक अचेतन मन। उन्होंने आद्य बिंबों एवं मूलादर्शों के माध्यम से अपने कथ्य को अधिक से अधिक स्पष्ट और विकसित स्वरूप प्रदान किया है। युंग ने काममूलक बिंबों को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया है, फिर भी उन्होंने बिंब के जातीय और सांस्कृतिक स्वरूप को विशेष महत्त्व दिया है। उनकी स्पष्ट धारणा है कि **बिंब-सृजन सांस्कृतिक प्रयास है। 'लिबिडो' की स्वाभाविक गति भी कभी-कभी सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित हो उठती है। इसी से प्रतीकों का सृजन होता है। यह प्रयासज नहीं अपितु स्वतः प्रेरित और स्वतः स्फूर्त संमूर्तन** है। इनका कहना है, "सभी ऐसे विचार जो प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति को ज्ञात वस्तु के सदृश या उसके संक्षिप्त अभिव्यक्तीकरण के सदृश मानते हैं अर्द्ध सत्य हैं। वस्तुतः प्रतीक ज्ञात वस्तु के उस ज्ञात स्वरूप का निरूपण है जो सरलता या स्पष्टता से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। ऐसे विचार को जो प्रतीक को ज्ञात वस्तु की इच्छापूर्ण प्रतिकृति मानते हैं अध्यवसित रूपक की संज्ञा दी जा सकती है।"[1] कहना न होगा कि हर प्रतीक का

---

1. Every view which interprets the symbolic expression as an analogous or abbreviated expression of a known thing is semiotic. A conception, which interprets the symbolic expression as the best possible formulation of a relatively known thing which cannot conceivably, therefore, be more clearly, or

मनोवैज्ञानिक पक्ष होता है और वह उसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त से प्रेरित भी होता है जो मानव-जीवन का दिशा-निर्देशक तत्त्व है। युंग के लिए प्रतीक पूरक नहीं है। इसका निजी अर्थ और महत्त्व है। वे कहते हैं कि घटना प्रतीक होती है और यह महत्त्वपूर्ण और सार्थक अवरुद्ध ज्ञान को अप्रस्तुत पर मूर्त स्वरूपों के माध्यम से अभिव्यक्त करती है।

'मनोविज्ञान' के प्रतीक-विवेचन के सन्दर्भ में निम्नांकित तथ्य विशेष रूप से ध्यातव्य हैं :—

(१) प्रतीक के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाला विचार महत्त्वपूर्ण होता है। दमित स्वरूप प्रच्छन्न रूप में अभिव्यक्त किये जाते हैं। इस प्रच्छन्न अभि-व्यक्तीकरण के मूल में प्रतीक किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है।

(२) अचेतन अभिव्यक्ति सदैव प्रतीक अभिव्यक्ति होती है। अभिव्यक्ति के अन्य तकनीकी पक्ष भी होते हैं। यथा, संक्षेपीकरण (Condensation), स्थानान्तरण (Displacement), रूपकीकरण (dramatisation), प्रक्षेपीकरण (projection)। इन सबकी एक विशेषता होती है। ये अचेतन के प्रसुप्त और अदृश्य विषय-वस्तु को स्थानान्तरित करने में सहायक होते हैं। इनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। प्रतीकीकरण की क्रिया अचेतन अथवा अवचेतन में निहित तथ्यों को प्रतीक के माध्यम से प्रकट करती है। सारांश यह कि प्रतीकीकरण प्रमुख है और अन्य स्वरूप इसके सहायक माने जाते हैं। प्रतीक के माध्यम से अज्ञात को ज्ञात, अपरोक्ष को परोक्ष और अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष रूप में मूर्तिमान किया जाता है।

(३) प्रतीक दमित भावनाओं के साथ ही मूलादर्शों को भी प्रकट करता है। मूलादर्श को मानवता की जातीय उपलब्धि माना जा सकता है। प्रतीक-निर्माण आद्यबिंबों का भी मुखापेक्षी होता है।

(४) प्रतीक यथार्थ को संभव रूप में समझने और विश्लेषित करने के उपयुक्त माध्यम हैं। वस्तुतः विषयगत एवं वस्तुगत अथवा चेतन और अचेतन में संघर्ष की स्थिति बनी रहती है। इसे आधुनिक शब्दावली में तनाव की स्थिति की संज्ञा दी जाती है। प्रतीकीकरण की क्रिया इस तनाव को सुलझाती है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि अन्तःमन में दमित भावनाओं और दमन करने वाली

---

characteristically represented is symbolic. A view which interprets the symbolic expression as an intentional transcription or transformation of a known thing is allegoric.

इच्छाओं में द्वन्द्व की स्थिति पाई जाती है। इस संघर्ष में अहं विजयी होता है और इदं दमित (पराजित)। ये भावनायें दमित होकर शान्त नहीं हो जातीं अपितु अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग खोजने में रत रहती हैं। यह अभिव्यक्ति सदैव प्रतीकमय होती है।

(५) प्रतीक का विषय दमित भावनाओं का आश्रित होने के साथ ही चिन्तन के पूर्ववर्ती स्वरूपों का मुखापेक्षी भी होता है। 'रैंक' और 'शॉस' (Rank and Schos) नामक विद्वानों का मत है कि, **"मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रतीक निर्माण परावर्तित घटना है। इसे कुछ चित्रमय विचारों के स्तरों** की **ओर स्पष्ट प्रत्यावर्तन माना जा सकता** है। यह क्रिया सुसभ्य व्यक्ति में उस समय देखी जा सकती है जब, असामान्य परिस्थिति में यथार्थ परिग्रहण की क्रिया इस प्रकार नियंत्रित की जाती है जिस प्रकार यह धर्म या कला के परमानन्द में नियंत्रित की जाती है; या वैसे विश्रृंखलित रहती है जैसे स्वप्न या मानसिक व्यतिक्रम में विश्रृंखलित रहती है।"[1]

(६) **'सिलबेरर' ने प्रतीक के मूल में अन्तर्दृष्टिपूर्ण अपूर्णता** (appercep-tive Insufficiency) को विशेष महत्व दिया है। उनका कहना है कि इस अपूर्णता के कारण हम प्राचीन और नवीन विचारों के भेद को समझने में असमर्थ रहते हैं। मस्तिष्क के समक्ष यह भिन्नता निरन्तर बनी रहती है। यह इस विभेद को नहीं स्पष्ट कर पाता कि प्रतीक और प्रतीकीकृत विचार भिन्न और अलग हैं। आद्य या प्राचीन मानस इस विभेद को स्पष्टता से समझ लेता है। अतएव यही प्रकारान्तर से सभी प्रकार के प्रतीकों का जनक माना जाता है।

(७) कुछ मनोवैज्ञानिकों ने प्रतीक का वर्गीकरण भी किया है। **उनके अनुसार यह तीन प्रकार का होता** है। (१) कार्यात्मक (functional) (२) भौतिक (material) और (३) कायिक (Somatic)। प्रथम मानस की

---

1. Psychologically considered, symbol formation remains a regressive phenomena, a reversion to a certain stage of pictorial thinking, which in fully civilised man is most plainly seen in those exceptional conditions in which conscious adoptation to reality is either restricted, as in religious and artistic ecstasy, or seems to be completely abrogated as in dreams and mental disorders.

क्रिया के स्वरूप को प्रस्तुत करता है, द्वितीय में चिन्तन के उपादान को प्रतीक के माध्यम से निरूपित किया जाता है, और तृतीय कायिक संवेदनों को प्रतीक रूप में प्रस्तुत करता है। 'सिलबेरर' के इस वर्गीकरण को अपूर्ण मान कर 'फिस्टर' (Pfister) ने एक दूसरा वर्गीकरण प्रस्तुत किया। इनका कहना था कि उपर्युक्त वर्गीकरण अचेतन मन की क्रिया को सर्वथा छोड़ गया है। इनका वर्गीकरण निम्नांकित है, (१) चेतन और (२) अचेतन। प्रथम संप्रेषण के उद्देश्य को पूरा करके सामाजिक कार्य संपादित करता है और द्वितीय कुछ हद तक अगम्य और अचिन्त्य होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि यह ऐसे तत्वों से उद्भूत होता है जिनकी अभिव्यंजना नियंत्रित (Inhibited) है। कुछ अन्य विचारकों ने इस पर स्वप्न-प्रतीकों के सन्दर्भ में विचार किया है और इसे जीव-वैज्ञानिक मानस से सम्बन्धित धार्मिक और नैतिक माना है। 'फ्रायड' ने स्वप्न-प्रतीकों का उल्लेख किया है और 'युंग' ने मानसिक और धार्मिक प्रतीकों को उपजीव्य बनाया है। 'स्टेकेल' ने प्रमुख रूप से धार्मिक और नैतिक प्रतीकों का उल्लेख किया है।

(८) कला व्याख्या-सापेक्ष्य होती है, इस व्याख्या में इसके प्रतीक निहित रहते हैं। व्याख्या के ही द्वारा प्रच्छन्न तत्वों का रहस्योद्घाटन होता है। कला धर्म, मिथक और भाषा में दमित मनोभाव सामूहिक अचेतन के मूलादर्शों को प्ररोचित करते हैं। इन मूलादर्शों से प्रतीक का उद्भव होता है। सत्य यह है कि कला, धर्म, मिथक और भाषा मानव के मानसिक स्तरों के मानवीकृत स्वरूप हैं। इस मानवीकरण के मूल में मूलादर्श अवश्य प्रस्तुत रहते हैं। इनका प्रतीक से निश्चित संबंध होता है। 'युंग' का कहना है, मूलादर्श उस स्रोतस्विनी के सदृश है, जो जल समाप्त हो जाने के पश्चात् सूख तो गई है, फिर भी यथासमय उनमें जल आने का संभावना बनी हुई है। मूलादर्श उस पुराने जल-गृह के सदृश हैं जिसमें जलरूपी जीवन अपने गहरे अन्तःस्रोत से कुछ समय तक निरंतर प्रवाहित हुआ है। जितने समय तक यह बना रहा, उसी अनुपात में इसके प्रवाह का मार्ग भी गहरा होता गया। आज भी पुनः इस बात की संभावना बनी हुई है कि उसमें जल पुनः लौट आवेगा। सामाजिक व्यक्ति इस जीवन-रूपी जल को नियंत्रित करने में पूर्ण समर्थ है।"[1]

---

1. Archetypes resemble the beds of rivers, which have dried up, because the water has deserted them; but it may return at any time. An arcetype is something like an old

(९) दमित भावनाओं के प्रतीकीकरण के सन्दर्भ में वैयक्तिक पक्ष के निरूपण को विशेष महत्त्व दिया गया है। सामूहिक अचेतन और मूलादर्श के विवेचन के द्वारा विचारकों ने इसे निर्वैयक्तिक स्तर प्रदान करने का प्रयत्न किया है। कुछ लोगों ने मिथक को भी निर्वैयक्तिक माना है।

(१०) प्रतीक विभिन्न अर्थस्तरों के संश्लेषण के परिणामस्वरूप उद्भूत होता है। उदाहरण के लिए किसी भी प्रतीक को लिया जा सकता है और उसके माध्यम से इसे स्पष्ट किया जा सकता है।

प्रतीकों पर **समाजशास्त्रीय दृष्टि** से भी विचार किया गया है। ये विचारक कला और समाज में अन्योन्याश्रित संबंध के प्रतिपादक हैं। इनका मत है कि कला सांसारिक संबंधों से निरपेक्ष रूप में शून्य से नहीं उद्भूत होती। वस्तुतः इनके दृष्टिकोण में समाज सापेक्षता और अन्योन्याश्रयिता का महत्त्व विशेष रूप से द्रष्टव्य है। **समाजशास्त्रीय विचारकों ने सृजक, कला और सृजक के सामाजिक परिवेश पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है और इसी के माध्यम से कला को समझने और समझाने का प्रयत्न भी किया है।** इस सन्दर्भ में 'हैरी लेविन' का यह उद्धरण विशेष रूप से प्रचलित है, "साहित्य सामाजिक प्रभावों का परिणाम ही नहीं अपितु सामाजिक प्रभावों का प्रमुख कारण भी है।"[1]

कहना न होगा कि समाजशास्त्रीय विचारकों के अनुसार उपर्युक्त सभी विचार एकांगी और संकीर्ण हैं। इनकी धारणा है कि **प्रतीक प्रमुखतः सभ्यता और संस्कृति के संकुल वैविध्य का प्रतिफलन है। यह विशेषता कला के प्रतीकों में मूल रूप से पाई जाती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि ये प्रतीक मानव के मनोरागों और मनोविकारों के परिचायक होने के कारण सभ्यता और संस्कृति के निश्चित विकास की निश्चित सरणि के द्योतक होते हैं।**

---

water-house along which the water of life flowed for a time, digging a deep channel for itself. The longer it flowed the deeper the charvel, and more likely it is that sooner or later the water will return. Individual in society and love all in state, may control this water to a certain extent and regulate it like a canal.

1. Literature is not only the effect of social causes, it is also the cause of social effects.

प्रतीकों के विवेचन की दृष्टि से दो प्रकार की बातों पर विचार करना पड़ता है, (१) अविकसित सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक और (२) विकसित सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक। प्रथम कोटि के प्रतीक अपने मौलिक स्वरूप में सरल, सहज और स्पष्ट होते हैं पर द्वितीय अभिव्यक्ति लाघव के कारण वक्र, कुटिल और दुरूह। समाजशास्त्रीय विचारकों ने मानव की क्षुधा और काम की प्रवृत्ति को विशेष महत्त्व दिया है। इसी दृष्टि से प्रेरित हो कर उन्होंने धार्मिक मिथक से संबंधित प्रतीकों में इन्हीं तथ्यों को खोजना चाहा है। इन विचारकों के अनुसार प्रतीक दो प्रकार के होते हैं। **प्रथम कोटि में वे प्रतीक आते हैं जो हमारी लालित्यबोधीय भावना को प्ररोचित करते हैं और दूसरी कोटि में वे प्रतीक आते हैं जो निर्वैयक्तिक होने के कारण प्राविधिक कामों में प्रयुक्त होते हैं।**

अब तक हमने प्रतीक के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय विवेचन का निरूपण किया है। वैसे इन ज्ञान-राशियों की अपनी कसौटी और अपना मानदण्ड है, फिर भी ये दृष्टिकोण आपस में सर्वथा विच्छिन्न नहीं हैं। यथार्थ में ये एक दूसरे को आलोकित और प्रभावित करते हैं। इस दृष्टि से इन्हें परस्पर विच्छिन्न मानना उपयुक्त नहीं है। आगे के विवेचन में इस तथ्य को सरलता और स्पष्टता से निरूपित किया जायगा।

प्रतीक-बिंब और रूपक (Symbol-Image and Allegory) :—

प्रतीक और अध्यवसित रूपक का विवेचन कई दृष्टियों से विचारकों के चिन्तन का विषय रहा है। 'कोलरिज' ने सर्वप्रथम इनके विभेद की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। उनका मत है, **"रूपक किसी अमूर्त विचार को मूर्त और चित्रमय भाषा में अभिव्यक्त करने का प्रमुख साधन है, पर प्रतीक व्यक्ति की प्रजाति या सार्वभौम विशिष्टता की पारदीप्ति है। इसे सीमित के माध्यम से असीमित, अपरोक्ष के माध्यम से परोक्ष और दृश्य के माध्यम से अदृश्य शाश्वतता का प्रतिभास माना जा सकता है।"**[1] 'कोलरिज' ने रूपक पर नकारात्मक दृष्टि

1. An allegory is but a translation of abstract notion into picture language, which in itself is nothing but an abstract from objects of senses, the principal being more worthless than its phantom proxy, both alike unsubstantial and the former shapeless to boot. On the other hand...a symbol is characterised of a translucence of the special (The species) in individual, or of the general (the genus) in the special, or of the universal in general, above all by translucence of the eternal through and in the temporal.

से विचार किया है। उनकी यह व्याख्या आधुनिक मान्यताओं के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण नहीं सिद्ध होती। इसी प्रश्न पर विचार करते हुए 'यीट्स' ने भी कहा है, " 'प्रतीकवाद' ने अनुभूति को उस रूप में अभिव्यक्त किया जिस रूप में वह अन्य किसी भी माध्यम से अभिव्यक्त नहीं की जा सकती थी। इसे समझने के लिए उपयुक्त सहज वृत्ति की अपेक्षा थी। रूपक अनुभूति को उस रूप में प्रस्तुत करता है जिससे अच्छे रूप में वह अभिव्यक्त की जा सकती है। इसे समझने के लिए उपयुक्त ज्ञान की अपेक्षा होती है। **एक ने मूक को मुखर बनाया और अमूर्त को मूर्त कलेवर प्रदान किया जब कि दूसरे ने किसी दृश्य या श्रुत घटना को अर्थपूर्ण बनाया।**"[1] 'यीट्स' ने इस विवेचन के कुछ महत्त्वपूर्ण स्वरूपों का उद्घाटन किया है। सत्य यह है कि रूपक एक परम्परा है जिसके माध्यम से मानव की चेतना के आन्तरिक मनोराग स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किये जा सकते हैं। इसमें आत्मा के विभिन्न स्वरूप मानवीकृत रूप में प्रस्तुत रहते हैं। मानवीकरण की विशेषता के कारण इनका वैयक्तिक पक्ष विशेष रूप से उभड़ा होता है। इसमें आधान और कार्य के स्वरूप क्रियाशील रहते हैं। इन स्तरों का सम्बन्ध प्रतीकीकृत उपादान और प्रतीकीकरण की क्रिया से होता है। सृजन के समय कलाकार का ध्यान इन दोनों स्तरों पर होता है। रूपक में विशिष्ट प्रतीक अभिव्यंजना का विधान पाया जाता है। यह उद्देश्य मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति से प्रभावित होता है। इसीलिए यह मिश्रित काव्य-प्रेरणा से आरम्भ होकर स्वतःस्फूर्त वर्णनात्मकता में बदल जाता है। इसका रहस्य उसके अन्तर्मंथन से स्पष्ट होता है। इस स्थिति में इसका मानसिक पक्ष स्पष्ट रूप से अलग होकर नाटक के पात्रों की तरह मानवीकृत रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत हो जाता है। उत्तम कोटि का रूपक उच्च कोटि की प्रतिभा की उपज होता है। प्रतीकबद्ध रूपक, प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत व्यक्ति और मानस की क्रियाओं में प्रतीकात्मक आदान-प्रदान

---

1. Symbolism said things, which could not be said so perfectly in any other way, and needed but a right instinct for its understandings while allegory said things which could be said as well, or better in another way, and needed a right knowledge, for its understanding. The one gave dumb things voices, while the other read a meaning into something heard or seen, and loved less for meaning than for its own sake.

बना रहता है। इस दृश्यकथा और अन्तस्थ अदृश्य कथासूत्रों की आत्म-निर्भरता विशेष रूप से दर्शनीय होती है। इस प्रकार का रूपक सामाजिक और वैयक्तिक चेतना के निश्चित स्तर से सम्बद्ध होता है। इसमें अन्तः-स्पन्दनों को अभिव्यक्त करने की तीव्र अभिलाषा विद्यमान रहती है।

विचारकों का ध्यान प्रतीक और रूपक के साम्य वैषम्य के निरूपण की ओर विशेष रूप से गया है। उनके अनुसार प्रतीक में प्रस्तुत का निरूपण होता है, पर रूपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का। प्रथम विधायक-कल्पना-प्रवण अन्तर्दृष्टि से प्राप्त होता है, पर द्वितीय स्मृति द्वारा। इसीलिए 'एडवर्ड होनिंग' ने प्रतीक के साहित्यिक स्वरूप को रूपक की संज्ञा दी है।

रूपक अर्थ-विस्तार की क्रिया है। इसके माध्यम से अर्थ के कई स्तर एक साथ ही अभिव्यक्त किये जा सकते हैं। इसीलिए इसे बहुसमावेशक या अनेकयुज कहा जाता है। **रूपक सादृश्य-गर्भित होता है। प्रतीक अर्थ-संकोच की क्रिया है** जो मूल रूप में विविध-सन्दर्भों के व्यंजना की मुखापेक्षी है। प्रतीक में एक ही शब्द या अप्रस्तुत विधान सम्पूर्ण अर्थ-सन्दर्भ को व्यंजित करता है। **रूपक का सादृश्य आरोपित होता है, पर प्रतीक का समास रूप से उसी में परिव्याप्त रहता है। इन्हें जानने के लिए पाठक को सतर्क रहना पड़ता है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी प्रतीक प्रेम को जितनी सफलतापूर्वक चित्रित करता है रूपक उतनी सफलतापूर्वक चित्रित नहीं कर सकता। रूपक को समझने के लिए ज्ञान का आश्रय आवश्यक है, पर प्रतीक को समझने के लिए सहज बुद्धि अपेक्षित होती है। सत्य यह है कि रूपक में उपमा और प्रतीक दोनों की विशेषतायें प्रच्छन्न रूप से विद्यमान रहती हैं। इसीलिए 'पीकॉक' ने इसे 'कॉ० ट्रैक्शन ऑव सिमिली बाइ इण्टेन्सिफाइड सिम्बॉलिज्म' की संज्ञा दी है।**

अँग्रेज़ी में बिंब के लिए 'इमेज' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी धातु रूप से 'इमेजिनेशन' शब्द भी निष्पन्न हुआ है। इससे यह तथ्य स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि बिंब-निर्माण की क्रिया प्रतिभा या विधायक कल्पना की मुखा-पेक्षी है। पौरस्त्य साहित्य में भी जहाँ प्रतिभा को विवेचित किया गया है वहाँ 'क्षणं स्वरूप स्पर्शोत्था' की बात कही गई है। ऐसा माना जाता है कि **जब कल्पना का विधायक पक्ष मूर्त रूप में अभिव्यक्त होता है तो बिंब की रचना होती है और जब ये बिंब किसी निश्चित अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं तो उन्हें प्रतीक माना जाता है।** इस प्रकार प्रतीक और बिंब प्रकारान्तर से अन्योन्याश्रित सिद्ध होते हैं। प्रतीक और बिम्ब दोनों में उपमान आवश्यक रूप से प्रस्तुत रहते हैं। जब

तक इन उपमानों का स्वरूप रूढ़ नहीं हो जाता—निरन्तर गतिशील बना रहता है—तब तक इनका संबंध बिंब से होता है, पर ज्यों ही ये किसी निश्चित सन्दर्भ में रूढ़ हो जाते हैं त्यों ही इन्हें प्रतीक की संज्ञा मिल जाती है। **सारांश यह कि गतिशील उपमान बिंब का निर्माण करते हैं और निश्चित अर्थों से रूढ़ बिंब प्रतीक का।**

प्रतीक और मिथक

सृजन के सन्दर्भ में इनके साम्य-वैषम्य पर पर्याप्त विवाद हुआ है। लैंजर की धारणा है कि बिंब यथार्थ प्रभाववादी प्रवाह से प्रत्यय को अलग करके प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। ये सामान्य विचारों के स्वतः स्फूर्त स्वरूप हैं। बिंब सृजन मानव की अशिक्षित और अव्यवस्थित क्रिया का परिणाम है। आरम्भ में यह गल्प-निर्माण से संबद्ध होता है। वायवी कल्पना (fantasy) इसका प्रमुख उपस्कारक होती है। इसी से, इस स्तर पर, रूपकमय कल्पनायें आविर्भूत होती हैं। इच्छा और इस वायवी कल्पना में अविच्छेद्य संबंध होता है। इच्छा-शक्ति मानस को आन्दोलित और प्रेरित करती है। आदिम व्यक्ति जीवन और मृत्यु की रहस्यमयी लीला से विशेष रूप से प्रभावित था। इसके परिणाम-स्वरूप वह ईश्वर में विश्वास करने लगा। इस विश्वास से मानवता के कुछ प्रतीक उत्पन्न हुए। ये प्रतीक उस समय के भाव-संवेगों के परिचायक थे। ईश्वर में विश्वास करने के कारण धार्मिक कर्म-काण्डों का अवतरण हुआ। ये कर्मकाण्ड मानस की बुद्धि से प्रसूत और उसे उद्‌बुद्ध करने के प्रमुख साधन सिद्ध हुए। कर्मकाण्ड से संस्कार बने। ये संस्कार मानव अनुभूति के अभिव्यंजक रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हुए। मोक्ष और स्वर्ग-नरक की परिकल्पनायें भी विशेष महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुईं। इन्हीं विश्वासों के क्रम में जादू-टोने की बात सामने आई। जीवन के प्रति अन्धभक्ति धर्म के विकास का प्रमुख साधन बन गई। **इसी से कुछ अन्य जीवन-प्रतीक उत्पन्न हुए। इन्हें मिथक माना गया। इस प्रकार मिथक के मूल में धर्म की भावना विशेष रूप से सक्रिय रही। सारांश यह कि कर्मकाण्ड, विश्वास और संस्कार के आधार पर मानव ने मिथक के स्वरूपों का निर्माण किया।**

प्रतीक से संबंधित कुछ बातों का उल्लेख इसी अध्याय में किया गया है। उपर्युक्त पंक्तियों में मिथक के उद्‌भव की बात को निरूपित करने के पश्चात् इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि मिथक और प्रतीक में क्या साम्य या वैषम्य है। 'जार्ज व्हेले' ने इस प्रश्न पर विचार किया है। **उनकी धारणा है कि**

प्रतीक विशिष्ट प्रकार के रूपक हैं और मिथक रूपक की क्रिया से लक्षित होने वाला प्रतीकों का समुच्चय। जिस प्रकार रूपक के उद्भव के मूल में "वैचारिक टकराहट, द्वन्द्व, सुलझाव और केन्द्रीकरण' का भाव निहित रहता है उसी प्रकार प्रतीक निर्माण में भी ये विशेषतायें विद्यमान रहती हैं। प्रतीक स्वतः किसी वस्तु का परिचायक नहीं होता, यह तो केवल विविध संबंधों का सन्दर्भ-सूचक माना जाता है। इसकी अर्थवत्ता इसी सन्दर्भ की मुखापेक्षी होती है।

'मिथक' धर्म पर आधारित होता है। यह प्रतीकों के मूर्त-स्वरूप के माध्यम से यथार्थ के स्वरूप को उद्घाटित करता है। इसे प्रकारान्तर से यथार्थ का अभिव्यंजक माना जा सकता है। इसका सुनिश्चित उद्देश्य और स्रोत होता है और यह निश्चित स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। यह विश्वास उत्पन्न करने का साधन मात्र नहीं होता। यह तो वस्तुतः मानव द्वारा गवेषित और उद्घाटित तथ्यों को समझने का प्रमुख माध्यम माना जाता है। इसी के द्वारा मानव समाज की एकता और अन्तर्निहित सूक्ष्मता का परिचय मिलता है। 'रिचर्ड्स' ने इन्हीं तथ्यों को दृष्टिपथ में रखकर कहा भी है, "किसी बात में विश्वास पैदा करना ललित कल्पना का कार्य है। इसे विधायक कल्पना का कार्य मानना त्रुटिपूर्ण है। महान और विवेकपूर्ण निजंधरी कथायें ललित कल्पना प्रसूत नहीं होतीं। वे ता मानव की संपूर्ण आत्मा की पुकार मानी जाती हैं। इसीलिए चिन्तन उनका अवगाहन करने में असमर्थ सिद्ध होता है। वे केवल मनोरंजन की अभिलाषा नहीं जिन्हें अवकाशपूर्ण शान्ति के क्षण में खोजा जाय। उन्हें पलायन भी नहीं माना जा सकता। वे तो मूलरूप में जीवन की कटु अनुभूति का प्रक्षेपण, प्रतीकात्मक मान्यता, सहयोग और स्वीकृति हैं। निजंधरी कथाओं से हमारी इच्छा एकत्रित, शक्ति अन्वित और विकास नियंत्रित होती है। इसी के माध्यम से मानव जीवन से संबंधित अनन्त वैविध्यपूर्ण तथ्य समन्वित होते हैं।"[१]

1. Make believe is an enervating excercise of fancy not to be confused with imaginactive growth. The saner and greater mythologies are not fancies, they are utterances of whole soul of man, and as such inexhaustible to meditation. They are no amusement or diversion to be sought as a relaxation, and an escape from hard realities of life. They are these hard realities in projection, their symbolic recognition, coordination and acceptance. Through such mythologies our will is collected, our powers unified, our growth controlled. Through them the infinitely divergent sayings of our being are brought into balance and reconciliation.

साहित्य में हमें 'मिथक' और 'मिथकीय' शब्दों का प्रयोग मिलता है। यह प्रयोग स्वतः कुछ विशेषताओं का सूचक होता है। उदाहरण के लिए इसकी कहानी काल्पनिक होती है। इसमें नैसर्गिक पात्रों और घटनाओं के साथ कुछ सर्वप्रिय विचारों का प्रयोग किया जाता है। यह यथार्थ का मूर्त-स्वरूप होता है। इसकी भित्ति विश्वास पर टिकी रहती है और इसमें वैज्ञानिक मूल्यों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। यह निश्चित कथा-सूत्र पर आधारित होता है, पर इस कथासूत्र को सदैव प्रस्तुत रहना आवश्यक नहीं माना जाता। सत्य यह है कि यह ऐसे प्रतीकों का समुच्चय है जो अपनी प्रतिध्वनि द्वारा यथार्थ के व्यापक स्वरूपों को चित्रित करते हैं। इसके वर्णन-प्रधान रूप को 'लीजेण्ड'—निजंधरी कथा—की संज्ञा दी जाती है। इस निजंधरी कथा में ऐतिहासिक घटनाक्रम को काल्पनिक स्वतन्त्रता के साथ निरूपित करने का कौशल निहित रहता है। 'मिथ' में आद्य-प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है जो हर दृष्टि से अन्तर्भुक्त होते हैं। इसके आरंभ में इन्हीं प्रतीकों की आन्तरिक व्याख्या विशेष रूप से क्रियाशील पाई जाती है। इन आद्य प्रतीकों की निजी विशेषता होती हैं। जब ये किसी अन्य परिवेश, वातावरण या विश्वास के रूप में बदल जाते हैं तो आन्तरिक प्रतीक भी नये अर्थ सन्दर्भ के परिचायक बन जाते हैं। **प्रतीक सृजन और पुनर्सृजन द्वारा अपने रूप की रक्षा करते हैं, पर मिथक वैयक्तिक चिन्तन द्वारा इसे बनाये रहते हैं।** परंपरित और अपरंपरित (नये) प्रतीक लेखक द्वारा गृहीत होने पर सृजन में सहायक सिद्ध होते हैं पर मिथक के साथ यह बात लागू नहीं होती। मिथक कुछ अंशों में रहस्यमय और धर्म-प्राण होते हैं और इसकी चेतना त्रासही पर आधारित होती है, पर प्रतीक में यह बात नहीं पाई जाती। 'मिथक' परी की कहानी से भिन्न होता है। परी की कहानी में वैयक्तिक असंतोष काल्पनिक धरातल पर प्रतिष्ठित होते हैं। इसी विशेषता के कारण ये मनुष्य को संतोष भी प्रदान करते हैं, पर **मिथक विशेष रूप से मानव की अभीप्सित और चिर-इच्छित अभिलाषाओं से प्रादुर्भूत होता है।** प्रायः देखा जाता है कि मानव की इन अभिलाषाओं के परितोष के मार्ग में आधिदैविक बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। इन बाधाओं और अभिलाषाओं में संघर्ष होता है। इसीके परिणामस्वरूप मिथक की कल्पना प्रादुर्भूत होती है। इस कल्पना में प्रतीकीकरण की भावना पाई जाती है। **प्रतीकीकरण से विचारों का मूलस्रोत तो अवगुण्ठित हो जाता है, पर उनका प्रत्यय अधिक स्पष्ट रूप में प्रतिभासित होने लगता है। परी की कहानी को**

काल्पनिक प्रवृत्ति का परिष्कृत रूप ही मिथक का प्राण होता है। साहित्य और कला के प्रतीकों का इसमें सहयोग तो रहता है, पर उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। ये इसी के स्वरूप में अन्तर्ग्रंथित रहते हैं। मिथक में भौतिक, प्राकृतिक और आध्यात्मिक प्रतीकों की बहुलता होती है और इसका प्रयोग कला को जीवन्त और व्यापक अर्थ सन्दर्भ प्रदान करता है, पर प्रतीक के प्रयोग इन विशेषताओं से रिक्त पाये जाते हैं। इनसे अर्थ की स्पष्टता और अभिव्यक्ति की सुकरता में सहायता मिलती है। मिथक जब मानवीकृत रूप के साथ ही (अपने संघटन के आरंभ, मध्य और अन्त के सामंजस्य के साथ निश्चित परिवेश में प्रस्तुत किया जाता है तो सृजन की दृष्टि विशेष महत्वपूर्ण सिद्ध होने लगती है। आवश्यकता केवल इस बात की होती है कि इसका कथा-तत्व कलात्मक और प्रौढ़ हो। प्रतीक के प्रयोग में कलाकार सन्दर्भ के प्रति सचेष्ट तो रहता है पर कथा-तत्व के प्रयोग की बात भी नहीं उठती। मिथक के प्रयोग से सामाजिक विचारों के साथ ही दार्शनिक विचारों को स्पष्ट करने में सहायता मिलती है। इसी के द्वारा महान और संघर्षशील विचारों का आद्य स्वरूप निरुपित किया जाता है और मानव तथा मानवेतर तथ्यों को समुचित रूप में सृजन का विषय बनाया जाता है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से मिथक और प्रतीक का भेद विशेष रूप से दर्शनीय है। 'एडविन होनिंग' ने उसे अधोलिखित रूप में प्रस्तुत किया है -

"......The word allegory (Gr. allegoria, Fr. allos+agoria—other+speaking) and the word symbol (Gr. Symbolon, Fr. Syn+ballein - with or together—to throw) became related through shifting usage to the word myth, (Gr. Mythos—word, speech—talk—tale) and the word mystery (Gr. mysterion, Fr. mystes—close mouthed, Fr. myein, 'to shut'), Mythos is originally the 'word' the first tale, which Greek thought subsequently distinguished from the synonyms epos+loges. Mythos thus entails the activity of allegoria—'other speaking' or 'speaking otherwise than one seems to speak'—as well as symbolon the throwing together of word and thing, and the activity indicated by 'mythos' 'allegoria' and 'symbolon' is synonymous with rather than contrary to the activity indicated by mysterion, the unspoken, close mouthed, as established by sacred use."

मिथक सृजन का मेरुदण्ड है, फिर भी इसकी सीमा को निर्धारित करना कठिन है। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि इसके स्वरूप में घनीभूत आद्यबिंब निरन्तर विद्यमान रहते हैं। इसका निर्माण दो विरोधी तत्त्वों से होता है, प्रथम तत्त्व मकड़ी के जाले की तरह सूक्ष्म और कोमल होता है और दूसरा तत्त्व दुर्भेद्य तथा कठोर। कहना न होगा कि यह निर्माण में सुकोमल और अन्तस्थ शक्ति में कठोर होता है। 'कोलरिज' ने इसी विशेषता को ध्यान में रखकर इसे 'Subtle vulcanian Spider', 'Net of Steel' की संज्ञा से अभिहित किया है। इसे उन्होंने लौह से भी कठोर और ईथर से भी सूक्ष्म माना है। विचारकों के अनुसार (प्रमुख रूप से कोलरिज) इसके सूक्ष्म और कोमल ढाँचे को स्पर्श करते ही विचारों का तारतम्य अपने जीवन्त अन्तस्थ स्वरूपों में फूट पड़ता है जो विकासोन्मुख होकर निश्चित मिथक केन्द्र की ओर उन्मुख होने लगता है। **जब यह प्रवाह रहस्यमय अनुभूति के अज्ञात स्वरूपों से संश्लिष्ट हो जाता है तो इससे भूत के भूले-बिसरे चित्रों के अनन्त आनन्द और यंत्रणा अथवा सुख और दुख के स्वरूप प्रतिध्वनित होने लगते हैं। अपनी इस क्रिया द्वारा कलाकार वायवी शून्यता को एक साकार अर्थवत्ता प्रदान करता है। यही है वस्तुतः उस महान सृजन का इतिहास। इसके चाक-चक्य में कलाकार अज्ञात गह्वरों में निरुद्देश्य दिग्भ्रमित होता रहता है, अचानक स्वयं प्रकाश की कौंध से उसका तर्क, चिन्तन, निरुद्देश्य परिभ्रमण और दिशाहीन संवेदन निश्चित स्वरूप प्राप्त करने लगता है और वह आर्किमीडीज की तरह आनन्दविभोर होकर कह उठता है, पा गये, पा गये। इस स्तर तक पहुँचने के लिए कलाकार को अमूर्त विचारों को मिथकीय कलेवर प्रदान करना पड़ता है। इस रूपायन की क्रिया में मिथक और चिन्तन अपनी कतिपय विशेषताओं को त्याग देते हैं। इसे कलात्मक अतिक्रमण की संज्ञा दी जाती है।** मिथक किसी विकसित विचार को रूपायित करने का प्रमुख साधन माना जाता है। यह विशुद्ध रूप में लचीला, नमनीय और कलात्मक दृष्टि से परिवर्तन सापेक्ष्य होता है। यह अनन्त वैविध्यपूर्ण व्यंजक विचारों के सन्दर्भ में अपनी उपयोगिता को स्पष्टता से प्रमाणित कर सकता है। इसमें प्रयुक्त प्रतीक कलात्मक निर्माण के प्रमुख तत्त्व माने जाते हैं। ये प्रतीक मिथक की प्रकृति के अनुसार अभिव्यक्ति का सुनिश्चित स्वरूप ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। बिंब की ही तरह 'मिथक' का सम्बन्ध भी स्मृति से होता है। इसीलिए इन दोनों के सहयोग से यह कभी-कभी ऐसे कलात्मक रूप का निर्माण करता है जो सर्वतोभावेन नया होता है।

यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि प्रतीक और मिथक दोनों सृजन की परम्परा का अवलम्बन तो करते हैं, पर इनकी क्रिया भिन्न होती है । प्रथम अपने पूर्ण उत्कर्ष में विशेषोन्मुख होता है, जबकि द्वितीय सामान्योन्मुख । कहीं-कहीं ये एक दूसरे से ऐसे अन्तर्ग्रंथित पाये जाते हैं कि इन्हें सर्वथा भिन्न मानना कठिन हो जाता है ।

प्रतीक और सांकेतिक चिह्न (Sign & Symbol)

प्रतीक और सांकेतिक चिह्न को विवेच्य बनाने वाले विचारकों में 'चार्ल्स विलियम मोरिस' का नाम विशेष उल्लेखनीय है । इनकी धारणा है कि दैनंदिन व्यवहार में सांकेतिक चिह्नों का प्रयोग विशेष उपादेय सिद्ध होता है । व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में वस्तुओं के गुण के उल्लेख द्वारा उन्हें परखने और समझने की क्षमता प्राप्त करता है । कभी-कभी इन गुणों को मौखिक या लिखित रूप में चित्रित किया जाता है । इस चित्रण से मानव-क्रियाओं के साथ ही उस सह-सम्बन्ध का भी अभिज्ञान होता है जिसकी ओर ये क्रियायें उन्मुख रहती हैं । इस तथ्य के आधार पर सांकेतिक चिह्न को मानवीय सभ्यता को पोषित करने की विधा माना जा सकता है ।

'मोरिस' महोदय ने कला के क्षेत्र में इन सांकेतिक चिह्नों की उपादेयता पर विशेष बल दिया है । उनकी स्पष्ट धारणा है कि इनका सम्बन्ध अभिव्यक्ति से होता है । लेखक महोदय प्रत्ययवाद और अनुभववाद से प्रभावित ही नहीं थे अपितु उन्होंने इस प्रभाव को आत्मसात् भी किया था । इस प्रभाव के कारण उन्होंने कला-सिद्धान्त को द्विविध माना है (१) प्रतिमा से सम्बन्धित संकेत और (२) मूल्यांकन । प्रतिमा यथार्थ होती है अतएव प्रतिमापूर्ण सांकेतिक चिह्न और उसकी व्यंजना अभिन्न होती है । लालित्यबोधीय प्रतिमापूर्ण सांकेतिक चिह्न (Iconic Sign) मूल्यांकन के अभिव्यंजक होते हैं । इसके प्रतिपादकों का मत है कि **कला, वस्तु का प्रशस्तिपूर्ण संमूर्तन होती है** । इनके अनुसार सामान्य प्रतिमापूर्ण सांकेतिक चिह्न—अलालित्यबोधीय प्रतिमापूर्ण चिह्न—केवल सूचना प्रदान करते हैं । 'मोरिस' का यह सिद्धान्त अनुकरण सिद्धान्त से प्रभावित है ।

लेखक की धारणा है कि "**कला भाषा का संबल ग्रहण करती है, अतएव इसे सांकेतिक चिह्नों से अलंकृत माना जा सकता है** । पर इतने से ही समस्या का समाधान नहीं हो जाता । इसका प्रमुख कारण यह है कि **लक्षित करने वाले सांकेतिक चिह्न और लक्षित होने वाले उपादान की प्रकृति का स्वरुप सांकेतिक**

चिह्नों का निर्णायक होता है। ऐसा माना जाता है कि **लालित्यबोधीय सांकेतिक चिह्न हर संभव परिस्थिति का गुणात्मक मूल्य प्रस्तुत करता है।** यह प्रतिमा प्रधान सांकेतिक चिह्न होता है, अतएव इसके लिए किसी न किसी माध्यम का उपस्थित होना आवश्यक है। कलाकार इस माध्यम को इस प्रकार नियोजित करता है कि यह किसी भी महत्वपूर्ण अनुभव को अपने द्वारा प्रकट कर सके। इस रूप में **कलाकृति ऐसा सांकेतिक चिन्ह सिद्ध होती है जो मूल्य या मूल्य के संघटन को प्रस्तुत करती है।** यह मूल्य कलात्मक संघटन में ही निहित रहता है, अतएव कलाकृति के अवलोकन की स्थिति में इसे स्पष्टता से देखा और परखा जा सकता है। **कलाकृति कलाकार की मूल्य की अवधारणा का प्रमुख आधान है, पर इसे सभी लोग सरलता से नहीं जान पाते। इसे वही व्यक्ति परख सकता है जो इसके माध्यम के सुनियोजित सामंजस्य से अवगत है और इस तथ्य को सरलता से हृदयंगम कर सकता है कि कला मूल्य-संप्रेषण की भाषा है।**

यह पूछा जा सकता है कि लालित्यबोधीय सन्दर्भ में ये उपर्युक्त तथ्य किस प्रकार सहायक सिद्ध हो सकते हैं। 'मोरिस' महोदय ने इसका उत्तर सुव्यवस्थित रूप में दिया है। उनके अनुसार लालित्यबोध की भाषा निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति की दृष्टि से उपयुक्त आधारों से अलंकृत होती है। कलाकृति भी प्रतिमोपम संकेत है, वक्तव्य नहीं, अतएव लालित्यबोधीय विचार केवल सांकेतिक चिह्न तक ही सीमित नहीं रहते। कलाकार भविष्य-वक्ता नहीं होता, वह तो मूलतः सर्जक होता है, इसीलिए कलाकृति के सामंजस्य की आवश्यकता उसे निरन्तर उद्बोधित करती रहती है। इस सन्दर्भ में कलाकार के लिए यह परम आवश्यक है कि समग्र सांकेतिक चिह्नों के परिप्रेक्ष्य में कला के अभिघटक चिह्न इस प्रकार क्रियाशील हों कि प्रतिमोपम सांकेतिक चिह्न के साथ ही मूल्य की भावना भी स्पष्ट हो उठे। मूल्य-निरूपण के लिए प्रयुक्त प्रतिमोपम सांकेतिक चिह्नों में ऐसे चिह्नों का प्रयोग भी हो सकता है जो वैज्ञानिक दृष्टि से परस्पर विरोधी ज्ञात हों। फिर भी इतना याद रखना आवश्यक है कि, "लालित्यबोधीय सांकेतिक चिह्न अपने द्वारा अभिव्यंजित मूल्य में निहित होते हैं। इन चिह्नों के प्रातिबोधिक गुण की व्यंजना विशेष महत्वपूर्ण मानी जाती है। कलाकार इच्छित मूल्य की प्राप्ति के लिए इन चिह्नों के साथ निरंतर प्रयोगरत रहता है। कलाकृति यथार्थ परिस्थिति की मूल्यगत विशेषताओं को निरूपित करती है, अतएव लालित्य-बोधीय चिन्तन को केवल संवेग की अभिव्यक्ति की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

मूल्यगत विशेषतायें वस्तुगत दृष्टि से उपादान की सापेक्ष्य विशेषतायें हैं। अतएव इनके विश्लेषण की लालित्यबोधीय चर्चा उन्हीं विशेषताओं से संबद्ध होती है जिनसे विज्ञान का संबंध है। कला मूल्य को प्रत्यक्ष अनुभूति के लिए आस्वाद्य बनाती है। अतएव इस सत्य की पुनरावृत्ति की जा सकती है कि, "यह मूल्य के लिए प्रयुक्त भाषा नहीं, अपितु मूल्य की भाषा है।"[1]

'मोरिस' की यह मान्यता 'रिची' की विचारधारा द्वारा और भी अधिक विकसित की गई। 'रिची' ने भी इस तथ्य को निरूपित किया कि सांकेतिक चिह्न और प्रतिमोपम सांकेतिक चिह्न आपस में सम्बद्ध ही नहीं होते अपितु मूल्य को भी अभिव्यक्त करते हैं। शब्दार्थवादी सिद्धान्त के अनुसार प्रतिमोपम सांकेतिक चिह्न उसी उपादान को सूचित करते हैं जिसमें उनकी कुछ विशेषतायें पाई जाती हैं। इसी आधार पर इन्हें निरूपित करते हुए हम सरलता से इस तथ्य को प्रतिपादित कर सकते हैं कि जब दो वस्तुओं में गुण-साम्य हो और एक वस्तु को दूसरी का सांकेतिक चिह्न माना जाय तो ऐसे चिह्न को प्रतिमोपम सांकेतिक चिह्न कहा जा सकता है। यह दो प्रकार का होता है (१) विन्यास से संबंधित और (२) विन्यासेतर। ये दोनों प्रकार के चिह्न निश्चित मूल्य के आधान होते हैं। "विन्यासेतर सांकेतिक चिह्न निरूपक माना जाता है, इसीलिए लालित्य-बोध के सन्दर्भ में इसे मूल्य का पर्याय सिद्ध किया गया है।[2] 'रिची' ने इस

1. Since the aesthetic sign itself embodies, the values, it designates in aesthetic discourse, the perceptual quality of the sign vehicles themselves become of great importance, and the artist constantly experiments with special syntactical combinations of these signs to obtain desired value effects. Since the work of art does designate and in many cases denote, the value properties of actual situation, aesthetic discourse is by no means a mere expression of emotions. Value properties are objectively relative properties and objects and in dealing with them aesthetic discourse is concerned with same world with which science and technology are concerned...Art does not except incidentally make statements about values but presents values for direct experience, it is not language about value but language of value.

2. Representative of extra formal sign in an aesthetic object must be values, rather than merely suggestion of values.

बात की चर्चा की है कि अगर चित्रित पुष्प प्रतीक रूप से यथार्थ पुष्प के मूल्य को प्रगट करता है तो इससे लालित्यबोधीय क्रिया पूरी नहीं होती क्योंकि इस स्थिति में अवधान सांकेतिक चिह्न के माध्यम से सीधे निरूपित वस्तु की ओर उन्मुख हो जाता है। मूल्य गर्भित प्रतिमोपम सांकेतिक चिह्नों में निरूप्य वस्तु की विशेषतायें विद्यमान रहती हैं, अतएव हमारा ध्यान सरलता से चित्रित पुष्प पर केन्द्रित हो जाता है। तात्पर्य यह कि जब भावक स्पष्ट रूप से किसी प्रतिमोपम सांकेतिक चिह्न की कल्पना कर लेता है तो वह निरूप्य वस्तु को भी स्पष्टता से समझने लगता है।

'मोरिस' महोदय ने विन्यास से संबंधित चिह्नों का उल्लेख किया है और इन्हें गौण प्रतीक की संज्ञा दी है। उनका कहना है कि लालित्यबोध के क्षेत्र में ये गौण प्रतीक चिह्नों के एक भाग से दूसरे भाग पर ध्यान स्थानान्तरित करने का कार्य सम्पादित करते हैं। इन चिह्नों को न तो लालित्यबोधीय चिह्न माना जा सकता है और न प्रतिमोपम सांकेतिक चिह्न। विन्यासाश्रित और विन्यासेतर सांकेतिक चिह्न परस्पर भिन्न होते हैं। विन्यासाश्रित चिह्नों का अभिधान लालित्यबोधीय उपादान में प्रस्तुत रहता है जबकि विन्यासेतर सांकेतिक चिह्नों का इसके बाहर। विन्यासाश्रित मूल्य विन्यासाश्रित प्रतिमोपम सांकेतिक चिह्न के अभिधान होते हैं, जब कि विन्यासेतर मूल्य इनके प्रतिमोपम सांकेतिक चिह्नों के अनुकूल रहते हैं।

इन विचारकों ने लालित्यबोधीय वाक्य-रचना पर भी दृष्टिपात किया है और इसे विन्यासाश्रित प्रतिमोपम सांकेतिक मूल्य और प्रतिमोपम मूल्य के (बीच) शब्दमय संबंध का मुखापेक्षी सिद्ध किया है।

इन विचारकों के अतिरिक्त 'इजाबेल क्रीड हंगरलैण्ड' ने सांकेतिक चिह्न और प्रतीक को अपना विवेच्य बनाया है। इन्होंने अपने विवेचन में पूर्ववर्ती लेखकों की कुछ त्रुटियों का उल्लेख किया है। ये 'रिचो' की कला-संबंधी धारणा से असहमत हैं। इसीलिए ये कला द्वारा उद्बुद्ध, प्रेरित और समन्वित अभि-रुचि वैविध्य के साथ ही इसके समन्वित होने की क्रिया और विन्यासाश्रित और विन्यासातिरिक्त मूल्यों के एकीभूत होने के स्वरूप पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। ये स्पष्ट रूप से इस तथ्य के हिमायती हैं कि कलाकृति का अनुभव प्रातिबोधिक संघटना के रूप में होता है। बोध-सक्षम मस्तिष्क इसकी विशिष्टताओं का अवबोध विभिन्न स्तरों में प्राप्त करता है। जब लालित्यबोधीय विचारक ऐन्द्रिय विशेषता और उसके सामंजस्य से संबंधित प्रतिबोधिक अनुभूति

पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, तो इससे उपलब्ध होने वाले मूल्य को विन्यासाश्रित मूल्य कहा जाता है। यह शब्द ऐन्द्रिय-बोध के स्वरूप को स्पष्ट नहीं कर पाता। इसकी अभिव्यंजना भी शब्दार्थ-विज्ञान का विषय न होकर व्यवहारवाद और उपयोगितावाद का विषय होती है। अतएव ऐन्द्रिय अवबोध के अभिव्यंजक समन्वय और प्रातिबोधिक बोध केवल विषयाश्रित विशेषता न रह कर लालित्यबोधीय विशेषता के परिचायक सिद्ध होते हैं और संपूर्ण कलाकृति के बोध का इससे स्वत: संबंध स्थापित हो जाता है। कला के क्षेत्र में लालित्यबोधीय मूल्यों के साथ ही कला के मूल्यों का भी उल्लेख मिलता है। कहना न होगा कि इन मूल्यों का आविर्भाव माध्यम की लालियबोधीय संभावनाओं के कौशलपूर्ण प्रयोग से होता है। इस माध्यम की दो विशेषतायें होती हैं, (१) कला की परंपरा का निर्माण और संगठन के चुनाव की योजना, मान और नियम से होता है। माध्यम इनके द्वारा अपेक्षित समग्रता का परिचायक माना जाता है और (२) माध्यम भौतिक और रासायनिक क्रिया की विशेषता के साथ ही इनके समन्वय द्वारा उपलब्ध लालित्यबोधीय प्रभाव का संसूचक होता है। इस प्रकार के माध्यम को समझने के लिए पूर्णबोध सक्षम भावक की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के भावक की भी कुछ विशेषतायें हैं। वह विविध परंपराओं द्वारा उपलब्ध माध्यम की संघटना के साथ ही प्रतिबोधिक प्रभाव उत्पन्न करने वाले विविध भौतिक माध्यमों और तकनीकों से परिचित रहता है। जिन तथ्यों का ऊपर विवेचन किया गया है वे अपने स्वरूप में लालित्यबोधीय नहीं माने जा सकते हैं। इनके लालित्यबोध के क्षेत्र में प्रयोग से कुछ परीशानी भी पैदा हो सकती है। पहली परीशानी यह है कि इनके अनुपयुक्त मूल्यांकन से प्रातिबोधिक संघटन, केवल परंपराओं और तकनीकों का सांकेतिक चिह्न बन जाता है। अतएव इससे बचने की आवश्यकता है। यह तभी संभव है जब कौशल से संबंधित लालित्य-बोधीय क्षमता प्रातिबोधिक संघटना में रूपायित होने लगती है और कलात्मक मूल्यों को उत्पन्न करने वाले स्वरूप लालित्यबोधीय मूल्यों को उत्पन्न करने वाले स्वरूप से व्यापक होने पर भी प्रातिबोधिक संघटना में केन्द्रित रहते हैं। इस प्रकार की संघटना सांकेतिक न हो कर अभि-व्यंजक होती है और कलात्मक मूल्य लालित्यबोधीय मूल्यों के पूरक बन जाते हैं। इसी अध्याय में 'मोरिस' महोदय के प्रतिमोपम सांकेतिक चिह्न की मूल्य-वादी स्थिति का दिग्दर्शन कराया गया है। यहाँ केवल एक और तथ्य का

संकेत कर देना आवश्यक है कि मूल्य केवल 'सीमाण्टिक' परिवेश में ही प्रस्तुत नहीं किये जाते, इनका 'प्रैग्मेटिक' परिवेश भी होता है। कहना न होगा कि ये मूल्य एकांगी नहीं होते, इनका कला की अन्य विशेषताओं से निश्चित संबंध होता है। प्रतिमोपम सांकेतिक चिह्न भी कलाओं की दृष्टि से बदलते जाते हैं। इसीलिए इनका विवेचन विन्यास के साथ ही कौशल से संबंधित तथ्यों के आधार पर किया जाता है। इनका प्रमुख क्षेत्र वास्तु और चित्रकला मानी गई है।

'हंगरलैण्ड' ने 'प्रतिमोपम सांकेतिक चिह्नों' के सन्दर्भ में दो महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया है, (१) कला के क्षेत्र में प्रतिमोपम सांकेतिक अभिधान (iconic designation) की क्या विशेषतायें हैं और (२) ये अभिधान कला और लालित्यबोध को विशृंखलित करते हैं या उसके प्रेरक सिद्ध होते हैं। 'मोरिस' ने प्रतिमोपम सांकेतिक चिह्नों को अभिधान की विशेषताओं का सहयोगी माना है, पर उनका दृष्टिकोण त्रुटि रहित नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उन्होंने इन दोनों के सादृश्य और भिन्नता पर बखूबी विचार नहीं किया है। कला के क्षेत्र में सांकेतिक चिह्न और अभिधान को अंशतः भिन्न मानना चाहिए। इस भिन्नता के मूल में इस तथ्य को याद रखना आवश्यक है कि माध्यम के द्वारा उपादान की विशेषतायें प्रस्तुत की जाती हैं, उपादान नहीं। किन्हीं दो वस्तुओं के सादृश्य के लिए यह अनिवार्य है कि एक ही प्रकार की विशेषता दोनों में उपस्थित हो, पर ऐसा होता नहीं। इसका प्रमुख कारण यह है कि कलाकार उपादान के कुछ गुणों पर अधिक ध्यान देता है और कुछ को सर्वथा छोड़ जाता है। इस प्रकार सादृश्य निरूपण द्वारा वह उसके दृश्य एवं ज्ञात स्वरूपों को परिवर्तित करता है। कहना न होगा कि ये सभी कौशल प्रातिबोधिक एकता में सहायक होते हैं, अतएव लालित्यबोधीय मूल्यों का सृजन करते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में दो बातें प्रमुख रूप से विचारणीय हैं। पहली, यह कि ज्ञात उपादानों से सम्बद्ध प्रतिमोपम सांकेतिक चिह्न बोधात्मक होते हैं अतएव लालित्यबोधीय मूल्य की दृष्टि से ये अनुपयुक्त माने जा सकते हैं। कला में केवल सादृश्य विधान की परख करने का लालित्यबोधीय आधार क्षीण होता है। ऐसा भी पाया जाता है कि सादृश्य विधान में निहित अभिरुचि जब तक प्रातिबोधिक लालित्यबोधीय अनुभूति द्वारा बदल नहीं दी जाती, तब तक वह उसके मूल स्वरूप के विरुद्ध होती है। इन सब अन्तर्विरोधों के बावजूद प्रतिमोपम सांकेतिक चिह्न में पाया जाने वाला साम्य-वैषम्य कला का सहायक

माना जाता है और उसको महत्त्वपूर्ण दिशा प्रदान करता है। 'हंगरलैण्ड' ने इसी बात को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि सादृश्य द्वारा उद्बुद्ध अभिरुचि निरोधों द्वारा परिवर्तित होकर परिष्कृत हो जाती है और ऐसी अनुभूतियाँ जो कला-कृति की उपजीव्य हैं प्रातिबोधिक संघटन द्वारा कलात्मक बनती जाती हैं।

हमने ऊपर सांकेतिक चिह्नों की विशेषताओं पर विचार किया है, अब हमें प्रतीक और सांकेतिक चिह्न के साम्य-वैषम्य का निरूपण कर लेना चाहिए। ऐसा माना जाता है कि प्रतीक और सांकेतिक चिह्न परस्पर भिन्न हैं क्यों कि प्रथम लालित्यबोध का अभिन्न अंग है पर दूसरा भिन्न अंग। प्रतीक अभिव्यंजक होता है और सांकेतिक चिह्न संकेतात्मक, प्रतीक कलात्मक माना गया है और सांकेतिक चिह्न अकलात्मक। सांकेतिक चिह्नों का विवेचन इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि प्रतिमोपम सांकेतिक चिह्न जब अनुभूति द्वारा कलात्मक स्वरुप प्राप्त कर लेता है तो यह लालित्यबोध में सहायक सिद्ध होता है। इस सन्दर्भ में यह कहना समीचीन ज्ञात होता है कि सांकेतिक चिह्नों के लालित्यबोधीय होने की निश्चित शर्त है, जबकि प्रतीक के नहीं।

मोटे तौर पर सोचने से इन दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि इनके मूल में भिन्नता पाई जाती है। गंभीरतापूर्वक विचार करने से शनैः शनैः यह स्पष्ट होने लगता है कि सांकेतिक चिह्न संसृति के भूत, भविष्य और वर्तमान से सम्बंधित होता है। उपादान और उसके सांकेतिक चिह्नों का सम्बन्ध भी सरल होता है और इनकी व्याख्या स्वयंचालित प्रज्ञा का विषय होती है। प्रतीक केवल उपादान के प्रतिनिधि नहीं होते, उसके प्रत्यय के अभिव्यंजक भी होते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि किसी वस्तु के विषय में चर्चा करते समय उस वस्तु की धारणा तो विद्यमान रहती है पर वस्तु नहीं। प्रतीक इसी धारणा के परिचायक होते हैं। अनुषंग और प्रयोग की दृष्टि से भी ये भिन्न माने जा सकते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि सांकेतिक चिह्न उपादान को प्रस्तुत करता है, पर प्रतीक उस वस्तु को देखने की क्षमता प्रदान करता है। संघटन की दृष्टि से भी इनमें स्पष्ट अन्तर पाया जाता है, उदाहरण के लिए सांकेतिक चिह्न में विषय, संकेत और उपादान पाये जाते हैं, पर प्रतीक में विषय, प्रतीक-अवधारणा और उसका उपादान। इस अन्तर के बावजूद, लालित्यबोध में इनके विभेद को निरूपित करते समय पर्याप्त सतर्क रहना पड़ता है। ये सभी विभेद अपवादों से मुक्त नहीं हैं। अतएव इनसे संबंधित कोई भी

विवेचन पूर्ण और तर्क-संगत तभी हो सकता है जब हम इन अपवादों को दृष्टि से ओझल न करें।

प्रतीकवादी आन्दोलन और उसकी प्रतीक संबंधी मान्यता

यूरोप के प्रतीकवादी आन्दोलन के विचारकों ने प्रतीक के सम्बन्ध में अपना जो मत प्रतिपादित किया उससे सम्पूर्ण विश्व प्रभावित हुआ और इससे सम्बन्धित कुछ सिद्धान्त उभड़ कर लोगों के समक्ष आये। इन लेखकों और विचारकों ने साहित्य के सन्दर्भ में प्रतीक की उपयोगिता और उसके स्वरूप का निरूपण किया। काल-क्रम की दृष्टि से यह आन्दोलन १८८६ ई० में 'फिगेरो' नामक पत्रिका के घोषणा-पत्र से आरम्भ हुआ। इस स्तर पर इस निकाय के विचारकों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रत्ययों और उनके इन्द्रिय-ग्राह्य स्वरूप के सम्बन्धों पर विचार किया। इसकी प्रेरणा के मूल में १८वीं शताब्दी में प्रतिपादित 'थियरी आव करेस्पॉण्डेन्स' और १९वीं शताब्दी में प्रतिपादित आदर्शवादी सिद्धान्त था। इसके उद्भव के पूर्व प्रकृतवादी विचारधारा का बोलबाला था। प्रतीकवाद ने इसका विरोध किया, इसके परिणामस्वरूप नये सिद्धान्त का बीजारोपण हुआ। १९वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में यह काव्य-सिद्धान्त फ्रांस से आरम्भ होकर बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक सम्पूर्ण यूरोप में फैल गया। इस निकाय के अतिरिक्त उस काल में कुछ ऐसे विचारक भी प्रस्तुत थे, जो विज्ञान, भाषा, मिथक, संस्कृति और धर्म, सब कुछ को प्रतीकमय मानते थे। आरम्भ में इस आन्दोलन का उद्भव सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतीक चेतना से हुआ। बाद में इसे निश्चित दर्शन का रूप प्रदान किया गया। कुल लोगों के अनुसार यह स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के परवर्ती विकास का परिणाम था।

साहित्य में प्रतीकवादी आन्दोलन बहुमुखी विकास का द्योतक था। इसमें कई प्रकार की प्रवृत्तियाँ सिमट कर एकमेक हुई थीं।[1] इसका स्वरूप प्रमुख

1. Influence from various lands aided the French in their development. The social sympathy of England was reinforced by the Russian chorus. The positivism of 'Compt' was countered by the progress of Renan toward intellectual idealism. Wagner was calling for an art that should move from without inward, from within upward. Goethe and Browning viewed the works of art as sign post for an inner journeying. Heine declared, "In matters of art I am supernaturalist."

रूप से दार्शनिक और चिन्तनपरक था और विवेच्य संप्रेषण-प्रधान। इसके विवेचन में कलाकार यथार्थ को तात्त्विक प्रकृति और उसके मानवीय बोध से अन्वित प्रमाणवादी संबंध पर विशेष रूप से विचार करता था। इन्हीं त्रिविध विशेषताओं के कारण प्रतीक को प्रमुख रूप से नैसर्गिक मूल्यों को मूर्त सांकेतिक चिह्नों द्वारा प्रकट करने का प्रमुख साधन माना गया। इसकी कई विशेषतायें थीं। पहली विशेषता तो यह थी कि किसी भी प्राकृतिक उपादान पर यह प्रतीकमय अर्थ सरलता से आरोपित किया जा सकता था। इसका सम्बन्ध वस्तुओं से उत्पन्न होने वाले अमूर्त मानसिक विचार से होता था, उसके आकार या विन्यासगत विशेषता से नहीं। प्रतीक स्पष्ट कथन के स्थान पर परोक्ष कर्म को महत्त्वपूर्ण मानता है। इसमें 'न्यूटन' की संसृति सम्बन्धी यांत्रिक व्याख्या और 'डार्विन' की जीव-वैज्ञानिक व्याख्या के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण का पाया जाना स्वाभाविक है।

'कैसिरर' की धारणा है कि प्रतीकवादी आन्दोलन प्रकारान्तर से मानव-शास्त्र, पाण्डित्य, गणित की तर्कपूर्ण परम्परा और तार्किक प्रत्ययवाद से प्रभावित था। यह मानव की आत्मचेतन प्रकृति के साथ उसके विकास का प्रमुख सोपान माना जाता था। कहना न होगा कि मानव मन के अन्तर्गत नैसर्गिक और भौतिक प्रवृतियों में निरन्तर संघर्ष चला करता है। वह इनसे मुक्त नहीं हो पाता है, अतएव वह प्रतीक की मध्यस्थता से दोनों प्रवृत्तियों के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो कर अपने कार्य को पूर्णता के साथ संपादित करता है। इन्हीं के माध्यम से कलाकार परम्परित अर्थ और स्वच्छन्द-क्रियाशील तथा सतत परिवर्तनशील अर्थ-सन्दर्भ के बीच सन्तुलन स्थापित करता है। प्रतीक के द्वारा कलाकार, परोक्ष-अपरोक्ष, दृश्य-अदृश्य, भौतिक-नैसर्गिक और प्रकृत तथा कल्पना प्रवण के बीच संबंध बनाये रखता है। प्रतीक की स्थिति सदैव मध्यवर्तिनी होती है। इसमें विविध-अर्थ-सन्दर्भ घुले-मिले रहते हैं और यह अन्य विविध अर्थ-सन्दर्भों को उद्बुद्ध करने में सक्षम है। यह कलाकार की कलात्मक संवेदना के मूर्तीकरण का प्रमुख साधन है।

प्रतीकवादी आन्दोलन के तीन स्तम्भ हैं—'बादेलेयर', 'वर्लेन' और 'मेलार्मे।' इस त्रयी के प्रथम व्यक्ति ने प्रतीका के मूल्यांकन की दृष्टि दी, द्वितीय ने प्रतीक में उसके व्यावहारिक पक्ष की प्राण-प्रतिष्ठा की और तृतीय ने इसे महत्त्वपूर्ण दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित किया।

स्वच्छन्दतावाद का प्रमुख केन्द्र बिन्दु आत्माभिव्यक्ति थी। इसमें जीवन के कटु, तिक्त और सरस अनुभवों की निश्छल अनुभूति संभव थी। प्रतीकवाद ने अभिव्यक्ति को भिन्न अर्थ में ग्रहण किया। अब लोगों का ध्यान अनुभूति की अभिव्यक्ति के स्थान पर इन अनुभूतियों को आवृत्त करने वाले विचित्र एवं भ्रान्तिपूर्ण परिवेश की ओर गया। भावुकता को केवल ग्राह्य स्वरूप में ही महत्वपूर्ण माना गया, और सूक्ष्म तथा अस्पष्ट परिवेशों के चित्रण की समस्या विचार का विषय बनी, इसके परिणामस्वरूप व्यंजना के उन्मुक्त प्रयोग की संभावनायें बढ़ीं। प्रतीक नये मूल्यों की अभिव्यक्ति का साधन सिद्ध हुआ और इसके माध्यम से व्यंजना तथा ध्वनि के संयोग के तकनीकी पक्ष का रहस्योद्घाटन भी संभव हुआ।

'बादेलेयर' के पूर्व दो प्रमुख काव्य-सिद्धान्त प्रतिपादित किये जा चुके थे। इनमें विविधरूपीय संयोग (multiform Combinations) और सादृश्य-सिद्धान्त विशेष महत्वपूर्ण माने जाते थे। प्रतीकवाद में ये दोनों सिद्धान्त गृहीत हुए और इनके कई स्तर सामने आये। इस निकाय के लेखकों ने इन्द्रिय प्रदत्त एकता पर बल दिया और इसे परम सत्य के रूप में मान्य ठहराया। इनके अनुसार बिंबों के क्षेत्र में मानसिक स्वरूप अपने ही सदृश प्रतीकों को उद्‌बुद्ध करता है। कलाकार का ऐन्द्रिय-अवबोध प्रमुख होता है। वह इसी से अपनी कलात्मक सामग्री का चयन करता है। उसकी यह चयन प्रधान अनुभूति प्रतीकबद्ध रूप में अभिव्यक्त की जाती है। प्रतीकवादी विचारक प्रकृति प्रदत्त बिंबों पर अपनी मानसिक अनुभूति को आरोपित करते हैं। इनकी कृतियों में दृश्य-बोध की तुलना में स्वयं-प्रकाश्य बिंबों को महत्वपूर्ण माना गया है। 'स्टीफेन मेलार्मे' के अनुसार रहस्यपूर्ण संघटन प्रतीकों का जनक है। स्पष्ट कथन हमें कला के तीन-चतुर्थांश आनन्द से वंचित कर देता है। भाषा भावों की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम नहीं है। इसीलिए अभिव्यक्ति को सफल बनाने के लिए कुछ अन्य साधनों का उपयोग किया जाना स्वाभाविक है। इस प्रकार के उपयोग की दृष्टि से भाषा के प्रतीकमय प्रयोग के साथ ही ध्वनि और तरल संकेतों का स्थान महत्वपूर्ण है।

प्रतीकवादी विचारक मानव के मानस को संवेग और संवेदन का आगार मानते हैं। वे उसकी निरन्तर गतिशील चेतना से पूर्ण परिचित हैं। वे इस तथ्य से भी अभिज्ञ हैं कि सतत-परिवर्तनशील चेतना के कारण संवेदनों का स्वरूप

बदलता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति की निजी व्यक्तिगत विशेषतायें होती हैं। इन विशेषताओं के कारण हर व्यक्ति में एक सी संवेग की स्थिति नहीं पाई जाती। इन संवेगों की स्थिति जटिल, उलझनपूर्ण और अस्पष्ट होती है, अतएव इन्हें अभिव्यक्त कर पाना कठिन है। कलाकार इस प्रकार के संवेदनों और अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने का उपक्रम ही नहीं करता अपितु नई अभिव्यक्ति संभावनाओं की गवेषणा की ओर भी रत रहता है। प्रतीक इस अन्वेषण और प्रयोग के विशिष्ट घटक हैं। प्रतीकवादी संवेदन के हिमायती हैं। उनकी स्पष्ट धारणा है कि मानव के क्रिया-कलापों को उसके संवेदक परिवेश में ही पूर्णता से समझा जा सकता है। इस मान्यता के सन्दर्भ में गोचर सृष्टि के स्वरूपों की अवहेलना के स्थान पर उसकी अन्तर्निहित अलौकिकता पर बल दिया गया है। अभिव्यक्ति के लिए नई पद्धति आवश्यक मानी गई है। शब्दों को सामान्य अर्थों से भिन्न नया अर्थ-सन्दर्भ प्रदान किया गया है। भावाभिव्यक्ति के इस गवेषणापूर्ण स्वरूप के कारण उनकी अभिव्यक्ति-क्षमता बढ़ी है और अभिव्यक्ति-कौशल में वक्र से वक्र भावों को व्यंजित करने की क्षमता उत्पन्न हुई है। प्रतीकवादियों का ध्यान संगीतमय शब्दों की ओर भी गया है और इसकी संभावनाओं की दृष्टि से इसे महत्त्वपूर्ण माना गया है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि संगीतमय शब्द मानव आत्मा के अदृश्य स्वरूपों को अभिव्यक्त करने के प्रमुख साधन हैं। इस पक्ष का उद्घाटन करते हुए ये कहते हैं कि "प्रतीकवादी इसी के माध्यम से आत्मनैरन्तर्य और अनात्मनैरन्तर्य के क्षणों के शाश्वत पर आवश्यक सादृश्य को सरलता से समझ सकता है।"[1]

प्रतीकवादी आदर्श-सौन्दर्य के समर्थक थे और कला के माध्यम से इसे प्राप्त करना अपना प्रमुख उद्देश्य समझते थे। इसके परिणामस्वरूप सामान्य जन-जीवन साहित्य के क्षेत्र से तिरस्कृत हुआ और अधिकांश साहित्य सान्त और अनन्त तथा गोचर और अगोचर की पहेली बन गया।

प्रतीक-सृजन

प्रतीक के विवेचन के सन्दर्भ में ऊपर हमने संप्रेषण पर विचार किया है

1. What the symbolist hearkens is the music of spheres. He seeks to express the eternal and essential analogy between a moment of continuance and a moment of continuance of things.

और इस बात को प्रतिपादित किया है कि यह अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान करने का प्रमुख माध्यम है। 'वस्तुत: अनुभूति की अभिव्यक्ति' का प्रयोग तो अधिक होता है, पर इसे सही रूप में समझने की कोशिश नहीं की जाती है। इस वाक्यांश में दो प्रमुख शब्द हैं (१) अनुभूति और (२) अभिव्यक्ति। इन पर इसी पुस्तक के प्रथम और द्वितीय अध्याय में व्यापकता से विचार किया गया है। यहाँ केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि मानव के अनुभूतिमय मानस की तुलना तरंगायित होते हुए जल-प्रसार से की जा सकती है। जैसे जल में उत्ताल तरंगें उठती और गिरती रहती हैं उसी प्रकार अनुभूतिमय मानस में भावनाओं का ज्वार-भाटा बनता और बिगड़ता रहता है। इस स्थिति में कलाकार की अनुभूति अभिव्यक्ति के लिए मचलती तो है, पर उसे ऐसा ज्ञात होने लगता है कि उसके पास इसे अभिव्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्दावली नहीं है। वह परवश ज्ञात होने लगता है। **एक ओर अनुभूति की तीव्रता उसे अन्तर्मथित करती है और दूसरी ओर उसको अभिव्यक्ति की आवश्यकता उसे प्रताड़ित करने लगती है। इसी द्वन्द्व के परिणामस्वरूप उसके मानस में भाषा और भाव के प्रयोग चलने लगते हैं। इसी अन्तर्मंथन और प्रयोग से प्रतीकों का उद्भव होता है। इस निर्माण में उसके चेतन और अचेतन मानस के साथ ही उसकी आसंग और निःसंग स्थिति (self-not self) का भी पर्याप्त सहयोग रहता है। प्रतीक-निर्माण की स्थिति निःसंग की स्थिति मानी जाती है। इस स्थिति में कलाकार सभी दृष्टियों से एकाग्र और तल्लीन रहता है। यह उसके पूर्ण आत्म-समर्पण का पर्याय है। इस स्थिति में उसका आसंग क्रमशः निःसंग में परिवर्तित होता जाता है।** प्रतीकों के माध्यम से वह अपने अन्तः और वाह्य, परोक्ष और अपरोक्ष, गोचर और अगोचर स्थितियों में सामंजस्य उत्पन्न करता है। यह सामंजस्य उसको आत्म और अनात्म के संश्लेषण की ओर उन्मुख करता है। यह संश्लेषण अनुभूति के धरातल पर प्रस्तुत किया जाता है। अनुभूति की निजी विशेषता होती है। जिस प्रकार विद्युत् का प्रवाह अपने सीमित घेरे में ही प्रवाहित होता रहता है, **उसी प्रकार अनुभूति भी अपने आत्म-केन्द्रित स्वरूप का त्याग नहीं करती।** यह अपने संस्पर्श द्वारा अन्य अनुभूतियों को उत्पन्न करती रहती है। यह क्रिया निश्चित विशिष्ट क्षेत्र में स्थान ग्रहण करती है। इसमें संकल्प और विश्वास का समावेश होता है। इसीलिए **यह सामान्य संवेदन से विशिष्ट मानी जाती है। कलाकार के मानस की हलचल इसी विशिष्ट अनुभूति के अभिव्यक्ति की मुखापेक्षी होती है।** सामान्य व्यक्ति

इसे मुख-मुद्रा, आंगिक-चेष्टा या अस्पष्ट ध्वनि संकेतों द्वारा अभिव्यक्त करता है, पर कलाकार ऐसा नहीं करता। वह इस स्थिति में प्रसव-वेदना जैसे कष्ट का अनुभव करता है। उसकी यह स्थिति तब तक बनी रहती है जब तक वह इनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव-कोणों की अभिव्यक्ति का साधन नहीं ढूँढ़ लेता। वह ज्यों ही इन्हें अभिव्यक्त कर देता है, इस अन्तर्मंथन से मुक्त हो जाता है। यह अभिव्यक्तीकरण विरेचक माना जाता है। कवि या कलाकार मूलतः वह माध्यम होता है जिससे कला-निर्मिति का हर स्वरूप संबद्ध रहता है। यही उसके प्ररोचित होने का रहस्य है। उसकी यह क्रिया पलायन नहीं अपितु सक्रिय सहयोग की क्रिया होती है। इसे 'इन्स्केप' (inscape) की संज्ञा दी जाती है। अनुभूति विन्यास के द्वारा अभिव्यक्त होती है जो अपने मूर्त स्वरूप में मानस से उद्बुद्ध होता है। **यह क्रिया दुहरी होती है, सर्व प्रथम कवि उस अनुभूति का साक्षात्कार और आलोड़न करता है, जिसका सृजन के समय उस पर आधिपत्य होता है। इसके पश्चात् वह उस अनुभूति को मूर्त बनाकर उससे मुक्त हो जाता है। इस स्तर पर स्मृति में पड़े हुए बिंब उसके सहायक होते हैं। संपूर्ण क्रिया कई स्तरों में संपादित होती है। सर्वप्रथम अनुभूति कलात्मक कलेवर प्राप्त करती है, पुनः कलाकार का मानसिक तनाव चमत्कार पूर्ण चिन्तन से व्यंजित होने लगता है। यह व्यंजना मानसिक शान्ति की जनक है।** स्पष्ट है कि कलाकार (अभिव्यक्त के समय) अपनी अनुभूति को प्रतीकों या बिंबों के माध्यम से प्रकट करता है। कला-सृजन स्वतःप्रेरित अथवा स्वतःस्फूर्त होता है, पर इसकी संभावना कम होती है। वस्तुस्थिति यह है कि घटना और उसकी कलात्मक अभिव्यंजना में मानसिक अन्तराल पाया जाता है। **जब कभी विधायक कल्पना और तीव्र मनोभाव का मणिकांचन संयोग होता है, दोनों समरसी होकर प्रतिध्वनित हो उठते हैं और अपने समुदाय और संगठन के साथ चक्कर काटने लगते हैं।** कवि या कलाकार इन्हीं के द्वारा कला-निर्माण करता है। **अनुभूति का उपादान उसके सन्दर्भ में विचित्र रूप से दीप्तिमय हो जाता है। इस दीप्ति के कारण वह अपने चतुर्दिक प्रकाश बिखेरने लगता है। सृजन के सन्दर्भ में यह उपर्युक्त स्थिति प्राप्त करने वाले किसी भी उपादान को प्रतीक की संज्ञा दी जा सकती है।**

इस उपर्युक्त स्वरूप को 'ट्वायनबी' के **प्रत्याहार और प्रत्यावर्तन** (Doctrine of withdrawl & return) के सिद्धान्त द्वारा और सरलता से स्पष्ट

किया जा सकता है। उपर्युक्त लेखक ने इस सिद्धान्त का उल्लेख रहस्यवादी अनुभूति के सन्दर्भ में किया है। उनके अनुसार रहस्यवादी अपनी रहस्यानुभूति को सांसारिक माध्यम से ही अभिव्यक्ति करता है। ऐसा करने के लिए वह सर्वप्रथम इस अनुभूति का प्रत्याहार करता है। यह सृजन का प्रथम स्तर है। भौतिक उपादानों द्वारा अभिव्यक्त करने के लिए वह इन्हें पुनः प्रत्यावर्तित करता है। प्रतीक-निर्माण की क्रिया इस प्रत्याहार और प्रत्यावर्तन के सदृश है। कलाकार के पास उसकी अनुभूति और स्मृति के बिंब रहते हैं। इस अनुभूति की अभिव्यक्ति भौतिक प्रतीकों अथवा बिंबों द्वारा ही संभव है। कलाकार आरम्भ में अपनी इस अनुभूति का प्रत्याहार करता है और पुनः अभिव्यक्ति सौकर्य की दृष्टि से यही प्रत्याहृत अनुभूति प्रत्यावर्तित की जाती है। इस प्रकार इन दोनों क्रियाओं के सहयोग से प्रतीक-सृजन सम्भव होता है। प्रतीक-सृजन का एक अन्य उल्लेखनीय पक्ष भी है। प्रतीक मूलतः विविधार्थी और विरोधाभासी होता है। इसमें मुख्य रूप से दो विशेषतायें पाई जाती हैं। पहली विशेषता कलात्मक घटना के गुण से सम्बद्ध होती है और दूसरी ऐसे केन्द्रीय बिंब से जिसके चतुर्दिक संपूर्ण घटना मूर्तित और प्रतिच्छायित होती है। प्रथम विशेषता में इसमें ध्वनि के तरंगों के गुण विद्यमान रहते हैं, अतएव इसे ध्वनि तरंग विषयक माना जाता है। इस स्थिति में इसका स्वरूप केन्द्रापगामी, बाह्य दृष्टि से गतिशील और आकर्षक होता है, पर द्वितीय विशेषता की स्थिति में यह अन्तर्गमनात्मक, केन्द्राभिमुखी और विकरणशील (focussing) होता है। इस सिद्धान्त के द्वारा भी प्रकारान्तर से 'ट्वायनबी' की बात प्रतिपादित होती है। प्रतीक से सृजन की चर्चा में इन सिद्धान्तों का अपना महत्व है। इनकी किसी भी प्रकार अवहेलना करके उसे पूर्णता के साथ नहीं समझा जा सकता।

इसी तरंग में प्रतीक के विवेचन के सन्दर्भ में आत्म और अनात्म का प्रश्न उठाया गया है और आत्म को असंग और अनात्म को निःसंग का संज्ञा दी गई है। उसी स्थल पर इस बात को भी निरूपित किया गया है कि आसंग स्थिति से निःसंग स्थिति का प्रत्यावर्तन प्रतीक के सृजन में विशेष रूप से सहायक सिद्ध होता है। आसंग स्थिति में मानस सृजन की सामग्री प्राप्त करने में तल्लीन रहता हैं और निःसंग स्थिति में उपलब्ध सामग्री को सुव्यवस्थित और सुनियोजित करने में रत। पर यह बात सदैव नहीं घटित होती। कहना न होगा कि यह कार्य बहुधा चेतन मानस को संपादित करना पड़ता है। चेतन मानस की इस

क्रिया और निःसंग की क्रिया में अन्तराल पाया जाता है। चेतन मानस का स्वरूप भी अंशतः विकेन्द्रित होता है। वह तीव्र गति से कार्य नहीं करता। इस विकेन्द्रीकरण से प्रतीकों को प्रश्रय मिलता है। इस क्रिया को एक और तरह से समझा जा सकता है। प्रतीकों के सृजन का केन्द्र-बिन्दु न तो चेतन मानस है और न अचेतन। वह मध्यवर्ती है। प्रायः माना जाता है कि मौलिक बिंब सचेतन मानस द्वारा उद्भूत होता है और उत्तरजात बिंब इससे भिन्न मानस के स्वरूप द्वारा। इसका प्रमुख कारण यह है कि यह तर्क और कल्पना पर आश्रित नहीं होता। इसका निर्माण विचारों के अनुषंग से होता है। इसीलिए इसके सृजन के मूल में चेतन और अचेतन मानस का सम्मलित रूप विद्यमान रहता है। 'टर्शियरी बिंब' का निर्माण निःसंग स्थिति से होता है। सारांश यह कि प्रतीक का निर्माण निःसंग स्थिति का विषय होता है। यह स्थिति स्वप्निल नहीं हुआ करती। इस स्थिति में कई क्रियायें घटित हो सकती हैं। कलाकार मौलिक और उत्तरजात बिंबों से होता हुआ उस स्थिति तक पहुँच सकता है जिसका हमने अभी उल्लेख किया है। इसकी व्यंजना वह अपने अध्ययन से भी प्राप्त कर सकता है। इसके लिए वह स्वप्निल कल्पना का आश्रय भी ग्रहण कर सकता है। हर स्थिति में इतना ही कहा जा सकता है कि प्रतीक विकेन्द्रित चेतना से ही उद्भूत हो सकता है और यही चेतना उसे स्वीकृति भी प्रदान करती है। मौलिक बिंबों से उत्तरजात और टर्शियरी बिंब विकसित होते हैं। यह विकास उपमा से प्रतीक, अथवा ललित कल्पना से मनोसृष्टिपरक कल्पना तक की यात्रा को अपने अन्दर निहित किये रहता है।

प्रतीकों का सृजन कला के सन्दर्भ में होता है। इनका निश्चित परिवेश इन्हें स्थिरता और अर्थवत्ता प्रदान करता है। इन्हें त्रिशंकुक्त नहीं माना जा सकता। अतएव कला के विकास क्रम में इनके स्थान का निर्धारण कर लेना आवश्यक है इस बात को हम कई बार प्रस्तुत कर चुके हैं कि कला के विकास के कई स्तर होते हैं। प्रथम स्तर का सम्बन्ध जीवन के स्थूल यथार्थ से होता है। इस स्तर पर कला और यथार्थ के सम्बन्ध की स्थापना स्पष्ट होती है। बिंब भी जीवन से ग्रहण किये जाते हैं और सचेतन मस्तिष्क के विषय होते हैं। उपमा के प्रयोग द्वारा बौद्धिक तुलना की क्रिया चलती रहती है। इस स्तर पर भाषा का प्रयोग भी वस्तु निरूपक और वितर्कात्मक होता है। सामाजिक कविता और व्यंग्य कविता इसके उदाहरण हैं। द्वितीय स्तर पर प्रथम स्तर से भिन्न रूप में स्थूल यथार्थ की मात्रा क्रमशः कम होने लगती है। इस स्थिति में उत्तरजात बिंबों का

प्रयोग किया जाता है। प्रथम स्तर की कविता ललित कल्पना की विलास होती है। पर द्वितीय स्तर की कविता विधायक कल्पना की प्रादुर्भूति। इस स्तर पर विषयगत अनुभूति बौद्धिक अनुभूति पर हावी होती है और सामान्य उपमा का प्रयोग किया जाता है। पर इस स्तर की भाषा विशिष्ट होती हैं। इसमें द्रष्टा एवं दृश्य को समरस बना लेने की शक्ति आ जाती हैं। इसके परिणामस्वरुप अधिक रुपकमय और मिथक रचना सक्षम विशेषता का अविर्भाव होता है। अन्तिम स्तर का सम्बन्ध अन्तर्दृष्टिपूर्ण कविता से होता हैं। इसी स्तर पर प्रतीक प्रस्तुत किये जाते हैं। यह एक व्यापक धरातल होता है। इस धरातल पर कलाकार का व्यक्तित्व कला के साथ एवंभूत संयोग स्थापित कर लेता है।

नवम् तरंग

अभिरुचि

कला-सृजन में अभिरुचि का स्थान भी विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यह देश, काल और स्थान के अनुसार परिवर्तित होने के बावजूद हर काल की सर्जनात्मक क्षमता को अभिव्यक्त करती है। प्राय: आलोचक या सहृदय इस बात को भूल जाते हैं कि विभिन्न काल की कला के मूल में विभिन्न प्रकार की अभि-रुचियाँ विद्यमान रहती हैं। इस भूल के परिणामस्वरूप हर देश और काल की कला को अपनी दृष्टि से मूल्यांकित करने लगते हैं। इस तरह कई समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं।

लालित्यबोध के क्षेत्र में यह प्रश्न प्राय: पूछा जाता है कि अभिरुचि क्या है? इसका स्पष्ट उत्तर देना सरल नहीं है। **फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह "विगत आकांक्षा, अभिलाषा, प्रेम तथा घृणा का इतिहास है।"** जो व्यक्ति वस्तुत: इस पर विचार करता है उसकी स्थिति बड़ी द्वन्द्वपूर्ण होती है। एक ओर वह अपने संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाता और दूसरी ओर कला द्वारा प्रदर्शित अभिरुचि भी उसे आकर्षित करके प्रभावित करती रहती है। इस प्रकार अभिरुचि का इतिहासकार तटस्थ नहीं हो पाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वह अपनी भावनाओं के आधार पर ही उचित और अनुचित का निराकरण करता है। अगर किसी स्थिति में यह इतिहास वस्तुत: तटस्थ दृष्टि से लिखा जाय, तो इसमें वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्णता का समावेश पाया जा सकता है, पर कलात्मक दृष्टि से नहीं। मानव रुचि और अरुचि प्रधान जीव होता है। वह बहुत सी बातों को स्पष्ट रूप से चाहता है, प्यार करता है, गले लगता है, पर बहुत सी वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं जिन्हें वह देखते ही नाक भौं सिकोड़ने लगता है और उसका मन घृणा से भर जाता है। इसी रुचि और अरुचि अथवा चाह और घृणा से अभिरुचि का निर्माण होता है।

यही बात कलात्मक अभिरुचि के लिए भी सत्य है। वस्तुतः **कलात्मक अभिरुचि का सम्बन्ध कलात्मक संघटना से होता है जो, अनुषंग से प्राप्त होती है**। सृजन में कलाकार अपनी उस वैयक्तिक रुचि और अरुचि से प्रभावित और प्रेरित (अवश्य) होता है, जो किसी न किसी रूप में उसे परिवेश, वातावरण, संस्कार आदि से प्राप्त होती है। इस प्रकार कलाकार की वैयक्तिक रुचि में अनेकानेक समुदायगत विशेषताएँ विद्यमान रहती हैं। "**पर कला केवल समुदायगत चेतना का निर्माण करने वाले सर्जक प्रभाव को ही चित्रित नहीं करती, जिसे उसके सर्जक स्वरूप में शैली और निष्क्रिय स्वरूप में अभिरुचि की संज्ञा दी जाती है**।"[1] वह इसके अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य भी संपादित करती है। अभिरुचि की तुलना छलनी से की जा सकती है। जिस प्रकार छलनी अनावश्यक तत्त्वों को छानकर अलग कर देती है, उसी प्रकार अभिरुचि भी अनावश्यक विशेषताओं को छान कर अलग कर देती है। **इस प्रकार अभिरुचि कलात्मक सामग्री से अनावश्यक तत्वों को हटाने का कार्य भी संपादित करती है**। इन अनावश्यक तत्त्वों को हटाने के पश्चात् जो भी शेष रह जाता है वही कलात्मक सृजन का उपजीव्य बनता है। इसी छनाव के कारण कला में एकरूपता, स्पष्टता और समरसता आती है। इस दृष्टि से कलात्मक सामग्री के छनाव के साथ ही स्वयं 'छनाव' की क्रिया का अभिज्ञान कई दृष्टियों से आवश्यक सिद्ध होता है। पर इसके लिए हमें केवल कला पर विचार न करके अभिरुचि के उस स्वरूप पर भी विचार करना चाहिए जो कई दृष्टियों से विविध ज्ञान-विज्ञान का विषय है। इतना तो मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अभिरुचि साहित्य, कला और जीवन के महत्त्व-पूर्ण स्वरूप को समझने और आनन्द प्राप्त करने का प्रमुख साधन है। 'काण्ट' ने 'एस्थेटिक जजमेण्ट' पर विचार करते हुए कहा भी है, "कि अभिरुचि किसी उपादान या उसके निरूपण की क्रिया पर ऐसे आनन्द या घृणा की दृष्टि से विचार करने की शक्ति है, जिसका कोई अन्य उद्देश्य नहीं होता।" 'काण्ट' महोदय ने निर्णय की क्रिया पर विचार किया है और इसे कई दृष्टियों से विश्लेषित और विवेचित भी किया है। उनकी स्पष्ट धारणा है कि निर्णय करना हर व्यक्ति की विशेषता है। पर इसकी एक शर्त है। **निर्णय-सक्षम व्यक्ति वही हो सकता है**

1. The artists personal love and prejudices play a major part in its formation, but art is not the only formative influence in shaping the group cansciousness which in its creative aspect is celled 'style' and in its passive aspect 'taste'.

जिसका निर्माण इस रूप में हुआ हो कि वह प्रज्ञा और ऐन्द्रिय बोध के सम्मिलित स्वरूप के आधार पर इस क्रिया को सम्पादित करे। इस सन्दर्भ में अभिरुचि उस सामान्य बुद्धि का निर्णय मानी जा सकती है जो आदर्श प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित है।[1] 'काण्ट' ने लालित्यबोधीय निर्णय की विशेषताओं का उल्लेख भी किया है। उनका कहना है, "लालित्यबोधीय निर्णय सामाजिक द्वारा सर्जक के मानसिक परिवेश के उस भावात्मक, ऐन्द्रिय और आधिभौतिक स्वरूप का मूल्यांकन प्रस्तुत करता है जो किसी कलात्मक माध्यम द्वारा उसके समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। इसमें विषय और विषयि के सम्बन्ध का एहसास पाया जाता है। दूसरे अर्थ में यह कलाकृति के सर्जन की आत्मगत क्रिया को भी निरूपित करता है।" कलाकृति ऐसे भावों का समुच्चय है जो व्याख्या के स्थान पर संप्रेषण को महत्व देते हैं। कलाकृति की वस्तुगत क्रिया में भावक की अनर्गल बातों के लिए कोई स्थान नहीं होता। सामाजिक कला के अभिघटकों के सहज ज्ञान को अनुभव के आधार पर प्राप्त करता है। कलाकृति का वाह्य परिवेश लेखक के मनोभावों को अभिव्यक्त अवश्य करता है, पर केवल यही उसके संपूर्ण रहस्यमय स्वरूप से हमें परिचित नहीं करा सकता। इसके लिए सहज ज्ञान आवश्यक है। इसके अतिरिक्त इस बात को भी समझना आवश्यक है कि कलाकृति को परखने की क्षमता भावक के वैयक्तिक अभ्यास और शिक्षा पर निर्भर करती है।

स्पष्ट है कि विचारकों ने सामाजिक प्रतिमान को कलात्मक लालित्य का उपस्कारक तत्व घोषित किया है। उनकी धारणा है कि ये प्रतिमान लालित्य-बोधीय अनुभूति में मिल कर उसे सशक्त बनाते हैं। कहना न होगा कि ये सामाजिक प्रतिमान उपयुक्त अभिरुचि के सन्दर्भ में ही पल्लवित और पुष्पित होते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि अभिरुचि ऐसी लालित्यबोधीय भाव-प्रवणता है जो केवल ऐसे उपादानों को चुनती है जिनमें लालित्यबोधीय प्रतिबोध का भाव बनाये रखने और उन्हें निर्मित करने की क्षमता होती है। इस प्रकार के प्रतिबोध के सन्दर्भ में यथार्थ अनुभव का कोई मूल्य नहीं होता।

I. "Taste is the faculty of estimating an object or mode of representation by means of delight or aversion that has no ulterior interest." The judgement is valid for every one who is so constituted as to judge by means of understanding and sense conjointly. "Taste is judgement of commonsense, where commonsense is ideal norm.'

अभिरुचि को इतालवी और स्पैनिश भाषा में 'Gusto' फ्रांसीसी भाषा में Gout और जर्मन भाषा में Geshmack कहा जाता है। इटली और स्पेन के अभ्युदयकाल में इस शब्द को आनंद, मनोरंजन और मानसिक झुकाव का पर्याय माना जाता था। सर्वप्रथम स्पेन के विचारक 'बाल्थसर ग्रेसिअन' ने इस शब्द का प्रयोग विशिष्ट मानसिक क्रिया के अर्थ में किया। इसके पश्चात् फ्रांस में इसका प्रयोग निश्चित अर्थ का परिचायक बना। अब यह शब्द कला के क्षेत्र में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुका है।

अभिरुचि की व्युत्तिपरक व्याख्या भी मिलती है। ऐसा माना जाता है कि 'टैस्ट' शब्द 'टेंजीरे' (Tangere) से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है स्पर्श करना। बाद में यह शब्द केवल स्पर्श करने अथवा स्वाद लेने तक ही सीमित नहीं रह गया। इसका अर्थ विस्तार हुआ और इस क्षेत्र में विविध स्वरूपों को समाहित करने का प्रयत्न भी किया गया। 'कलात्मक अभिरुचि', आलोचनात्मक अभिरुचि, और सर्जनात्मक अभिरुचि इसके प्रमाण हैं। ये शब्द मूलतः अभिरुचि के नये अर्थ-सन्दर्भ और अनुषंग के परिचायक हैं। 'अभिरुचि' अर्थ-वैविध्य और प्रयोग-वैविध्य के कारण ही आज तक किसी निश्चित परिभाषा में नहीं बाँधी जा सकी है। इसके परिणामस्वरूप तरह-तरह की विचारधाराओं का उद्‌भव हुआ है। किसी ने इसे 'कलाकार के काम करने के स्वरूप' की संज्ञा दी है तो किसी ने इसे कलाकृति के तत्वों की संहृति माना है। इसका विवेचन दुहरी समीक्षा का विषय रहा है। इसे सहज-ज्ञान और कला-समीक्षा, दोनों का विषय माना गया हैं। बाद के लेखकों में इसके अनुगमन का प्रयत्न परिलक्षित होता है। इसीलिए इसे किसी बात का पसन्द करने या कला-समीक्षा का उपादान होने की संज्ञा दी गई है। इस पसन्द और विश्लेषण के सन्दर्भ में अभिरुचि को एक ओर अहेतुवादी क्रिया माना गया है और दूसरी ओर हेतुवादी क्रिया। इस विवेचन क्रम में रुचि के विभेदीकरण, वर्गीकरण, साहश्य और असाहश्य पर विचार किया गया है और व्यक्ति की अन्वीक्षावृत्ति के आधार पर इसके स्वरूप को निर्धारित करने की बात उठाई गई है। मानव की मानसिक क्रियाओं और स्वरूपों के निरीक्षण पर भी बदल दिया गया है। इसके आधार पर शारीरिक संवेदन और रुचि के भौतिक अनुषंगों के चिन्तन की चर्चा की गई है।

उपर्युक्त विकास-क्रम को अगर दृष्टिपथ में रखा जाय तो **यह कहा जा सकता है कि अभिरुचि वाह्यस्वरुप या प्रकृति का आनन्दपूर्ण विभावन या तिरस्कार करने की शक्ति है।** यह आनन्दपूर्ण विभावन या तिरस्कार प्रिय

या अप्रिय भोजन के ग्रहण या त्याग से मिलता जुलता है। कला का आस्वादन सदैव कला के आनंद का मुखापेक्षी होता है, इसीलिए इसका सुव्यवस्थित स्वरूप अत्यधिक कौशल के साथ उसके उपादानों की गवेषणा भी करता है। इस क्रिया से कला के पुनर्सृजन और परिष्कार में सहायता मिलती है। रुचि कला-निर्माण में निश्चित दृष्टिकोण से सहायक होती है। यह इसे प्रकाशित और अलंकृत करने के साथ ही उसे उपयुक्त स्वरूप भी प्रदान करती है। हर प्रकार की अभिरुचि में तुलनात्मक दृष्टि पाई जाती है। इसी तुलना के आधार पर इसके मानदण्डों का निर्माण किया जाता है। स्मृति अभिरुचि की सहायक मानी जाती है। कलात्मक अभिरुचि में इसी स्मृति बोध के आधार पर सुख-दुखात्मक स्थितियों को अंकित करने अथवा समझने की क्षमता उत्पन्न होती है, इससे सम्बद्ध सम्वेग स्वयमेव व्यवस्थित और नियंत्रित हो जाते हैं; और बुद्धि के आधार पर इसका समन्वित स्वरूप सामने आने लगता है। किसी वस्तु की स्मृति के साथ ही अभिरुचि का उद्भव होता है और उससे उत्पन्न संवेगों और भावों से आनंद की उपलब्धि होने लगती है। संवेग प्रकृत्या से क्रमण-शील होते हैं। अतएव ये दूसरों को प्रभावित कर सकते हैं। इस उपर्युक्त क्रिया में संवेग परिष्कृत होते रहते हैं। विगत पृष्ठों में प्रक्षालन की क्रिया का उल्लेख किया गया है। यह क्रिया पुनरावृत्तिप्रधान होती है। अभिरुचि के निर्माण क्रम में ये संवेग न मालुम कितनी बार आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक मान्यताओं से प्रक्षालित और परिष्कृत होकर सृजन के उपजीव्य बनते जाते हैं। 'एरिक न्यूटन' ने स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख किया है कि अभिरुचि निश्चित देश काल और समाज से प्राप्त अनुभव को प्रक्षालित करती है। इस प्रक्षालन में उसका अधिकांश भाग छन जाता है और बहुत कम भाग कला-सृजन के काम आता है। इस तथ्य को भावावेग और भाव-बोध की क्रिया से स्पष्ट किया जा सकता है। भाव-वेग की स्थिति में अनन्त संकुल विचार मन के सम्मुख प्रस्तुत होते रहते हैं, ऐन्द्रिय अनुभूति की उलझी हुई स्थिति मानस के समक्ष उपस्थित होती रहती है, पर अवबोध की स्थिति में इसका अधिकांश भाग तिरस्कृत हो जाता है और सामान्य अंश ग्रहण किया जाता है। भावावेग को अवबोध में परिणित करने का कार्य आनंद द्वारा संपादित होता है। भावावेग जिस मात्रा में आनन्द प्रदान करने में सक्षम होता है, उसी मात्रा में बोध का विषय बनता है। आनंद प्रदाता-वृत्ति मानव की बुभुक्षा को शान्त करने का प्रमुख साधनसिद्ध होती है। इसीलिए अभिरुचि को प्रिय लगने

वाली वस्तु व्यक्ति को तृप्त करती है और अप्रिय लगने वाली वस्तु अतृप्त। मानवता की तृप्ति और अतृप्ति तथा अनुकूलता और प्रतिकूलता का यह तथ्य संसृति के विकास के साथ निरंतर विकसित हुआ है और इससे कला के क्षेत्र में मानव-विकास की असीम संभावनाओं को बल मिला है।

कलाकार की अभिरुचि सामान्य व्यक्ति की अभिरुचि से भिन्न होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उसकी यह क्रिया लालित्यबोधीय मूल्यांकन का अंग होती है। सामान्य व्यक्ति की अभिरुचि का संबंध सामान्य वस्तु की अनुकूलता और प्रतिकुलता से ही होता है, पर कलाकार का लालित्य-बोधीय मूल्यांकन इसके रहस्यमय, सूक्ष्म, अविश्लेषित और संकुल स्वरूपों को भी समेंट कर चलता है। वह मूलतः सौन्दर्य और आनंद से संबंधित होता है, आनंद भावाश्रित होता है और इसे दृश्य या अदृश्य उपादानों से प्राप्त किया जा सकता है और सौन्दर्य आनंदाश्रित होता है और यह विकास के साथ अपने रुचिकर और आह्लादकर स्वरूपों को उद्घाटित करता जाता है। 'सौन्दर्य' भी सापेक्ष होता है और इसका निर्माण अभिरुचि के विशिष्ट सहयोग का अनुगमन करता है।

अभिरुचि मानव सृष्टि के साथ उत्पन्न हुई है और उसके क्रिया कलापों के साथ विकसित। यह मनुष्य के रहन-सहन, रीति-रिवाज़ और सोचने-विचारने की क्रिया के मोड़ों के साथ अपना स्वरूप निर्धारित करती गयी है। संप्रेषण के माध्यम से भी यह यथासमय प्रभावित हुई है और फैशन के विकास के साथ अपने दिशा-निर्देशक स्वरूपों का निर्माण करती गयी है। फिर भी 'फैशन' और 'टेस्ट' में परिमाणात्मक अन्तर बना रहा। 'फैशन' 'टेम्पो' की दृष्टि से अभिरुचि से भिन्न था और सौन्दर्य के क्षेत्र में घटित होने वाली घटनाओं को व्यापक रूप से सामान्य स्तर पर प्रस्तुत करने का उपक्रम माना गया। इसकी गति भी अभिरुचि से तीव्र थी, परिणामस्वरूप नये फैशन के उपस्थित होते ही पुराने फैशन बेकार सिद्ध होने लगे। अभिरुचि का परिवर्तन न तो इतनी तीव्रता से होता है और न उसे इतनी सरलता से देखा ही जा सकता है। अभिरुचि और फैशन दोनों संक्रमण की क्रोड़ में पलते हैं पर प्रथम का अभिज्ञान सर्वप्रथम अन्तर्दृष्टि प्रवण व्यक्ति को ही होता है। कलाकार इसी भावना को सामान्य रूप से कला द्वारा अभि-व्यक्त भी करता है। कभी-कभी ये दोनों विशेषतायें-अभिरुचि का अभिज्ञान या प्रकटीकरण और उसका कलात्मक निरूपण—एक ही व्यक्ति में पाई जाती हैं। अभिरुचि के अमूर्त स्वरूप से अधिक लोग परिचित नहीं होते क्योंकि इसका

अन्त:प्रवाह अदृश्य होता है, पर ज्यों ही यह किसी कलात्मक कलेवर में ढाल कर प्रस्तुत की जाती है तो यह सहृदय-आस्वाद्य और सहृदय-संवेद्य बन जाती है।

अभिरुचि और निर्णय को कुछ लोगों ने सदृश माना है। उनकी धारणा है कि निर्णय की प्रवृत्ति भी कला की अच्छाई-बुराई और उपयुक्तता-अनुपयुक्तता का विश्लेषण करती है। यही कार्य अभिरुचि संपादित करती है। अतएव इन्हें समान मानना अनुपयुक्त नहीं हैं। इन दोनों में बोध और बौद्धिक क्रिया भी पाई जाती है। इसके बावजूद कुछ लोग इस निष्पत्ति से असहमत हैं। उनका कहना है कि अभिरुचि और निर्णय के अनुषग वस्तुतः व्यवहित ऐन्द्रिय और लालित्यबोधीय चाह और प्रत्यावर्तित प्रपृच्छा पर आधारित लालित्य-बोधीय सन्तुष्टि में विभेद नहीं कर पाते। यह विभेद तभी संभव होता है जब हम इन दोनों शब्दों को भिन्न मानें। तात्पर्य यह कि अभिरुचि को व्यवहित से और निर्णय को अव्यवहित से सम्बद्ध मान कर उन्हें विश्लेषित और विवेचित करें।

अभिरुचि को लेकर जो भी विवाद है वह इस तथ्य पर आधारित नहीं है कि निश्चित उपादान का लालित्यबोधीय गुण होता है या नहीं। वह वस्तुतः इस तथ्य के चतुर्दिक केन्द्रित है कि उस लालित्यबोधीय उपादान की प्रकृति क्या है? कहना न होगा कि सामाजिक सन्दर्भों में परिवर्तन के कारण लालित्य-बोधीय रुचि में परिवर्तन हो जाया करता है। इस तथ्य को हृदयंगम करने से विवाद के एक पक्ष का समाधान निकल आता है।

इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि के द्वारा हम अनुभूति को प्राप्त करते हैं। इनमें हमारी इन्द्रियों को आह्लादित करने की अद्भुत क्षमता होती है। इन्हें हम रुचि और अनुभूति का घटक भी मान सकते हैं। इस प्रकार का बोध प्रकृति से प्राप्त किया जाता है जो सुनियोजित परिवर्तन के क्रम से मुक्त होती है। **प्रकृति निबन्ध होती है और कला सबंध।** इसीलिए प्रकृति से प्राप्त होने वाली इस प्रकार की अभिरुचि जब कला का उपजीव्य बनाई जाती है तो कलाकार को कलात्मक संघटन में सामंजस्य, व्यवस्था और समन्वय उत्पन्न करना पड़ता है।

अभिरुचि कई प्रकार की होती है। सर्वप्रथम हम साहित्यिक अभिरुचि पर विचार करते हैं। **भौतिक अभिरुचि आनंद या घृणा का निरूपण करती है**

और साहित्यिक अभिरुचि इसी तथ्य का उद्‌घाटन करती है। दोनों में अनुषंग एवं अन्तर्निहित विचारधारा के तत्व पाये जाते हैं। अनुषंग का स्थान विशेष महत्वपूर्ण माना जाता है। यह मान्य तथ्य है कि कलाकार कला के तत्वों को इस प्रकार नियोजित करता है कि उससे नये अनुषंग का उद्‌भव होता है और इससे नये बिंबों के सृजन की प्रक्रिया तीव्र हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति में कला-गत संस्कार और अभिरुचि होती है, पर ये प्रसुप्त रूप में उसके मानस में पड़ी रहती हैं। इसका ज्योंही उपस्कारक तत्वों से सामंजस्य होता है यह विकसित होने लगती है। कलाकार की कला और सहृदय की भावना से अभिनव साहित्यिक अभिरुचि का उद्‌भव होता है। इस क्रिया को यथास्थान विशद रूप में विवेचित किया जायगा, यहाँ केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि, इस प्रकार की अभिरुचि द्विपक्षीय होती है। **सृजक की अभिरुचि उसके एक पक्ष को प्रकट करती है और पाठक की अभिरुचि दूसरे पक्ष को। ये परस्पर पूरक और एक दूसरे की प्रेरणा स्रोत मानी जा सकती हैं। कला के क्षेत्र में अतिशयोक्ति की प्रवृत्ति पाई जाती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सामान्य तथ्यपूर्ण उक्ति उतनी प्रभावशाली नहीं सिद्ध होती जितनी कि असामान्य, अतिशयोक्ति पूर्ण और अतिरंजित उक्ति।** भाषण से लेकर बात चीत तक इसका एक रूप में प्रयोग किया जाता है। कुछ कलाकारों में अलंकार-प्रियता की भावना विद्यमान रहती है। **कलात्मक अतिरंजना और अतिरंजना के लिये अतिरंजना में बड़ा अन्तर होता है।** कलात्मक अतिरंजना भाव-प्रवणता, मिथक की अद्‌भुत परिकल्पना, अथवा प्रभावोत्पादकता की भावना से उत्पन्न होती है। विज्ञान तथा ज्ञान-विज्ञान के अन्यान्य स्रोतों के विकास के साथ मनुष्य में यथार्थ बोध के विविध स्वरूपों और स्तरों का अवतरण होता है, तथ्य के स्थान पर सत्य का आग्रह बढ़ता है और अतिरंजना का स्वरूप भी इससे किसी न किसी रूप में प्रभावित होता है। ज्ञान के विकास के साथ मिथक के स्वरूप भी बदल जाते हैं, इस परिवर्तन से अतिशयोक्ति की परिकल्पना अछूती नहीं रहती। **यह सर्वविदित है कि धर्म और संस्कृति के महत्वपूर्ण स्वरूप अतिश-योक्ति का विशेष सम्बल ग्रहण करते हैं। इसीलिये जिस भी काल की कला धर्म-प्राण ओर संस्कृति-अनुरक्त होती है, उस काल में यह प्रवृत्ति** विशेष रूप से **विद्यमान रहती है।** आदिकाल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के कला और साहित्य में प्रस्तुत प्रवृत्ति इसी तथ्य की परिचायक है। आधुनिक काल में **वैज्ञानिक और प्रकृत ज्ञान के आलोक में इसकी प्रभा मन्द पड़ गई है।**

कुछ कलाकार **कृत्रिमता और वाह्याडंबर** को विशेष महत्व देते है। इस प्रकार की अभिरुचि का संबंध कलाकार के व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक पक्ष से होता है। वास्तुकला में महत्वपूर्ण और मूल्यवान वस्तुओं के प्रयोग और सजावट की प्रवृत्ति पाई जाती है। सामान्य प्रस्तर के स्थान पर संगमरमर के पत्थर का प्रयोग इसी तथ्य का द्योतक है। कलाकार मूर्ति के निर्माण में मिट्टी पत्थर, संगमरमर, हीरे, जवाहरात आदि का उपयोग करता है। कृत्रिमता और वाह्याडंबर के प्रेमी मूल्यवान धातुओं का प्रयोग करते हैं और सामान्य अभिरुचि संपन्न व्यक्ति सामान्य धातुओं का। यही सत्य चित्रकला में भी पाया जाता है। आकर्षक और चटकदार रंगों का प्रयोग इसी प्रवृत्ति का परिचायक माना जाता है। साहित्य में यह प्रवृत्ति शैली के रूप में अभिव्यक्त होती है। कृत्रिम शब्दालंकार प्रधान शब्दों का प्रयोग, आलंकारिक शैली के प्रति आग्रह और कला पक्ष की प्रधानता के मूल में कृत्रिमता किसी न किसी रूप में क्रियाशील रहती है। इस प्रवृत्ति में व्यक्ति के दंभ की भावना, प्रदर्शन की प्रवृत्ति, नवीनता के प्रति आग्रह और कलात्मक कौशल की प्रतिद्वन्दिता का भाव पाया जाता है। ऐसे कलाकार त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोण से ग्रसित होते हैं। वे वस्तुतः शैली के आडंबर और शैलीगत महार्घता में भेद नहीं कर पाते हैं। कहना न होगा कि ये दोनों प्रवृत्तियाँ एक दूसरी से सर्वथा भिन्न हैं। आडंबर में ललित कल्पना की कलाबाजी क्रियाशील रहती है और महार्घता में विधायक कल्पना का अभिनव संश्लेषणात्मक पक्ष और इससे उद्भूत उत्कृष्ट कला की विशेषता। द्वितीय स्वरूप में कला-कौशल के प्रदर्शन के स्थान पर भावाभिव्यक्ति को सुगम बनाने वाले साधनों का उपयोग किया जाता है।

कला क्षेत्र में विचक्षणता की प्रवृत्ति भी महत्वपूर्ण मानी जाती है। कृत्रिम और महार्घ स्वरूपों के आनयन के साधनों का इससे घनिष्ट संबंध होता है। भाव-संवेग इसका पूरक माना जाता है। कला का इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रेरणा के अशक्त होने पर कलाकार उत्तेजना के कतिपय स्वरूपों को ग्रहण करने लगता है। कभी-कभी ऐसी स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है कि प्रेरणा में निहित औदात्य उसे सही रूप में निरूपित करने में असमर्थ हो जाता है। ऐसे स्थानों पर कलाकार विचक्षणता का संबल ग्रहण करता है। यदा-कदा त्रुटिपूर्ण कला-अनुकरण की स्थिति भी इस प्रकार की प्रवृत्ति की सहायक बन जाती है। हिन्दी-साहित्य की रीति बद्ध धारा इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की अभिरुचि उसी काल में पनपती और पल्लवित होती है जिस काल

में सामान्य, सरल और प्रभावोत्पादक उक्ति अभीप्सित प्रभाव उत्पन्न करने में सफल नहीं हो पाती।

काव्य में अन्यापदेशिक की रुचि को लेकर बड़ा विवाद हुआ है और तरह-तरह की मान्यतायें सामने आई हैं। अन्यापदेशिक की अपनी विशेषता होती है। इसकी प्रत्यक्ष कथा के अन्तराल में एक अप्रत्यक्ष अभिव्यंजना पाई जाती है। जब कलाकार अपने विचारों को सरलता से अभिव्यक्त नहीं कर पाता अथवा उलझे हुए विचारों को सही दिशा नहीं दे पाता तो उसे इस प्रकार की प्रवृत्ति को प्रश्रय देना आवश्यक हो जाता है। साहित्य के क्षेत्र में यह विशेषता किसी न किसी रूप में आदि काल से ही विद्यमान रही है। वेदों और उपनिषेदों की कथाओं को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि वे बिलकुल सीधी और सरल है, उनका उद्देश्य केवल शिक्षा देना है, पर जब हम गंभीरतापूर्वक विचार करके उनके अन्तर्निहित पक्ष को हृदयंगम करते हैं तो उनका स्वरूप ही बदल जाता है और वे हमारे लिये नये अर्थ की वाहक बन जाती हैं। राम-रावरा युद्ध देवासुर संग्राम और कौरवों तथा पाण्डवों के बीच लड़ा गया युद्ध स्पष्ट रूप से किसी अन्य सत्य का अभिव्यंजक होने के काररा कथा-रूपक की संज्ञा से अभिहित किये जा सकते हैं। अन्यापदेशिक कला के कथा सूत्र को संग्रथित करने का कलात्मक उपकररा है। इसके माध्यम से कलाकार तथ्य का ही कलात्मक निरूपरा नहीं करता अपितु अनिर्वचनीय को भी वर्चस्व स्वरूप प्रदान करता है। 'कामायनी' 'प्रोमीथियस अनबाउण्ड' 'राम की शक्ति पूजा' तथा 'हाइपीरियन ए ड्रिज़न' इसके उत्कृष्ट उदाहररा हैं। इनका अवलोकन करने से स्पष्ट हो जाता है कि इनका दृश्य कथा-सूत्र समन्वित और संश्लेषित रूप में बिना व्यवधान के अन्त तक बना रहता है, पर इनके अन्तराल में एक रहस्यमय संदेश निहित पाया जाता है। इस प्रकार ये दृश्य और अदृश्य के सूक्ष्म स्वरूपों से निर्मित होते हैं। इस संघटना में प्रतीकों का संगुम्फन महत्त्वपूर्रा पार्ट अदा करता है। 'केलेट' ने लिखित शब्दों को चार प्रकार के अर्थों का वाहक माना है—

(१) अभिधात्मक।

(२) व्यंजनात्मक।

(३) नैतिक भावना से सम्बन्धित।

(४) अन्तर्निहित अर्थ से सम्बद्ध।

वस्तुतः उनका यह निरूपरा संस्कृत का काव्यशास्त्र की अभिधा, लक्षरा और व्यंजना शब्द-शक्तियों के ही अनुरूप है। अन्यापदेशिक में ये सभी अर्थ सन्दर्भ

प्रस्तुत रहते हैं। इसकी दूसरी विशेषता मानवीकरण है। रूपक की तरह यह भी मिथक से ही विकसित होता है।

कभी-कभी अभिरुचि विद्रूप और विकृत स्वरूपों का अवलम्बन ग्रहण करती है। इस प्रकार की प्रवृत्ति की उत्पत्ति असामंजस्य से होती है। कभी इसकी अवतारणा सोद्देश्य की जाती है और कभी निरुद्देश्य। सोद्देश्य निरूपण की दृष्टि से रावण के वर्णन, वीभत्स रस के स्वरूप और जुगुप्सोत्पादक स्थलों को लिया जा सकता है। इस निरूपण के द्वारा लेखक या तो असद् प्रवृत्तियों को उद्घाटित करना चाहता है, या मानस को झंकृत करके उसे किसी अन्य दिशा में प्ररोचित करना चाहता है। संत-साहित्य में यथास्थान विद्रूप चित्तवृत्तियों का वर्णन मिलता है। इन वर्णनों से लेखक की भावना और उसका उद्देश्य स्पष्ट झलकता है। इनके द्वारा वह मानव के मानस को आन्दोलित करके उसे सत्य के अन्वेषण की ओर उन्मुख करता है। जीवन सत्य कुछ बेढंगा होता है। जब हम उसे उसके गुणों के द्वारा निरूपित करते हैं तो जल्दी समझ में नहीं आता, पर जब विरोधी गुणों द्वारा प्रस्तुत करते हैं तो समझ में आ जाता है। नेति-नेति की निरूपण प्रणाली का यही मनोवैज्ञानिक रहस्य है। हर व्यक्ति यह जानता है कि जीवन क्षण भंगुर है, पर उसे इसका अभिज्ञान नहीं होता, इसी बात को जब ऐसे तथ्यों द्वारा निरूपित कर दियाा जाता है जो उसे स्पष्ट कर दे तो, वह स्पष्ट हो जाता है। **निरुद्देश्य विद्रूप्रता या तो संस्कार का अंग होती है या फैशनपरस्ती और अन्धानुकरण से उत्पन्न होती है। इस स्थिति में कलाकार विद्रूप्रता का चित्रण ही नहीं करता अपितु उसकी अभिरुचि स्वयं विद्रूप बन जाती है। 'कला-कला के लिये', 'फ्लेशली स्कूल आॅव रियलिज्म' के अन्धानुकरण पर सृजित अथवा केवल यथार्थ के नाम पर नग्नता में सौन्दर्य की गवेषणा करने वाले व्यक्तियों में यह प्रवृत्ति प्रचुरता से पाई जाती है। 'सेक्स' के निरूपण में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से क्रियाशील रहती है। विवाद के स्तर पर इसका दर्शन हो जाना स्वाभाविक है। उदाहरण के लिये श्लील और अश्लील के विवेचन को लिया जा सकता है। ऐसी स्थिति में विचारक विचार प्रतिपादन के अतिरेक में सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं। यह वैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य न तो सर्वतोभावेन अच्छा होता है और न सर्वथा बुरा। उसके अन्दर देवता और मनुष्य दोनों निवास करते हैं। वह इन दोनों की सन्तुष्टि का मार्ग ढूँढता रहता है। इसी चेतन या अचेतन प्रयत्न के कारण इस प्रकार की अभिरुचि का आविर्भाव होता है।** यूरोप में, मध्यकाल में 'बुलबेटिंग' की प्रथा प्रचलित थी, 'सेनेका' के अनुकरण पर वीभत्स, निर्दंम, क्रूर और पाशविक

प्रवृत्तियों की बाढ़ आ गई थी। दर्शक इन्हें देखता ही नहीं था अपितु उनसे आनंद भी उठाता था। युद्ध में योद्धा एक दूसरे का सिर काटने या अंग-भंग करने में विशेष आनंद का अनुभव करते हैं। **यथार्थवादी अभिरुचि अपने अतिवाद में विकृति की परिपोषक बनती है और आदर्शवादी रुचि अति संयम या कठोर अनुशासन की। प्रथम अपने स्वरूप में विद्रोहपूर्ण, क्रान्तिकारी, खण्डन-मण्डन-पूर्ण और परंपरा विरोधी होती है और द्वितीय संश्लेषणात्मक, सामंजस्यपूर्ण और परंपरादर्शवादी। एक स्वच्छन्द होती है और दूसरी परंपरायुक्त। कृत्रिमता और वाह्याडंबर निश्चित परिमाण में दोनों में विद्यमान रहते हैं, पर प्रथम जहाँ परंपरामुक्त होती है वहीं द्वितीय परंपरायुक्त। इस प्रकार की अभिरुचि के मूल में सामाजिक स्थिति सदैव प्रस्तुत रहती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि अशान्त, परंपरा विरोधी संक्रान्ति युगीन परिस्थिति प्रथम की जनक होती है और शान्त, परंपरापूर्ण स्थिति द्वितीय की।**

साहित्य के क्षेत्र में **विविध साहित्य रूपों का उल्लेख** किया जाता है। इसे हम लेखक विशेष की अभिरुचि का परिचायक मान सकते हैं। ऐसा देखने में आता है कि सृजन के सन्दर्भ में जो कलाकार एक प्रकार के काव्य-रूप का सफलतापूर्वक निर्वाह करता है, उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि वह दूसरे प्रकार की काव्य विधा का निर्वाह भी उसी प्रकार करे। ऐसे सिद्ध हस्त कलाकार कम पैदा होते हैं जो हर क्षेत्र में समान कौशल प्रदर्शित कर सकें। इसके मूल में संस्कार, अनुभूति की तीव्रता, विधायक कल्पना के प्रयोग की क्षमता, अभ्यास और बुद्धि का विभेद किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। उदाहरण के लिये कुछ स्वरूपों को लिया जा सकता है। महाकाव्य और खण्ड काव्य के लेखक के लिये यह आवश्यक है कि वह प्रधान कथा को किसी मिथक से संबद्ध करे, गौण कथा या उपकथा का चयन करे और पुनः विधायक कल्पना के आधार पर इन्हें संश्लेषित करके महत्वपूर्ण और प्रभावोत्पादक स्वरूप का निर्माण करे। उसका देश-काल का अध्ययन व्यापक, सूक्ष्म और सर्वभुक् हो। उसे विविध छन्दों का समुचित ज्ञान हो। गीति काव्य या मुक्तक के लेखक के लिये इन विशेषताओं की अपेक्षा नहीं। वह तो केवल अनुभूति की तीव्रता और वैयक्तिकता का संबल ग्रहण करता है। संसृति के निरंतर क्रियाशील स्वरूपों को समझने की अपेक्षा सभी प्रकार के लेखकों से होती है। कुछ इसे संकीर्ण एवं सीमित बना देते हैं और कुछ इसे इस रूप में निरूपित करते हैं कि यह आनंद प्रदाता होने के साथ ही हमारी आत्मा का विकास और विस्तार करती

है। प्रबंध और खण्ड काव्य हमें जीवन-वैविध्य से परिचित कराते हैं और मुक्तक अथवा प्रगीत उसके स्वरूप विशेष से।

साहित्य में हास्य की रुचि भी विशेष महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। 'पेरी' ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है, **"सुखान्त नाटक मुक्त वातावरण में अधिक सफल होता है। हास्य सामाजिक वस्तु है और वहीं विकसित होता है जहाँ वैयक्तिक संवेदना जनहित की दृष्ठि से अस्थायी रूप में दबा दी जाती है। जीवन सदैव वैयक्तिक सुख-दुख को अभिलाषा को संतुष्ट नहीं कर पाता। इसके मूल में ऐसी निर्वैयक्तिक क्रियायें निरन्तर विद्यमान रहती हैं जो जीवन-अंग होने के साथ ही महत्त्वपूर्ण भी मानी जाती हैं। इसी निर्वैयक्तिक अंत:संबंध की अनेकता और वैविध्य हास्य की जनक होती है। इसी से वह अपनी सामग्री प्राप्त करता है। यह सामग्री असादृश्य पर आधारित होती है। दर्शक निष्कर्ष के लिये पूर्ण स्वतंत्र होता है।"**[1] उपर्युक्त उद्धरण में हास्य के लिए 'लाफ्टर' शब्द का प्रयोग किया गया है और इसे सामाजिक हित का रक्षक माना गया है। विषयगत दृष्टिकोण को इसकी प्रमुख विशेषता की संज्ञा दी गई है। परवर्ती विचारक 'बर्गसाँ' के विचार भी इसी से मिलते-जुलते हैं। हास्य के साथ सूक्ति की चर्चा की जाती है। 'हरबर्टरीड' ने इन दोनों के भेद को स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि सूक्ति बौद्धिक होती है और हास्य अनुभूति से नियंत्रित करुणा का सहयोगी भाव माना जाता है। हास्य को मनोवेग के विशिष्ट रूप में बहुत पहले मान्यता मिल चुकी है। 'ऐस्पर' ने "एवरी मैन आउट ऑव हिज़

---

1. Comedy fares best in the open. Laughter is essentially a social thing and flourishes where private feelings must be temporarily effaced for the public good. Personal joy and grief cannot always be indulged in the arena of life, where an infinite number of impersonal encounters make up so large a part of human activity. And it is these very impersonal relationships that in multiplicity and variety of their details furnish the richest material for comic spirit, it observes them constantly, combines them incongruously and allows the onlookers to draw their own conclusions.

ह्यूमर' की भूमिका में इस पर प्रकाश डाला था ।[1] 'हाब्स' के अनुसार हास्य की अभिरुचि में ऐसा मनोभाव प्रस्तुत रहता है जो तुलनात्मक दृष्टि से अपनी त्रुटियों और अन्य व्यक्तियों की त्रुटियों पर बिचार करने और अपने महत्त्व के भाव को जागृत होने से उत्पन्न होता है ।'हीगेल' ने इसी को "सेल्फ कॉम्प्लेसेण्ट श्रीउडनेस' (Self-Complacent Shrewdness) कहा है । कुछ अन्य विचारकों ने इस सन्दर्भ में असामंजस्य की प्रवृत्ति का उल्लेख किया है । 'फ्रायड' ने हास्य को दमित अवचेतन में निहित अवसाद के उदात्तीकृत रूप का प्रतिफलन माना है ।

संस्कृत काव्य शास्त्र में हास्य को विकृति, अनौचित्य और असंगति से सम्बद्ध माना गया है । 'अभिनव गुप्त' ने रसाभास की चर्चा की है । उनकी दृष्टि प्रमुख रूप से काव्य के अनुकूल और प्रतिकूल प्रसंगों से सम्बद्ध रही है । **कहना न होगा कि हास्य की रुचि विकृत, असंगत और अनुचित व्यवहार की मुखापेक्षी होती है, इसमें गर्व की भावना भी पाई जाती है, पर इन सब के बावजूद सहज वैचित्र्य, आडम्बर, कृत्रिमता, ईर्ष्या और अधोगति को भी दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता ।**

अभिरुचि के अन्य कई स्वरूपों का उल्लेख किया जा सकता है, पर हम अब केवल **त्रासदी की रुचि पर विचार** करके इस प्रसंग को यहीं समाप्त करेंगे । वस्तुतः त्रासदी को लेकर पर्याप्त भ्रम फैला है । ऐसा विश्वास किया जाता है कि इसका मूलस्वर निराशावादी है । **इसमें शक नहीं कि इसका घटनाक्रम, बर्बरता, नृशंसता, मृत्यु, करुणा, शोषण और स्वच्छन्द प्रवृत्तियों के चित्रण पर**

1. So in every human body
The choler, melancholy, phlegm and blood
By reason that they flow continually
In some one part and are not continent
Receive the name humours. Now thus far
It may by metaphor, apply itself
Unto general disposition
As when some one peculiar quality
Doth so possess a man that it doth draw
All his effects, his spirits and his powers,
In their confluxion all to run one way,
This may be truly said to be humour.

आधारित होता है, पर इसका उद्देश्य केवल भय और करुणा को उत्पन्न करना नहीं। त्रासदी का लेखक निराशावाद और आशावाद के संघर्ष को चित्रित तो करता है, पर इसकी प्रभावान्विति निराशा या दुख में ही नहीं पर्यवसित होती। यह मानव के सहज-स्फूर्त विवेक और अन्तर्निहित ऊर्जस्वित तथा स्फीत आत्मबल पर अविश्वास नहीं करती। इसका दृष्टिकोण मानवतावादी होता है। नायक में अदम्य साहस पाया जाता है, वह परिस्थितिजन्य बाधाओं से लड़ता झगड़ता आगे बढ़ता है, उसकी विभीषिका को न वहन कर सकने के कारण टूट कर बिखर जाता है; और अन्ततोगत्वा काल के कराल हाथों द्वारा उठा लिया जाता है। इसे उसकी पराजय नहीं माना जा सकता। यह उसके जूझने के अदम्य साहस का प्रतिमान है जो उसके दुख को सुख में और उसकी आत्मा को चरमोत्कर्ष में परिणित कर देता है। यह व्यक्ति विशेष के संघर्ष की कहानी नहीं, अपितु मानवता के संघर्ष की कहानी है। कहना न होगा कि इस संसृति के वैविध्य में नाचीज़ व्यक्ति अपनी हस्ती को कम नहीं समझता और इसकी अनन्त व्यापक असीमता में वह अपनी अति ससीम वैयक्तिकता के प्रति विशेष जागरूक रहता है। इसके परिणाम स्वरूप त्रासदी नायक जब इन अतिमानवीय शक्तियों से संघर्ष रत होता है तो उसे यही अनुभव होता है—

"ऐज़ फ़्लाइज़ टु वैण्टन ब्यायज़, वी आर टु गॉड्स,
दे किल अस फॉर देयर स्पोर्ट।"

अथवा

"ह्वाट ए पीस ऑव वर्क इज़ मैन, हाउ नोबुल इन रीज़न......
बट टू मी इट इज़ ए स्पेक ऑव डस्ट।"

प्रो० केर ने एक महत्वपूर्ण बात का संकेत किया है। उनका कहना है कि त्रासदी मानव-चरित्र में निहित त्रुटि से उत्पन्न होती है और इसका नायक परिस्थितियों से जूझता हुआ निरन्तर हृदयद्रावक संघर्ष का परिचय देता है। इसके लेखक में जीवन और जगत को समझने की अद्भुत क्षमता होती है। इसके अन्तर्विरोध और संघर्ष विशेष रूप से कलात्मक होते हैं।

हर कलाकार की निजी रुचि होती है जो विषय को समझने और प्रतिपादित करने में सहायक होती है। इसके अभाव में हम कला-सृजन और आस्वादन को सरलता से नहीं समझ सकते हैं।

कलात्मक अभिरुचि परिवर्तन का विषय होती है। पूछा जा सकता है, यह क्यों और कैसे परिवर्तित होती है? इसका उत्तर देना सरल नहीं, फिर भी

इतना कहा जा सकता है कि यह (अभिरुचि) तुलना पर आश्रित होती है और तुलना में साम्य और वैषम्य पाया जाता है। काल गतिशील होता है, यह अपने प्रवाह के साथ व्यक्ति में नवीन इच्छायें और आकांक्षायें उत्पन्न करता है। इस क्रिया से अभिरुचि सम्बन्धी प्राचीन प्रतिमानों के समक्ष नये प्रश्न खड़े हो जाते हैं, उनके आश्रय का आधार बदल जाता है और नई अभिरुचि का आविर्भाव होता है। इस स्वरूप को दैनिक जीवन की क्रियाओं के आधार पर समझा जा सकता है। हम देखते हैं कि एक ही प्रकार के भोजन को निरन्तर ग्रहण करते रहने से व्यक्ति ऊब जाता है और वह इसके क्रम में परिवर्तन चाहने लगता है। परिवर्तन की यही अभिलाषा अभिरुचि का दिशा-निर्देशक तत्व सिद्ध होती है। इसी तथ्य को एक अन्य पहलू से भी समझा जा सकता है। अधिक समय तक बने रहने के कारण रुचि रूढ़ हो जाती है और विकासोन्मुख तथा अधिक महत्त्वपूर्ण जीवन-स्पन्दनों को प्रतिच्छायित करने में असमर्थ सिद्ध होने लगती हैं। इस रूढ़िग्रस्तता से मुक्त होना आवश्यक है। इसी के परिणामस्वरूप कुछ कलात्मक रुचियों का आविर्भाव होता है। ज्ञान-विज्ञान के विकास से नई वस्तुओं का आविर्भाव होता है। व्यक्ति इन्हें देखता ही नहीं अपितु इनका उपयोग भी करता है। यह क्रिया भी कुछ हद तक रुचि को प्रभावित करती है। मानव अपने अध्ययन के क्रम में बोध और चिन्तन के धरातल पर ऐसे तथ्यों को ग्रहण करता है जो अदृश्य तो होते हैं, पर व्यक्ति को उद्बोधित और प्ररोचित भी करते हैं। इनका आवर्त संक्रमणशील होता है। ये एक ओर लेखक में अभिनव अभिरुचि उत्पन्न करके उसे सृजनोन्मुख बनाते हैं और दूसरी ओर सामाजिक को प्रभावित करके इस रुचि का विकास करते हैं। 'शुकिंग' ने ठीक ही कहा है कि अदृश्य महत्त्वपूर्ण ढंग से लालित्य-बोधीय परिवेश को संघटित करता है। जब अभिनव-चेतना सम्पन्न कलाकार आन्तरिक प्रेरणा के वशीभूत हो कर कला-सृजन करता है तो उसकी कृति पूर्व-प्रचलित कला-परम्परा से भिन्न होती है। यह अपने उद्भव के साथ प्रचार, सहयोग और सहानुभूति के माध्यम से नई अभिरुचि के प्रसार और विकास की जनक बनती है। यह प्रश्न प्रायः पूछा जाता है कि क्या कलाकार की अभिरुचि और सामाजिक की अभिरुचि में कोई गुणात्मक और परिमाणात्मक साम्य है। इसके उत्तर स्वरूप यही कहा जा सकता है साम्य हो सकता है, पर अगर वैषम्य है तो भी सामाजिक की अभिरुचि के निर्माण में कलाकार की अभिरुचि का विशेष सहयोग रहता है।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य महत्वपूर्ण बातें भी विचारणीय हैं। **जनता की माँग, पठन रुचि, प्रकाशक के दृष्टिकोण, अर्थ की कमी और कतिपय महान विचारकों अथवा राजनीतिज्ञों का अनुकरण करने या प्रसन्न करने की अभिलाषा को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता है।** ऐसा देखने में आता है कि जनता किसी विशेष प्रकार के साहित्य की प्रेमी होती है। गंभीर से गंभीर आलोचना, कविता, कहानी, नाटक, या उपन्यास का उसके लिए तब तक कोई अर्थ नहीं होता, जब तक वह उसकी रुचि के अनुरूप न हों। इसको ध्यान में रख कर अर्थ से प्रभावित प्रकाशक ऐसी ही पुस्तकों को प्रकाशित करता है जिनसे उसे अधिक से अधिक धन प्राप्त हो सके। पाठक की यह रुचि लेखक को भी प्रभावित करती है।

अभिरुचि का निर्माण या परिवर्तन सहसा घटित होने वाला सत्य नहीं। इसमें कालगत-प्रसार प्रमुख रुप से उल्लेखनीय माना जाता है। यह क्रिया द्वन्द्वात्मक होती है। परंपरित अभिरुचि के स्थान पर परंपरामुक्त अभिरुचि का आविर्भाव कालगत चेतना, उसकी तीव्रता और सशक्तता का मुखापेक्षी होता है। सत्य यह है कि मनुष्य विकासशील जीव है। वह स्वेच्छया काल की गति का अनुगमन करता है। इस प्रवृत्ति के कारण वह प्रस्तुत सामग्री पर प्रयोग करता है और आवश्यकतानुसार प्रस्तुत से अप्रस्तुत का निर्माण करता है। इस प्रयोग और निर्माण की क्रिया के विकास-क्रम में ऐसी भी स्थिति आती है जब उसका निरन्तर विकासशील बोध उसे संकुल मानसिक मनोभावों और उपलब्ध सामग्री के अस्पष्ट स्वरूपों के रहस्योद्घाटन और उपयोग की ओर उन्मुख करता है। तात्पर्य यह कि कला का सृजन-पक्ष निरंतर नये स्वरूपों की ओर उन्मुख रहता है और विभावन को उसका अनुगमन करना पड़ता है।

अभिरुचि के सन्दर्भ में **समसामयिक अभिरुचि और कालगत चेतना** (Contemporary taste and Spirit of the age) की चर्चा की जाती है। 'ब्रुनेटियर' ने डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर कला के विकास की चर्चा की थी, पर उससे एक महान् भूल हो गई थी। उसने ऐसे तथ्यों को एक साथ प्रस्तुत करने की कोशिश की थी जो दृश्य रूप से समान थे पर अदृश्य रूप से सर्वथा असमान। इससे सामंजस्य के भाव को धक्का पहुँचा था। **कहना न होगा कि कला-कृति और प्रकृति में दृश्य साम्य हो सकता है, पर इस बात को समझने की भी महती आवश्यकता है कि कला-कृति प्रकृति का मानसिक साक्ष्य हुआ करती है। अतएव मनोभावों और मनोवेगों के सन्निवेश के कारण**

दृश्य प्रकृति तत्वों में ऐसे मनोरागों का समावेश हो जाता है कि वे जीवन्त और स्पन्दनशील ज्ञात होने लगते हैं। इस विवेचन से इतना स्पष्ट है कि विशुद्ध विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर कला-रुचि की व्याख्या संभव नहीं।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कलाकार वर्तमान में सृजन करता है, पर उसका संबंध भूत और भविष्य से भी होता है। **समसामयिक अभिरुचि और कालगत चेतना उसके सृजन का मेरुदण्ड होती है। वह न तो वर्तमान अभिरुचि का बहिष्कार कर सकता है और न कालगत चेतना का। यह आवश्यक नहीं कि वर्तमान अभिरुचि और कालगत चेतना सदैव समान हों।** कभी-कभी ये भिन्न भी हो सकती हैं। ऐसी स्थिति में कलाकार इन्हें समन्वित करता है। **प्रायः यह कहावत सुनने में आती है कि कला ऐसा परिवर्तनसूचक यंत्र है जो समाज के गतिशील स्वरूप को चित्रित करती रहती है।** इसके माध्यम से संपूर्ण बौद्धिक चेतना रूपायित होती है। यह मान्यता बाह्य दृष्टि से जितनी सरल और स्पष्ट है, आन्तरिक दृष्टि से उतनी ही उलझी हुई और अस्पष्ट। प्रश्न पूछा जा सकता है, यह कालगत चेतना है क्या ? इसके उत्तर स्वरूप यही कहा जा सकता है कि यह आगत और अनागत से प्राप्त ऐसा प्रभाव है जो मानव के चिन्तन और मननशील व्यक्तित्व का निर्माण करता और उसे सृजन करने की प्रेरणा देता है। यह प्रश्न पुनः उठता है कि क्या कालगत चेतना युग की सम्पूर्ण बौद्धिक चेतना को व्यंजित कर सकती है ? इसका उत्तर देना सरल नहीं है। इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण समाज एक इकाई अवश्य है, पर इसके मूल में समुदाय पाया जाता है। इन समुदायों के अपने विश्वास, रहन-सहन के तौर-तरीके और मान्यतायें होती हैं, कलाकार इन संकीर्ण सीमाओं का अतिक्रमण कर के व्यापक सत्य को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाता है। ऐसी स्थिति में समाजगत चेतना के स्थान पर समुदायगत चेतना की बात सामने आती है। **कलाकार अगर इस समुदायगत चेतना को समाजगत चेतना के धरातल पर लाने में समर्थ हो सका तो, यह उसकी अन्तर्दृष्टि, व्यापक अनुभव और तत्त्वाभि-निवेशी-साक्षात्कार का ही प्रतिफलन होगी।**

विभिन्न अभिरुचियों के प्रति विद्वेषमूलक दृष्टि से कलात्मक अभिरुचि के निर्माण में बाधा पड़ती है। संकीर्ण अभिरुचि संकीर्ण कला की अभिभावक होती है। कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह इन संकीर्ण सीमाओं का परित्याग कर के सहानुभूति के द्वारा इस दृश्य भिन्नता का आलोड़न और मंथन करे और उससे ऐसे नवनीत को निकाले जो बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय की भावना

को चरितार्थ करे। इसका तात्पर्य यह नहीं कि, वह किसी ऐसे मानदण्ड की स्थापना करे जो, सभी प्रकार की अभिरुचियों के लिए समान रूप से लागू हो। ऐसे किसी सार्वजनीन अभिरुचि के मानदण्ड की कल्पना नहीं की जा सकती। इतना ही कहना समीचीन ज्ञात होता है कि मनुष्य ऐसे विकास के स्तर पर पहुँच चुका है जहाँ से वह अब सभी प्रकार की क्रियाओं की सकारण व्याख्या करने में समर्थ है। आज वह अपने आन्तरिक विकास की संघटना पर सचेतन दृष्टि से विचार करने की स्थिति में है। ऐसा ज्ञात होता है कि भावी विकास क्रम ज्ञानाश्रित तथा बौद्धिक होगा और भविष्य में अभिरुचि का विवेचन इन्हीं विश्लेषक और संश्लेषक तत्वों के आधार पर किया जायगा।

अभिरुचि के प्रतिमानों का उल्लेख कई दृष्टियों से किया जाता है। 'डेविड-ह्यूम' 'थिओडोरमेयरग्रीन' और 'स्टीफेन कोबर्न' ने प्रमुख रूप से इस पर विचार किया है। 'ह्यूम' के मत से अभिरुचि वैविध्य एक व्यापक सत्य है। इसका प्रमुख कारण यह है कि सुन्दर और असुन्दर के प्रति सभी लोग समान दृष्टिकोण नहीं रखते। इस असमानता के बावजूद, मानव सौन्दर्य-बोध को निरूपित और विश्लेषित करने के लिए ऐसे प्रतिमानों की खोज करना चाहता है, जिनके आधार पर विविध मनोभाव समन्वित किये जा सकें और कलाकृति का समुचित मूल्यांकन संभव हो सके। इस प्रकार का मूल्यांकन सदैव बाधा मुक्त नहीं होता। ऐसा माना जाता है कि निर्णय और मनोभाव में अन्तर होता है। हर मनोभाव का अपना क्षेत्र और स्वरूप है, पर प्रज्ञा का स्वरूप इससे भिन्न होता है। यह अपने से परे अन्य वस्तुओं से सम्बन्धित होती है। मनोभाव उपादान और मानसिक परिवेश के सम्बन्ध का परिचायक होता है। यह सम्बन्ध सामंजस्यपूर्ण होता है। इस सामंजस्य के अभाव में मनोभाव का अस्तित्व नहीं रहता। सौन्दर्य व्यक्ति के मानसिक परिवेश का मुखापेक्षी होता है। 'ह्यूम' की धारणा है कि कला-सृजन के सिद्धान्त कलाकार की अनुभूति पर निर्भर रहते हैं। मानव के सर्वमान्य भावों का निरीक्षण इस तथ्य का द्योतक है कि संवेग हर स्थिति में नियमों के सहयोगी नहीं होते। इसका प्रमुख कारण यह है कि ये अदृश्य भाव-संवेग प्रकृत्या बड़े कोमल होते हैं और यथार्थरूप में नियमानुकूल क्रियाशील होने के लिए उन्हें अनेक अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। किसी भी प्रकार की वाह्य या आन्तरिक बाधा उनमें व्यतिक्रम उत्पन्न कर सकती है। इससे साफ जाहिर होता है कि संवेगों को कलात्मक रूप प्रदान करने के लिए उपयुक्त देश-काल के साथ ही उपयुक्त परिस्थिति और मन:स्थिति की आवश्यकता होती है।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य तत्वों को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। इनमें मानसिक शान्ति, विचार को स्मृति में लाने की क्षमता और उपादान के प्रति अवधान प्रमुख हैं। वस्तु-विन्यास और भाव-संवेगों का सम्बन्ध अति सूक्ष्म और अस्पष्ट होता है। इसे भी सही रूप में पकड़ने और परखने के लिए सावधानी की आवश्यकता होती है। गंभीरतापूर्वक विचार करने से यह तथ्य पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि इन सभी स्तरों में सामाजिक अभिरुचि का कोई न कोई ऐसा आवश्यक तत्व विद्यमान रहता है जो सृजनोन्मुख मानसिक स्वरूप को स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से प्रभावित करता रहता है। इस तथ्य को हृदयंगम कर लेने के बाद मानव की संघटना के आन्तरिक स्वरूप की भिन्नता पर भी विचार किया जा सकता है। प्रायः देखने में आता है कि एक ही परिस्थिति में उपादान विशेष किसी व्यक्ति को अधिक प्रभावित करता है और किसी को कम। कुछ लोग सौन्दर्य के आकर्षक स्वरूप के प्रति अन्यमनस्क होते हैं। ऐसे व्यक्तियों में विधायक कल्पना की रुझान के उस सर्जक-स्वरूप का अभाव पाया जाता है जो सूक्ष्म भाव संवेगों को समझने में सहायक सिद्ध होता है। 'मि० ह्यूम' ने इस तथ्य को स्पष्टता से निरूपित किया है कि **सुन्दर और असुन्दर की विशेषता उपादान में नहीं अपितु हमारे भाव-संवेगों में होती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उपादान इस दृष्टि से बेकार होता है। यथार्थ में उसमें प्रकृति प्रदत्त विशेषताओं का ऐसा स्वरूप निहित होता है जो सौन्दर्य की प्रकृति को प्ररोचित और उद्‌बुद्ध करता है। इस दृष्टि से यह तथ्य साफ जाहिर हो जाता है कि उपादान और भाव संवेगों में परस्परानुमोदन की स्थिति होती है। इस परस्परानुमोदन के मूल में अभिरुचि का मार्दव विशेष रूप से क्रियाशील पाया जाता है।** स्पष्ट है कि सृजन और विभावन दोनों अभिरुचि के इस स्वरूप के ऋणी होते हैं। 'ह्यूम' ने विभिन्न अतिवादों का निरसन कर के मध्यम मार्ग का अवलंब ग्रहण किया है। उनकी प्रमुख मान्यतायें निम्नांकित रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं—

(१) भाव-संवेग मानव प्रकृति के परिवर्तनशील स्वरूप के द्योतक हैं, फिर भी ये अभिरुचि-निर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं।

(२) अभिरुचि का मूल स्वरूप मानसजात है जो उपादान में निहित विशेषताओं से भी प्ररोचित होता है।

(३) इन स्वरूपों के बोध के लिए इनमें निहित बौद्धिक-क्रिया का ज्ञान आवश्यक है।

(४) अभिरुचि-मार्दव उपादान विशेष को पूर्णता से समझने में सहायक होता है।

(५) अभिरुचि के प्रतिमान के सन्दर्भ में व्यक्ति की आन्तरिक संघटना की भिन्नता को मान्यता देना आवश्यक है।

(६) अभिरुचि विधायक-कल्पना के तत्त्वाभिनिवेषी स्वरूप का मुखापेक्षी होती है।

(७) अभिरुचि को सही रूप में क्रियाशील होने के लिए मानसिक शान्ति, स्थिरता और सौन्दर्यवगाहिनी ऊहा की आवश्यकता पड़ती है।

(८) इन तथ्यों के सन्दर्भ में अभिरुचि के विश्वजनीन मानदण्ड की कल्पना का सापेक्ष अर्थ है। मानव की अभिरुचि निरन्तर विकसित होती रहती है। यह देश-काल के अनुसार बदलती है। इस स्थिति में इसमें आमूल परिवर्तन नहीं होता। इसके कुछ तत्त्व बने रहते हैं और कुछ नये इसमें जुड़ जाते हैं। यह अभिनवीकरण की क्रिया है जिसका, वर्तमान अभिरुचि से विशेष संबंध होता है।

'थिओडोर मेयर ग्रीन' ने 'नेचर एण्ड क्राइटीरिया ऑव क्रिटिसिज़्म' के सन्दर्भ में मानदण्डों पर विचार किया है। उन्होंने इसके तीन स्वरूपों का उल्लेख किया है।

(१) कृति के ऐतिहासिक स्वरूप एवं उद्‌भव से सम्बद्ध ऐतिहासिक आलोचना।

(२) इसकी उत्कृष्ट वैयक्तिकता से सम्बद्ध पुनर्सृजनात्मक आलोचना।

(३) इसके कलात्मक मूल्य से सम्बद्ध निर्णयात्मक आलोचना।

'ग्रीन' महादेय इन्हीं के मिले-जुले स्वरूप पर मानदण्ड का निर्धारण करना चाहते हैं। यहाँ हमारा संबंध इन मानदण्ड के प्रकारों से नहीं अपितु इसके मूल में विद्यमान विचारों से है। वे कृति के ऐतिहासिक विवेचन के साथ ही महत्त उद्देश्य और कलात्मक मूल्य की चर्चा करते हैं। इस क्रम में उन्होंने पूर्वापर संबंध, शैली, पूर्णता, सत्यनिरूपण और महार्धता को विश्लेषित किया है। प्रकारान्तर से यह भी कहा जा सकता है कि वे अभिव्यक्ति कौशल, विषय-वस्तु और विषय-विन्यास की पूर्णता और अन्तर्निहित विचार-वैशिष्ट्य पर विचार करते हैं। कला के सन्दर्भ में इन तथ्यों को एक दूसरे का पूरक माना जा सकता है। जो तथ्य आलोचना के सन्दर्भ में प्रस्तुत किये गये हैं, वे कुछ परिवर्तन के साथ अभिरुचि पर भी लागू होते हैं। अभिरुचि सर्वतंत्र स्वतंत्र या निरपेक्ष नहीं

मानी जा सकती। वह अभिव्यक्त होती है और सामाजिक को प्रभावित भी करती है। यह कार्य शैली के माध्यम से संपादित किया जाता है। यह सत्य है कि अभिरुचि का विषय होता है और शैली इसको विन्यस्त करने का प्रमुख साधन है। इस विन्यास में वाह्य दृष्टि से जितनी पूर्णता और सामंजस्य होगा अभिरुचि के तत्व आपस में जितना समन्वित हो कर अभिव्यक्त होंगे, वह उतना ही प्रभावोत्पादक होगा। सामंजस्य के बावजूद विचार-वैशिष्टय को कलात्मक अभिरुचि का प्रमुख प्रेरक तत्व माना जाता है। यही तत्व कलात्मक कलेवर को जीवन्त स्वरूप प्रदान करता है।

'स्टीफेन कोबर्न पेपर' के अनुसार आलोचना के विविध प्रतिमान संभावित हैं, पर इनका प्रयोग वस्तुगत या विषयगत दृष्टि से ही किया जा सकता है। वे इसके चार स्वरूपों का उल्लेख करते हैं :—

(१) कला-विन्यासगत स्वरूप (mechanism—materialism, naturalism)

(२) सन्दर्भगत स्वरूप (contexualism—Pragmatism, instrumentalism)

(३) ऐन्द्रिय बोध (organicism—absolute idealism)

(४) रूपवाद (formicism—realism or platonic idealism)

उनके अनुसार प्रथम स्वरूप आनन्द का मुखापेक्षी होता है और द्वितीय विशेषता वैविध्य का। तृतीय में सामंजस्यपूर्ण एकता का भाव पाया जाता है और चतुर्थ में सर्वसामान्य या विश्वजनीन अभिव्यंजना का। 'पेपर' ने इन सभी स्वरूपों का विनियोग भी किया है। उनका पूर्ण आदर्शवादी स्वरूप से सम्बन्धित विनियोग विशेष महत्वपूर्ण है।[1] उनके विवेचन पर दृष्टिपात करने से निम्नांकित तथ्य सामने आते हैं :—

---

1. Organicism traditionally known as objective idealism, is the world hypothesis that stresses the internal relatedness or coherence of things. It is impressed with the manner in which observations at first apparently unconnected turn out to be clearly related, and with the fact that as knowledge progresses, it becomes more systematised. It conceives the value of knowledge as proportional to the degree of integration, it has attained, and comes to identify value with integration in all spheres. Value in sphere of knowledge is integration of judgements, in sphere of ethics it is integration of acts, in sphere of arts it is integration of feelings. Finally it conceives all of these as contained in a total integration of existence or reality.

(१) पूर्ण आदर्शवाद विषयगत आदर्शवाद का समान धर्मी है।

(२) इसमें उपादानों के अन्त:संबंध और सामंजस्य पर विशेष जोर दिया जाता है।

(३) ज्ञान, विकास के साथ व्यवस्थित हो जाता है।

(४) ज्ञान का मूल्य सामंजस्य का समानुपाती होता है।

(५) कला के क्षेत्र में मूल्य का आविर्भाव आन्तरिक सामंजस्य पर आश्रित होता है। इस सामंजस्य को अनुभूति का सामंजस्य माना जाता है।

'पेपर' महोदय ने आरम्भ में जिन परिकल्पनाओं का उल्लेख किया है, उनकी कोई अलग सत्ता नहीं होती। उदाहरण के लिए आनन्द, गुणवैविध्य, सामंजस्य, सामान्य और असामान्य अभिव्यंजना आदि को लिया जा सकता है। इनके गुण-धर्म पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये वस्तुत: एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और किसी न किसी रूप में लेखक की कलात्मरुचि से ही उद्भूत हुए हैं। कलाकार की कलात्मक रुचियों में 'टग आफ वार' की स्थिति बनी रहती है। जब तक वह इसे सामंजस्य में नहीं परिणित कर देता तब तक उत्कृष्ट कलात्मक सृजन नहीं प्राप्त होता। जिस विषयगत स्वरूप का प्रतिपादन उन्होंने किया है उसका सीधा सम्बन्ध अभिव्यक्ति के धरातल से होता है, अनुभूति के धरातल से नहीं।

कला के क्षेत्र में **उत्कृष्ट अभिरुचि और निकृष्ट अभिरुचि का प्रयोग किया जाता है। ये तथ्य** निश्चित मान्यता के **द्योतक** हैं। **उत्कृष्ट अभिरुचि के निर्माणक तत्वों को ही उसके प्रतिमान की संज्ञा दी जाती है।** उपर्युक्त विवेचन में समन्वय, सहिष्णुता, भाव-संवेग की सघनता, इसमें निहित बौद्धिक क्रिया के अभिज्ञान, अभिरुचि मार्दव, विधायक कल्पना के संबंध, मानसिक शान्ति, सौन्दर्यावगाहिनी ऊहा, शैली की पूर्णता और महानता, तथ्य निरूपण की की क्षमता, संप्रेषण, ऐतिहासिक सम्बन्ध आदि का उल्लेख किया गया है। स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से अभिरुचि इनसे सम्बन्धित अवश्य होती है। अभिरुचि और मन:सृष्टि के सबन्ध को भी दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। कलाकार अभिरुचि वैशिष्ट्य के द्वारा सृजन और विभावन के समय की मन:-सृष्टि को सरलता से समझ सकता है। मन:सृष्टि मानस की संवेग प्रवृण वृत्ति है और अभिरुचि इस वृत्ति को समझाने का प्रमुख साधन। मानसिक क्रिया दृश्य और अदृश्य दोनों स्वरूपों से सम्बद्ध होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि दृश्य हमारी श्रवण चिन्तन और निरीक्षण द्वारा, वासनाजन्य संस्कारों के माध्यम

से अहश्य का रूप ग्रहण करता जाता है और कुछ अंशों में इन्द्रिय बोध का अतिक्रमण करने लगता है। इस पर दुरूहता और अस्पष्टता की परत चढ़ जाती है। हमारी मनोसृष्टि इस अहश्य को हश्य धरातल प्रदान करके उसे कलात्मक बनाती है।

निष्कर्ष—

(१) कलाकृति की उत्कृष्टता का निराकरण करने वाली महत्त्वपूर्ण शक्ति को अभिरुचि कहते हैं।

(२) अभिरुचि विविध ज्ञान और विज्ञान से सम्बन्धित होती है। सृजन और आलोड़न के समय यह कलात्मक सामग्री को छानने का कार्य करती है।

(३) व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द Tangere से निष्पन्न हुआ है। आरम्भ में इसका अर्थ स्पर्श करना या छूना था। बाद में इसका अर्थ-विस्तार हुआ और यह आधुनिक अर्थ-सन्दर्भ से सम्बद्ध हुआ।

(४) कलात्मक अभिरुचि स्मृति या बोध के आधार पर सुख-दुखात्मक स्थिति का अंकन करती है। यह संवेगों को व्यवस्थित करती है।

(५) कलाकार की अभिरुचि सामान्य व्यक्ति की अभिरुचि से भिन्न होती है।

(६) इसका आरम्भ मानव सृष्टि के साथ हुआ है।

(७) यह कई प्रकार की होती है।

(८) यह परिवर्तन का विषय है।

(९) समसामयिक अभिरुचि और कालगत चेतना का सम्बन्ध होता है। कालगत चेतना को व्यापक अर्थ में ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं।

(१०) इसका सम्बन्ध भूत, वर्तमान और भविष्य से होता है।

(११) अभिरुचि के प्रति विद्वेषमूलक दृष्टि इसके विकास में बाधक सिद्ध होती है।

(१२) अभिरुचि के सार्वजनीन और सार्वभौम मानदण्ड नहीं होते।

तृतीय उल्लास

दशम् तरंग

प्रतिभा और विधायक कल्पना

एकादश तरंग

बिंब

द्वादश तरंग

मनःसृष्टि

दशम् तरंग

प्रतिभा और विधायक कल्पना

संस्कृत काव्यशास्त्र का महत्त्व आज भी अक्षुण्ण है। इसका विवेचन वैविध्य कई दृष्टियों से लोगों को अब भी आकर्षित करता है। इस साहित्य में कवि को महत्त्व दिया गया है और काव्य को लोकोत्तर आनन्द का जनक माना गया है। 'आनन्द वर्धन' का कहना है—

अपारे काव्य संसारे कविरेक: प्रजापति:।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।
शृंगारी चेत्कवि: काव्ये जातंरसमयं जगत।
स एव बीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्।

'महिम भट्ट' की यह उक्ति विशेष रूप से दर्शनीय है—

"रसानुगुण शब्दार्थं चिन्तास्तिमित चेतस:।
क्षणं स्वरूप स्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवे:।
साहिचक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येनसाक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्य वर्तिन:।

इस वाङ्मय में कवि के असंख्य सहृदयों को आनन्द विभोर करने का उल्लेख भी मिलता है—

यानेवशब्दान् वयमालपाम:।
यानेव चार्थान् वयमुल्लिखाम:॥
तैरेव विन्यास विशेष भव्यै:।
सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति॥

ऊपर के उद्धरण में 'यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते', 'क्षणं स्वरूप-स्पर्शोत्था' तथा 'येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिन:' आदि अंश विशेष

रूप से ध्यातव्य हैं। इनसे एक तथ्य स्पष्टता से हमारे सामने आ जाता है कि कवि के अन्तःकरण में कोई शक्ति है जो उसे काव्य करने की प्रेरणा देती है। इसी शक्ति को प्रतिभा कहा जाता है।

प्रतिभा :—

'वार्हस्पत्यम्' के अनुसार प्रतिभा शब्द प्रति + भा-भावे अङ् के द्वारा निष्पन्न हुआ है और इसका अर्थ बुद्धि या व्युत्पन्न बुद्धि होता है। इसी व्युत्पन्न बुद्धि को सृजन-शक्ति का प्रमुख उपजीव्य माना गया है। पौरस्त्य मनीषियों ने इसका विवेचन काव्य-हेतु के सन्दर्भ में किया है। काव्यहेतु की दृष्टि से प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास आदि तत्वों पर विचार किया गया है, पर प्रथम का विवेचन विविध, व्यापक और अन्तर्दृष्टि पूर्ण है। 'अभिनवगुप्त' ने इसी का विवेचन करते हुए लिखा भी है, "काव्य सृजन में अभ्यास आदि की तुलना में प्रतिभा का महत्व विशेष रूप से उल्लेखनीय है। व्युत्पत्ति प्रतिभा का ही एक रूप है और अभ्यास उसी को व्यापकता प्रदान करने वाला तत्व। इसी पृष्ठभूमि में प्रतिभा को शक्ति की संज्ञा दी गई है।" परवर्तीकाल में व्युत्पत्ति और अभ्यास की महत्ता का ह्रास हुआ है। 'पण्डितराज जगन्नाथ' ने संभवतः इसीलिये 'तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा' कह कर इस तथ्य का अभिज्ञान कराया है।

भारतीय काव्यशास्त्र का प्रमुख प्रतिपाद्य 'रस' है। केवल इस संप्रदाय विशेष पर प्राचीन काल से आज तक जो कुछ भी लिखा गया है वह पर्याप्त व्यापक और विशाल है। यद्यपि रसेतर आचार्यों ने भी प्रतिभा पर विचार किया है, पर इसका अध्ययन रस विवेचन में ही अपनी पूर्णता को प्राप्त हो सका है। रस-सिद्धान्त की दार्शनिक पृष्ठभूमि विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इस काव्यशक्ति के विवेचन में इसका उपयोग भी किया गया है। 'अभिनवगुप्त' ने प्रतिभा के विवेचन के सन्दर्भ में 'स्वातन्त्र्य' शब्द का प्रयोग किया है। दर्शन के क्षेत्र में इसका निश्चित अर्थ में प्रयोग किया जाता था। साहित्य में भी यह 'स्वतंत्र इच्छाशक्ति' का परिचायक माना गया। 'अभिनवगुप्त' के अनुसार यही काव्य-सृजन का प्रमुख प्रेरक तत्त्व है। वे व्युत्पत्ति और प्रतिभा को अभिन्न मानते हैं। 'घटकर्पर कुलक' के अन्तिम अंश में निम्नांकित श्लोक पाया जाता है—

"न वै दोषा दोषा, न च खलुगुणा एव च गुणा।
निबद्धः स्वतंत्र्यं सपदि गुणदोषान्विभजते।

इयं सा वैदग्धी प्रकृति मधुरा तस्य सुकवे
यतत्रोपादादपि सुभगभावः परिणितः।

इसका तात्पर्य यह है कि, "**स्वातंत्र्य के कारण कविगुण और दोष में भेद करता है और इसी के माध्यम से महाकवि सृजन सम्बन्धी नियमों की** अवहेलना करने पर भी सुभग भाव की रक्षा में समर्थ होता है।"

'अभिनवगुप्त' शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुयायी थे। इस दर्शन की दो शाखायें थीं, (१) क्रम-सिद्धान्त (२) कुल-सिद्धान्त। क्रम-सिद्धान्त में सृष्टि के पाँच तत्त्वों को मान्यता दी गई थी। ये तत्त्व सृजन, पालन, संहार, अनाख्या और भासा थे। 'भासा' को प्रमुख तत्त्व माना गया था और प्रतिभा की संज्ञा दी गई थी। इसी को चित्शक्ति या स्वातंत्र्य का पर्याय घोषित किया गया था।[1] 'महार्थ मंजरी' का अधोलिखित श्लोक इस दृष्टिकोण पर पर्याप्त प्रकाश डालता है—

भासा च नाम प्रतिभा महती सर्वगर्भिणी।
स्वस्वभाव शिवैकात्मदेशिकात्मक चिन्मयी।
यस्यां हि भित्ति भूतायां मातृमेयात्मकं जगत।
प्रतिबिंबतयाभाति नगरादीव दर्पणे॥
स्वातंत्र्यरूपा सा काचिच्चिच्छक्तिः परमेष्ठिनः।
तन्मयो भगवान् देवो गुरुर्गुरुमयी च सा।

सारांश यह कि :—

(१) भासा प्रतिभा है जिसे, महती और सर्वगर्भिणी माना जाता है।

(२) वह शिवैकात्मदेशिका और चिन्मय है।

(३) इसमें संपूर्ण विश्व सरलता से प्रतिबिंबित होता है।

(४) यह सर्वतंत्र स्वतंत्र है।

(५) इसे भगवान परमेष्ठी की चित्शक्ति माना जाता है।

'भासा' संपूर्ण सृष्टि के स्वरूपों को सौन्दर्य प्रदान करती है। यह सर्वशक्तिमान, बहुसमावेशक, सर्वभुक् और सर्व-प्रतिबिंब क्षमा मानी गई है। इसके द्वारा प्रतिबिंबित होने वाले स्वरूप की अलग सत्ता नहीं होती। इसमें किसी प्रकार का द्वैत नहीं होता, यह अहं और इदं से सर्वथा मुक्त होती है। इसे

1. Abhinava Gupta, An Historical & Philosophical Study—K. C. Pandey, p. 509.

'प्रकाश' और विमर्शमय माना गया है । यह कमल की तरह प्रस्फुटित और संकुचित होती रहती है ।[1]

इसका प्रसार वर्णमाला के ५० अक्षरों के रूप में होता है । ये अक्षर सृष्टि के निर्माणक तत्वों और विचारों के परिचायक हैं । इसका संकोच तीन स्तरों में होता है । **इन स्तरों के पश्चात् 'अनुत्तरा कला'** का आविर्भाव होता है । **इसे 'भासा' और प्रतिभा का पर्याय माना जाता है । अन्तिम स्तर पर आत्मचेतनता या 'स्वात्मपरामर्शमात्र' का आविर्भाव होता है ।**

'कुल-सिद्धान्त' और 'क्रम-सिद्धान्त' में घनिष्ट सम्बन्ध है । 'कुल विचारधारा में 'परा' की कल्पना प्रचलित थी । पराप्रतिभा इसी 'परा' की विचारधारा का विकसित रूप है । कौलिकी शक्ति को परा प्रतिभा का पर्याय माना गया है । परा का सम्बन्ध परमनाद से उत्पन्न होने वाले समस्त व्यक्त नादों या अव्यक्त संगीतमय नादों से था, पर परा प्रतिभा का सिद्धान्त व्यापक रूप से सृष्टि के सभी कुछ का प्रेरक माना गया । कुल-सिद्धान्त की विचारधारा आध्यात्मिकता से रंगी हुई थी ।' **उपर्युक्त विवेचन में प्रकारान्तर से परा का सम्बन्ध परमनाद से और प्रतिभा का सम्बन्ध परमकाव्य से स्थापित होता है । परा-प्रतिभा इन्हीं दोनों के संश्लेषण का प्रतिफलन है ।** इससे एक बात साफ हो जाती है कि, "प्रतिभा रूप परा की आध्यात्मिक धारणा ही प्रतिभा के काव्यात्मक रूप का मूल स्रोत है । इसका प्रमुख कारण यह है कि काव्य-प्रतिभा के अन्तर्गत काव्य में अभिव्यक्त होने वाले संपूर्ण उपादान उसी रूप में सन्निहित हैं जैसे परा-प्रतिभा में सभी पदार्थ अपने अनन्त रूपों में अभिव्यंजित ।" परा प्रतिभा की मान्यता निश्चित आधार पर प्रतिष्ठित है । **वाक के सन्दर्भ में परा, मध्यमा, पश्यन्ती, वैखरी आदि का उल्लेख इसके पूर्व हो चुका था । 'अभिनवगुप्त' की मान्यता थी कि यह (परा) पश्यन्ती आदि के साथ ही पदार्थों के अनन्त वैविध्य को अन्तस्थ किये रहती है । विश्व के सभी अस्तित्वमय पदार्थ इसी में निमीलित रहते हैं ।** 'तंत्रालोक' में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है—

> "अनन्यापेक्षिता यास्य विश्वात्मत्वं प्रति प्रभोः ।
> तां परां प्रतिभां देवीं संगिरन्ते ह्यनुत्तराम ।"

स्पष्ट है, 'अनन्यापेक्षित भाव' से विश्वात्मक तत्त्व को प्रतिबिंबित करने के कारण इसे अनुत्तरा भी कहा जाता है । इसी तथ्य को दृष्टिपथ में रख कर इसे

1. Abhinava Gupta, An Historical & Philosophical Study—K. C. Pandey, p. 509-510.

प्रतिभा और भासा का समानार्थी भी सिद्ध किया गया है। 'तंत्रालोक' के प्रतिभा-विवेचन की कुछ विशेषतायें हैं। 'अभिनवगुप्त' ने इस ग्रन्थ में इस तथ्य को प्रतिपादित किया है कि प्रातिभ ज्ञान-संपन्न व्यक्ति को सब कुछ हस्तामलकवत उपलब्ध हो जाता है। यह 'चिन्तामणि, और महाज्ञान के सदृश है। इसे वाह्य साधनों द्वारा नहीं उपलब्ध किया जा सकता है। प्रातिभ-ज्ञान बुद्धि से भिन्न होता है। बुद्धि तर्क-वितर्कपूर्ण और खण्डन-मण्डन प्रधान होती है। दार्शनिक शब्दावली में इसीलिये इसे जड़ माना गया है। बुद्धि, अवबोध के लिए इन्द्रियज्ञान की मुखापेक्षी होती है, पर प्रातिभज्ञान अतीन्द्रिय और स्वतः स्फुरित होता है। विवेक प्रतिभा का सहयोगी है। शैवदर्शन के अनुसार प्रातिभज्ञान शुद्ध-विद्या और सद्विद्या की कोटि में आता है।

कुलसिद्धान्त की 'शांभवोपाय' की मान्यता प्रतिभा की परिकल्पना पर अच्छा प्रकाश डालती है। कुल विचारधारा में 'अनुपाय' और 'शांभवोपाय' का उल्लेख मिलता है। 'अनुपाय' को अनुतरोपाय भी कहा जाता है, इसका प्रमुख कारण यह है कि इससे किसी अन्य उत्कृष्ट साधन की कल्पना नहीं की जा सकती जो हमें 'आनंद शक्ति' से सम्बद्ध करे। शांभवोपाय को आत्मोपाय, इच्छोपाय, अनन्योपाय, परोपाय और साक्षादोपाय आदि नामों से अभिहित किया जाता है। 'अभिनवगुप्त' ने दोनों को मान्यता दी है, और इन्हें परस्पर भिन्न माना है। उनका कहना है कि प्रथम की दृष्टि में 'अनुत्तरा' प्रकाशरूप है और द्वितीय इसे (अनुत्तरा को) सही अर्थ में ग्रहण करने के लिए अपने को स्वातंत्र्य या विमर्श में विभाजित करती है। 'तंत्रालोक' में कहा गया है, "शांभवे प्रतिभात्मनी'। इसका तात्पर्य स्पष्ट है। शांभवोपाय को प्रतिभा की अपेक्षा होती है

डॉ० के० सी० 'पाण्डेय' ने प्रतिभा के रहस्यवादी स्वरूप पर विचार करते समय 'पतंजलि' की प्रतिभा संबंधी परिकल्पना का उल्लेख किया हैं। उनका कहना है कि 'अभिनवगुप्त' के पूर्व इन्होंने प्रतिभा पर अपना विचार व्यक्त किया था। इन दोनों के दृष्टिकोणों में भिन्नता रही है। 'पतंजलि' द्वैतवादी विचारक माने जाते हैं और 'अभिनवगुप्त' अद्वैतवादी विचारक। फिर भी इन में प्रतिभा और प्रातिभज्ञान तथा विवेक और विवेकजज्ञान की दृष्टि से बहुत सी बातें उभयनिष्ठ हैं। 'विज्ञान भिक्षु' ने अपने वार्तिक में प्रतिभा को शक्ति माना है जो ऐन्द्रिय ज्ञान-निरपेक्ष रूप में स्वतंत्र रूप से वस्तुओं को जानने में सक्षम है।

'पतंजलि' के अनुसार भी प्रतिभा मानस की ऐसी शक्ति है जो उपादानों के ऐसे सूक्ष्म स्वरूप से सरलता से अवगत हो सकती है जो हमारे इन्द्रियबोध के विषय नहीं है। **'अभिनवगुप्त' की परिभाषा भी-'पतंजलि' से मिलती जुलती है।** इनमें साम्य और वैषम्य दोनों है। बाद में प्रतिभा को देशकाल के सन्दर्भ में विविध उपादानों द्वारा प्रेरित चेतना का बहिर्प्रकाश कहा गया है।

शैवदर्शन की तीसरी प्रमुख शाखा शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रतिभा की अद्भुत कल्पना मिलती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि परात्पर अवस्था में शिव शक्ति को आत्मस्थलीन किये रहते हैं। **सिसृक्षा का भाव जागृत होने पर अन्तस्थ शक्ति बहिर्शक्ति का रूप ले लेती है और सृजन में सहायक सिद्ध होती है। जिस प्रकार शिव और शक्ति की युगनद्धावस्था ही सृजन का मूल केन्द्र-बिन्दु मानी जाती हैं उसी प्रकार कलाकार को आत्मस्थ प्रतिभा जब प्ररोचित होकर उद्‌बुद्ध हो जाती है तो वह उसे सृजन में समर्थ बनाती है।** शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार प्रतिभा के संस्कार प्रत्येक व्यक्ति में होते हैं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि यह अन्तस्थ शक्ति सही दिशा में उद्‌बुद्ध की जाय।

'अभिनवगुप्त' की ही परम्परा में 'हेमचन्द्र' ने भी प्रतिभा पर विचार किया है। उनका कहना है—

"सावरणक्षयोपशममात्रात् सहजा। सवितुरिव प्रकाशस्वभावस्यात्मनोऽभ्रपटलमिव ज्ञानावरणीयाद्यावरणम्, तस्येदितस्य क्षयेऽनुदितस्योपशमे चयः प्रकाशाविभावः, सा सहजा प्रतिभा।"

स्पष्ट है कि **प्रतिभा व्यक्ति की प्रकाश स्वभाव आत्मा में उसी प्रकार निरन्तर विद्यमान रहती है जिस प्रकार प्रकाश स्वभाव सूर्य में प्रकाश, पर यह चैतन्य आत्मा विभिन्न प्रकार के अज्ञान के आवरणों से आच्छादित होती है। जब तक अज्ञान उपशमित नहीं होता तब तक उसकी स्वतःप्रेरित दीप्ति को उद्‌भासित होने का अवसर नहीं मिलता, यह आत्मस्थ दीप्ति अलौकिक होती है और संसृति के बाह्य आवरण को भेद कर अथवा देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करके त्रिकाल तथा त्रिलोक स्थित रहस्य को उद्‌घाटित करने में सक्षम है। इसीलिये इसकी तुलना शंकर के तृतीय नेत्र से की जाती है। प्रतिभा की प्रमुख विशेषता, 'स्वयं प्रकाश्य प्रकाशक जोई' के द्वारा सरलता से स्पष्ट की जा सकती है। यह प्रकाश स्वभाव आत्मा का अभिन्न अंश है, अतएव, स्वयं प्रकाश्य है और प्रमाता के पदार्थ विषयक संवेदन को उद्‌भासित और अभिव्यक्त**

करती है, अतएव प्रकाशक है। यह क्रिया अविलंब संपादित हो जाती है, इसीलिए इसे 'झटितिप्रत्यय' को संज्ञा दी जाती है।

'अभिनवगुप्त' के पूर्व प्रतिभा पर विचार करने वालों की एक लम्बी परम्परा है। इन में 'भामह', 'वामन', 'आनंदवर्धन' और 'राजशेखर' प्रमुख हैं। 'भामह' का कहना है, "काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावत:," अर्थात् प्रतिभा वह काव्य-शक्ति है जो, अद्भुत काव्य-सृजन के लिए उत्तरदायी है। यही काव्य का मूल प्रेरणा स्रोत मानी जाती है। इसके लिए विशद बौद्धिक पृष्ठभूमि आवश्यक है। 'वामन' ने 'कवित्वबीजं प्रतिभाननम' कह कर इस तथ्य का अभिज्ञान कराया है कि कविता के मूल में प्रतिभा विद्यमान रहती है। यह कवि में पूर्व जीवन के संस्कार स्वरूप पाई जाती है। इन्होंने प्रतिभा को व्युत्पत्ति और अभ्यास से संबंधित माना है। 'दण्डी' का मत 'भामह' से प्रभावित ज्ञात होता है। इनकी दृष्टि में यह सृजन के लिए महत्व पूर्ण है, फिर भी कवि को व्युत्पत्ति और अभ्यास की आवश्यकता होती है। प्रतिभा और शक्ति समानार्थी मानी गई हैं। उनका कहना है—

"नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुत च बहुनिर्म्मलम् ।
अमन्दाश्चाभियोगोस्या: कारणं काव्य संपद: ।"

'दण्डी' ने स्पष्ट रुप से प्रतिपादित किया है कि यह नैसर्गिक मानी जाती है, फिर भी कवि प्रयत्न के द्वारा इसे कुछ अंशों में प्राप्त कर सकता है।[1] 'आनंदवर्धन' के अनुसार प्रतिभा 'अलोक सामान्य' को अभिव्यक्ति करने का प्रमुख साधन है। वे स्पष्ट रूप से कहते है—

"सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु नि:स्वन्दमाना महता कवीनाम् ।
अलोक सामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभा विशेषम् ।

यह कवि और सहृदय दोनों के लिए आवश्यक है। कवि इसके द्वारा सृजन करता है और सहृदय काव्यास्वादन। प्रतिभा में वर्णनीय वस्तु के 'नूतन उल्लेख' की अद्भुत क्षमता होती है। यह जगत से उपलब्ध सामग्री को क्षण-क्षण नवीन और विचित्र सूत्रों में संग्रथित करने की शक्ति बनती है। यह काव्य में विविध अर्थों की योजना में समर्थ होती है। यह प्राचीन विषय-

---

१—न विद्यते यद्यापि पूर्ववासना, गुणानुबंधि प्रतिभानमद्भुतम ।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता, ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ।

वस्तु को अभिनव अर्थों से संयुक्त करती है। 'आनंदवर्धन' की धारणा है कि यह अर्थ-व्यंजना ध्वनि-वैविध्य की मुखापेक्षी है।

'काव्यमीमांसा' 'राजशेखर' की प्रमुख कृति है। इसी ग्रंथ में प्रतिभा का विवेचन किया गया हैं। वे कहते हैं, ''साशब्दग्राममर्थ सार्थमलंकारतंत्र मुक्तिमार्गमन्यदपि तथा विध मधि हृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव।'' तात्पर्य यह कि प्रतिभा शब्दग्राम, अर्थ समूह, और अलंकारतंत्र तथा अन्यान्य काव्योपजीव्यों को अन्तरात्मा में प्रतिभासित करती है। प्रतिभाविहीन व्यक्ति दृश्यवस्तुओं का अवबोध प्राप्त करने में असमर्थ होता है, पर प्रतिभासंपन्न व्यक्ति दृश्य ही नहीं अपितु अदृश्य का बोध भी प्राप्त कर लेता है। वह अद्भुत अन्तर्दृष्टि से अलंकृत होता है और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान के गर्भ में पड़े हुए तथ्यों का साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। वह मनीषी, परिभू और स्वयंभू होता है। 'अभिनव' के गुरु 'भट्टतौत' ने अपने विवेचन के सन्दर्भ में 'प्रतिभानव-नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञामता' की बात उठाई थी। 'राजशेखर' ने इसी आधार पर बुद्धि के तीन स्वरूपों का उल्लेख किया था। उनके अनुसार ये तीन स्वरूप स्मृति, मति और प्रज्ञा थे। स्मृति भूत के अनुभूत विषयों का आलोड़न करके हमारी प्रज्ञा के समक्ष प्रस्तुत करती है, मति वर्तमान के और प्रज्ञा भविष्य के। प्रज्ञा को प्रतिभा का पर्याय माना गया है, पर इस सन्दर्भ में यह निश्चित अर्थ की परिचायक होती है। इसे ऐसी अन्तर्दृष्टि माना जाता है जो आगत, अनागत और भविष्यत का अवगाहन करने में समर्थ है। 'आन्नदवर्धन' ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहा भी था, ''अलोकसामान्यमार्भव्यनक्ति परिस्फुरंन्तं प्रतिभा विशेषम्।'' संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रतिभा विवेचन में 'नवनवोन्मेष' 'अलोकसामान्य' और 'विशेष' शब्दों का प्रयोग मिलता है। इन पर प्रायः सभी विचारकों ने विचार भी किया है। 'अभिनवगुप्त' ने इसी तथ्य का संकेत किया है, तस्याविशेष रसावेशवैशद्य सौन्दर्य काव्य निर्माणक्षमत्वं' इस उद्धरण से यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है कि रसावेश के कारण उत्पन्न वैशद्य युक्त सौन्दर्य ही अलोकसामान्य या नवोन्मेष का प्रमुख उपजीव्य है। रसावेश के लिए प्रज्ञा का निर्मल होना आवश्यक है। ''प्रज्ञा के निर्मल होने पर कवि लौकिक विचारों का साधारणीकरण करने में समर्थ होता है। प्रतिभा के योग से लौकिक वस्तुएँ कवि के अन्तर्जगत में विभाव बन जाती हैं, और लौकिक अनुभवों से उत्पन्न चित्रवृत्तियाँ भाव का रूप ग्रहण करती हैं। प्रतिभा

द्वारा रूपान्तरित ये विभाव और भाव काव्य-सृजन की शक्ति प्रदान करते हैं। स्पष्ट है कि प्रतिभा लौकिक विषयों को काव्य के धरातल पर एक अलौकिक स्वरूप प्रदान करती है ।" वक्रोक्ति जीवित में 'नूतनोल्लेख लोकातिक्रान्तगोचर निर्मिति' की व्याख्या के सन्दर्भ में आचार्य कुन्तक ने कहा है—

"नूतनस्तत्प्रथमो योऽसावुल्लिख्यते इत्युल्लेख:' तत्काल समुल्लिख्य मानोऽतिशय: तेन लोकातिक्रान्त प्रसिद्ध व्यापारातीत: कोऽपि सर्वातिशायी गोचरो विषयो यस्या: सा तथोक्ति विग्रह: । तस्मान्निर्मितिस्तेन रूपेण निहितितिरित्थ: । तददिभत्र तात्पर्यम् । यन्नवर्ण्यमान स्वरूपा: पदार्था: कविभिर भूता: सन्त: क्रियन्ते । केवलं सत्तामात्रेणपरिस्फुरतां चैष तथा विध: कोऽप्यतिशय: पुनराधीयते । येन कामपि सहृदय हृदय हारिणी रमणीयतामाधिरोप्यन्ते । तदेवं सत्तामात्रेणैवपरि स्फुरत: पदार्थस्य कोऽप्यलौकिक: शोभातिशयविधायी विच्छित्ति विशेषोऽभिधीयते येन नूतनोच्छाया मनोहारिणां वास्तवस्थितितिरोधान प्रवणेन निजावभासोद्भासित तत्त्व स्वरूपेण तत्कालोल्लिखित इव वर्णनीयपदार्थपरिस्पन्द महिमा प्रतिभासते, येनविद्यातृ व्यपदेश पात्रतां प्रतिपधन्ते कवय: ।" तात्पर्य यह कि—

(१) लोक का अतिक्रमण और प्रसिद्ध व्यवहार की अवहेलना करके ऐसे पदार्थ का निर्माण, जो अभूतपूर्व हो और प्रथम बार उल्लिखित हो नूतन कहलाता है ।

(२) वर्ण्यमान पदार्थ तो किसी न किसी रूप में पूर्व प्रस्तुत रहता है, अतएव इसकी निश्चित सत्ता होती है । कवि या कलाकार इसका पुनर्निर्माण नहीं करता । वह तो सत्ता मात्र से प्रतीत होने वाली भावना में कुछ ऐसी विशेषता उत्पन्न कर देता है कि वह अभूतपूर्व और अलोक सामान्य ज्ञात होने लगती है, और अपने इस चमत्कार से सामाजिक के हृदय को आप्लावित कर देती है ।

३—जिस विशेशोन्मुख कलात्मक परिवेश में कलाकृति प्रस्तुत की जाती है, वह पूर्ववर्ती परिवेश से भिन्न और स्पृहणीय होता है, अतएव वस्तु का वास्तविक रूप आच्छादित हो जाता है । इसके परिणाम स्वरूप वर्ण्य एक विशिष्ट सौन्दर्य का परिवाहक बन जाता है ।

४—इस प्रकार वर्ण्य वस्तु में लौकिक स्वरुप के स्थान पर एक अलौकिक स्वरूप का आरोप कर दिया जाता है जो अलोक सामान्य और विशेष होता है ।

'राजशेखर' के समक्ष प्रतिभा के सभी पूर्ववर्ती विवेचन विद्यमान थे । इसी आधार पर उन्होंने इसे दो प्रकार का माना था । (१) **कारयित्री प्रतिभा**

(२) **भावयित्री प्रतिभा** । कारयित्री प्रतिभा वह प्रतिभा है जो कवि के सृजन में सहायक होती है और भावयित्री प्रतिभा (वह प्रतिभा है जो) उसके आस्वादन में । कारयित्री प्रतिभा तीन प्रकार की होती है, (१) सहजा (२) आहार्या (३) औपदेशिकी । पूर्वजन्म के संस्कार से प्राप्त होने वाली प्रतिभा को सहजास्वाभाविकी की संज्ञा दी जाती है और इस जन्म के संस्कार तथा शास्त्र और काव्य के अभ्यास से प्राप्त प्रतिभा को आहार्या कहा जाता है । मंत्र-तंत्र, देवता, गुरु और उपदेश तथा वरदान आदि से प्राप्त प्रतिभा औपदेशिकी मानी जाती है । सहजा प्रतिभा जन्मजात होती है अतएव, सामान्य संस्कार से कवि में उसके चिह्न परिलक्षित होने लगते हैं । आहार्या को अभ्यास की अपेक्षा होती हैं, अभ्यास श्रमसाध्य होता हैं । औपदेशिकी प्रतिभा से पूर्व जन्म के संस्कार का कोई संबंध नहीं होता । इसका संस्कार केवल इस जन्म के उपदेश और परिश्रम से अर्जित किया जाता है । प्रतिभा के उपर्युक्त तीन प्रकारों के आधार पर कवि के तीन प्रकारों की कल्पना की गई है, (१) सारस्वत (२) आभ्यासिक और (३) औपदेशिक । जिसकी कवित्वशक्ति जन्मान्तरीय संस्कारों से उद्बुद्ध होती है, वह स्वाभाविक और बुद्धिमान कवि सारस्वत माना जाता है । जिस कवि की प्रतिभा इस जन्म के अभ्यास से उद्भासित होती है वह आहार्य बुद्धि कवि आभ्यासिक माना जाता है । मंदबुद्धि होने पर भी मंत्र, तंत्र, उपदेश अथवा अनुष्ठान से जिसकी वाक्य रचना कवित्व का रूप प्राप्त करती है उसे औपदेशिक कहा जाता है । कुछ विचारकों के अनुसार प्रथम दो प्रकार के कवियों को मंत्र, तंत्र, उपदेश या अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं, पर यायावर 'राजशेखर' की दृष्टि से एक कार्य के लिए एकाधिक युक्तियों का आश्रय लेना बुरा नहीं, क्योंकि इससे उसका फल दुगुना हो जाता है । सारस्वत कवि की काव्य रचना स्वतः स्फुरित होती है और कार्यक्षेत्र पर्याप्त व्यापक माना जाता है, पर आभ्यासिक कवि में इस विशेषता का अभाव होता है, इसीलिये उसका कार्यक्षेत्र सीमित पाया जाता है । औपदेशिक कवि सुन्दर और आकर्षक रचना करता है, पर वह सारहीन होती हैं ।

भावयित्री प्रतिभा भी कई प्रकार की मानी गई है । जैन महाकवि 'मंगल' के अनुसार इसके दो रूप हैं, (१) अरोचकी (२) सतृणाभ्यवहारी । 'यायावर राजशेखर' ने इसके दो अन्य प्रकारों का उल्लेख किया है, (१) मत्सरी (२) तत्त्वाभिनिवेशी । 'वामन' के अनुयायियों ने विवेकी और अविवेकी प्रतिभा को

उल्लेख्य माना है। अरोचकी भावक वे होते हैं जिन्हें अच्छी से अच्छी रचना पसन्द नहीं आती। इनकी अरोचकता द्विविध होती है। (१) स्वाभाविकी और (२) ज्ञानयोनि संबंधी। स्वाभाविक अरोचकता को किसी भी प्रकार दूर नहीं किया जा सकता, पर ज्ञानाश्रित अरोचकता उत्कृष्ट काव्य रचना से समाप्त की जा सकती है। सतृम्यवहारी भावक की यह विशेषता होती है कि वह अच्छी या बुरी कलाकृति में भेद नहीं कर पाता और वाह-वाह की रट लगाने लगता है। मत्सरी भावक में मत्सर की प्रधानता होती है। वह ईर्ष्या के वशीभूत होकर किसी भी रचना का तिरस्कार करने के लिए उद्यत रहता है। इस प्रकार के भावक में दोष-दर्शन की प्रवृत्ति पाई जाती है। वह किसी भी रचना को देखते ही उसके छिद्रान्वेषण में रत हो जाता है। तत्त्वाभिनिवेषी भावक निष्पक्ष और सच्चा भावक होता है। इसका दृष्टिकोण कला के उचित मूल्यांकन से संबंधित होता है। यह किसी भी प्रकार की भावना अथवा पूर्वाग्रह से ग्रसित नहीं होता। अतएव इसे सर्वोत्कृष्ट भावक की संज्ञा दी गई है।

'राजशेखर'[1] ने प्रतिभा को स्वतंत्र शक्ति के रूप में मान्यता देने के बावजूद व्युत्पत्ति और अभ्यास पर बल दिया है। इस विचार की निश्चित पृष्ठभूमि है। उनके अनुसार सम्पूर्ण साहित्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, (१) शास्त्र ज्ञान से संबंधित और (२) काव्य से संबंधित। उनकी दृष्टि में ये स्वरूप एक दूसरे के पूरक और परिपोषक हैं। अतएव कलाकार को इन दोनों का आलोड़न और मंथन करना आवश्यक है।

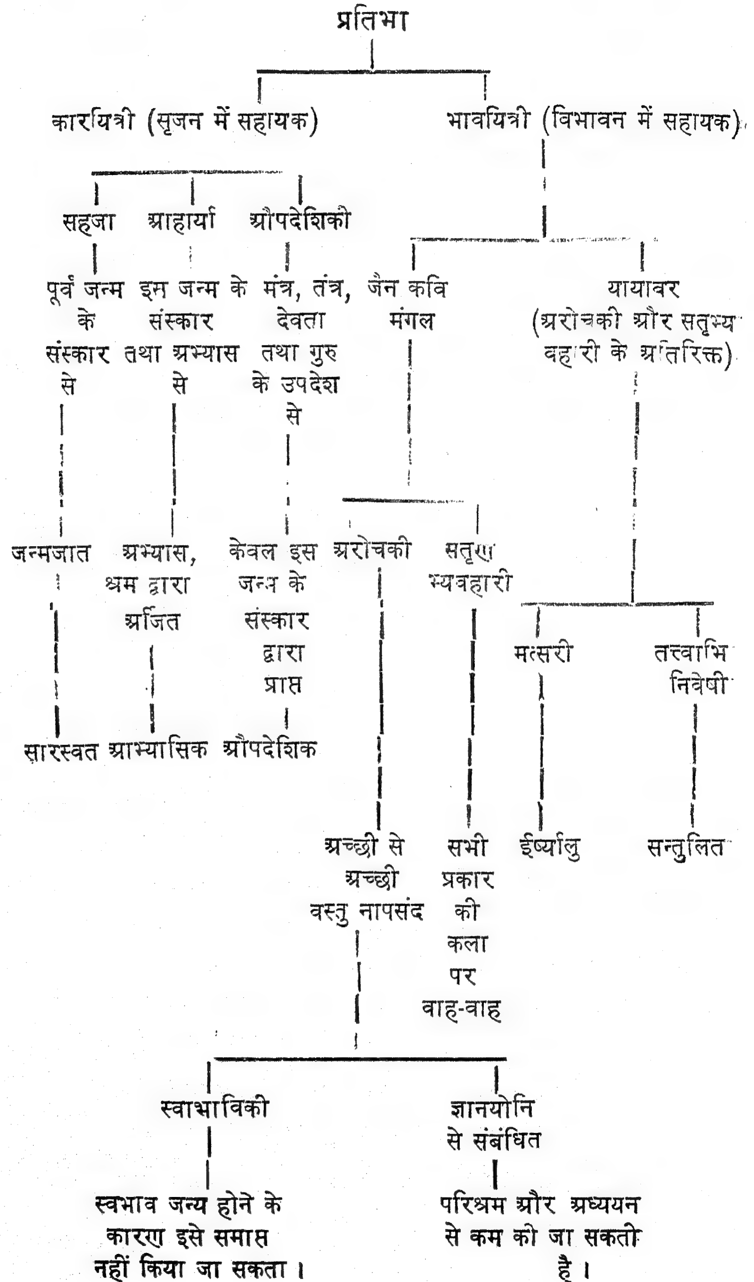
१—राजशेखर ने अपने मत को निम्न रूप में प्रस्तुत किया है।

सा च द्विधा कारयित्री, भावयित्री च। क्वेरुपकुर्वाणा कारयित्री। साऽपि त्रिविधा सहजाऽऽहार्योपदेशिकी च। जन्मान्तर संस्कारापेक्षिणी सहजा। जन्मसंस्कारयोनिराहार्या। मंत्र तंत्राद्युपदेशप्रभावा औपदेशिकी।......त इमे त्रयोऽपि कवयः, सारस्वतः, आभ्यासिकः, औपदेशिकश्च। जन्मान्तर संस्कार प्रवृत्त सरस्वती को बुद्धिमान् सारस्वतः। इहि जन्माभ्यासोद्भासित भारतीक आह र्यबुद्धिराभ्यासिक। उपदेशित दर्शितवाविभवो दुबुद्धि रौपदेशिकः। ....

सारस्वतः स्वतंत्रतः स्याद, भवेदाभ्यासिकोमितः।
औपदेशिक विस्त्वत्र वल्गु फल्गु च जल्पति।

भावकस्योप कुर्वाणा भावयित्री।

'राजशेखर' के मत को निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—



प्रतिभा-पाश्चात्यमत :—

हिन्दी साहित्य में प्रतिभा के विवेचन के सन्दर्भ में लोग प्राय: विधायक कल्पना की चर्चा कर के ही सन्तुष्ट हो जाया करते हैं। सब कुछ देखने से ऐसा ज्ञात होता है जैसे **पाश्चात्य प्रतिभा** (genius) **की परिकल्पना का विशेष अर्थ नहीं। सत्य इससे सर्वथा भिन्न है। कहना न होगा कि पाश्चात्य प्रतिभा का विवेचन सृजन को समझने की दृष्टि से आवश्यक ही नहीं अपरिहार्य भी है।** भारतीय प्रतिभा की ही तरह पाश्चात्य 'जीनिय' का विवेचन विविध मत मतान्तरों का जनक सिद्ध हुआ है।

आरम्भ में पाश्चात्य विचारक विश्वास करते थे कि प्रतिभा ईश्वर प्रदत्त है। इसका प्रमुख सम्बन्ध प्रेरणा से है जो, असामान्य है। इसीलिये कहा भी गया था, "काव्य के लिए विशिष्ट प्रतिभा या काव्योन्माद से अलंकृत कवि की आवश्यकता होती है।"[1] इस प्रतिभा अथवा काव्योन्माद के मूल में नैसर्गिक प्रेरणा विद्यमान रहती है, इसीलिये इसे व्युत्पत्ति और अभ्यास की, आवश्यकता नहीं होती है। इसी युगपत संबन्ध के कारण यह असामान्य भावनाओं को काव्यमय स्वरूप प्रदान करती है।[2] यह मान्यता किसी न किसी रूप में अभ्युदय काल तक प्रचलित रही।[3] 'मेटाफिजिकल' निकाय के प्रमुख कवि 'रोबर्ट हेरिक' ने कुछ समय बाद इसी तथ्य को प्रस्तुत किया। उनका कहना था, "जब देवदूत हमारी कल्पना के कलेवर को अनुप्राणित करके हमें काव्योन्माद से भर देते हैं, तो काव्य का स्वत:स्फुरित स्रोत स्वयमेव प्रवाहित हो उठता है। इस प्रेरणा के अदृश्य हो जाने पर कल्पना निष्क्रिय हो जाती है

---

1. Hence it is that poetry demands a man with special gift for it, or one with a touch of madness in him." *Aristotle.*

2. "Not arte, but divine gift and heavenly instinct to be gotten by labour and learning, but adorned with both and poured into the witte by a certain enthusiasmos and celestial inspiration." *Spen er*

3. All good poets compose their beautiful poems not by art but because they are inspired and possessed. God himself is the speaker .....and through them he is conversing with us. *Socratese.*

और सृजन तब तक के लिए अवरुद्ध हो जाता है जब तक यह पुनः प्राप्त नहीं हो जाती ।[1]

अभ्युदय काल में प्रतिभा का यह विवेचन नई दिशा की ओर उन्मुख हुआ । 'ड्यूरर' (१४७१—१५२८) ने दैवी प्रेरणा के साथ ही कौशल की आवश्यकता पर बल दिया । इन्होंने सर्वप्रथम प्रतिभा को परिभाषित करने का प्रयत्न किया । इनका कहना था, "इसे ऐसी विधायक कल्पना का पर्याय माना जा सकता है जो मूर्त स्वरूपों को अलंकृत करने का कार्य संपादित करती है । यह मूलतः सर्जनात्मक क्षमता है, इसीलिये अपने पूर्ण विकास और स्वतः स्फुरित विशेषता के कारण अनन्त नवीन उद्भावनाओं की जनक सिद्ध होती है ।"[2] कहना न होगा 'ड्यूरर' ने जिस तथ्य पर विशेष रूप से विचार किया है, वह वस्तुतः आन्तरिक क्षमता और अनन्त सृजनशीलता है । इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि उस समय तक प्रतिभा के क्षेत्र में कौशल और अभ्यास का स्थान गौण है । 'ड्यूरर' की इस मान्यता से परवर्ती विचारक सहमत न हो सके । 'देकार्त' इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय माने गये । इन्होंने सर्वप्रथम कवि कौशल और इससे संबद्ध नियमों के साथ ही प्रकृति-प्रदत्त प्रतिभा की बात का उल्लेख किया और काव्य-कौशल से सम्बद्ध नियमों को स्पष्ट रूप से प्रतिभा का प्रमुख उपस्कारक तत्त्व माना । 'हाब्स' का विचार पूर्ववर्ती परम्परा के सर्वथा विरुद्ध था । इन्होंने किसी भी प्रकार की हिचक के बिना प्रतिभा के दैवी सिद्धान्त को अमान्य घोषित किया और इसे (प्रतिभा को) प्रकृति

---

1. It is not every day that fitted am I to prophesie,
No, but when the spirit fills the fantastic pannicles,
Full of fire ; then I write, as the Godhead doth indite.
Thus enraged my lines are hurled, like the sybell's through the world,
Look how next the holy fire, either shakes or doth retire ;
So the fancy cooles, till when that brave sprites comes agen.

Robert Herrick

2. Genius is the imagination, which harnesses figures. It is creative power so rich and spontaneous that it can continue new productions indefinitely.

और चिन्तन का अनुगामी माना। उनकी स्पष्ट धारणा थी कि इसमें विधायक कल्पना और निर्णय दोनों से संबंधित विशेषतायें पाई जाती हैं। विधायक कल्पना का स्वरूप हमें सादृश्य से भिज्ञ कराता है और निर्णय का असादृश्य से। इसमें मानस की सभी क्रियायें गतिशील रहती हैं।[1]

१८वीं शताब्दी तक प्रचलित दैवी प्रेरणा के सिद्धान्त के सन्दर्भ में निम्नांकित बातों को विशेष महत्वपूर्ण माना गया था—

(१) सृजन में सृजक की पूर्व की इच्छाओं का कोई सहयोग नहीं रहता। यह बिना चिन्तन या प्रयास के अचानक पूर्णता की ओर उन्मुख हो जाता है।

(२) यह अनैच्छिक और स्वत:स्फूर्त होता है।

(३) सृजन की स्थिति घनीभूत उत्तेजना की स्थिति होती है। इसे आनंदानुभूति का पर्याय माना जाता है। यह उत्तेजना आरंभ में घनीभूत वेदना के गुणों से अलंकृत होती है, पर इसके अभिव्यक्त हो जाने के पश्चात् कलाकार को मुक्ति का अनुभव होता है।

(४) पूर्ण हो जाने पर कलाकृति कलाकार के लिए अजनबी सी ज्ञात होने लगती है। ऐसा मालूम होता है मानो वह किसी अन्य व्यक्ति की रचना है।

परवर्ती विवेचकों ने इसको अमान्य घोषित किया। **इसका सूत्रपात किसी न किसी रूप में 'देकार्त' और 'हॉब्स' के ही साथ हो चुका था, पर इसे निश्चित दिशा न मिल सकी थी। यह कार्य 'रेपिन' और 'एलेक्जेण्डर गेरार्द' ने संपादित किया। 'रेपिन' ने इस सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण सत्य का उल्लेख किया। यह कहना अनुचित न होगा कि यह सत्य सामयिक औचित्य और अनुशासन से संबंधित था। उनका विचार था कि, "कलाकार को अद्भुत प्रेरणा से अनुप्राणित होना आवश्यक है, पर इससे भी आवश्यक बात यह है कि, वह इस तथ्य को सरलता से हृदयंगम कर सके कि कब उसे काव्यानंद में निमग्न होना चाहिए और कब इस आनंद को नियंत्रित करने का प्रयत्न करना चाहिए।"[2]**

---

1. Artistic genius is both, imagination that detects similarity and judgement, which finds out difference. It absorbs all functions of the mind.

2. Though his discourse ought in the same manner to resemble that of one inspired, yet his mind must always be serene that he may discern when to let his muse run mad and when to govern his transport.

स्पष्ट है कि उपर्युक्त विचार में प्रेरणा पर विवेक के अंकुश की आवश्यकता पर बल दिया गया है। इससे एक बात साफ हो जाती है कि अब प्रेरणा को सर्वतंत्रस्वतंत्र न मानने की बात का स्पष्ट उल्लेख किया जाने लगा था। यह तथ्य और स्पष्ट शब्दों में 'गेरार्द' की मान्यताओं में अभिव्यक्त हुआ। उनका कहना है, **जब कभी किसी अन्य प्रकार के चिन्तन में तल्लीन प्रतिभा के समक्ष चिन्तन का विचक्षण स्वरूप आकस्मिक रूप से प्रस्तुत हो जाता है तो विधायक कल्पना तीव्रगति से इसकी ओर उन्मुख होती है, इस गति से उसकी भावशबलता प्ररोचित होकर और भी उद्‌बुद्ध हो जाती है। इसकी गतिशीलता उस समय तक और भी तीव्र होती जाती है, जिस समय तक विषय की मोहकता मन पर पूर्ण अधिकार करके उसे आनंदमग्न नहीं कर देती। इस स्थिति में प्रतिभा की दीप्ति मन को और प्रदीप्त बना देती है। इसके परिणामस्वरूप वह आनंदमग्न हो जाता है।"**[1] 'गेरार्द' के इस उपर्युक्त उद्धरण में कई बातें देखने को मिलती हैं। सबसे प्रमुख बात तो यह है कि प्रेरणा की यह मनोवैज्ञानिक व्याख्या इतने सूक्ष्म निरीक्षण और पर्यवेक्षण पर आधारित है कि इससे सृजन की मनोवैज्ञानिक क्रिया उद्‌घाटित होती है, और प्रातिभ ज्ञान और कल्पना के संबंध के साथ ही इन दोनों के समन्वय की स्थिति में मानसिक दशा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस उद्धरण से विधायक कल्पना का स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है।

प्रतिभा के विवेचन के आरंभ से ही व्युत्पत्ति, अभ्यास और प्रतिभा के त्रिकोण से संबंधित विवाद किसी न किसी रूप में प्रस्तुत रहा है। इस सन्दर्भ

1. When an ingenious track of thinking presents itself, though but casually, to true genius, occupied it may be to something else, imagination darts alongst it with great rapidity, and by this rapidity its ardour is more influenced. The velocity of its motion sets it on fire, like a chariot wheel which is kindled by the quickness of its revolution.......Its motion becomes still more impetuous, till the mind is enraptured with the subject and exalted into an extasy. In this manner the fire of genius, like a divine impulse raises the mind above itself and by the natural influence of imagination, actuates it, as if it were supernaturally inspired.........By Elevating and enlivening the fancy gives vigour and activity to its associating power, enables it to proceed with alacrity in searching out the necessary ideas.

में इस तथ्य को हृदयंगम करना आवश्यक है कि कलाकार प्रतिभा संपन्न व्यक्ति होता है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास किसी न किसी रूप में उसके सृजन के सहायक और पूरक होते हैं। कभी-कभी ऐसी स्थिति आ जाती है जब वह इनकी अवहेलना भी करता है, पर इस दशा में उसका सृजन सर्वथा नियम विहीन नहीं होता। इसका प्रमुख कारण यह है कि ये नियम किसी न किसी रूप में उसके मानस में विद्यमान रहते हैं। जब ये संस्कार रूप में विद्यमान नियम उसकी कला के उद्देश्य के उपयुक्त नहीं सिद्ध होते तो, वह इनकी अवहेलना करता है, पर उसकी यह अवहेलना नवीन नियमों की जनक बन जाती हैं। ऐसी स्थिति में वह 'एकनॉलेज्ड रूल्स' के स्थान पर 'अनएक-नॉलेज्ड रूल्स' की उद्भावना करता है। इनकी विशेषताओं का संकेत करते हुए 'जोशुआ रेनॉल्डस' ने ठीक ही कहा है, "कलाकार की प्रतिभा परंपरित नियमों की अवहेलना के बावजूद कुछ निजी वैज्ञानिक नियमों की अवतारणा में सक्षम होती है।" वस्तु सत्य यह है कि कलाकार द्रष्टा और स्रष्टा होता है। द्रष्टत्व का संबंध उसकी अन्तर्दृष्टि से होता है और स्रष्टत्व का उसकी सर्जना से। दृष्टि का व्यापक चित्रफलक जिन तथ्यों को ग्रहण करता है, विधायक कल्पना और प्रतिभा की अन्तर्निहित निर्माणकला उसी को कलात्मक कलेवर प्रदान करती रहती है। इस क्रिया में कलाकार अपनी रुझान का अवलंबन ग्रहण करता रहता है।

पाश्चात्य साहित्य में प्रकृति और प्रतिभा के अन्त:संबंध पर पर्याप्त विचार हुआ है। 'नेचर' शब्द का प्रयोग परंपरादर्शवादी और स्वच्छन्दतावादी साहित्य में व्यापकता के साथ किया गया है। इसीलिये, यह शब्द विविध अर्थ-सन्दर्भों का परिचायक भी बन गया है। 'एडिसन' ने प्रतिभा के सन्दर्भ में इस शब्द का सार्थक प्रयोग किया है। उनके द्वारा निरूपित 'नेचुरल जीनियस' और 'आर्टफुल जीनियस' मूलत: नैसर्गिक प्रतिभा और कलात्मक प्रतिभा के ही परिचायक हैं। लेखक महोदय ने प्रतिभा के इन दोनों स्वरूपों को परिभाषित करने का प्रयत्न भी किया है। उनका कहना है, ऐसे लेखक जो अपनी नैसर्गिक प्रतिभा के माध्यम से ऐसी कृतियों की अवतारणा करने में सक्षम हैं जो तत्कालीन समाज के लिए आनंदप्रद होने के साथ ही भविष्य के लिए भी विस्मय का प्रमुख कारण है, जन्मजात प्रतिभा संपन्न माने जा सकते हैं। इनसे भिन्न रूप में दूसरे कोटि के सर्जक आते हैं। ये वस्तुतः व्युत्पत्ति और अभ्यास का संबल ग्रहण करते है, और इनका सृजन अर्जित

प्रतिभा का मुखापेक्षी होता है। इस प्रकार के कलाकार को कलात्मक प्रतिभा सम्पन्न कलाकार कहा जाता है।[1] **प्रथम कोटि के कलाकार की कला में स्वाभाविक दीप्ति और वैचारिक गहनता के साथ ही विधायक कल्पना की उत्कृष्ट क्षमता और विशिष्ट आदर्श पाया जाता है, पर द्वितीय प्रकार के कलाकार की कला में इनका सर्वथा अभाव होता है। 'एडिसन' ने इन दोनों के भेद को प्रकृति की रंगस्थली में मुक्तरूप से उगने वाले पुष्प और गमले में उगाये जाने वाले पुष्प के माध्यम से समझाया है।** इस उदाहरण से एक बात साफ ज़ाहिर होती है कि, **प्रथमकोटि की प्रतिभा, नैसर्गिक और स्वतः स्फुरित होती है, पर द्वितीय कोटि की अर्जित और प्रयत्न साध्य।**

'एडिसन' के पश्चात् इस उपर्युक्त निष्पत्ति को निश्चित अर्थ का वाहक बनाया गया। 'यंग' (young) ने इसी आधार पर अपनी पुस्तक, 'कॉन्जेक्चर्स आन ओरीजिनल कम्पोज़िशन' में ऐसे विचार को प्रतिपादित किया जो बाद में **प्रतिभा के वनस्पतिशास्त्रीय विकास** (vegetable concept of genius) **का जनक बना। 'एडिसन' ने अपने विवेचन में 'नेचुरल' और 'आर्टफुलजीनियस' का उल्लेख किया था, 'यंग' ने आर्ट फुलजीनियस के लिए, 'इन्फैन्टाइन जीनियस', और नेचुरल जीनियस के लिए 'मेच्योर जीनियस' का प्रयोग किया।** उनका कहना था, "जिस प्रकार शिशु को लालन-पालन और भरण-पोषण की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार शैशवीय प्रतिभा को भी उचित पोषण, शिक्षा-दीक्षा और अभ्यास की अपेक्षा होती है। उचित संरक्षण के अभाव में यह सर्वथा अविकसित रह जाती है।" परिपक्व प्रतिभा, प्रकृति, गुण और विशेषता की दृष्टि से शैशवीय प्रतिभा से भिन्न होती है। यह प्रकृति की गोद से पूर्ण विकसित और परिपक्व रूप में अवतरित होती है। इसमें मानसिक शक्ति और ज्ञान की प्रचुरता रहती है। 'यंग' ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि **पाण्डित्य उधार लिया ज्ञान**

---

1. Natural genius are the prodigies of mankind, who by the mere strength of natural parts and without any assistance of art or learning have produced works that were the delight of their own times and wonder of posterity. The second class of geniuses are those that have formed themselves by rules and submitted the greatness of their natural talents to the correction and restraint of art.

है और प्रतिभा नैसर्गिक और स्वत: स्फूर्त अभिज्ञान।[1] प्रतिभासंपन्न व्यक्ति का मस्तिष्क उर्वर और आकर्षक[2] होता है, इसे मौलिक और स्थायी उद्भावनाओं का आगार[3] माना जा सकता है। इन्होंने एक अन्य स्थान पर प्रतिभा के कुछ अन्य विभेदों की चर्चा किया है।[4]

'यंग' की विचारधारा का जर्मनी में पर्याप्त स्वागत हुआ। इसके पूर्व यहाँ का चिन्तन अनुभववाद से प्रभावित था और संवेदना के आन्तरिक अवचेतनीय स्वरूप को किसी भी प्रकार व्याख्यायित करने में असमर्थ था। १८वीं शताब्दी में यहाँ पर 'लीबनिज़' का बोलबाला था। उनके चिन्तन में अनुभववाद और विज्ञान का अद्भुत मिश्रण पाया जाता था। उन्होंने अपने विवेचन में मानव आत्मा और वनस्पति विज्ञान के विकास पर प्रकाश डाला था। इस दृष्टि से शक्ति के अणुओं के सामुदायिक विकास की कल्पना की गई थी। उनके अनुसार यथार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान से भिन्न, सजीव और सावयव है। यह शक्ति के अणुओं से बना है। इसके शक्ति के अणुओं में भूत, भविष्यत और वर्तमान को प्रतिबिंबित करने की अद्भुत क्षमता होती है, इसीलिये ये संसृति के सजीव और स्थायी दर्पण माने जाते हैं। मानव की स्थिति सामान्य कोटि के जीवों से भिन्न होती है। उसकी आत्मा में संसृति सम्बन्धी अवबोध स्पष्ट होकर आत्मबोध के रूप में प्रतिभासित होते हैं। 'लीबनिज' अवचेतनीय विकास का प्रतिपादक है। उसका कहना है कि मनुष्य की आत्मा में अस्पष्ट और अज्ञात रूप से अनन्त अवबोध क्रियाशील रहते हैं जो उसके परिवर्तन के परिचायक होते हैं। व्यक्ति इनके स्पष्टबोध से अवगत नहीं हो पाता। मानव आत्मा में पूर्व-स्थापित एकता (pre-established harmony) की कल्पना भी की गई थी और ऐसा विश्वास

---

1. Learning is borrowed knowledge, and genius is knowledge innate and our own.

2. Fertile and pleasant field.

3. Nothing original can rise, nothing immortal can ripen in any other sun, but that "of our genius."

4. An original may be said to be of vagetable nature. It rises spontaneously from the vital roots of genius, it grows, it is not made. Imitations are often a sort of manufacture, wrought up by those mechanics, art and labour, out of pre-existent materials not their own.

किया जाता था कि शक्ति के अणुओं की आन्तरिक गतिशीलता के द्वारा व्यक्ति वाह्य गतिविधि से भी परिचित्त होता रहता है। 'लीबनिज' भी इस तथ्य का प्रतिपादक था कि अवचेतन के अस्पष्ट अवबोध निरन्तर विकसित होते रहते हैं। इस विकास की निश्चित अवस्था में उन्हें ग्रहण किया जा सकता है। इस विकास की तुलना बीज के विकास से की गई है। जिस प्रकार मिट्टी में पड़ा हुआ बीज निरन्तर विकसित होता जाता है, उसी प्रकार अवचेतन में पड़े हुए विचार भी सतत विकासमान होते रहते हैं। जिस प्रकार बीज से वृक्ष और फल प्राप्त होता है, उसी प्रकार अवचेतन विचार भी विकसित होकर चेतन धरातल पर बोध के विषय बनते हैं। यही विचार फल-प्राप्ति का परिचायक है।

'लीबनिज' के इस विचार से चिन्तन को क्रान्तिकारी दिशा मिली थी। प्रमुख विचारक 'सुल्जर' इससे विशेष रूप से प्रभावित हुए थे। इनकी निजी मान्यतायें भी थीं। इनका कहना था कि हर विचार प्रच्छन्न रूप से मन में विद्यमान रहता है। यह वाह्य परिस्थितियों के सहसंबंध से इतना स्पष्ट हो जाता है कि चेतना के स्तर पर ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार किसी भी विचार को सर्वथा नवीन नहीं माना जा सकता। दैनिक जीवन में इस बात के प्रभूत उदाहरण मिलते हैं कि किसी नाम या विचार को जब हम स्मृति में लाना चाहते हैं तो वह सरलता से नहीं आ पाता है, पर कभी अनाहूत रूप से घटित हो जाता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि विचार प्रच्छन्न रूप से विकसित होता रहता है, जब यह परिपक्व और प्रौढ़ हो जाता है तो अचानक हमारी स्मृति में कौंध जाता है। 'मनोविज्ञान' से संबन्धित सभी निष्पत्तियाँ प्रयोगाश्रित होने के साथ ही अनुमानाश्रित भी होती हैं, अतएव इन पर अन्तिम शब्द नहीं कहा जा सकता, फिर भी इतना कहने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि अव्यक्त विचारों के स्वयमेव व्यक्त होने की इस क्रिया को प्रेरणा का अच्छा उदाहरण माना जा सकता है। इन उपर्युक्त सिद्धान्तों का केन्द्र बिन्दु प्रकृति और मन था। अब जो सिद्धान्त सामने आया वह जीव वैज्ञानिक था। इसके प्रमुख प्रतिपादक 'हर्डर' थे। इन्होंने 'लीबनिज' के अणुशक्ति, शैफ्टसबरी के सर्वेश्वरवाद और 'अलबर्ट हैलर' के 'रेजबार्केट' के सिद्धान्त का विरोध करके, इस नवीन सिद्धान्त को अवतरित किया था। इस सिद्धान्त में पौधे के विकास-क्रम के मशीनी स्वरूप का त्याग दिया गया था और विविध क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं द्वारा विकसित होने की बात पर बल दिया गया था। 'हर्डर' ने पौधे के विकास—उसको उगने, अपने को नियंत्रित करके वातावरण से पोषक तत्व

ग्रहण करने, आत्म निर्भर जीवन व्यतीत करने और अन्ततोगत्वा विनष्ट हो जाने के स्वरूप का उल्लेख किया था। उनकी दृष्टि में प्रकृति एक सावयव संघटना थी और मानव इस संघटना का एक अभिन्न अंग। प्रकृति की ही तरह मनुष्य में भी विचार, अनुभूति और इच्छा शक्ति का समन्वय पाया जाता था। इस समन्वय के कारण उसके जीवन से वे ही शक्तियाँ और क्रियायें अभिव्यक्त होती थीं जो बाह्य प्रकृति में पाई जाती थीं। 'हर्डर' और 'सुल्जर' के दृष्टिकोण की भिन्नता स्पष्ट थी। 'हर्डर' के अनुसार पौधा उस आदर्श का प्रतीक था जिसका आदर्श स्वरूप अपने सामयिक परिवेश की प्रादुर्भूति होता है, मानसिक पक्ष का नहीं।

इस उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त कुछ लालित्यबोधीय और दार्शनिक विचारकों ने भी प्रतिभा पर विचार किया है। इनमें 'काण्ट', 'हीगेल', 'शापेन-आवर' और 'शेलिंग' प्रमुख हैं। इनके विचारों में पूर्ववर्ती चिन्तन की सभी विशिष्टतायें किसी न किसी रूप में सिमट कर आ गई हैं। 'काण्ट' ने निर्माणक प्रतिभा (Productive genius) की चर्चा किया है। उनके अनुसार सभी ललित कलायें प्रतिभा से अवतरित होती हैं। कला-सृजन के लिए प्रतिभा और प्रकृति का सामंजस्य अपेक्षित है। इसीलिये "प्रतिभा को ऐसी नैसर्गिक दक्षता माना गया है जिसके माध्यम से प्रकृति कला को नियम बद्ध करती है।" 'काण्ट' की धारणा है कि प्रकृति के सहयोग के अभाव में प्रतिभा सोद्देश्य कला-कृति उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो पाती। प्रतिभा की कुछ निजी विशेषतायें हैं। सृजन के समय यह न तो उद्देश्य से परिचित रहती है और न सृजन-प्रक्रिया से। इतना अवश्य सत्य है कि संसृति के प्रत्यक्ष क्रिया-कलाप मशोनी ढंग से सक्रिय रहते हैं। यह कार्य-कारण शृंखला से सन्नियमित होती है, पर यह शृंखला स्वतः में बहुत स्पष्ट नहीं होती। इसे स्पष्ट बनाने के लिए कारणों को प्रकृति के उद्देश्य के रूप में निरूपित करना पड़ता है। प्रकृति की संघटना सदैव अन्तस्थ और अज्ञात रूप से उद्देश्य पूर्ण होती है। इसमें अपने को स्वयं संघटित करने की विशेषता पाई जाती है। यह मूल रूप में प्रभावोत्पादक और सर्जक होती है। यह अन्तः से बाह्य की ओर गमन करती है और इसके अवयव और आकार में माध्यम और उद्देश्य जैसी एकता पाई जाती है।

'क्रिटिक ऑव जजमेण्ट' 'कान्ट' की प्रमुख पुस्तक है। इस पुस्तक में उन्होंने अभिरुचि और प्रतिभा पर दृष्टिपात किया है। उनकी धारणा है कि कल्पना के नियम के आग्रह के सन्दर्भ में अभिरुचि कला के उपादानों को मूल्यांकित करती

है, इस स्थिति में कल्पना सर्जनात्मक प्रतिभा का उत्पादक स्वरूप होती है। कलात्मक प्रतिभा को दो तत्वों की अपेक्षा होती है (१) प्रत्यय (Concept) और (२) विशिष्ट घटक (attribute)। प्रत्यय को सरलता से अभिव्यक्त करना कठिन है, फिर भी इतना कहा जाता है कि जब विधायक कल्पना प्रत्यय को ग्रहण करती है तो बिंब का निर्माण होता है। प्रतिभोद्भूत कला सुन्दर और आकर्षक होती है। इसमें नियम का सहयोग होता है, फिर भी इसे केवल उसी का मुखापेक्षी नहीं माना जाता है। यह बहुधा अव्यक्त और अनिश्चित नियमों की निर्माता होती है। 'काण्ट' के अनुसार (१) मौलिकता प्रतिभा की प्रमुख विशेषता है, यह नियम पूर्ण या नियम मुक्त ढंग से काव्य-सृजन में सहायक होती है। (२) प्रतिभा से उद्भूत कला प्रकृति की यथातथ्य निर्मिति नहीं होती, यह मौलिक और आदर्श पूर्ण होती है। (३) कला-सृजन के नियमों का चेतना के स्तर पर विश्लेषण नहीं किया जा सकता। (४) प्रकृति कला के लिए अव्यक्त नियमों की अवतारणा किया करती है (५) प्रतिभा को नियम-मुक्त मानने का अर्थ यह नहीं कि कला कलात्मक तकनीक से मुक्त है। सत्य यह है कि प्रतिभा नियम से मुक्त होकर विचार को प्रस्तुत करती है, इसे पुनः कलात्मक रूप में ढाला जाता है। यह कार्य नियम द्वारा संपादित होता है।

'हीगेल' ने सृजन प्रक्रिया के तीन स्वरूपों पर दृष्टिपात किया है; (१) कल्पना (२) प्रतिभा और (३) प्रेरणा। प्रतिभा का विवेचन करते समय वे कहते हैं कि यह, "ऐसी निर्माणक क्रिया है जिसके माध्यम से कलाकर आवश्यक वैचारिक तथ्य को एक ऐसा यथार्थ कलेवर प्रदान करता है, जो उसकी निर्माण क्षमता का परिचायक होता है।" यह आत्मा का विशिष्ट गुण हैं और इसे प्रज्ञा से भिन्न माना गया है। प्रतिभा संपन्न कालकार में ये दोनों (प्रतिभा और प्रज्ञा) अन्योन्याश्रित रूप में पाई जाती हैं। प्रतिभा को 'हीगेल' ने ऐसे विधायक-कौशल की संज्ञा दी है जो कलात्मक मनःसृष्टि को भौतिक माध्यम से प्रकट करने का प्रमुख साधन है। इनके अनुसार कलात्मक सृजन के लिए दो बातों की आवश्यकता होती है। सर्वप्रथम हमें कला के नियमों का ज्ञान और उसके विषय के अनुकूल प्रयोग की अपेज्ञा होती है, और पुनः हमारे अन्दर कलात्मक क्षमता का होना ज़रूरी है। यह कलात्मक क्षमता प्रतिभोद्भूत होती है।

'हीगेल' के अतिरिक्त 'शापेनआवर' का प्रतिभा का विवेचन भी महत्त्वपूर्ण है। उनका कहना हैं कि यह कलाकार की ऐसी शक्ति है जो परमभाव को

समझने में सहायक सिद्ध होती है। प्रतिभा और विधायक कल्पना एक दूसरे के पूरक हैं। प्रतिभा को मन की वस्तुनिष्ठ प्रवृत्ति माना गया है जो इच्छाशक्ति की ओर उन्मुख रहती है विशुद्ध अवबोध की दशा में यह प्रवृत्ति निरन्तर बनी रहती है। प्रतिभा अवबोध से तादात्म्य स्थापित करके ऐसे ज्ञान की गवेषणा करती है जो इच्छाशक्ति के लिए सहायक सिद्ध होता है। अवबोध के स्थिति के कतिपय विशिष्टतायें हैं। इस स्थिति में व्यक्ति 'स्व' और 'पर' के संकीर्ण दायरे से मुक्त होता है। उसे एक प्रकार से अपने व्यक्तित्व का भान भी नहीं होता। प्रेरणा को प्रतिभा का प्रेरक माना गया है। 'शापेनग्रावर' ने इस तथ्य को प्रतिपादित किया है कि प्रतिभा स्वतंत्र रूप से केवल वैयक्तिक तथ्यों के सापेक्ष्य महत्व से ही अवगत नहीं होती, यह ऐसे तथ्यों और विचारों से भी पूर्ण परिचित रहती है जो विशुद्ध ज्ञान के विषय हैं।

प्रतिभा का उपजीव्य शाश्वत सत्य होता है। इन सत्यों के साक्षात्कार के लिए विधायक कल्पना की आवश्यकता पड़ती है। अगर कल्पना सक्रिय रूप में प्रतिभा के कार्यक्षेत्र का विस्तार नहीं करती तो यह पर्याप्त सीमित रह जाता है।[1] यथार्थ उपादान कई दृष्टियों से अपूर्ण होने के कारण अपने में निहित संपूर्ण विचारों को अभिव्यक्त नहीं कर पाता। प्रतिभा संपन्न व्यक्ति कल्पना के माध्यम से उपादान के रहस्य से अवगत होता है। विधायक कल्पना व्यक्ति की बौद्धिक चेतना को तीव्र करके प्रतिभा को यथार्थ के अन्तराल में छिपे रहस्यों को समझने की क्षमता प्रदान करती है।

प्रतिभा के विवेचन की दृष्टि से प्रमुख जर्मन दार्शनिक 'शेलिंग' के सिद्धान्त विशेष महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। ये वस्तुत: सर्वातिशायी आदर्शवादी थे। इनका विवेचन विषय-विषयि, बुद्धि-प्रकृति, सचेतन-अचेतन आदि विरोधी भावनाओं के द्वन्द्वात्मक स्वरूप से आरंभ होता है। उनकी स्पष्ट धारणा है कि ज्ञान अपने सिद्धान्त की ओर उन्मुख होकर ही पूर्णता को प्राप्त होता है। इनके द्वारा

1. As objects of genius are eternal ideas, and as knowledge of idea is necessarilv perception, knowledge of genius would be limited to the ideas of objects, actually present to his person, and would be dependent upon chain of circumstances, that brought these objects to him, if his imagination did not extend his horizon far beyond the limit of personal existence and this enable him to construct whole of the little that comes to his own actual apprehension.

प्रस्तुत इस उपर्युक्त विरोधाभास का अन्त प्रतिभोद्भूत कलात्मक सृजन में ही संभव होता है, इसीलिये ये इस पर विशेष-रूप से विचार करते हैं। दैवी प्रेरणा की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि "यह सिद्धान्त कम से कम इस बात का प्रतीक है कि कलाकार अनिच्छित रूप से कलात्मक सर्जन की ओर उन्मुख होता है। चिन्तन की अवस्था में कृति का वैचारिक और भावात्मक पक्ष अनन्त सामंजस्य के रूप में उपस्थित होता है। इस सामंजस्य को प्रकृति का अनुग्रह माना जाता है। कलाकार के व्यक्तित्व में चेतन और अचेतन में आन्तरिक द्वन्द्व बना रहता है। यह आन्तरिक द्वन्द्व सृजन का जन्म-दाता होता है। कलाकार अपने अन्दर निहित विधायक कल्पना के अद्भुत तत्त्व द्वारा इन द्वन्द्वों को ही समन्वित नहीं करता, अपितु सृजन को भी महत्त्वपूर्ण स्वरूप प्रदान करता है।"

'शेलिंग' ने अवचेतन के स्वरूप पर भी विचार किया है, पर इस चिन्तन को अग्रेसारित करने वाले व्यक्तियों में 'शिल्लर' का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है। 'शिल्लर' ने अनुभूति को महत्व दिया है और इसे पूर्णरूप से अवचेतन का विषय घोषित किया है। उनका कहना है कि कलाकार अपनी कला में इसी अवचेतन को अभिव्यक्त करता है। अवचेतन के आत्मबोध के स्तर पर रूपायित होने से ही कलात्मक स्वरूप का आविर्भाव होता है।

'शेलिंग' के पश्चात् अवचेतन पर विचार करने वाले व्यक्तियों में 'ज्याँ पाल' का स्थान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके शब्दों में "प्रतिभा में मनुष्य की सभी शक्तियों का सामंजस्य पाया जाता है, इसमें चेतन का सहयोग तो रहता है, पर सबसे सशक्त तत्त्व अवचेतन है। अवचेतन नैसर्गिक शक्ति है और यह महान कलाकारों में सहज रूप से विद्यमान रहती है। मनुष्य अपनी प्रज्ञा द्वारा इसके रहस्य का उद्घाटन नहीं कर पाता।"

अवचेतनीय चिन्तनीय की इस परम्परा से संपूर्ण योरप प्रभावित था। 'इग्लैंड' के प्रमुख विचारकों ने इस चिन्तन के सूत्रों को ग्रहण करके, अपने विचारों को प्रतिपादित किया। इनकी दृष्टि में सृजन स्वत:प्रेरित, स्वत:स्फुरित और नियम-मुक्त क्रिया थी। इसका प्रमुख प्रेरणास्रोत मानस में निहित प्रतिभा का अक्षय भण्डार था। इस परम्परा का प्रमुख विकास स्वच्छन्तावादी दर्शन की क्रोड़ में हुआ था। इसीलिये 'कीट्स' और 'वर्ड्सवर्थ' की मान्यता में इसे सही दिशा मिली थी। प्रमुख विचारक 'कार्लाइल' के विवेचन में जर्मन दार्शनिकों की अधिकांश विशेषतायें समाहित हुई थीं। उनका कहना था,

दृश्य चेतन की पृष्ठभूमि में रहस्यमय अवचेतन का व्यापक प्रसार क्षेत्र प्रस्तुत रहता है। जीवन-वृक्ष की शाखायें प्रशाखायें इसमें प्रसारित रहती हैं। इस क्षेत्र को 'डेथ और नाइट' का क्षेत्र माना जाता है। इसी क्षेत्र के रहस्यमय प्रसार में कलात्मक सर्जन का कार्य संपादित होता है। अवचेतन ही सृजन का प्रतीक है। इससे एक बात साफ हो जाती है कि संसृति और जीवन का अधिकांश स्वरूप रहस्यावेष्टित होता है।"

अंग्रेजी विचारकों में 'कोलरिज' का योगदान अप्रतिम है। ये जर्मन विचार धारा से विशेष रूप से प्रभावित थे। इसी प्रभाव के कारण 'रेनीवेलेक' महोदय ने इन्हें द्वितीय कोटि का विचारक सिद्ध किया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वे जर्मनी से प्रभावित थे, पर इन्होंने उसका अनुकरण नहीं किया था। इनकी अपनी दृष्टि और सूझ थी। इसी आधार पर इनका संपूर्ण सृजन प्रस्तुत किया गया था। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि 'श्लेजेल' ने 'मकैनिकल आर्ट' और 'आर्गेनिक आर्ट' की चर्चा की थी। 'श्लेजेल' के पूर्व यह विभाजन प्रकारान्तर से 'यंग' और 'एडिसन' की मान्यताओं में दृष्टिगोचर हो चुका था। 'कोलरिज' ने इस वर्गीकरण को ग्रहण करके इसे व्यापक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित किया। उनके विश्लेषण और विवेचन के द्वारा यह सिद्धान्त साहित्य की अभिनव व्याख्या का केन्द्र-बिन्दु बन गया। इसके पूर्व ही जर्मनी और योरप में यह विचारधारा प्रचलित हो चुकी थी कि कला जातीय विकास का पत्रक है। इसके द्वारा केवल कवि के मानस की गवेषणा ही सम्भव नहीं है, राष्ट्र के सामूहिक मस्तिष्क की गवेषणा भी सम्भव है। वनस्पति और प्राणिशास्त्रीय विवेचन द्वारा स्वतः स्फूर्त सृजन की भावना और क्रिया भी उद्घाटित की जा चुकी थी। 'कोलरिज' इन प्रचलित मतों से प्रभावित ही नहीं थे, प्रकारान्तर से ये ही उसके प्रतिपादन के विषय भी थे। इन्होंने जीवन-सिद्धान्त के सन्दर्भ में कला को अनेकता में एकता की चर्चा करके इन्हीं उपर्युक्त तथ्यों का समर्थन किया। प्रतिभा के अवचेतनीय स्वरूप का विश्लेषण इनकी प्रमुख विशेषता सिद्ध हुई।

भारतीय प्रतिभा और योरोपीय जीनियस—

भारतीय प्रतिभा और पाश्चात्य जीनियस का विवेचन काव्य-हेतु के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है और इससे सृजन-प्रक्रिया के गूढ़ स्वरूपों पर प्रकाश पड़ता है। आरम्भ में दोनों साहित्यों में प्रतिभा की दैवी प्रेरणा का सिद्धान्त प्रचलित रहा है। बाद में विज्ञान के विकास के साथ दैवी-प्रेरणा के सिद्धान्त

को अमान्य घोषित किया गया। इसके परिणाम स्वरूप प्रकृति, प्राकृतिक नियम प्रकृति के सावयव विकास और जीव वैज्ञानिक निष्पत्तियों के माध्यम से यह विवेचन आगे बढ़ा। दोनों साहित्य सिद्धान्त प्रतिभा को अन्तर्निहित शक्ति मानते थे। वे स्पष्ट रूप से इस तथ्य के प्रतिपादक थे कि प्रतिभा के संस्कार किसी न किसी रूप में हर व्यक्ति में पाये जाते हैं और किसी प्रेरणा विशेष से उद्बुद्ध होने पर वे सृजन के सहायक सिद्ध होते हैं। यह (प्रतिभा) बहुसमावेशक और सर्वभुक होती है। प्रतिभा का दार्शनिक निरूपण हर देश की निजी विशेषता होती है। भारतीय काव्य सिद्धान्त में प्रतिभा के सन्दर्भ में शैव-दर्शन की मान्यताओं का उपयोग किया गया है। शैव-दर्शन में आत्मस्थलीन और सिसृक्ष अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। सिसृक्षावस्था वह अवस्था होती है जब आत्मस्थलीन बाह्यलीन होकर सृजन में सहायक सिद्ध होने लगता है। पाश्चात्य साहित्य भी प्रतिभा के अन्तर्निहित स्वरूप पर बल देता है। दोनों साहित्यों में इसे प्रकाश स्वभाव-आत्मा का गुण माना गया है और इस प्रकाश को प्ररोचना का विषय सिद्ध किया गया है। जहाँ 'अभिनवगुप्तादि' ने चैतन्य आत्मा को अज्ञानादि के आवरणों से मुक्त होने से पश्चात् आत्मस्थलीन अलौकिक दीप्ति को उद्बुद्ध होने तथा देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करके त्रिलोक-स्थित रहस्य को उद्घाटित करने के बात की चर्चा की है, इसे 'स्वयं प्रकाश्य प्रकाशक जोई' की संज्ञा से अभिहित करने के साथ ही, "साहि चक्षुर्भग-वतस्तृतीयमिति गीयते, येनसाक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः" कह कर अभि-व्यक्त किया है, वहीं 'सोक्रेटीज़' ने ईश्वर को वक्ता और कवि के माध्यम से रहस्य को उद्घाटित करने वाला मान कर प्रकारान्तर से इसी तथ्य का अनुमोदन किया है। 'हेरिक' ने 'होलो फायर' के प्ररोचित होने का उल्लेख किया है। सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने पर 'कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू' अथवा 'प्रॉफेट' और 'सियर ब्लेसेड' की बात सर्वत्र विद्यमान मिलती है। प्रतिभा के सन्दर्भ में व्युत्पत्ति और अभ्यास का विवेचन दोनों ही साहित्य-सिद्धान्तों का प्रमुख उपजीव्य रहा है। व्युत्पत्ति का संबंध शास्त्र ज्ञान से है और अभ्यास का सम्बन्ध काव्य के नियम के कार्यान्वयन से। दोनों साहित्यों में इसे गौण माना गया है और सृजन के सहायक रूप में मान्यता दी गई है। उदाहरण के लिए दो विचारकों के मतों को लिया जा सकता है। 'मम्मट' का कहना है—

"शक्तिर्निपुणतालोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।"

'काण्ट' भी प्रकारान्तर से इसी तथ्य को प्रातिपादित करते हैं। उनके शब्दों में कहा जा सकता है, "प्रज्ञा की मौलिकता को प्रतिभा का प्रमुख अभिघटक माना जा सकता है। पर इससे एक ग़लत धारणा को प्रश्रय मिला है। कम गम्भीर लेखक प्रायः यह मानने लगे हैं कि नियम-मुक्त होने पर ही उनकी प्रतिभा का पूर्ण विकास हो सकता है। यह दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण है।"[१]

'काव्यादर्श' में प्रतिभा को 'नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतं च बहुनिर्मलम्' के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। क्रम-सिद्धान्त में 'भासा' को प्रतिभा की संज्ञा दी गई है और इसे महती, सर्वगर्भिणी, शिवैकात्मदेशिका चिन्मय, संपूर्ण विश्व को अभिव्यक्त करने में सक्षम और स्वतन्त्र रूप भगवान परमेष्ठी की चित्शक्ति कहा गया है। कुल-सिद्धान्त में आध्यात्मिकता का पुट गहरा हो गया है, इसके परिणामस्वरूप पार-प्रतिभा की भावना प्रतिपादित की गई है। 'तंत्रालोक' में अनन्यापेक्षित कह कर इसे सर्वतंत्र स्वतंत्र घोषित किया गया है। पाश्चात्य विचारक भी इसकी स्वतंत्रता का उद्घोष करते हैं, ईश्वर प्रदत्त मानते हैं और इसके स्वतः प्रेरित और नैसर्गिक स्वरूप की चर्चा करते हैं। अठारहवीं शताब्दी के लेखकों में ये बातें विशेष रूप से क्रियाशील हैं।[२] प्रतिभा को प्रेरित होने पर प्रदीप्त और उद्दीप्त होने की बात की चर्चा सर्वत्र मिलती है। इसके आनन्दमय स्वरूप का उल्लेख भी दर्शनीय है। पौरस्त्य विचारकों ने तो केवल 'अलोक सामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभा विशेषम्' अथवा 'क्षणंस्वरूप स्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः' कह कर छुट्टी पा ली है, पर पाश्चात्य विचारक इसे वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय धरातल पर विश्लेषित किये हैं। 'गेरार्द' महोदय का कहना है, "विचार की गति तब तक और तीव्र होती जाती है जब तक मस्तिष्क विषयाधीत होकर आनन्दमग्न नहीं हो जाता। ऐसी स्थिति में प्रतिभा की दीप्ति मानस को

1. Since originality of talent constitutes an essential element in the character of genius, shallow heads believe that they can not show better themselves to be full blown geniuses than by throwing off all constraints of rules.

2. (i) The composition is sudden effortless and unanticipated.
   (ii) The composition is involuntary & automatic.
   (iii) The poet is born not made.
   (iv) Genius is an innate power.

असामान्य धरातल पर प्रतिष्ठित करती है। इसे देखने से ऐसा ज्ञात होने लगता है मानो यह दैवी-प्रेरणा से प्रराचित है।"[1]

'रस गंगाधर' का निम्नांकित श्लोक इसके कुछ पहलुओं पर प्रकाश डालता है —

"तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा।
सा च काव्य घटनानुकूल शब्दार्थोपस्थितिः।"

'विश्वनाथ' ने उपर्युक्त उद्धरण में प्रतिभा को कारण और कवि के मन में घटनानुकूल शब्दों की उत्पत्ति का प्रमुख माध्यम कहा है। गेरार्द' के उद्धरण में इसे 'सर्चिंग आउट द नेसेसरी आइडिया' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। पाश्चात्य देशों में परवर्ती विवेचन के सन्दर्भ में 'वेजेटेबुलग्रोथ ऑव जीनियस' का प्रतिपादन किया गया है। 'लीबनिज' ने वाह्य परिस्थितियों के सहसंबंध के आधार पर इसी घटनानुकूल 'शब्दार्थोपस्थिति' की चर्चा की है। 'भरत' ने नाटक के विवेचन के सन्दर्भ में लिखा है—

"यथा बीजात् भवेत वृक्षो वृक्षा पुष्प फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्योभावा व्यवस्थिता।"

इस श्लोक के द्वारा सायवयव विकास या प्राणिशास्त्रीय विकास की बात सामने आती है। 'वाग्भटालंकार' में लिखा है—

'प्रसन्न पद न व्यार्थयुक्तयुद्बोध विधायिनी।
स्फुरन्ती सत्कवेबुंद्धिः प्रतिभां सर्वतोमुखी।"

उपर्युक्त श्लोक पर विचार करने से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिभा सत्कवि को प्रसन्नपदों में नव्यार्थं और चमत्कारपूर्ण उक्तियों को अभिव्यक्त करने का माध्यम है। नव्यार्थं ही मौलिकता (originality) है और प्रसन्नपद (happy expression)। इन तथ्यों को जर्मन विचारकों ने और उपयुक्तता के साथ अभिव्यक्त किया है। संस्कृत में लालित्यपूर्ण पदों को समन्वय

1. The motion becomes still more impetuous, till the mind is enraptured with the subject and exalted into ecstasy. In this manner the force of genius, like a divine impulse raises the mind above itself, and by the natural influence actuates it as if it were supernaturally inspired,......By elevating and enlivening the fancy it gives vigour and activity to its associating power, enables it to proceed with alacrity in searching out the necessary idea.

का प्रतिफल माना गया है। पाश्चात्य साहित्य में इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

प्राय: ऐसा विश्वास किया जाता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रतिभा के अवचेतनीय विवेचन का अभाव है, पर बात ऐसी नहीं। 'अभिनवगुप्त' ने इस पर अच्छी तरह विचार किया है।

पौरस्त्य साहित्य में 'पंतजलि' आदि ने प्रतिभा को योग के सन्दर्भ में विवेचित किया है और प्रातिभ-ज्ञान और विवेकज-ज्ञान के साम्य-वैषम्य को निरूपित किया है। इसी परंपरा का उन्मेष हमें आधुनिक विचारक संत 'अरविन्द' में भी दृष्टिगोचर होता है। पाश्चात्य विचारकों ने विज्ञान का आश्रय तो लिया है, पर इस रहस्यमय ज्ञान को वे समझ नहीं सके हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उनकी वनस्पतिशास्त्रीय और प्राणिशास्त्रीय निष्पत्तियों का कोई महत्त्व नहीं। इसका महत्त्व है और उनकी इस निष्पत्ति के द्वारा हम स्वत:प्रेरित और स्वत:स्फुरित विकास-क्रम से परिचित भी होते हैं। भारतीय मनीषियों ने 'कौलिकी शक्ति' की अवधारणा के अन्तर्गत एक महत्त्वपूर्ण और सूक्ष्म परिकल्पना को प्रतिपादित किया है। उनका कहना है **कि जब द्रष्टा किसी दृश्य को स्पष्ट रूप से देखता है, तो एक स्पन्दनशील वायु १६ तुती तक प्रसरित हो जाती है। आरंभ की तुती पर किसी भी प्रकार के ज्ञान का अभाव होता है, पर अन्तिम तुती तक पहुँचते-पहुँचते दृश्य द्रष्टाधीन हो जाता** है। अस्पष्ट बोध अमनोवैज्ञानिक हो सकता है, पर इसे समझने के लिए हमें वाणी के प्रकार का अवलंब ग्रहण करना आवश्यक है। वाणी को चार प्रकार का माना गया है,—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, और वैखरी। दिये गये चित्र से स्पष्ट है कि बोध की क्रिया का आरंभ अस्पष्ट बोध के चार स्तरों में क्रियाशील पाया जाता है। दो अस्पष्ट बोधों के बीच एक अन्तराल भी होता है जो विशुद्ध चेतना द्वारा निर्मित होता है। 'अभिनवगुप्त' **ने इससे यह निष्कर्ष निकाला है कि जो क्षुद्रजगत** (microcosm) **के लिए सत्य है वही अखिल विश्व** (macrocosm) **के लिए भी सत्य है। अर्थात् जो बात अस्पष्ट अवबोध में पाई जाती है वही किसी न किसी रूप में स्पष्ट बोध में भी विद्यमान रहती है।** कहना न होगा 'कौलिकी शक्ति' का यह विवेचन स्पष्ट अवबोध की क्रिया पर प्रकाश डालता है। इस धारणा को निम्नांकित रूप में चित्रित किया जा सकता है—

वायु

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६

- १ — अनेकता की चेतना का अभाव
- २ — विषय की सूक्ष्म चेतना
- ३–८ — अस्पष्ट बोध के विभिन्न स्तरों का उद्भव
  - अस्पष्ट बोध के चार स्तर
    - अस्पष्ट बोध के उद्भव का सूत्रपात
    - उद्भव की क्रिया का आरंभ, मंथर गति के कारण इसका प्रसार दो तूती तक।
    - उद्भव की पूर्णता
    - इसकी क्रिया का आरंभ
- ९–१४ — स्पष्ट बोध के विभिन्न स्तरों का उद्भव
  - स्पष्ट बोध के पाँच स्तर
    - अस्पष्टता अदृश्य होने लगती है।
    - यह अदृश्य हो जाती है।
    - स्पष्ट बोध आरंभ होता है।
    - इसकी क्रिया गतिशील होती है।
    - यह पूर्णरूप से प्रस्तुत हो जाता है।
- १५ — उपादान का पूर्ण ज्ञान
- १६ — उपादान द्रष्टाधीत

इस विवेचन के संबंध में आधिकारिक रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि यह आज पुनः अन्तर्परीक्षण का विषय बन गया है, पर इससे एक तथ्य सरलता से हृदयंगम किया जा सकता है कि बोध के कई स्तर होते हैं और अस्पष्ट बोध से स्पष्ट बोध तक पहुँचने में हमें कई सोपानों को पार करना पड़ता है। प्रतिभा के अवचेतन और अचेतन स्वरूप का विवेचन करने वाले पाश्चात्य विचारक भी प्रकारान्तर से इसी बात को प्रतिपादित करते हैं।

अब रही प्रतिभा के जीववैज्ञानिक निष्पत्ति की बात। इस दृष्टि से भारतीय विचारक पूर्ण सतर्क नहीं ज्ञात होते। कहना न होगा कि प्रतिभा के विवेचन की दृष्टि से 'भरत' और 'भर्तृहरि' की मान्यता महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार **प्रतिभा अर्थ में संगति और समन्वय उत्पन्न करने का प्रमुख साधन है।** यह समन्वय कुछ सुनिश्चित कारणों से उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति के सन्दर्भ में चिड़ियों और पशुओं के सहज व्यवहार का उल्लेख भी किया गया है। इससे एक बात साफ जाहिर हो जाती है कि पौरस्त्य विचारधारा उस अर्थ में जीव-वैज्ञानिक नहीं जिस अर्थ में पाश्चात्य विचारधारा है, फिर भी उसके विवेचन में ऐसे सूत्रों का अभाव नहीं है जो सरलता से इस बात को द्योतित करते हैं, कि यहाँ भी विवेचन को सामान्य धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है।

संस्कृत साहित्य में कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा का उल्लेख मिलता है और पाश्चात्य साहित्य में 'क्रिएटिव' और 'क्रिटिकल जीनियस' का। **कारयित्री प्रतिभा को 'क्रिएटिव जीनियस' और भावयित्री प्रतिभा को 'क्रिटिकल जीनियस' का समानार्थी माना जा सकता है।** इस पर विचार करने का एक दूसरा पहलू भी है। इस दृष्टि से **कारयित्री प्रतिभा को 'जीनियस' और भावयित्री प्रतिभा को 'टेस्ट' का परिचायक माना जाता है।** कारयित्री तीन प्रकार की मानी गई है, (१) सहजा (२) आहार्या और (३) औपदेशिकी। पाश्चात्य साहित्य में जीनियस को विभाजित किया गया है। 'एडिसन' ने इसको दो प्रकार का माना है, (१) नैसर्गिक प्रतिभा (Natural genius) और (२) कलात्मक प्रतिभा (artistic genius)। 'एडिसन' के पश्चात् 'यंग' ने शैशवीय या अपरिपक्व प्रतिभा (Infantine genius) और परिपक्व प्रतिभा (original genius) का उल्लेख किया है। **भारतीय वाङ्मय को सहजा प्रतिभा का 'नेचुरल जीनियस', से पर्याप्त साम्य है। आहार्या और औपदेशिकी 'आर्टफुल जीनियस', 'इनफैण्टाइन जीनियस',**

श्रौर 'मकैनिकल जीनियस' के समान ज्ञात होती है। पाश्चात्य साहित्य का 'पोएट' श्रौर 'पोएटास्टर' तथा 'क्रिटिक' श्रौर 'क्रिटिकास्टर' का विवेचन भावयित्री प्रतिभा के तत्त्वाभिनिवेषी, श्ररोचकी, श्रविवेकी श्रौर सतृणाभ्यवहारी की अर्थ-संगति को स्पष्ट करता है।

पाश्चात्य साहित्य में प्रतिभा के विषयिगत श्रौर विषयगत स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इस दृष्टि से 'शापेनश्रावर' के दृष्किोण का उल्लेख किया जा सकता है। भारतीय साहित्य में इस प्रकार के विवेचन की एक लम्बी कड़ी उपलब्ध होती है। इसके प्रथम स्वरूप के प्रतिपादकों में 'श्रानंदवर्धन' प्रमुख हैं श्रौर द्वितीय स्वरूप के प्रतिपादकों में 'दण्डी'। 'दण्डी' का कहना भी है,—

"नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतं बहुनिर्मलम्,
श्रमन्दश्चाभियोगोस्याः कारणं काव्य संपदः।
न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना।
गुणानुबन्धिप्रतिभानमद्‌भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता।
ध्रुवं करोत्येवकमप्यनुग्रहं॥

'राजशेखर' के मत में हमें इन दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय मिलता है। इनकी धारणा है कि प्रतिभा श्रौर व्युत्पत्ति में लावण्य तथा रूप-सौन्दर्य का संबंध होता है। इस समन्वय की बात श्राज पाश्चात्य साहित्य में भी विशेष रूप से क्रियाशील है।

उपर्युक्त विवेचन में हमने प्रतिभा की भारतीय श्रौर पाश्चात्य मान्यता पर विचार किया है। यहाँ मेरा प्रमुख उद्देश्य इन दोनों के साम्य श्रौर वैषम्य को निरूपित करना नहीं है। इस विवेचन के द्वारा हम इसके उस विशिष्ट स्वरूप को उद्‌घाटित करना चाहते हैं जिसका कला-सृजन से संबंध होता है।

विधायक कल्पना—

प्रतिभा के पश्चात् हमें विधायक कल्पना पर विचार कर लेना भी श्रावश्यक है। साहित्य भाव से संबन्धित होता है। मानस में भाव-चक्र का श्रावर्त निरन्तर गतिशील रहता है। कल्पना को भी मानसी-क्रिया माना जाता है। संमूर्तन, संश्लेषण श्रौर चमत्कार का कार्य इसी मानसी-क्रिया द्वारा संपादित होता है। **यह एक प्रकार से दृश्य वस्तुश्रों में निहित श्रदृश्य संबंध-सूत्रों का विधान रचने का प्रमुख साधन** है। इसीलिये इसे विधायक कल्पना की संज्ञा

से अभिहित किया जाता है। हिन्दी में एक कहावत प्रचलित है, 'जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि।' वस्तुतः यह कहावत पर्याप्त समीचीन है। कवि कल्पना-प्रवण जीव होता है। वह अपनी इस क्रिया के माध्यम से **परोक्ष में कुछ ऐसे अपरोक्ष तथ्यों, अथवा दृश्य में कुछ ऐसे अदृश्य सम्बन्ध सूत्रों को जोड़ देता है कि उसका सृजन पहले से अधिक उपयुक्त, वैभवपूर्ण और आकर्षक बन जाता है।** इसी विशेषता के कारण कल्पना सृजन का प्रमुख उपस्कारक मानी जा सकती है और विधायक कल्पना अथवा 'क्रिएटिव इमैजिनेशन' की अर्थसंगति को चरितार्थ करती है।

युरोपीय साहित्य में कल्पना का विवेचन कई सरणियों के बीच होकर गुज़रा है। आरम्भ में दो शब्दों का—इमैजिनेशन और फैंसी—प्रयोग किया जाता था। "१७वीं शताब्दी में ये शब्द प्रायः पर्याय थे। यदा कदा इन्हें भिन्न मानकर विवेचित और विश्लेषित करने की प्रथा भी चल पड़ी थी। अभ्युदय काल में इन शब्दों को Imaginatio और Phantasia के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता था। १८वीं शताब्दी में विधायक कल्पना की परख होने लगी और उसके महत्व की ओर लोगों की दृष्टि भी गई।" फिर भी यह निश्चित अर्थ-सन्दर्भ की परिचायक न बन सकी। सृजन के सन्दर्भ में कभी ललित कल्पना को महत्त्व दिया जाता था तो कभी विधायक कल्पना को। यह प्रवृत्ति कुछ और समय तक चलती रही। 'विलियम टेलर' ने 'ब्रिटिश सिनोनाइम्स डिस-क्रिमिनिटेड,'[१] में इसी मान्यता से मिलते-जुलते विचार को अभिव्यक्त किया

---

1. A man has imagination in proportion as he can distinctly perceive in idea the impressions of sense, it is distinctly the faculty which images within the mind, the phenomena of sensation. A man has fancy in proportion, as he can call up, connect or associate, at pleasure those internal images, so as to couple ideal representations of absent objects. Imagination is the power of depicting and fancy of evoking and combining. The imagination is formed by patient observation, the fancy by voluntary activity in shifting the scenery of the mind. The more accurate the imagination, the more safely may a painter or a poet, undertake a delineation, or description without the presence of objects to be characterised. The more versatile the fancy, the more original and striking will be the decoration produced.

है। साहित्य के क्षेत्र में मेधावी कवि 'वर्ड्सवर्थ' और 'कोलरिज' के आगमन के साथ यह विवाद सुलझ गया और इन शब्दों को उचित अर्थ-सन्दर्भ में प्रतिष्ठित किया गया।

ऐसे शब्दों को निश्चित परिभाषा में बाँधना सरल नहीं है। फिर भी इतना तो निर्विवाद रूप से कहा ही जा सकता है कि, "**कल्पना ही वह मानसी क्रिया है जिसके आधार पर कलाकार नूतन सृजन और अभिनव रूप-व्यापार के विधान की शक्ति प्राप्त करता है। यह कलाकार की सृजन शक्ति है। व्युत्पत्ति (क्लृप + अन + आ) की दृष्टि से कल्पना का शाब्दिक अर्थ सृष्टि करना है।" अंग्रेजी शब्द 'इमैजिनेशन' भी 'इमैज' से निष्पन्न हुआ है और इसका अर्थ होता है सृष्टि करना।** 'नटाल्स डिक्शनरी' के अनुसार इसका सम्बन्ध ललित-कला के क्षेत्र से होता है **और यह** विविध प्रत्ययों और सम्बन्धों से अभिव्यक्त होने वाली काव्यात्मक **और** सर्जनात्मक शक्ति का आधान होती है। **बिंब-सृजन, प्रत्यय, कौशल और अमूर्त कल्पना प्रधान विचार** का संम्मूर्तन **इसका प्रमुख कार्य माना गया है।** 'लित्रे' ने इसके द्विविध स्वरूप का उल्लेख किया है। **प्रथम स्वरूप में यह ऐसी मानसी शक्ति मानी गई है जो अप्रत्यक्ष और अप्रस्तुत वस्तुओं को हमारी प्रज्ञा के समक्ष प्रस्तुत करती है। इसका द्वितीय स्वरूप साहित्य और कला में क्रियाशील पाया जाता है। इस स्थिति में यह सृजन का प्रेरणा स्रोत और प्रत्ययों को सजीव कलात्मक कलेवर प्रदान करने का प्रमुख साधन सिद्ध होती है। परवर्ती विचारकों ने कल्पना के इसी द्विविध स्वरूप को मान्यता प्रदान की है 'वेब्स्टर' ने** कल्पना की मूर्त विधायिनी क्षमता और पुनरुत्पादक शक्ति का उल्लेख किया है। **प्रथम के द्वारा कलाकार संसृति के क्रिया-कलापों का अवलोकन और आलोड़न करता है और द्वितीय के माध्यम से प्रथम के द्वारा प्राप्त अनुभव और अनुमानों को संश्लेषित करता है। इसी द्वितीय प्रकार की कल्पना को, 'क्रिएटिव इमैजिनेशन', 'एसेम्प्लास्टिक इमैजिनेशन' तथा 'कोएडुनेटिंग पावर' आदि नामों से अभिहित किया जाता है।** प्रश्न उठता है इन सब का तात्पर्य क्या है? इसके उत्तर स्वरूप हम यही कह सकते हैं कि "**पूर्व अनुभूतियों की योजना से अपूर्व अनुभूति की** उद्भावना या क्रिया को हम कल्पना कह सकते हैं। यह **अतीत, वर्तमान तथा अनागत का विधिवत अवगाहन करती है और इससे प्राप्त निष्कर्ष में एक ऐसा सामंजस्य उत्पन्न कर देती है कि वह कला-सृजन का आधार बनता है।** इसी विशेषता को ध्यान में रखकर इसे अन्तर्विधायिनी काव्य-शक्ति के नाम से अभिहित किया गया है। विधायक कल्पना अप्रत्यक्ष वस्तुओं के मानसिक

बिंबों को पुनरुत्पादित करके उनके प्रत्यक्ष बोध को हृदयंगम करती है, और पुनः उन अवबोधों को संश्लेषित करके कला-सृजन का मूल-केन्द्र-बिन्दु बनती है।

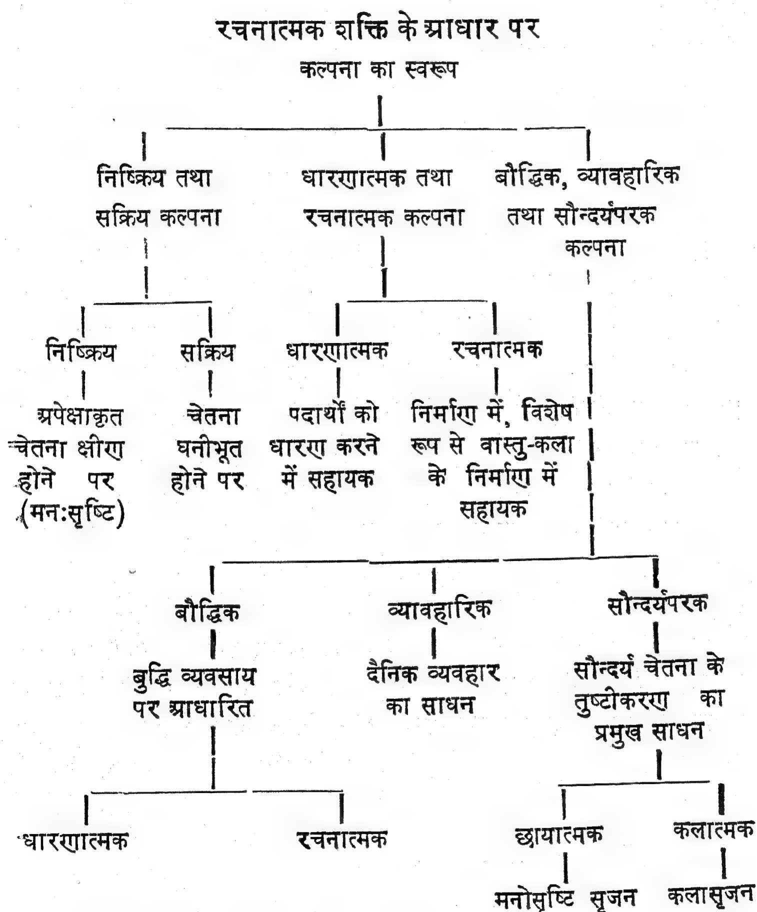
कल्पना पर विचार करने वाले लोगों में मनोवैज्ञानिक, जीववैज्ञानिक और लालित्यबोधीय विचारकों का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। **मनोवैज्ञानिकों ने इन्द्रिय-बोध की दृष्टि से इसके निम्नांकित छः भेदों का उल्लेख किया है**—(१) दृष्टि-कल्पना (२) ध्वनि-कल्पना (३) स्पर्श-कल्पना (४) घ्राण-कल्पना (५) क्रिया-कल्पना और (६) रस-कल्पना। दृष्टि-कल्पना प्रत्यभिज्ञान और मूर्त-विधान की जनक है, और ध्वनि-कल्पना का सम्बन्ध ध्वनि लहरी और संगीत से होता है। स्पर्श-कल्पना अधिक से अधिक सूक्ष्म कलाओं के निर्माण में सहायक होती है। क्रिया-कल्पना का प्रमुख आधार स्मृति होती है। किसी भी कार्य को करते समय हमारे मन में तरह-तरह के विचार और अनुभूति उठा करती हैं। ये किसी न किसी रूप में हमारी वासना में संग्रहीत हो जाती हैं। जब हम उस काम को याद करते हैं तो वह क्रिया पहले याद आती हैं जिसके माध्यम से कार्य संपादित हुआ था। क्रिया-कल्पना स्मृति का अवलंबन ग्रहण करती है, अतएव इसके बिंब अधिक गतिशील होते हैं। घ्राण-कल्पना का प्रमुख विषय गंध-बोध होता हैं। रस-कल्पना काव्य की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण मानी गई है। जिस प्रकार किसी पदार्थ को चखते ही हम सरलता से यह कह पड़ते हैं कि यह खट्टा, मीठा या तीता है, उसी प्रकार साहित्य के अंश-विशेष को सुनते ही हम यह भी मान बैठते हैं कि इसमें शृंगार, करुण या वात्सल्य है।

उपर्युक्त छः स्वरूपों का संबंध इन्द्रिय-बोध से होता है, पर यह बोध सभी व्यक्तियों में समान नहीं होता, कुछ में अधिक होता है और कुछ में कम। इसका प्रमुख कारण यह है कि व्यक्ति संस्कार और रुचि की दृष्टि से भिन्न होते हैं। यह भिन्नता उपर्युक्त कल्पना के रूपों के निर्धारण का प्रमुख निर्णायक तत्त्व है।

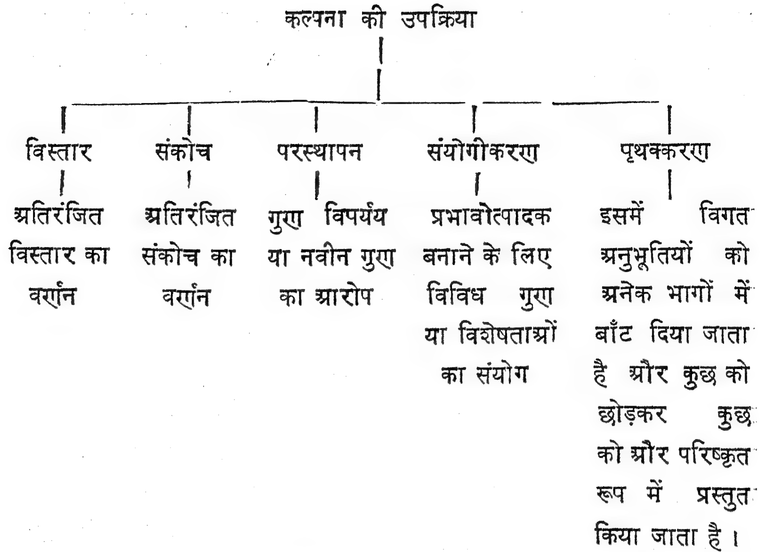
मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना की विभिन्न रचनात्मक शक्तियों पर विचार किया है। इस दृष्टि से इसके **तीन प्रमुख भेद होते हैं**। (१) **निष्क्रिय तथा सक्रिय कल्पना**, (२) **धारणात्मक तथा रचनात्मक कल्पना** और (३) **बौद्धक, व्यावहारिक तथा सौन्दर्य परक कल्पना**। कल्पना का सम्बन्ध मानव के चेतन स्वरूप से होता है। जब कल्पना उसके इस पक्ष से सम्बन्धित होती है तो उसे सक्रिय कल्पना कहते हैं। कभी-कभी इससे भिन्न अवस्था का दर्शन भी होता है। इस अवस्था में मानव मन आपेक्षाकृत कम चेतन होता है, अतएव, निष्क्रिय-कल्पना अथवा

मनोसृष्टियों का निर्बाध स्वरूप निरंतर गतिशील पाया जाता है। इन मनोसृष्टियों की यह विशेषता होती है कि वे स्वतःप्रेरित रूप में मन पर अपना अधिकार जमा लेती हैं। धारणात्मक कल्पना हमें किसी भी वस्तु को धारण करने की क्षमता प्रदान करती है और रचनात्मक कल्पना निर्माण करने की शक्ति देती है। रचना शब्द के प्रयोग से यह भ्रम उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि कलाकार की रचना में यही स्वरूप विशेष रूप से सहायक होता है, पर यह बात निरर्थक है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इस प्रकार की कल्पना का संबंध केवल वास्तु-कला से होता है। बौद्धिक कल्पना का संबंध बुद्धि से है। जब जीवन की किसी घटना-विशेष को देखकर बुद्धि के आधार पर हम उसका समाधान ढूँढ निकालें तो इसे बौद्धिक कल्पना का उदाहरण माना जा सकता है। 'न्यूटन' ने देखा कि सेब का फल वृक्ष से टूट कर पृथ्वी की ओर आता है। उसने इस बात पर विचार किया, ऐसा क्यों होता है ? उसकी बुद्धि ने जवाब दिया, पृथ्वी में कोई आकर्षण शक्ति है, जो पदार्थों को अपनी ओर खींचती है। फिर क्या था, गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का पता चल गया। उसका यह निष्कर्ष बौद्धिक-कल्पना का उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है। व्यावहारिक कल्पना का सम्बन्ध हमारे दैनिक-व्यावहारिक जीवन से होता है। इसी के माध्यम से हम दैनिक योजनाओं की रूपरेखा तैयार करते हैं। सौन्दर्य परक कल्पना हमारी सौन्दर्य-चेतना से संबद्ध होती है। इसका स्वरूप उपयोगिता से सर्वथा मुक्त होता है। यह न तो व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति करती है और न उपयोगितावादी दृष्टि की। इससे हमारा भावकोश समृद्ध होता है और विभावन तीव्र। यह सौन्दर्य-सृजन में सहायक होने के साथ ही उसके विभावन का भी मूलमंत्र मानी जाती है। कलाकार और सामाजिक दोनों में यह अनिवार्य रूप से विद्यमान रहती है। इसके दो भेद होते हैं (१) छायात्मक, और (२) कलात्मक। मनोविज्ञान में पलायनवादी वृत्ति को समझने के विविध सूत्र उपलब्ध होते हैं। ऐसा माना गया है कि जीवन की कटुता, विद्रूपता, और विषमता से भाग कर व्यक्ति अपने लिये एक स्वप्नलोक का निर्माण कर लेता है। यह निर्माण बिलकुल अयथार्थ है, फिर भी उसका अपना निजी महत्त्व होता है। इस प्रकार की कल्पना व्यक्ति को सांसारिक विषमता से कुछ समय के लिए मुक्त कर देती है। इसकी कुछ विशेषतायें होती हैं। यह सर्वतोभावेन असंबद्ध, विशृङ्खल और असामंजस्यपूर्ण होती है। साधारण शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं, कि यह ऊल-जलूल, ख्याली और बेसिर-पैर की होती है। इस कल्पना को

छायात्मक विधायक कल्पना कहते हैं। कलात्मक-कल्पना, कला-सृजन का प्रमुख प्रेरक तत्त्व होती है। इसी के माध्यम से कलाकार कला-सृजन में प्रवृत्त होता है। उपर्युक्त विवेचन को हम निम्नांकित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं—



मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना की उपक्रिया को भी निम्नांकित पाँच रूपों में विभक्त किया है।



ऊपर के विभाजन को हृदयंगम करने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि विस्तार और संकोच की स्थिति में अतिरंजना का आश्रय ग्रहण किया जाता है। परस्थापन की स्थिति में गुण-विपर्यय या नवीन गुणों के आरोप पर बल दिया जाता है। कमल-नयन, चन्द्रमुख आदि इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। संयोगीकरण की स्थिति में कलाकार अपनी कला में ऐसे गुणों का संयोग करता है जिससे वह अधिक से अधिक प्रभावोत्पादक, उदात्त और महनीय बन जाती है। हमारे यहाँ प्रचलित अर्द्धनारीश्वर या नरकेसरी की कल्पना इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। पृथक्करण की क्रिया किसी भी रूप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। पौराणिक, निजन्धरी, और ऐयारी और तिलस्मी के कथा-स्वरूपों में इसके उत्कृष्ट उदाहरण ढूँढ़े जा सकते हैं। इस विवेचन के पश्चात् वे कल्पना के भेद-निरूपण की ओर उन्मुख होते हैं और निम्नांकित दो वर्गों का उल्लेख करते हैं।

(१) पुनरुत्पादक (Reproductive) और,
(२) सर्जनात्मक (Creative)

प्रथम प्रकार की कल्पना विगत घटना या प्राप्त अनुभूति को स्मृति की सहायता से उद्‌बुद्ध करके इन्हें बिंब के रूप में बदलती है और द्वितीय प्रकार की कल्पना इन्हें अभिनव कलात्मक कलेवर प्रदान करती है। सर्जनात्मक कल्पना को भी दो भेदों में विभाजित किया गया है, (१) लालित्य बोधीय सृजनात्मक

कल्पना (Aesthetic Creative Imagination) और (२) व्यावहारिक रचनात्मक कल्पना, (Practical creative Imagination)। लालित्यबोध के क्षेत्र में इसी प्रथम प्रकार की कल्पना को महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

मनोविज्ञान आज पर्याप्त विकसित हो गया है। आधुनिक **मनोवैज्ञानिकों ने सर्जनात्मक कल्पना और मौलिकता को अन्योन्याश्रित सिद्ध किया है।** उनका कहना है कि रचनात्मक अथवा सर्जनात्मक कल्पना मौलिकता को अन्तर्भुक्त किये रहती है और मौलिकता, सर्जनात्मक कल्पना को प्राय: यह कहा जाता है कि कल्पना का संबंध भावना से होता है और मौलिकता का चिन्तन से। पर इसके साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि कल्पना **जब भाव-जगत से निकल कर कल्पना के क्षेत्र में पदार्पण करती है तो वह मौलिकता बन जाती है और मौलिकता जब चिन्तन के क्षेत्र से निकल कर भावना के क्षेत्र में पदार्पण करती है तो वह कल्पना बन जाती है।** बात जो भी हो पर इतना अवश्य मान्य है कि भावना और चिन्तन में संबंध होता है, अतएव कल्पना और मौलिकता में भी संबंध होना आवश्यक है। पर इससे यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि भावना के क्षेत्र में पाई जाने वाली सभी बातें मौलिक होंगी। वस्तु सत्य यह है कि कल्पना ही मौलिकता का आधारभूत सूत्र प्रदान करती है। कल्पना भावना प्रवण होती है। इसके अतिरेक में तथ्य का मौलिक स्वरूप छिपा रहता है, ज्योंही चिन्तन उसे भावना प्रवणता से मुक्त करके प्रकृत धरातल पर प्रतिष्ठित करता है वह अपने मौलिक स्वरूप में और भी स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है। इस क्रिया को खान से निकले स्वर्ण और शुद्ध तथा तपाये हुए स्वर्ण के भेद द्वारा स्पष्टता से समझा जा सकता है। जिस समय सोना खान से निकाला जाता है, उस समय वह तरह-तरह के भू-गर्भ के तत्त्वों से लिपटा रहता है। खान से निकालने के बाद हम उसे भट्ठी में गलाकर शुद्ध करते हैं। जब वह शुद्ध हो जाता है तो उसमें एक नई दीप्ति आ जाती है, और वह अपने असली स्वरूप को प्रकट करने लगता है। कहना न होगा कि भाव प्रवणता की स्थिति अस्पष्ट, जटिल और पेचीदे संवेदन की स्थिति होती है। इसमें तरह-तरह की स्थितियाँ सर्पशिशुवत् लिपटी रहती हैं। चिन्तन के धरातल पर हम इन्हें आवश्यतानुसार व्यवस्थित और संतुलित करते हैं। यही व्यवस्था और संतुलन सृजन का मूल केन्द्र-बिन्दु होता है। कल्पनाशील व्यक्ति और मौलिक चिन्तक में यह प्रमुख विशेषता पाई जाती है कि वे स्वतंत्र निर्णय लेने में समर्थ होते हैं। मनोवैज्ञानिकों के द्वारा निरूपित कल्पनाशील व्यक्ति की विशेषताओं को 'डॉ० कुमार विमल' ने अधोलिखित रूप में प्रस्तुत किया है—

(१) ये सामान्य व्यक्तियों से अधिक निरीक्षण सक्षम होते हैं। (२) इनमें वस्तु, विभावन या धारणा के किसी एक खण्ड सत्य को उभाड़ कर रखने की क्षमता होती है। (३) ये अदृश्य को दृश्य रूप में प्रस्तुत करने और उससे आनंद प्राप्त करने में विशेष पटु होते हैं। (४) इनकी वृत्तियों में स्वार्थ की सद्य:तुष्टि के स्थान पर सांस्कृतिक शील की ओर विशेष झुकाव मिलता है। (५) इनके विचारों में एक ही साथ अनन्त विविधता का स्वरूप विद्यमान रहता है। ये इन पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करके समन्वय की ओर उन्मुख होते हैं। (६) इन्हें अवचेतन या अचेतन में दबी हुई मनोग्रंथियों को दुलारने और पुचकारने में विशेष आनंद मिलता है।

वस्तुतः मनोविज्ञान की यह मान्यता महत्वपूर्ण है, और इससे कई रहस्य-मय कोणों पर प्रकाश भी पड़ता है, पर इसकी सभी निष्पत्तियाँ आज के वैज्ञानिक युग के अनुकूल नहीं जान पड़तीं। अतएव हमारे लिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम विज्ञान की अन्य मान्यताओं पर भी विचार कर लें।

सर्वप्रथम हम जीववैज्ञानिकों को लेते हैं; इनकी स्पष्ट धारणा हैं कि कल्पना मस्तिष्क की क्रिया है। मानसिक अनुभूति की कई सतहें हुआ करती हैं, जिन्हें हम ऐन्द्रिय अवबोध, मानसिक बिंब, स्मृति और मानोविभ्रम के नाम से सूचित कर सकते हैं। कल्पना इन्हीं की सर्वोपरि सतह पर विद्यमान रहती है। इसका संबंध मस्तिष्क के वाह्यक (cerebral cortex) से होता है। मस्तिष्क का वाह्यक विशिष्ट रूस से निर्मित होता है। इसमें अनन्त चेताकोश पाये जाते हैं, जो अन्योन्याश्रित और अन्तर्निहित क्रिया के प्ररोचक हुआ करते हैं। कुछ विचारकों के अनुसार कुछ चेताकोश स्वतंत्र भी होते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये स्वतंत्र चेताकोश चेतालोमीय तंतुओं के द्वारा अन्य कोशों से प्रभावित होते रहते हैं और इन्हें सूक्ष्म तंतुओं के माध्यम से संप्रेषित भी करते जाते हैं। "इन कोशों में पारस्परिक संगति और सामाजिकता रहती हैं। अतः इनमें प्रेरणा के लयात्मक तरंगों का ..तिध्वनन चलता रहता है। वाह्यक के अन्तर्गत पड़ने वाला एक चेताकोश केवल समीपी चेताकोश को ही अपनी प्रेरणा से तरंगायित नहीं करता अपितु वाह्यक के अन्तर्गत पड़ने वाले अन्य चेताकोशों को भी वह समान रूप से प्रभावित करता है। इस प्रकार कोई हल्की से हल्की प्रेरणा समस्त मस्तिष्क को अन्दोलित कर देती है। वैज्ञानिकों ने 'एलेक्ट्रो एन्सो फेलोग्राफी' के सहारे इसका परीक्षण भी किया है।" इस कोटि के मनो-वैज्ञानिकों की धारणा है कि साधारण ऐन्द्रिय अनुभूति ही कल्पना का उप-जीव्य होती है।

मस्तिष्क शक्ति-सम्पन्न है और वह स्मृति के माध्यम से पूर्वानुभूत ऐन्द्रिय संवेदनों को स्पष्ट रूप से ग्रहण करता है। अनुभूति के इसी पुनर्ग्रहण या पुनराह्वान से बिंबों का गठन होता है। इस सन्दर्भ में यह तथ्य भी पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाता है कि स्मृति भी वाह्यक के पूर्वाघात पर निर्भर रहती है। वैज्ञानिक इस तथ्य को प्रतिपादित करते हैं कि वही ऐन्द्रिय अनुभूति स्मृत हो सकती है जिसका कम से कम बीस मिनट तक मस्तिष्क पर प्रभाव बना रहे। स्मृति के लिए वाह्यक पर पड़े हुए प्रभावों को प्ररोचित करना पड़ता है। एक स्मृति को जगाने में विविध चेता-कोश सक्रिय हो उठते हैं। इन्हीं चेताकोशों की सन्तुलित और घनीभूत सक्रियता के कारण कुछ स्मृतियाँ अधिक तीव्र हो उठती हैं।

कल्पना स्मृति की मुखापेक्षी है, अतएव इसे मानस-चित्रों की पुनरानुभूति माना जा सकता है। इन मानस-चित्रों में साहचर्य और सहगामिता का भाव पाया जाता है, इसी कारण ये उद्बोधनपूर्ण होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि एक मानस-चित्र दूसरे मानस-चित्र को उद्‌बुद्ध करता है और दूसरा तीसरे को। इस प्रकार इसकी शृंखला बन जाती है। यही सृजन को प्रेरित करता है। इसी मानसिक रूप-विधान का एक रूप कल्पना है।

जीव वैज्ञानिक स्पष्ट रूप से इस बात को मानते हैं कि वही मस्तिष्क अधिक कल्पनाशील होता है जिसमें चेताकोशों की संख्या अधिक होती है और ये कोश आपस में सम्बद्ध होते हैं। पर यह मान्यता मनुष्य की दृष्टि से ही अधिक उपयुक्त है। यह विवेचन यहीं समाप्त नहीं हुआ है, अपितु किसी न किसी रूप में निरन्तर विकसित होता गया है। 'लोवेल' महोदय ने कल्पना को ईथर की त्वरा का एक विशिष्ट रूप माना है, पर यह मान्यता विशेष लोकप्रिय नहीं बन पाई है।

आज विज्ञान ने मानव की चेतना को परिष्कृत और व्यापक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित किया है। 'कोलरिज' का यह सूत्र वाक्य, कि विधायक कल्पना में ही व्यक्ति के नैतिक और वैज्ञानिक विकास के सूत्र निहित हैं, आज भी उतना ही यथार्थ है जितना अपने समय में था। 'रिची' ने ठीक ही कहा है कि कल्पना की क्रिया के दो पक्ष होते हैं—अच्छे और बुरे। अगर यह अनियंत्रित रुप में क्रियाशील होती है तो इसके परिणाम सदैव बुरे होंगे और अगर यह नियंत्रित और अनुशासित रूप में क्रियाशील होती है तो इसके परिणाम सदैव अच्छे होंगे। 'आर्थर कोस्लर' ने एक महत्त्वपूर्ण सत्य का संकेत किया है। उनका कहना है, "सृजक को हमेशा परंपरित और अभिनव

के बीच के द्वन्द्व से गुजरना पड़ता है। इन्हीं दोनों के संघात से उसमें ऐसी अद्‌भुत क्षमता उत्पन्न होती है जो किसी ज्ञात उपादान, परिस्थिति, समस्या या आँकड़े के संग्रह को नये परिवेश और सन्दर्भ में देखने में समर्थ होती है। सृजक इस धरातल पर ऐसे अन्तः सम्बन्ध या सादृश्य का दर्शन करता है जो पहले अदृश्य था। किसी परंपरित उपादान अथवा प्रत्यय को पूर्व सन्दर्भ या ज्ञात साहचर्य से अलग करके नये सन्दर्भ में विवेचित और विश्लेषित करना सृजन-क्रिया का ही कार्य है। धर्म, विज्ञान अथवा कला के क्षेत्र का हर सृजन प्राचीन स्तर की ओर प्रत्यागमन करता है, फिर भी यह प्राचीन मान्यताओं के स्रोत से कट कर कुछ नवीन मान्यताओं से अलंकृत रहता है। आरंभ में यह क्रिया असामंजस्यपूर्ण होती है, पर बाद में सामंजस्य में परिणत हो जाती है। इसकी तुलना रहस्यवादी की उस स्थिति से की जा सकती है जो आत्मा की विभ्रमित अवस्था से गुजर कर नये ज्ञान की ओर उन्मुख होता है।" सृजक के जिस स्वरूप का ऊपर उल्लेख किया गया है, वह सदैव कल्पना का आश्रित होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि विज्ञान और कला दोनों में कल्पना के अभाव में संघटन या संबंध नहीं हो सकता। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि विज्ञान की दृष्टि भी मानव में निहित सृजन-शक्ति की ओर गई है और इसका विविध विवेचन भी किया गया है। यहाँ एक बात का संकेत कर देना आवश्यक है कि सृजन का अर्थ होता है, परंपरित-अपरंपरित, नवीन-प्राचीन तथा आगत-अनागत के आलोड़न द्वारा ऐसी कृति प्रदान करना जो अभिनव हो। विज्ञान पदार्थों की अनश्वरता में विश्वास करता है, अतएव वह किसी आकस्मिक सृजन के स्थान पर ऐसे तथ्यों को प्रकाश में लाता है जिनकी स्थिति पर अविश्वास नहीं किया जा सकता है।[1] वैज्ञानिक शब्दावली में सृजन के लिए निर्माण शब्द का प्रयोग किया जाता है। उनकी धारणा है कि इस निर्माण में अन्विति संघटन और रूप का समावेश रहता है। इस प्रकार यह किसी न किसी रूप में निर्माणक की जीवन-शक्ति का ही परिचायक होता है। फिर भी वैज्ञानिक इस बात से इन्कार नहीं करता कि कला सृजन के कुछ अचेतन या अवचेतन स्वरूप भी हैं जो परिवेश और घटनाओं के कार्य-कारण की शृंखला से सम्बद्ध नहीं होते। सृजक-कल्पना में अद्‌भुत शक्ति होती है और सर्जक किसी न किसी रूप में इस अद्‌भुत शक्ति

1. Creation implies that something new comes into existence, while scientific method must assume a continuity in every process. Morris Philipson. Aesthetics To-day—A scientific view of creative energy of Man—Lancelot law whyte.

के वशीभूत होकर अपने व्यक्तित्व का अतिक्रमण करने के लिए तत्पर रहता है। यह (कल्पना) अज्ञात और रहस्यमय स्वरूपों का अवगाहन करके ज्ञात और रहस्यमय स्वरूपों की रचना में समर्थ होती है। ये कुछ ऐसे स्वरूप हैं जो विज्ञान को चुनौती सिद्ध होते हैं। सब से बड़ी बात तो यह है कि चिन्तन पर अभी वैज्ञानिक दृष्टि से विचार ही नहीं किया गया है। इसलिये जो कुछ भी कहा जा सकता है, वह केवल अनुमानाश्रित अथवा कल्पित होगा।[1] पाश्चात्य साहित्य में विज्ञान और विधायक कल्पना को एक दूसरे का विरोधी माना गया है और मनुष्य को प्रकृति के परिवेश में कम से विश्लेषित किया गया है। विज्ञान अभी अपरिपक्व है और उसे इस बात का ज्ञान ही नहीं है कि वह किस प्रकार उत्पन्न और विकसित हुआ है।[2] कलाकार भी इस बात से सहमत नहीं होता कि उसकी सृजन-शक्ति को हम वैज्ञानिक निष्पत्तियों के आधार पर मूल्यांकित करें। इसका परिणाम यह होता है कि ये दोनों एक दूसरे से सर्वथा अलग मान लिये जाते हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम इन दोनों को निकट ले आयें और दोनों की निष्पत्तियों को समझने की कोशिश करें।

सृजन-क्रिया विभिन्न तत्वों को संश्लेषित करके एक समन्वित योजना की परिचायक बनती है। यह सदैव नये सामंजस्य के विकास की परिचायक होती है। यह सामंजस्य जटिल होता है, फिर भी इसमें सरलीकरण की ओर उन्मुख होने की प्रवृत्ति पाई जाती है।[3] हमने पहले ही सृजन के लिए 'निर्माण' शब्द के प्रयोग की बात उठाई है। निर्माण का संबंध सावयव विकास की क्रिया से होता है और सृजन का मानसिक क्रिया से। अब यह प्रश्न पूछा जा सकता है सावयव क्रिया (जो सावयव एकता को शरीर विज्ञान की एकता के धरातल पर ग्रहण करता है) और मानसिक क्रिया (जो विचार और व्यवहार के सामंजस्य पर बल देती है) में संघटना संबंधी कोई साम्य हो सकता है या नहीं। विचारकों की दृष्टि इन दोनों के साम्य की ओर गई है। 'प्लेटो' के साथ ही

१—वही पृ० ३४६

२—वही पृ० ३५०

3. Creative process is that it always brings separate elements together into a unified scheme. Creation is development of new unity, which may be highly complex, but always displays simplifying relationships. Ibid-p. 352.

'कीट्स' ने इसे प्रतिपादित भी किया है।[1] आचार्य 'भरत' ने भी अपने नाट्यशास्त्र में इसी तथ्य का संकेत किया है।[2] यह विचार परवर्ती काल में भी विकसित हुआ है। प्रजनन विद्या के अमेरिकी विद्वान 'सिनोट' ने यह सिद्ध किया है कि मानसिक क्रियायें और प्राणिशास्त्रीय क्रियायें प्रायः समान हैं। भ्रूण के विशेषज्ञ बेलजियम के वैज्ञानिक 'ए० एम दाल्क' (A. M. Dalcq) की मान्यता है कि गर्भ की स्थिति से लेकर परिपक्वावस्था तक व्यक्ति एक विकास की क्रिया के बीच गुजरता है। ह्वाइट (whyte) महोदय ने इन सभी पहलुओं पर विचार करते हुए प्रमुख विषय पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। उन्होंने शरीर विज्ञान की क्रिया और मानसिक क्रिया की भिन्नता को निरूपित करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि शरीर विज्ञान की स्थिति में इस क्रिया का कार्य-क्षेत्र स्थायी और विश्वजीनन जीव—रसायनिक संघटना होती है, पर मानसिक क्रिया के कार्य-क्षेत्र की इकाई विगत अनुभूतियों के अवशेष होते हैं जिन्हें हम मस्तिष्क के वाह्यक की संघटना से संबद्ध नमनीय 'रिकार्ड' की संज्ञा दे सकते हैं।[3] पूर्ववर्ती विवेचन में हमने चेताकोशों का उल्लेख किया है। वस्तुतः इन चेताकोशों का कल्पना से गहन सम्बन्ध होता है। **भौतिक संघटना निश्चित पद्धति में ढली निर्माण की क्रिया होती है, पर मस्तिष्क ऐसी संघटनाओं की निर्माणक क्रिया होती है जो व्यक्ति की अनुभूति के विशिष्ट पक्ष को चित्रित करती जाती है। जिस प्रकार सावयव संघटना के सूक्ष्म तंतु आपस में संश्लेषित हो उठते हैं, उसी प्रकार मस्तिष्क की क्रिया भी अपने क्षेत्र में संश्लेषित होती है। इस क्रिया की आन्तरिक विशेषता होती है। यह गत्वर, धारावाहिक और अपने 'लॉजिक' से बँधी होती है। इस क्रिया का ही एक स्वरूप विधायक कल्पना होती है।** इस सन्दर्भ में निर्माणात्मक विचार के उस स्वरूप को समझा जा सकता है जिसमें मानसिक क्रियायें भी आ जाती हैं। मनोविज्ञान में मानसिक क्रिया को सीखना, सामान्यीकरण, प्रतीकीकरण, प्रज्ञा, बुद्धि, अन्तर्दृष्टि, अवधान, अभिरुचि और प्रत्याशा आदि के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, पर इसमें भी सब प्रकार के विचारों का समावेश नहीं हो सका

---

1. Let us open our leaves like a flower, and be passive and receptive—budding patiently under the eye of Appollo.

२—यथा बीजात् भवेद्वृक्षो, वृक्षा पुष्प फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावाव्यवस्थिता।

3. A scientic view of the creative Energy of Man.

है। एक बात अवश्य स्पष्ट है कि सभी प्रकार के निर्माणक विचारों में एक नये सम्बन्ध की योजना होती है, इसी सम्बन्ध के कारण ये नई दिशा के सूचक बन जाते हैं। इससे यह साफ ज़ाहिर हो जाता है मस्तिष्क की प्रमुख विशेषता अन्तर्निहित आत्म व्यवस्था होता है और इसी के माध्यम से यह अव्यवस्थित को व्यवस्थित करता है। मस्तिष्क पर क्रियाओं का प्रभाव ही नहीं पड़ता अपितु वह अंकित भी हो जाता है। इस प्रकार मस्तिष्क अपने में ही निहित रेकार्डों का नमनीय सामंजस्य सिद्ध होता है। सृजन में यह बात विशेष रूप से क्रियाशील पाई जाती है। अपने इस स्वरूप में सृजन-क्रिया में समंजीकरण, पुनर्निरूपण और त्याग तथा परिग्रहण की प्रवृत्ति पाई जाती है। प्रकृति में समन्वय का भाव पाया जाता है। यही बात मस्तिष्क में भी पाई जाती है अतएव ये दोनों इस दृष्टि से समान हैं। मस्तिष्क अपने को कालगत और देशगत प्रवृत्तियों के आधार पर समन्वित करता है। कालगत प्रवृत्ति भावना प्रवण, सशक्त और क्रियामय होती है और देशगत प्रवृत्ति संघटनात्मक और बोधमय। ये प्रवृत्तियाँ परस्पर पूरक एवं एक ही क्रिया के दो रूप हुआ करती हैं। मस्तिष्क की यह विशेषता है कि वह एकीकरण में पटु होता है। इस स्थिति में इसकी क्रिया में पाया जाने वाला अंश शेष प्रकृति का प्रतीक बन जाता है। यही क्रिया प्रकृति में भी पाई जाती है। 'वाइट' महोदय ने इससे यह निष्कर्ष निकाला है कि मस्तिष्क का निर्माणात्मक पक्ष शेष प्रकृति के अपने से मिलते-जुलते निर्माणात्मक पक्ष का अनुकरण माना जा सकता है। फिर भी हम यह नहीं कह सकते हैं कि मस्तिष्क प्रकृति का प्रतीक है। हम केवल यही कह सकते हैं कि मस्तिष्क की क्रियायें अपने को इस रूप में बदलती रहती हैं जो अन्य क्रियाओं की परिचायक होती हैं। मस्तिष्क अनागत के विषय में भविष्यवाणी कर सकता है। इसमें अवचेतन स्वरूप भी क्रियाशील पाया जाता है, पर जब वह नये सामंजस्य में व्यवस्थित हो जाता है तो सब कुछ चेतना के धरातल पर प्रतिष्ठित हो जाता है। यथार्थ में सृजन अवचेतन क्रियाओं से विशेष रूप से प्रभावित रहता है। पर इस तथ्य को भी आँख से ओझल करने की आवश्यकता नहीं कि इसके निर्णय कभी-कभी बहुत भ्रमोत्पादक होते हैं। ये वाह्य दृष्टि से विश्वसनीय दीख पड़ सकते हैं, फिर भी प्रवंचक सिद्ध हो सकते हैं। अतएव इन्हें केवल काल और चेतना के सन्दर्भ में मूल्यांकित करने की आवश्यकता होती है। चेतन मस्तिष्क अचेतन को नियंत्रित करता है। इन दोनों में घात प्रतिघात की

स्थिति चला करती है। अतएव कलाकार को इन दोनों से प्राप्त सामग्री पर विचार करना चाहिए। मस्तिष्क व्यवस्था का उत्पादक होने के कारण सौन्दर्य सृजन का आधान होता है। जब यह व्यावहारिक जीवन की क्रियाओं से सम्बद्ध होता है तो इस स्थिति में पूर्ववर्ती स्थिति की तुलना में परिमाणात्मक भिन्नता पाई जाती है। निर्णय की स्थिति में मस्तिष्क नीर-क्षीर विवेक में तल्लीन रहता है।

सारांश यह कि इसकी तीन विशेषतायें होती हैं (१) एकीकरण (२) परिष्करण, और (३) सरलीकरण। सभी कार्य मस्तिष्क के वाह्यक द्वारा संपादित होते हैं। इसकी सृजन-शक्ति स्वतंत्र होती है। विवेचन को और बोध-गम्य बनाने के लिए 'ह्वाइट' महादय ने निम्नाङ्कित शब्दों को व्याख्यायित किया है—

मस्तिष्क :—

ऐसा अवयव है जो अपनी स्पन्दनशील अवस्था में अपने चेताकोशों को एकीकरण, सरलीकरण और मूल्यांकन में रत रखता है और संपूर्ण क्रिया की सहज पुनरावृत्ति में सक्षम है।

विचार :—(चेतन-अचेतन)

क्रियाशील मस्तिष्क की वाह्य संघटना का स्वरूप है जो आने वाले नये विचारों एवं प्रभावों को समन्वित करता है और संपूर्ण संघटना को इस प्रकार सामंजस्यपूर्ण बना देता है जिससे उसके इस स्वरूप की पुनरावृत्ति हो सके।

निर्माणक विचार :—(संश्लेषण का अचेतन-विकास)

यह ऐन्द्रिय स्रोतों से प्राप्त चक्रिल स्पन्दन होता है जो क्रियात्मक परिणाम को उत्पन्न किये बिना ही मुरझा जाता है, अथवा निष्क्रिय हो जाता है। यह अपने रूप में समन्वित परिष्कार को सहयोग प्रदान करता है। इसके स्पन्दन अन्य स्पन्दनों का मार्ग प्रशस्त करते हैं। यह क्रिया तब तक चलती रहती है जब तक उपयुक्त संश्लेषण नहीं स्थापित हो जाता है यही क्रिया प्रतीकात्मक संश्लेषण का स्वरूप निर्धारित करती है और ऐसी श्रृंखला बनाती है जो शिशु के मस्तिष्क के विकास का प्रमुख साधन सिद्ध होती है।

क्रियात्मक विचार :—(विचार के सुव्यवस्थित स्वरूप का सचेतन प्रयोग)

यह विकासशील, निरन्तर बना रहने वाला और चक्रिल स्पन्दन होता है जोद मुरझाता नहीं, अपितु ऐन्द्रिय क्रियाओं को प्रेरक क्रियाओं से संबद्ध करता

है। इसमें परिष्कार का गुण विशेष रूप से विद्यमान रहता है। यह अपेक्षाकृत अधिक विकसित होता है और अदृश्य विचारों के निर्माणात्मक स्पन्दन से स्थायी बनता जाता है।

परिष्करण :—

यह स्पन्दनों से उत्पन्न एकीकृत संघटनात्मक व्यवस्था है जो मानस के धरातल पर अंकित होती जाती है। यह अपनी पुनरावृत्ति को और व्यवस्थित सरलीकरण द्वारा अभिव्यक्त करती है। इस व्यवस्था में सापेक्ष दृष्टि से प्रोटीन की आणविक शृंखला का स्थायी पर विकसित सामंजस्य होता है। यह विकास स्पन्दन की विशिष्ट दिशा की दृष्टि से व्यवस्थित रहता है, इसीलिये छोटे और अपर्याप्त उत्प्रेरक द्वारा भी गतिशील हो उठता है। अभी तक यथार्थ में स्नायु-संस्थानीय प्रोटीन की आणविक संघटना के विषय में पूर्ण जानकारी नहीं मिल सकी है।

सहज ज्ञान :—

यह हमारे अचेतन निर्माणात्मक विचार द्वारा पूर्णरूपेण स्पष्ट किया हुआ और अभिनव एकीकृत परिष्करण से प्राप्त अवधान की दिशा है। इसे हम नये एकीकृत परिष्करण का ऐसा संक्षोभ कह सकते हैं, जो क्रियात्मक विचार के सतत बने रहने वाले चक्रिल स्वरूप का अभिघटक होता है। मस्तिष्क दो प्रकार के संग्राहक स्वरूपों का केन्द्रबिन्दु होता है। (१) वाह्य-संग्राहक (Exteroceptor) और (२) आन्तरिक-संग्राहक (Proprioceptor)। वाह्य-संग्राहक वाह्य इन्द्रियों से प्रेरणा ग्रहण करते हैं और आन्तरिक संग्राहक अन्तः अवयवों से। एक तीसरा अन्तः संग्राहक भी होता है जो चेतन अवधान से संबंधित मस्तिष्क के वाह्यक तक अचेतन के ऐसे निर्माणात्मक तत्त्वों को ले आता है जो अन्यत्र क्रियाशील हैं। सहज ज्ञान इसी अन्तः संग्राहक की क्रिया का परिणाम है।

उपर्युक्त विवेचन में 'ह्वाइट' ने सृजक कल्पना का जो जीव वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है, वह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। **इसमें उन्होंने प्रज्ञा और सहज ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट किया है जो लम्बे अरसे से विवाद का विषय बना हुआ था। उन्होंने चेतन और अचेतन दोनों स्वरूपों को कला से संबद्ध किया है, और उन्हें आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली में निरूपित करने की कोशिश की है। वैसे कला के सामंजस्य संबन्धी कई सिद्धान्तों को अब तक अव-**

तारणा हो चुकी है, फिर भी उन्होंने सर्वप्रथम मस्तिष्क के परिष्करण, एकीकरण और सरलीकरण पर प्रकाश डाल कर इसे सही दिशा प्रदान की है। प्रकृति और मस्तिष्क के क्रिया-कलाप के सादृश्य की बात उनकी दृष्टि की मौलिकता का ज्वलन्त प्रमाण है। अपनी मान्यता के प्रतिपादन के लिए उन्होंने चेखब का उद्धरण भी प्रस्तुत किया है।[1] इस विवेचन से मानवजाति और इस के सांस्कृतिक उत्थान में कल्पना किस प्रकार सहायक होती है, यह बात भी पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। लेखक की धारणा है कि मनुष्य को अपने जीवन के लिए उपयुक्त पथ-निर्देशक प्रतीकों की आवश्यकता होती है। ये प्रतीक उसके जीवन-क्रम के अनुकूल होते हैं। चूँकि जीवन का क्रम बदलता रहता है अतएव इन प्रतीकों का बदलना भी आवश्यक हो जाता है। ये बदलते ही नहीं अपितु अपने को नवीन जीवन के अनुरूप ढाल भी लेते हैं। इस प्रकार मनुष्य निरन्तर ऐसे प्रतीकों की खोज में रत रहता है जो उसके जीवन क्रम को अभिव्यक्त कर सकें। इस प्रयत्न में विधायक-कल्पना उसकी मार्ग-दर्शक सिद्ध होती है।

कल्पना पर अधिकांश लालित्यबोधीय विचारकों ने अपना मत प्रकट किया है। यह विवेचन किसी न किसी मान्य परिपाटी पर अग्रसर हुआ है। कल्पना के सन्दर्भ में कई प्रकार की मान्यतायें प्रस्तुत की गई हैं। कुछ लोगों के अनुसार यह अकेले या अनुषंग के साथ प्रत्यक्ष बिंबों को उत्पन्न करती है तो कुछ के अनुसार यह बिंबों के माध्यम से एक ओर तो उपादानों और चरित्रों की संघटना को पैदा करती है और दूसरी ओर ख्याली दुनियाँ का सृजन करती है। कुछ अन्य विचारकों ने इसे चरित्रों एवं परिस्थितियों में सहानुभूतिपूर्ण प्रक्षेपण की संज्ञा दी है और अमूर्त भावना वाले प्रतीकों का जनक कहा है तो कुछ अन्य लोगों ने इसे रहस्यवादी सहज ज्ञान के सदृश ऐसी अन्तर्शक्ति माना है जो सृजन में सहायक होती है। **आज कल्पना सृजक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है और इसे मन की सर्जनात्मक क्रियाशीलता का परिचायक माना जाने लगा है। इसके सही स्वरूप को 'दर्पण' और 'दीप' के द्वारा समझा जा सकता है। मस्तिष्क की क्रिया पर विचार करते हुए वाह्य-संग्राहक और आन्तरिक-संग्राहक का उल्लेख किया गया है। 'दर्पण' और 'दीप' भी मन**

1. I thought... .....that an artist's instinct may some times be worth the brain of a scientist, that both have the same purpose and same nature, and that perhaps in time as their methods become perfect, they are destined to become one vast prodigious force, which it is now difficult to imagine.

के दो विरोधी रूपकों को प्रस्तुत करते हैं, एक बाह्य वस्तुओं को प्रतिबिंबित करता है और दूसरा दिव्य प्रक्षेपक के रूप में प्रस्तुत रहता है और जिन वस्तुओं को देखता है, उन्हें दीप्तिमय बना देता है। 'दर्पण' अठारहवीं शताब्दी तक की विचारधारा का परिचायक है और 'दीप' इसके बाद की विचारधारा का। स्पष्ट है कि १८वीं शताब्दी के पूर्व मन के विविध प्रत्यक्ष बोध की व्याख्या की गई थी, पर स्वच्छन्दतावादी काल में उस अन्तर्निहित शक्ति को भी खोज निकाला गया था, जो मन के प्रत्यक्ष बोध को प्रेरित, प्ररोचित, उद्बुद्ध और अनुप्राणित करती है।

कल्पना पर विचार करने वाले आलोचकों की संख्या अधिक है। 'प्लेटो' ने कल्पना को निम्न प्रकार की आत्मा का कार्य माना है जो भ्रम उत्पन्न करता है। फिर भी वे इसकी दक्षता और क्षमता से प्रभावित हैं। उसका विचार है कि यह रहस्यमय मानोसृष्टि के लिए बुद्धि का अतिक्रमण करती है। 'अरस्तू' ने इसे उच्चशक्ति-संपन्न माना है। उनकी धारणा है कि यह विचार की रूप-रेखा तैयार करती है। 'प्लोटिनस' ने कल्पना के दो रूपों का उल्लेख किया है (१) संवेदनशील, और (२) बौद्धिक। प्रातिबोधिक क्रिया को प्रतिबोध के अन्तिम स्तर पर कल्पना की संज्ञा दी जाती है। यह कल्पना बिंब-विधायक होती है और इसमें उपादान विषयक ज्ञान के साथ ही उससे संबन्धित विचार भी निहित रहते हैं। इसे प्रातिबोधिक क्रिया का चरम विकास माना जा सकता है। बौद्धिक कल्पना और बौद्धिक प्यार में विभाज्य संयोग होता है। इस संयोग में बौद्धिक प्रेम बिंबों का निर्माण करता है और बौद्धिक कल्पना इन्हें उपयुक्त कलेवर प्रदान करती है। यह दृश्य और प्रत्यक्ष में उच्च अर्थ का संचार करती है और सत्य के ऐसे स्वरूपों का साक्षात्कार करती है जो अदृश्य और अस्पष्ट हैं। यह क्रिया आनन्द प्रदायिनी होती है। यह उपर्युक्त मान्यता कुछ समय तक चलती रही। अभ्युदय कालीन विचारकों ने अनुकरण के सिद्धान्त पर विचार करते समय उस मानसिक शक्ति पर भी विचार किया है जो अनुकरण प्रधान कृतियों के सृजन का मूल मंत्र है। इस शक्ति को कल्पना की संज्ञा दी गई थी। मध्यकालीन लोगों के लिए प्रकृति ईश्वर की पूर्णता को प्रतिच्छायित करने का प्रमुख साधन थी। अभ्युदय काल में दर्पण की यह भावना धार्मिक अर्थ-सन्दर्भ से मुक्त हुई और कलात्मक अर्थ-सन्दर्भ में प्रतिष्ठित हुई। इस काल के विचारकों की यह सामान्य धारणा बन गई कि कला सामान्य जीवन और प्रकृति के विश्वसनीय चित्रों को प्रस्तुत

करती है। मानस में ऐसी शक्ति है जो वाह्य प्रकृति के प्रतिबिंब को ग्रहण करती है। इसी शक्ति को कल्पना के नाम से अभिहित किया जाता है। यहाँ 'दर्पण' का रूपक सार्थक है जिस प्रकार दर्पण व्यक्ति का विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार मस्तिष्क भी प्रकृति का यथार्थ स्वरूप प्रतिच्छायित करता है।

'देकार्त' का कल्पना का विवेचन महत्वपूर्ण माना जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वे स्वतंत्र कल्पना को सृजन का केन्द्र-बिन्दु मानते हैं। वे इन्द्रिय-अवबोध, स्मृति, मतिभ्रम और स्वप्न तथा स्वतंत्र काव्यमय कल्पना के सन्दर्भ में इसे विवेचित और विश्लेषित करते हैं। वस्तुतः कल्पना मस्तिष्क का ऐसा अंश है जो सामान्य ज्ञान से प्रभाव ग्रहण करती रहती है। इन प्रभावों को बिंब की संज्ञा दी जाती है। अपने इस स्वरूप में कल्पना वाह्य-प्रभाव ही नहीं ग्रहण करती है अपितु उन्हें कुछ समय तक बनाये भी रखती है। इस स्थिति में मस्तिष्क अवशिष्ट प्रभावों को कल्पना का अंग बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। ऐसा करने के लिए उसे स्मृति का संबल ग्रहण करना पड़ता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है विगत प्रभावों के ऐसे अवशेष जो कल्पना में परिलक्षित होते हैं, स्मृति की संज्ञा से अभिहित किये जाते हैं। कल्पना तीन कारणों से सक्रिय रूप में क्रियाशील होती है, (१) शारीरिक (२) पाशविक वृत्ति संबंधी और (३) आत्मा संबंधी। ऐन्द्रिय बोध की स्थिति में जब कल्पना वाह्य शरीर के माध्यम से क्रियाशील होती है, तब यह सामान्य ज्ञान से निष्क्रिय रूप में प्रभावों को ग्रहण करती है। इस स्थिति में यह स्वतंत्र इच्छा से मुक्त होती है। जब यह पाशविक वृत्ति से प्ररोचित होती है, तो ऐसे चित्र प्राप्त होते हैं जो स्वप्न या मतिभ्रम के विषय होते हैं। इस धरातल तक प्राप्त होने वाली कल्पना की सृष्टि इच्छाशक्ति से रिक्त होती है। जब कल्पना स्वतंत्र इच्छा के माध्यम से आत्मा से उद्भूत होती है तो इसको विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इस स्थिति में प्राप्त होने वाला बिंब ऐन्द्रियबोध, स्मृति, मतिभ्रम और स्वप्न के धरातल पर प्राप्त होने वाले बिंब से सर्वथा भिन्न होता है। स्वतंत्र इच्छा द्वारा प्राप्त बिंब नवीन सृजन का परिचायक होता है और ऐसे स्वरूप को प्रस्तुत करता है जो सामान्य रूप से प्रत्यक्ष बोध में नहीं पाया जाता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'देकार्त' ने कविकल्पना को एक विशिष्ट प्रकार की कल्पना माना है। यह हमारे अन्दर भाव-संवेग उत्पन्न करने में समर्थ होती है। इन नवीन प्रत्ययों और बिंबों के माध्यम से आत्मा पाशविक वृत्ति को मांस पेशियों तक पहुँचाती है और शरीर

में गतिशीलता उत्पन्न करती है। यह गति नये सृजन के अनुरूप होती है और वाह्य मनोवेगों को प्ररोचित करने का प्रमुख कारण मानी जाती है। मनुष्य की यह प्रमुख विशेषता है कि वह अपने विचारों को समन्वित कर के उन्हें सुव्यवस्थित रूप में अभिव्यक्त करता है। देकार्त ने स्वतंत्र कल्पना की क्रिया पर भी विचार किया है। उनका कहना है कि **सर्वप्रथम हमारे अन्दर किसी अदृश्य स्वरूप को कल्पित करने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न होती है। यह अभिलाषा आत्मा की प्रमुख ग्रंथि को प्रभावित कर के इस प्रकार क्रियाशील बनाती है कि पाशविक चेतना मस्तिष्क के छिद्रों की ओर उन्मुख होने लगती है। ये छिद्र इसके दबाव से खुल जाते हैं और जिस वस्तु की हम कल्पना करना चाहते हैं, वह स्पष्ट रूप से मूर्त स्वरूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत हो जाती है।** वस्तुतः 'देकार्त' का यह विवेचन पर्याप्त वैज्ञानिक है। उसमें आधुनिक वैज्ञानिक निष्पत्ति का पूर्ण समावेश नहीं हो पाया है, फिर भी इसके कुछ ऐसे सूत्र संग्रथित हैं जो भविष्य-विवेचन के लिए आधार स्तंभ सिद्ध होते हैं।

कल्पना-सम्बन्धी लालित्यबोधीय विचार का दर्शन हमें बर्तानियाँ के विचारकों में भी उपलब्ध होते हैं। इस दृष्टि से **'बेकन'** की मान्यतायें महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने मस्तिष्क को तीन भागों में विभक्त कर के इसके तीन प्रमुख कार्यों का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि **कल्पना का सम्बन्ध कविता से होता है, स्मृति का इतिहास से और बुद्धि का दर्शन से।** अनुभववादी विचारक होने के कारण ये पहले कल्पना को स्मृति और प्रज्ञा का पर्याय मानते नजर आते हैं, पर बाद में उनकी यह धारणा बदली है, और वे इसे स्मृति और प्रज्ञा के बीच सन्देशवाहक का कार्य संपादित करने का प्रमुख साधन सिद्ध किये हैं। इनका कहना है कि **कल्पना प्रकृति को बदलती है। यह स्वेच्छया ऐसे तथ्यों को संश्लेषित कर देती है जो प्रकृति में विश्लेषित अवस्था में विद्यमान** रहते हैं। इस विशेषता के कारण यह उपादानों को इस रूप में उपस्थित करती है, जिस रूप में वे अन्य किसी माध्यम द्वारा प्रस्तुत नहीं किये जा सकते।

'बेकन' के बाद भौतिकवादी दार्शनिक **'हॉब्स'** ने इस चिन्तन को आगे बढ़ाया है। वे पदार्थ और गति को यथार्थ मानते हैं और अपना सारा विवेचन इसी पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करते हैं। उनकी मान्यता है कि **"संवेदन वाह्य संघातो से प्राप्त गति है और सवेदनों से उत्पन्न होने वाला बिंब वाह्य गति या उलटे दबाव का परिणाम। स्मृति केवल अवशिष्ट गतियों का कुबेरालय मानी जा**

सकती है ।" काव्य-कल्पना के विवेचन में उन्होंने अपने मशीनी दृष्टिकोण को परिमार्जित और परिष्कृत किया है । यहाँ उनकी धारणा एक नये कलेवर में प्रस्तुत हुई है । उनका कहना है कि "इस प्रकार की कल्पना साधन और साध्य को हृदयंगम करने में समर्थ है । यह सम्बन्ध-स्थापक होती है और उपादानों में ऐसे सम्बन्ध ढूँढ़ निकालने में समर्थ है जो इसके अभाव में अज्ञात पड़े रहते हैं । हर प्रकार के उपमा और रूपक इसी की सृष्टि होते हैं और यह कलाकार को ऐसी शक्ति से अलंकृत कर देती है कि वह अपने सृजन की सामग्री को व्यवस्थित रूप दे सके । 'हाब्स' ने स्पष्ट शब्दों में इस तथ्य को प्रतिपादित किया है कि सृजन के लिए विधायक कल्पना और निर्णय दोनों की आवश्यकता होती है, पर विधायक कल्पना निर्णय से अधिक सहायक सिद्ध होती है, क्योंकि काव्य का औदात्य इसी पर निर्भर रहता है । कल्पना में बुद्धि और विवेक का समावेश भी पाया जाता है और इसी के माध्यम से यह सृजन को सुव्यवस्थित और सुनियोजित रूप में प्रस्तुत करती है । 'हाब्स' ने प्रतिभा को कल्पना से प्रशस्त पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित किया है । उनके अनुसार इसमें कल्पना में निहित सादृश्य की गवेषणा के साथ ही निर्णय में निहित असादृश्य का तत्त्व भी पाया जाता है । इस प्रकार यह मानस की संपूर्ण क्रियाओं की परिचायक होती है ।

'एडसिन' के कल्पना सम्बन्धी विचार 'हॉब्स' और 'लॉक' से प्रभावित हैं, फिर भी वे उन्हें अपनी दृष्टि से प्रस्तुत करने में पूर्ण समर्थ हैं । वे स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख करते हैं कि कल्पना मस्तिष्क की ऐसी अवस्था है जो चक्षुरेन्द्रिय के माध्यम से वाह्य प्रभाव ग्रहण करता है । मानव-मस्तिष्क इस इन्द्रिय से प्राप्त बिंब को विविध रूपों में परिवर्तित, संश्लेषित, और संघटित करता रहता है । इस प्रकार सृजन-कल्पना केवल मौलिक बिंबों की निर्माणक ही नहीं होती अपितु उन्हें प्राप्त करने का प्रमुख स्रोत भी होती है । जब किसी भी प्रकार की मानसिक निर्मिति कल्पना में प्रतिच्छायित होती है तो कल्पना जनित आनन्द की उपलब्धि होती है । कल्पना एक शक्ति है और इसका सम्बन्ध अनुभूति से होता है । ऐसा देखने में आता है कि कभी-कभी कोई पूर्व दृश्य या श्रुत स्वरूप हमारी स्मृति के धरातल पर कौंध जाता है और यह हमारे मानस में पड़े हुए सुषुप्त भावों को झंकृत कर के श्रृंखलाबद्ध कर देता है । इसके परिणाम स्वरूप बिंबों का एक समूह चेतना के समक्ष प्रस्तुत हो जाता है । इसकी एक निश्चित क्रिया होती है । किसी दृश्य से उद्बुद्ध चित्र मानस में एक दूसरे के बहुत निकट

स्थित रहते हैं। इनसे सम्बद्ध कोई भी विचार जब मस्तिष्क में आता है तो उनसे संबंधित पक्ष प्ररोचित हो उठता है। यह प्ररोचन तीव्र और घनीभूत होता है। जिस प्रकार जल का तीव्र वेग आसन्न क्षुद्र वेगों को अपने में मिला कर प्रवाह का स्वरूप निर्धारित करता है, उसी प्रकार यह घनीभूत प्ररोचना अपने चतुर्दिक बिखरे प्रभावों को अपने में मिला लेती है इसके परिणामस्वरूप विचारों के नये प्रवाह को उत्पन्न कर देती है। इसी प्रकार की क्रिया की पुनरावृत्ति उस समय तक चलती रहती है जब तक समग्र चित्र हमारी कल्पना के समक्ष प्रस्तुत नहीं हो जाता। कल्पना की शक्ति विविध रूपों में क्रियाशील पाई जाती है। यह वाह्य स्रोतों से सजीव प्रभाव को ग्रहण कर के उसे अधिक समय तक बनाये रखती है और पुनः उसे इस रूप में संघटित करती है कि वह पहले की अपेक्षा अधिक मोहक और आकर्षक बन जाय। अगर हम 'एडसिन' के उपर्युक्त विवेचन पर दृष्टिपात करें तो हमारे समक्ष कल्पना के दो स्वरूप उपस्थित होते हैं, (१) चक्षुरेन्द्रिय वाह्य उपादानों से प्रभाव ग्रहण कर के उसे मानस में सँजोये रखती है और (२) पुनः वह प्रभाव कलाकृति के रूप में परिणित होकर आनन्द प्रदाता बन जाता है। इसे एक भिन्न शब्दावली में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। 'एडिसन' सर्वप्रथम दृश्य प्रकृति से प्राप्त होने वाले अवबोध की चर्चा करते हैं और पुनः इसके मानसिक निरूपण का उल्लेख। प्रथम का सम्बन्ध मौलिक कल्पना से होता है और द्वितीय का गौण कल्पना से। इनकी मान्यता है कि कल्पना जनित आनन्द इन्द्रिय और प्रज्ञा से प्राप्त होने वाले आनन्द से भिन्न होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रथम कोटि का आनन्द ऐन्द्रिय और दूषित होता है और दूसरी कोटि का आनन्द सूक्ष्म और कष्टप्रद। कल्पना से प्राप्त होने वाला आनन्द उच्च और आन्द विभोर बना देने वाला आनन्द होता है। इसे उपलब्ध करने के लिए मानसिक क्रियाओं के सामान्य प्रयोग की आवश्यकता होती है। इसके कई स्रोत होते हैं, जिनमें महानता, नवीनता और सौंदर्य को प्रमुख माना जाता है। यह केवल विषयिगत नहीं माना जा सकता। इसका प्रमुख कारण यह है कि इसे उपलब्ध करने की क्रिया में वाह्य उपादानों का सहयोग भी अपेक्षित है। 'एडिसन' ने कल्पना और ललित कल्पना के विभेद को स्वीकार नहीं किया है। वे इस उलझन में फंसना भी अनुपयुक्त समझते हैं कि वस्तुओं के परिकल्पित करने की क्रिया में आत्मा का विशेष सहयोग होता है या मानव मस्तिष्क की संघटना का। वे तो केवल इतना स्वीकार कर के चलने वाले विचारक हैं कि

कलाकार को कल्पना प्रवण होना आवश्यक है। वे कल्पना को प्रकृति का उपस्कारक और परिष्कारक मानते हैं।

'बर्क' ने कल्पना को सृजन शक्ति माना है। यह शक्ति **बिंबों को उत्पन्न करने की दृष्टि से स्वतंत्र** है। यह बिंबों को दो रूपों में प्रस्तुत करती है। **पहला स्वरूप** वह **है जब ये इन्द्रिय-प्रदत्त सामग्री** की संगति में उत्पन्न किये **जाते हैं और दूसरा स्वरूप** वह **है जब वे स्वतंत्र रूप में** उत्पन्न किये जाते हैं। 'बर्क' की **धारणा है कि कल्पना बिलकुल नया सृजन नहीं प्रस्तुत करती है।** यह तो भौतिक या ऐन्द्रिय स्वरूपों से प्राप्त होने वाली सामग्री में सामान्य हेर-फेर कर देती है जिससे वे नवीन ज्ञात होने लगती हैं। कल्पना प्रसूत बिंब भी तरह-तरह के भाव-संवेगों को उत्पन्न करने में सक्षम है। इन भाव-संवेगों और प्रकृति के उपादानों द्वारा उत्पन्न भाव-संवेगों में साम्य होता है।

अंग्रेज विचारकों के अतिरिक्त इस विषय पर जर्मन विचारकों ने भी अपना मत प्रकट किया है। इस दृष्टि से 'काण्ट' विशेष महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। "क्रिटिक ऑव प्योर रीजन' में कल्पना से सम्बन्धित विचार प्रस्तुत किये गये हैं। उनके शब्दों में **यह आत्मा की मत्त तथा हत ज्ञान पर परमावश्यक क्रिया है, जो अप्रस्तुत उपादानों को अवबोध के समक्ष प्रस्तुत करती है।**[1] उन्होंने कल्पना को दो प्रकार का माना है, (१) **उत्पादक** (productive) **और (२) पुनरुत्पादक** (Reproductive)। उत्पादक कल्पना स्वतःस्फुरित आत्मनिर्णय की क्रिया है। यह चिन्तन के अमूर्त स्वरूप को मूर्त स्वरूप प्रदान करती है। पुनरुत्पादक कल्पना अनुभव सिद्ध अवबोध को बिंबों के रूप में परिणित करती है। यह संश्लेषण पूर्ण होती है। इसका संश्लेषण भी अनुभव सिद्ध नियमों का मुखापेक्षी होता है। इसे अनुषंग की संज्ञा दी जाती है। ये दोनों प्रकार की कल्पनायें स्वतंत्र नहीं होतीं। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रथम प्रज्ञा के नियमों की मुखापेक्षी होती है और द्वितीय आनुभविक नियमों की। **इसीलिये उन्होंने एक तीसरी कल्पना के कोटि का उल्लेख** किया है, जिसे **लालित्यबोधीय कल्पना** कहा जाता है। यह कल्पना **प्रज्ञा और अनुषंग के नियमों से पूर्ण स्वतंत्र होती है।** यह उत्पादक **होने के साथ** ही **स्वतःस्फूर्त होती है।** 'क्रिटिक ऑव जजमेण्ट' में 'काण्ट' ने अभिरुचि **और** प्रतिभा का उल्लेख किया है।

---

1. The blind but indispensably function of the soul. "The faculty of presenting in intention an object, that is not itself present."

अभिरुचि निर्णय की ऐसी क्रिया है जो कल्पना की स्वतंत्र नियमबद्धता के सन्दर्भ में उपादान को विश्लेषित करती है। प्रतिभा स्वतंत्र कल्पना के ऐसे पक्ष को निरूपित करती है जो सर्वतोभावेन विचारपूर्ण होता है। 'काण्ट' ने कल्पना को इन दोनों के सन्दर्भ में विवेचित किया है। वे कल्पना को उत्पादक प्रतिभा का एक रूप मानते हैं। यह इतनी सशक्त होती है कि प्रकृति के उपस्थित स्वरूपों के माध्यम से एक दूसरे प्रकृत स्वरूप को उत्पन्न कर लेती है। यह अनुषंग के नियम से पूर्ण स्वतंत्र होती है, अतएव अपनी इच्छानुसार ऐसे स्वरूपों को प्रस्तुत कर सकती है जो प्राकृतिक स्वरूपों से उत्कृष्ट होते हैं।

वैसे कल्पना पर विचार करने वाले लोगों की लिस्ट बड़ी लम्बी है, अतएव हम केवल 'कोलरीज' और 'रिचर्ड्स' की सामान्य चर्चा के साथ इस विवेचन को समाप्त करेंगे। सर्वप्रथम हम 'कोलरिज' पर विचार करते हैं। गंभीरतापूर्वक विचार करने से एक बात प्रायः स्पष्ट हो जाती है कि उनके विवेचन में पूर्ववर्ती विचारकों की मान्यता का समावेश तो था ही, पर उनकी इस क्रिया पर सोचने और इसे प्रस्तुत करने की अपनी दृष्टि भी थी। 'वर्ड्सवर्थ' के साथ अपने कल्पना सम्बन्धी मत की भिन्नता का उल्लेख करते हुए उन्होने कहा भी था, "उनका दृष्टिकोण कल्पना और ललित कल्पना के उस प्रभाव को चित्रित करना था जो कविता से प्राप्त होता है, पर मेरा उद्देष्य काल्पनिक चिन्तन में निहित मौलिक चिन्तन की गवेषणा करना है।" उन्होंने वर्ड्सवर्थ के साथ संपर्क बढ़ने पर अपने मौलिक विचारों को प्रस्तुत किया था। उनका कल्पना और ललित कल्पना का आरंभिक विवेचन आध्यात्मिक सिद्धान्तों से मुक्त होकर अनुभूति-प्रसूत-व्यावहारिक-चिन्तन और कविता तथा प्रकृति संबंधी विचारों से प्रभावित था। इसी समय वे कुछ सर्वातिशायी विचारों के संपर्क में आये, अतएव बाद में उनका सिद्धान्त इस मान्यता से बुरी तरह रंग उठा। 'कोलरिज' की यह धारणा थी कि हृदय की किसी अन्तर्निहित शक्ति के कारण ही काव्य मात्र विचारों का संग्रह न होकर एक अविस्मरणीय अखण्डता का परिचायक बन जाता है। इसी विशेषता की उपस्थिति से उसमें, संगति, सामंजस्य और प्रभावित करने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। प्रकृति के सुन्दर और स्थायी तत्त्वों को निरूपित करने वाली इस काव्य-शक्ति को 'शेपिंग स्पिरिट ऑव इमैजिनेशन', 'ए यूनिफाइंग क्रिएटिव फैकलटी', 'द ब्युटीफुल एण्ड ब्युटी मेकिंग पावर' आदि नामों से सूचित किया

जाता है। कुछ प्रमुख शब्दों के निहितार्थ को हम निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

१—Co-Edunating Power—इसका प्रयोग ऐसी शक्ति के लिए किया जाता है, जो वस्तुओं को पिघला कर संयुक्त कर दे। कवि प्रतिभा वस्तुओं का एकीकरण करती है, जब कि ललित कल्पना उन्हें इस रूप में एकत्रित कर देती है, जिसमें तारतम्य तो होता है, पर रूप परिवर्तन नहीं।

२—Esemplastic Power—ऐसी शक्ति को कहते हैं, जो वस्तुओं को अपने दबाव से मोड़ कर इच्छित स्वरूप प्रदान करती है। कल्पना इस कार्य को कौशल के साथ संपादित करती है, अतएव उसे इस नाम से अभिहित करना उचित है।

'कोलरिज' की कुछ निजी मान्यतायें थीं। उनका कहना था कि **उपादान विशेष में निहित औदात्य दर्शक की अवबोध क्षमता का मुखापेक्षी होता है। इसी अवबोध क्षमता को आत्मा की अन्तर्निहित शक्ति माना जाता है और इसे 'एसेम्लास्टिक इमैजिनेशन' की संज्ञा दी जाती है। 'ऐसेम्लास्टिक' शब्द जर्मन भाषा के 'इन-एन्स बिल्डुंग' (In-Eins bldung) शब्द से निष्पन्न हुआ है। इसी जर्मन शब्द से अंग्रेज़ी शब्द 'टु शेप इन्टूवन' भी बना है। हिन्दी में इसके लिये विधायक कल्पना का प्रयोग होता है। 'कोलरिज' स्पष्ट रूप से इस बात के हिमायती थे कि, जिस सत्य की कवि को अपेक्षा होती है, वह न तो केवल कवि के मस्तिष्क में पाया जाता है और न केवल उपादान में। वह तो इन दोनों के तादात्म्य में मिलता है। इस तादात्म्य को स्थिति में विषयगत और विषयिगत तुल्यार्थता में परिणित हो जाते हैं और द्रष्टा तथा दृश्य का भेद मिट जाता है।** इस बात का संकेत किया जा चुका है कि 'कोलरिज' पर जर्मन दार्शनिकों का प्रभाव पड़ा था। शेलिंग के आत्मवादी और समन्वयवादी दर्शन से उसके चिन्तन में चेतन तथा अवचेतन मन में सामंजस्य उत्पन्न करने की धारणा और दृढ़ हुई थी। इसी आधार पर उन्हें इस बात का ज्ञान भी हुआ था कि सभी प्रकार का ज्ञान विषयि और विषय के तादात्म्य का मुखापेक्षी होता है। **जो मात्र विषय-**

गत है उसे प्रकृति की संज्ञा दी जाती है और जो मात्र विषयिगत है उसे आत्म-विचक्षणता के नाम से अभिहित किया जाता है। 'कोलरिज' के समक्ष 'काण्ट' का प्रज्ञावाद और 'हीगेल' का द्वन्द्ववाद भी उपस्थित था। सारांश यह कि उनके कल्पना सिद्धान्त में निम्नांकित सूत्र किसी न किसी रूप में संगुम्फित थे—

(१) सत्य ज्ञाता और ज्ञेय की भावना का मुखापेक्षी होता है।

(२) ये सत्य मौलिक नहीं होते। इन्हें अन्य सत्यों के अनुषंग के आधार पर प्राप्त किया जा सकता है।

(३) उनकी दृष्टि परम या अन्तिम सत्य की ओर भी गई थी। यह सत्य आत्मज्ञान पर आधारित होता है, अतएव इसे सरलता से जाना जा सकता है।

(४) यह न तो केवल विषयगत होता है और न केवल विषयिगत, अपितु इन दोनों का समन्वय होता है।

(५) यह समन्वय विशिष्टता से मण्डित होता है।

(६) इसी संगति या समन्वय को 'कोलरिज' ने 'सेल्फ' या मैं हूँ, (I am) की संज्ञा दी है।

(७) यह न तो ससीम होता है और न असीम।

(८) यह सक्रिय होने में सक्षम है।

(९) अन्तर्विरोध के सामंजस्य में ही जीवन के रहस्य के स्रोत निहित पाये जाते है।

(१०) अन्तर्विरोध के शमन के पश्चात् ही व्यक्ति में उच्च भावना का अभ्युदय होता है।

इन विचारों के सन्दर्भ में उनकी कल्पना संबन्धी अवधारणा को सरलता से समझा जा सकता है। 'कोलरिज' ने इसकी विशिष्टता पर विचार करते हुए लिखा है, **"मैं कल्पना को या तो मौलिक कल्पना मानता हूँ या उत्तरजात। मौलिक कल्पना मानव अवबोध का प्रमुख माध्यम और शक्ति है। इसे अनंत में निरन्तर गतिशील 'मैं हूँ' की ससीम मस्तिष्क में पुनरावृत्ति भी माना जाता है। उतरजात कल्पना मौलिक कल्पना की ही प्रतिध्वनि और सचेतन इच्छा की सहगामी होती है। कार्य की दृष्टि से तो यह उसके सदृश होती है, पर सक्रियता और परिणाम की दृष्टि से उससे भिन्न मानी जाती है। यह विघटन, प्रसरण और विकीर्णन के आधार पर पुनर्सृजन की ओर उन्मुख होती है। जहाँ यह क्रिया पूर्ण सम्भव नहीं होती, वहाँ भी हर सम्भव स्थिति में यह मूर्तीकरण और संगति के लिए प्रयत्नशील रहती है।"** इन्होंने ललित कल्पना की व्याख्या

करते हुए कहा है कि "इसका प्रमुख उपजीव्य स्थायित्व और सुनिश्चितता है। यह मूलतः देश काल के नियम से मुक्त स्मृति की एक वृत्ति है।"

उपर्युक्त उद्धरण में कुछ शब्द आये हैं जिन्हें समझ लेना आवश्यक है। हम सर्वप्रथम मौलिक कल्पना को लेते हैं। ऐसा माना जाता है कि ईश्वर अपनी इच्छाशक्ति से सृष्टि का निर्माण करता है और तत्त्वों की अराजकता में व्यवस्था उत्पन्न कर के इसे स्थायी बनाता है। मनुष्य भी कल्पना-शक्ति द्वारा निर्माण का कार्य संपादित करता है। ईश्वर और मानव की चेतना से प्रसूत कार्य में न केवल समानता होती है अपितु सहयोगिता भी पाई जाती है। इसीलिये 'कोलरिज' ने 'सीमित मानव-चेतना के अन्तर्गत दैवी शक्ति के निर्माण के क्रिया की पुनरावृत्ति' द्वारा इसे सूचित किया है। मौलिक कल्पना वस्तुतः दृश्य जगत की व्यवस्थित और सार्थक अवगति का मूल आधार होती है। यही चेतना, बुद्धि, प्रज्ञा और जड़ जगत में समन्वय की प्रतीति कराने का प्रमुख साधन भी मानी जाती है।

मौलिक कल्पना के बाद उत्तरजात कल्पना पर भी विचार कर लेना चाहिए। यह कल्पना मौलिक कल्पना से ही पैदा होती है, अतएव इसे उसकी प्रतिध्वनि माना गया है। पर इन दोनों में सामान्य अन्तर भी होता है। उत्तरजात कल्पना मानव इच्छा से परिचालित होती है और दृश्य जगत के पदार्थों के बाह्य आवरण को भेद कर इसमें निहित सत्य को परंपरित रूप में अपने नव-निर्माण का विषय बनाती है। मानव-जीवन की यांत्रिक गतिविधि से जूझने वाला व्यक्ति बाह्य संसृति के उपादानों के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण अपना लेता है जो असुन्दरता और अलालित्यबोधीय क्रियाओं का जनक होता है। उत्तरजात कल्पना इस पर कुठाराघात कर के इसके अन्तराल में निहित अभिनव सत्य को अपने निर्माण का विषय बनाती है। इसी कारण कला सृजन और उसके उपादानों में चारुत्व की प्रतीति होती है। इस कल्पना में सृजन क्षमता अधिक होती है। इसी के बल पर यह मौलिक कल्पना द्वारा प्रस्तुत अवबोधों को मूर्त स्वरूप प्रदान करती है। प्रकृति कवि के आध्यात्मिक जीवन की प्रतीक होती है, अतएव यह अद्वैत की परिचायक और उत्कृष्ट जीवन का सार मानी जाती है।

कल्पना के सन्दर्भ में परवर्ती विचारकों ने अनुभूति और परिवेश की व्याख्या को अधिक महत्त्व दिया है। 'आइ० ए० रिचर्ड्स' की तो स्पष्ट मान्यता है कि अनुभूति के सन्दर्भ में कल्पना का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। यह सिद्धान्त आज विशेष रूप से मान्य हो गया है। 'रिचर्ड्स' महोदय ने

कल्पना पर विचार करते समय निम्नांकित छः बातों का अपना विवेच्य बनाया है।

(१) स्पष्ट बिंब सृजन।

(२) आलंकारिक भाषा और रूपक का प्रयोग।

(३) नवोन्मेष अथवा नूतन आविष्कार।

(४) दूसरों की मानसिक स्थितियों का सहानुभूतिपूर्ण पुनर्सृजन।

(५) असंबद्ध समझी जाने वाली वस्तुओं का सप्रसंग संयोजन।

(६) परस्पर विरोधी गुणों का समंजन और संतुलन।

इन्होंने 'कोलरिज' के कल्पना सिद्धान्त की चर्चा तो की है, पर कतिपय अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की ओर इनकी दृष्टि नहीं गई है। इन्होंने इस प्रश्न को प्रायः छोड़ दिया है कि कल्पना क्या है, और इसका प्रभाव कैसे पड़ता है। इनके विवेचन में कल्पना के स्थान पर 'फीलिंग', 'इमोशन' और 'एटिच्यूड' की चर्चा तो मिलती है पर मूल प्रश्न तिरोहित हो जाता है। इन्होंने प्रवृत्ति और अनुभूति के आधार पर उठने वाली मानस अनुभूति को महत्त्व तो दिया है, पर यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना रह गया है कि उपादानों के कारण उद्बुद्ध होने वाले पूर्ववर्ती ज्ञान और सृजन के समय के परवर्ती ज्ञान में क्या सम्बन्ध होता है? क्या ये एक दूसरे के पूरक नहीं होते।

कल्पना के विवेचन के समय अधिकांश लोगों ने **विधायक कल्पना और ललित कल्पना के विभेद को निरूपित करने का प्रयत्न किया है।** 'कोलरिज' ने ही सर्वप्रथम ललित कल्पना को यथार्थ रूप में विश्लेषित किया है। पर इनके पूर्व भी यह एक प्रबल पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित रही है। 'काण्ट' ने इसे आलंकारिक संश्लेषण की संज्ञा दी थी। इतालियन विचारक इसके लिये Imaginazzione शब्द का। व्यवहार करते थे और कल्पना के लिए Phantasia शब्द का 'प्लेटो' ने 'फण्टासिया' को निम्न प्रकार की वृत्ति माना था और इसे भ्रम-सृजन का मूल-केन्द्र-बिन्दु कहा था। 'अरस्तू' ने इसे संवेदन, स्मृति, सम्मति और बुद्धि का उपस्कारक कहा था और चिन्तन को मूर्तिमान करने के प्रमुख साधन की संज्ञा दी थी। 'लौंजिनस' और 'क्विण्टिलियन' ने इसका संबंध मनोवेग और मनोविकार से स्थापित किया था। मध्यकाल में Phantasia और Imaginatio शब्द का प्रयोग अधिक मिलता है और पहले को उत्पादक और संयोजक और दूसरे को पुनरुत्पादक कहा जाता है। स्वच्छन्दतावादी अभ्युत्थान के समय 'कोलरिज' ने इसे सर्वप्रथम सही अर्थ-

सन्दर्भ में प्रतिष्ठित किया है और इसकी नकारात्मक क्षमता को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि ललित कल्पना तर्क निरपेक्ष भाव से कलाकार को कुछ समय तक अनिश्चित, अस्पष्ट और रहस्यमय स्वरूपों से संबंध स्थापित करने में समक्ष बनाती है। कुछ ऐसे पदार्थ भी देखने को मिलते हैं जिनमें रूप साम्य और धर्मसाम्य की दृष्टि से कम से कम समानता होती है। ललित कल्पना इन्हीं परस्पर विरोधी वस्तुओं को संयोजित करने का कार्य संपादित करती है। इसीलिये इसे असंबद्ध उपादानों का सम्मिलन भी कहा गया है। इसमें चुनाव और इच्छाशक्ति की प्रधानता होती है। कल्पना, ललित कल्पना से अपनी निम्नलिखित विशेषताओं के कारण भिन्न मानी जाती है।

(१) इसमें एक ही बिंब की प्रधानता होती है और वही अन्य बिंबों की सृष्टि करता है।

(२) स्मृति के कारण वस्तुबोध विद्यमान पाया जाता है।

(३) इसके बिंब फैंसी द्वारा नियोजित बिंबों की तरह 'डायग्राम' नहीं होते।

(४) इसमें 'क्षणं स्वरूप स्पर्शोतथा' की बात चरितार्थ होती है।

कल्पना के बिंब स्वतःस्फुरित और स्वतःप्रेरित होते हैं, और इनका एक विशिष्ट पक्ष भी होता है, पर ललित कल्पना द्वारा निर्मित बिंब, स्थिर, चाकचक्यपूर्ण और कुतूहल वर्द्धक होते हैं। कल्पना में भावना और स्मृति का संयोग होता है पर, ललित कल्पना में इनका या तो अभाव होता है, या ये निर्बल होते हैं। इनमें रंजकता का गुण पाया जाता है औदात्य का नहीं। इनके चित्र प्रायः अस्थिर होते हैं। कल्पना में बोध के अतिरिक्त प्रतिबोध भी रहता है, पर फैंसी में केवल बोध पाया जाता है। 'कोलरिज' ने फैंसी को अनुषंग पर आधारित स्मृति का रूप माना है जो देशकाल-नियंत्रण निरपेक्ष भाव से इच्छा शक्ति और संवरण की भावना से उद्‌बोधित और प्ररोचित होती है। इसमें खण्डदृष्टि या वैयक्तिक रुचि का प्राधान्य होता है। इसी आधार पर यह असदृश और असमान बिंबों को संयोजित करती है। इसका संयोजन संग्रह-प्रधान होता है, कल्पना की तरह संश्लेषण प्रधान नहीं। इसमें स्मृति के उपादानों का वैविध्य विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

'लोहण्ट' के अनुसार विधायक कल्पना का संबंध दुखान्त नाटक से होता है और ललित कल्पना का सुखान्त नाटक से। 'सर लेस्लीस्टीफेन' के शब्दों में 'अगर हम सारांश में कल्पना और ललित कल्पना के विभेद को स्पष्ट करें,

तो कह सकते हैं कि ललित कल्पना कृत्रिम सादृश्य पर निर्भर रहती है, पर कल्पना अन्तर्निहित सत्य के गहन स्वरूप पर।" 'हरबर्ट रीड' ने इनके विभेद के निरूपण के लिए मनोविज्ञान का संबल ग्रहण किया है। उनका कहना है, "ललित कल्पना बहिर्मुखी अनुभूति है और विधायक कल्पना अन्तर्मुखी अनुभूति। अगर अनुभूति के बहिर्मुखी अनुगमन की स्थिति में मानस चिन्तनशील होता है तो ललित कल्पना प्राप्त होती है। जब अनुभूति अन्तर्मुखी होती है तो इस दशा में चिन्तन से विधायक कल्पना की उपलब्धि होती है। इस निष्पत्ति का प्रमुख आधार 'युंग' की मान्यता है। इस मानस की क्रिया को निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।[1]

	बहिर्मुख चिन्तन	अन्तर्मुख चिन्तन
चिन्तन (Thinking)	संप्रकाशन (Exposition)	वर्णनात्मकता (Narrative)
अनुभूति (Feeling)	ललित कल्पना (Fancy)	विधायक कल्पना (Imagination)
संवेदन (Sensation)	प्रभाववाद (Impressionism)	अभिव्यंजनावाद (Expressionism)
सहजज्ञान (Intuition)	वाग्मिता (Eloquence)	एकीकरण (Unity)

इस दृष्टि से 'आर० डब्ल्यू० एमर्सन' का विवेचन इनके सभी स्वरूपों पर प्रकाश डालता है। उनका कहना है, "कल्पना केन्द्रीय है और ललित कल्पना कृत्रिम, प्रथम स्वतःस्फूर्त और स्वतः प्रेरित होती है और द्वितीय संकल्पपूर्ण। कल्पना, विचार और उपादान के यथार्थ स्वरूप को प्रस्तुत करती है, पर ललित कल्पना उनके साथ ऐसे खिलवाड़ करती है जैसे बच्चे गुड़ियों के साथ खिलवाड़ करते हैं। कल्पना हमें व्यापक चित्र फलक प्रदान कर के विचार को उदात्त बनाती है, पर ललित कल्पना केवल मनोरंजन करती है। विधायक कल्पना सावयव वर्गीकरण पर आधारित होती है, पर ललित कल्पना आकस्मिक

1. Fancy is extroverted feeling, imagination introverted feeling. If in pursuit of extraversion of feeling the mind turns to speculation, the result is fancy, when the feeling is introverted, the product of speculation is imaginative.

	Extroversion	*Introversion*
Thinking	Exposition	Narrative
Feeling	Fancy	Imagination
Sensation	Impressionism	Expressionism
Intuition	Eloquence	Unity.

सादृश्य पर। यह बेकार लोगों का मनोरंजन तो कर सकती है, पर महान मनोभाव और कार्य का सुलझाव नहीं प्रस्तुत करती। विधायक कल्पना प्रेरणाप्रद होती है, पर ललित कल्पना संग्राहक, प्रथम का संबंध विषय विन्यास से होता है, पर द्वितीय का रंग से। सारांश यह कि विधायक कल्पना संम्मूर्तन से सम्बद्ध हैं और ललित कल्पना चित्रण से।"[1]

तात्पर्य यह कि कल्पना में विभिन्न उपमानों, बिंबों और प्रत्ययों का संश्लेषण रहता है, इसीलिए इसके घटक प्रायः समरस हो जाते हैं, और उनकी भिन्नता अभिन्नता में बदल जाती है। ललित कल्पना में बात कुछ भिन्न होती है। यहाँ उनका एकत्रीकरण होता है और वे अपने भिन्न अस्तित्व को कुछ हद तक बनाये रखते हैं। इसीलिये इसमें विधायक-सर्जन के स्थान पर चमत्कारपूर्ण कुतूहल को प्रश्रय मिलता है। इन विरोधों और भिन्नताओं के बावजूद एक तथ्य को हृदयंगम करना विशेष समीचीन है कि, सृजन में विधायक कल्पना और ललित कल्पना सर्वथा विरोधी तत्व नहीं हैं। यथास्थान ये एक दूसरे के पूरक और सहायक भी सिद्ध होते हैं।

भारतीय प्रतिभा और पाश्चात्य कल्पना :—

इसी अध्याय के आरंभ में हमने प्रतिभा का विवेचन किया है। इस स्थल पर हमें प्रतिभा और कल्पना के साम्य वैषम्य को निरूपित कर लेना चाहिए। 'आनंद कुमार स्वामी' ने अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक, 'दी ट्रान्स्फॉर्मेशन ऑव नेचर इन आर्ट' में कल्पना का प्रयोग 'दिङ्नाग' और 'धर्मकीर्ति' द्वारा प्रतिपादित मानस-प्रत्यक्ष के अर्थ में किया है और इसकी स्थिति संवेदना और बुद्धि की मध्यवर्ती स्थिति में माना है। पर इस कल्पना-बोध और लालित्य बोधीय कल्पना-बोध में अन्तर है।

---

1. Imagination is central, fancy superficial, fancy is wilful imagination a spontaneous act, fancy a play as with dolls and puppets, which we chose to call men and women, imagination a perception and affirming of real relation between a thought and some material fact, fancy amuses and imagination exalts us. Imagination uses an organic classification, fancy joins by accidental resemblance, surprises and amuses the ile, but is silence in presence of a great passion and action, fancy aggregates imagination animates, fancy is related to colour imagination to form, fancy paints, imagination sculptures.

'डॉ० सत्यव्रत सिंह' ने हिन्दी 'काव्य प्रकाश' में पौरस्त्य और पाश्चात्य दोनों दृष्टिकोणों से विचार किया है। उनका मत है "काव्य में रस ध्वनि के द्रष्टा आचार्यों की प्रतिभा संबंधी धारणा, अपने आप में इतनी पूर्ण है कि पाश्चात्य आलोचकों की कवि-कल्पना संबंधी दृष्टियाँ इसमें समा जाती हैं, और तब भी यही कहा जा सकता है कि यह इन सब कल्पनाओं से परे और इनका अक्षय स्रोत है।" आधुनिक विचारक डॉ० नगेन्द्र का कहना है, "संस्कृत काव्यशास्त्र में जिसे 'अभिनव गुप्त' ने कवि प्रतिभा कहा है, उसका विवेचन पाश्चात्य आलोचना शास्त्र तथा मनोविज्ञान में कल्पना के प्रसंग में किया गया है। पाश्चात्य आलोचना शास्त्र में 'कोलरिज' और इधर 'रिचर्ड्स' ने कल्पना शब्द का विशद विवेचन किया है। इनके अनुसार व्यक्त क्रियाओं को पूर्ण अनुभूतियों में मूर्तित करना कवि-कल्पना या सृजनशील कल्पना का मूल धर्म है। 'काण्ट' ने इसे उत्पादनशील कल्पना और 'क्रोचे' ने सहजानुभूति कहा है। इन दोनों शक्तियों का मूलधर्म एक है, जीवन के संपर्क से मानव-चेतना में उत्पन्न अरूप झंकृतियों को रूप देना। भारतीय आचार्यों की शब्दावली में भी प्रकारान्तर से इन्हीं तथ्यों की अभिव्यक्ति है। समाहित चित्त में शब्द और अर्थ के वास्तविक स्वरूप का प्रतिभासन सहजानुभूति ही है, जो मूलतः अभिव्यंजना से अभिन्न है। और यही अस्तव्यस्त संवेदनों का समंजन अथवा अरूप झंकृतियों को रूप देना है। समाहित चित में विशृंखलता, व्यवस्थित हो जाती है, अनेकता एकाग्र हो जाती है, इस स्थिति में विशृंखल संवेदन समन्वित हो कर मूर्तित हो उठते हैं और शब्द अर्थ का सच्चा स्वरूप प्रतिभासित हो जाता है। जिस शक्ति के द्वारा यह सब संघटित होता है, वही 'काण्ट' की सृजनशीलकल्पना है, वही 'क्रोचे' की सहजानुभूति है, और वही अभिनवगुप्त की काव्य-निर्माण क्षमा प्रतिभा है।" रमेन्द्रकुमार 'सेन' का कहना है, "अभिनवगुप्त ने अपने प्रतिभा के विवेचन में उसी बात को महत्त्व दिया है जो कलात्मक सृजन की स्वतंत्रता के रूप में 'कोलरिज' की उत्तारजात कल्पना का प्रमुख प्रतिपाद्य है।" इन उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि प्रतिभा, कल्पना और स्वयं प्रकाश ज्ञान की सादृश्य पूर्ण महनीयता की ओर लोगों की दृष्टि गई है और इसे सही दिशा में विवेचित करने का प्रयत्न भी हुआ है। यह तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से श्लाध्य है। इस संदर्भ में कुछ अन्य बातों का उल्लेख भी अपेक्षित है। प्रतिभा के विवेचन में भारतीय मनीषियों ने 'प्रतिभा नवनवोन्मेष-शालिनी प्रज्ञा मता', 'प्रतिभा अपूर्व वस्तु निर्माण क्षमा प्रज्ञा,' तथा 'प्रतिभानं-वर्णनीयवस्तु विषय नूतनोल्लेख शालित्वम्' आदि सिद्धान्त वाक्यों का प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य यह है कि, 'अपूर्व', 'नूतन', या 'नवोन्मेष शाली' पद

सर्जन के स्वरूपों से संबद्ध हैं। यह परंपरा किसी एक काल या स्थान के लेखक में नहीं अपितु बाद के विचारकों में भी विद्यमान है। 'गोचर निर्मिति' की व्याख्या के परिवेश में भी प्रमुख विवेच्य नूतनता ही है। प्रश्न उठता है, नूतन क्या है ? इसके उत्तर स्वरूप यह सरलता से कहा जा सकता है कि, नूतन वही है जो प्रत्यक्ष रूप से प्रथम बार सृजन का विषय बने, और कतिपय अन्यान्य विशेषताओं से भी अलंकृत हो। इसकी प्राप्ति के लिए कवि लोक का अतिक्रमण कर के अलोक सामान्य की ओर उन्मुख हो और प्रस्तुत प्रतीत होने वाले तत्त्व में कुछ इस प्रकार की विशेषता उत्पन्न हो जाय कि वह अपूर्व ज्ञात होने लगे। सर्जक वस्तु या यथार्थ के प्रत्यक्ष स्वरूप को अंशत: आच्छादित कर के स्वाभाविक अन्तर्निहित सौन्दर्य को प्रस्फुटित होने का सुअवसर प्रदान करे और वस्तुओं के अन्तराल में निहित सूक्ष्म पर समन्वय पूर्ण सुभग तत्व को हमारे समक्ष प्रस्तुत करे। यही प्रतिभा और कल्पना का प्रमुख कार्य-व्यापार है, और इसी दृष्टि से दोनों की तुलना भी की जानी चाहिए।

इस साम्य के साथ ही इनमें वैषम्य भी है। आलोचक प्रवर 'शुक्ल' का कहना है, "**कल्पना और व्यक्तित्व की पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में इतनी मुनादी हुई है कि काव्य के अन्य सब पक्षों से दृष्टि हट कर इन्हीं पर जा जमी है। कल्पना काव्य का बोध पक्ष है। कल्पना में आई हुई रूप-व्यापार-योजना का कवि या श्रोता को अन्त:साक्षात्कार या बोध होता है। पर इस बोध पक्ष के अतिरिक्त काव्य का भाव-पक्ष भी है। कल्पना को रूप योजना के लिए प्रेरित करने वाले और कल्पना में आई हुई वस्तुओं में श्रोता या पाठक को रमाने वाले रति, करुणा, क्रोध, उत्साह, आश्चर्य आदि भाव या मनोविकार होते हैं, इसी से भारतीय दृष्टि ने भाव को प्रधानता दी और रस के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। पर पश्चिम में कल्पना-कल्पना की पुकार में समीक्षकों का ध्यान भाव-पक्ष से हट गया और बोध-पक्ष पर भिड़ गया।**" शुक्लजी ने सर्वप्रथम इस भाव-पक्ष और बोध-पक्ष के विभेद को प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त कल्पना के संमूर्तन-विधान और नूतन-सृष्टि-विधायिनी-शक्ति में भी प्रतिभा की तुलना में नवीनता का विशेष आग्रह रहता है। इन दोनों का दार्शनिक पक्ष भी एक दूसरे से भिन्न है।

इस भिन्नता की तुलना में सादृश्य अधिक महत्वपूर्ण है। कल्पना और प्रतिभा दोनों में सामंजस्य की अद्भुत क्षमता पाई जाती है। इस प्रकार "बिंब निर्माण, आत्मेतर व्यक्तियों की मन:स्थिति के सहानुभूति पूर्ण चयन, असंबद्ध वस्तुओं के संश्लेषण, और परस्पर विरोधी वस्तुओं के समंजन" आदि क्रियाओं की दृष्टि से ये एक दूसरे के अधिक निकट हैं।

एकादश तरंग

बिंब

पिछले पृष्ठों में अनुभूति, कल्पना, प्रतिभा और प्रतीक पर विचार किया गया है। सृजन का क्रिया-पक्ष बिंब से संबंधित होता है, और बिंब का विधायक कल्पना से। कल्पना से ही प्रबुद्ध होकर बिंब का निर्माण होता है। जब यह रूढ़ हो जाता है और इसका प्रयोग निश्चित अर्थ का परिचायक बन जाता है, तो इसे प्रतीक की संज्ञा दी जाती है। यथार्थ में "बिंब, रूपक, प्रतीक और मिथक दो दिशाओं के ऐसे संश्लेषण को प्रस्तुत करते हैं जो महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। पहली दिशा है ऐन्द्रिय विशेषता या ऐन्द्रिय लालित्यबोधीय अविच्छिन्नता (sensuous particularity or sensuous and aesthetic continuum) की दिशा। यह दिशा कविता को संगीत और चित्रकला से संयुक्त करती है और दर्शन तथा विज्ञान से विमुक्त। दूसरी दिशा अलंकरण से संबन्धित होती है और यह कुछ अलंकारों के माध्यम से सादृश्य प्रस्तुत करती है, या विषय-वस्तु को सुनिश्चितता प्रदान करती है।" बिंब रचना प्रथम दिशा की परिचायक है।

बिंब का प्रयोग मनोविज्ञान और साहित्य दोनों क्षेत्रों में किया जाता है। मनोविज्ञान में इसे अदृश्य मानसिक पुनर्सृजन, स्मृति, भूत की संवेदनशील और प्रातिबोधिक अनुभूति आदि सन्दर्भों से जोड़ा जाता है। साहित्य में यह बहुचर्चित रहा है और इसका जितना विवेचन और विश्लेषण हुआ है, उस पर एक विपुल साहित्य-भाण्डार तैयार हो सकता है। मनोविज्ञान में इस पर दो दृष्टियों से विचार किया जाता है (१) वस्तुगत या ऐन्द्रिय और (२) भावगत या मानसिक। प्रथम दृष्टि का सम्बन्ध शरीर विज्ञान से है और इससे उत्पन्न बिंब को अक्षिपटीय बिंब (Retinal image) की संज्ञा दी जाती है। यह सर्वविदित सत्य है कि जब कोई वस्तु हमारी आँखों के समक्ष आती है तो, उसके पट पर अनेक प्रकार के चित्र उभड़ने लगते हैं। यह पट सूक्ष्म शिराओं द्वारा मस्तिष्क से संबद्ध होता है। अतएव चित्र को आँखों के समक्ष आते ही, ये शिरायें इसके कई पक्षों को मस्तिष्क

तक स्थानान्तरित कर देती है। मस्तिष्क में इन्हें सुनियोजित और संश्लेषित करने की क्षमता पाई जाती है। यही संघटन और संश्लेषण इन्हें मूर्त बनाता है। मूर्त होते ही ये हमारे बोध का विषय बन जाते हैं। ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष की सीमा में शब्द, स्पर्श, रस, गंध, आदि आते हैं। इनसे संबंधित बिंबों का निर्माण भी इसी क्रिया से होता है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि इस प्रकार के बिंबों में मानव का प्रत्यक्ष बोध विद्यमान रहता है।

मनोविज्ञान का प्रमुख प्रतिपाद्य मानव की भावगत या मानसिक क्रियायें हैं। उनकी धारणा है कि मनुष्य का मानस पूर्वानुभूत तथ्यों का अनुपम संग्रहालय होता है। उपयुक्त उद्दीपन की स्थिति में ये अनुभूतियाँ स्मृति से जुड़ जाती हैं और पदार्थ सम्बन्धी कुछ अनुभूत गुण या विशेषतायें मानसिक चित्र या मानसिक बिंब के रूप में, रूपायित हो उठती हैं। इस प्रकार की अनुभूति में अतीत की अनुभूति की विशेषताओं के साथ ही वर्तमान बोध के आवश्यक तत्त्व भी विद्यमान रहते हैं। अतएव इसे यथार्थ चित्र या प्रतिकृति नहीं कहा जा सकता। मनोविज्ञान में व्यक्ति के अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी व्यक्तित्व का उल्लेख मिलता है। प्रथम स्वरूप में प्रत्यक्ष ज्ञान गौण और चिन्तन प्रधान काल्पनिक पक्ष प्रमुख और द्वितीय स्वरूप में प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमुख चिन्तन प्रधान काल्पनिक पक्ष गौण होता है। प्रथम में यथार्थ का पुट होने पर भी कल्पना का चित्रफलक व्यापक होता है और द्वितीय में कल्पना का स्वरूप क्षीण और यथार्थ का पुट गहरा होता है। इसीलिये इसे यथार्थ-ज्ञान प्रधान या यथार्थ-ज्ञानाश्रित स्वरूप माना जाता है। इस द्वितीय स्वरूप में सर्जक मस्तिष्क स्वेच्छया कतरा नहीं सकता। इससे यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि अन्तर्मुखी प्रवृत्ति बिंब-सृजन के अधिक अनुकूल होती है।

मनोवैज्ञानिकों ने इन्हीं प्रत्यक्ष और परोक्ष अनुभवों के आधार पर बिंबों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। प्रत्यक्ष अनुभवाश्रित बिंबों में चाक्षुष बिंब की महत्ता स्वतः प्रतिपादित है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इन्द्रियों में नेत्र प्रमुख है और प्रत्यक्ष रूप से देखी हुई वस्तु का व्यक्ति के साथ आत्मीय संबंध भी होता है। चाक्षुष बिंब दो प्रकार के माने जाते हैं, (१) संश्लेषणात्मक और (२) विश्लेषणात्मक।

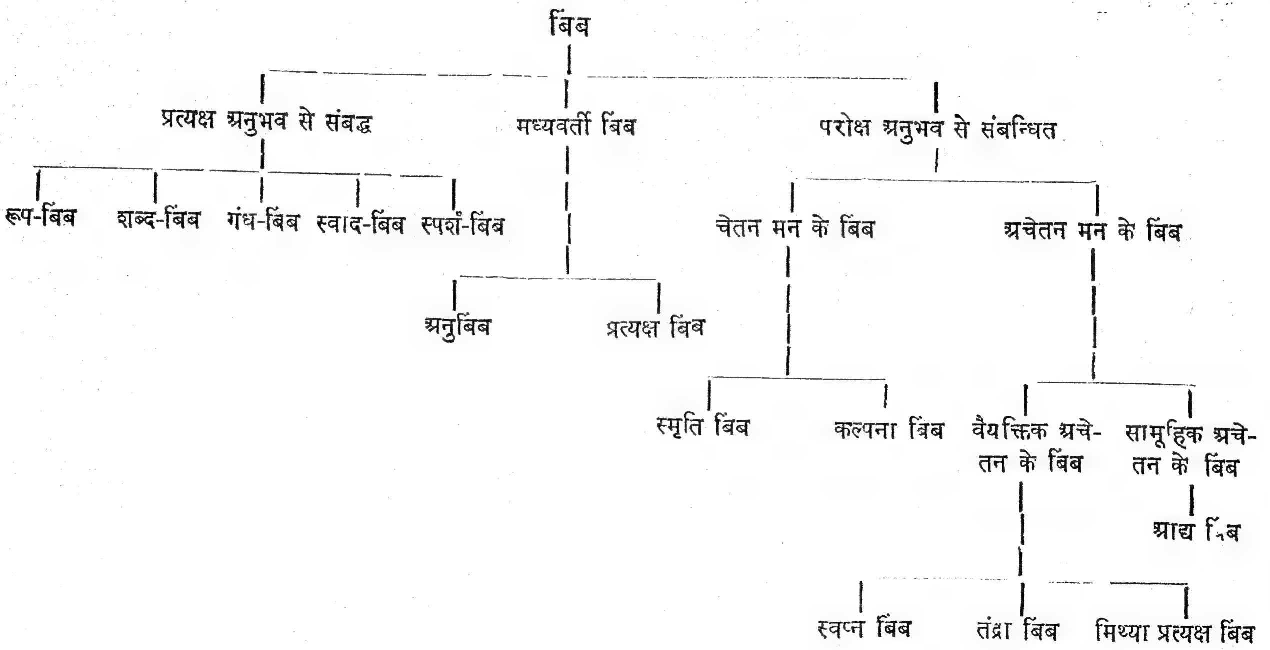
श्रवणेन्द्रिय का संबंध नाद से होता है, अतएव इस बात को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि श्रवणेन्द्रिय से संबन्धित बिंब नाद से निर्मित बिंब होते हैं। पाश्चात्य और पौरस्त्य साहित्य में ध्वनि का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। यहाँ उसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। पर इससे इतना

तो प्रकट है ही कि श्रव्य काव्य ध्वनि से ही अपनी अर्थवत्ता प्राप्त करता है, इसका प्रमुख कारण यह है कि इसमें संप्रेषणीयता का गुण पाया जाता है। नाद में निहित सामंजस्य सहृदय व्यक्ति को कला की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यंजनाओं से अवगत कराता है। यह कहा जा चुका है कि श्रावण बिंब ध्वनि-कल्पना से उद्बुद्ध होते हैं। इन बिंबों की व्यंजना साहित्य में चार चाँद लगा देती है। संगीत और गेय कविता में इनका प्रयोग अधिक मिलता है।

अब रही स्पार्शिक बिंब की बात। जब हम किसी ऐसी सुन्दर वस्तु को देखते हैं जिसमें अन्विति, सामंजस्य और आकर्षण होता है, तो हम उसे छूने के लिए विवश हो जाते हैं। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि सौन्दर्य का आकर्षण स्पर्श की भावना को जागृत करता है। वास्तुकला और चित्रोपम कलाओं में इसकी विशेषता प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। इसीलिये जिस भी कवि में ये बातें प्रस्तुत होती हैं, उसका स्पर्श बिंब का प्रयोग पर्याप्त कलात्मक बन जाता है। यही स्थिति घ्राणिक और रासनिक बिंबों की भी होती है। परोक्ष अनुभव से संबंधित बिंबों को भी पाँच भागों में विभक्त किया गया है। इन्हें अनुबिंब, कल्पना बिंब, स्मृति बिंब, मिथ्या प्रत्यक्ष बिंब और संवेदक बिंब की संज्ञा दी जाती है। देखिये चित्र पृष्ठ २९६ पर

मनोवैज्ञानिकों में 'युंग' का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने आद्य-बिंब (Archetypal images) का वर्णन किया है। 'युंग' के पूर्व 'फ्रायड' ने मानव मन का गहन अध्ययन किया था। 'युंग' भी मनोविश्लेषक माने जाते थे, पर इनकी मान्यतायें 'फ्रायड' से भिन्न थीं। 'फ्रायड' ने वैयक्तिक अवचेतन पर बल दिया था पर 'युंग' ने सामूहिक अवचेतन पर। 'युंग' ने अपने सामूहिक अवचेतन को चेतन और संवेदनशील माना था। उनकी धारणा थी कि मूलादर्शात्मक बिंब का संबंध जातीय और आनुवंशिक विशेषता से होता है। इनका स्वरूप द्विविध है। इसका एक छोर अतीत की भावनाओं से प्रेरित और अनुप्राणित होता है तो दूसरा छोर अपनी अन्तर्निहित सर्जनात्मक और अनुप्रेरक क्षमता के कारण भविष्य के सांस्कृतिक पुनरुत्थान को प्रबुद्ध करता है। यह कुछ समय तक निर्जीव और गतिहीन दीख पड़ सकता है, पर अपने आवश्यक सन्दर्भों से जुड़ने के साथ ही इसका परिवेश अभिनव अर्थ-संगति का जनक बन जाता है। यह परिवेश राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित होता है। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि सृजन के क्षेत्र में वैयक्तिक चेतना या आनुभविक चेतना

आलोचक प्रवर डॉ० नगेन्द्र ने इन्हें निम्न रूप में प्रस्तुत किया है—



से भिन्न इस निर्वैयक्तिक, सामूहिक और सार्वभौम चेतना का क्या अर्थ है ? इसे किस रूप में मान्यता प्रदान की जा सकती है ? इसके उत्तर स्वरूप हम कह सकते हैं कि कलाकार 'त्रिशंकु' की तरह अधर में लटकने वाला जीव नहीं होता। वह समाज में रहता है, उसकी परंपराओं से आलोड़ित होता है, और सांस्कृतिक चेतना किसी न किसी रूप में उसके हृदय में भावना का संचार करती है। वह मिथक और भाषा से निकट संबंध स्थापित करता है और दृश्य या अदृश्य रूप में इनसे प्रभावित भी होता है। उसका वैयक्तिक अनुभव विशृंखलित, नियमहीन और स्वच्छन्द हो सकता है, पर उसका सामूहिक अवचेतन कुछ सार्वभौम प्रवृत्तियों से सदैव अनुप्राणित रहता है। **अतएव उसमें आनुवंशिक और सांस्कृतिक तत्त्व अवश्य पाये जाते हैं और ये तत्त्व उसे आनुभविक अवचेतन की स्वच्छन्दता से अंशतः मुक्त रखते हैं।**

'युंग' के बाद मनोविज्ञान आज तक अपनी लम्बी विकास यात्रा को पूरी कर चुका है। इसके प्रथम छोर पर हमें अगर मनोविश्लेषण का दर्शन होता है तो, दूसरे छोर पर प्रत्यक्ष ज्ञान-प्रधान मनोविज्ञान का। 'सार्त्र' की विचार-धारा इसी दूसरे छोर पर प्रतिष्ठित है। इन्होंने बिंब का विवेचन भी किया है। अपनी पुस्तक 'लँ इमैजिनेशन' में उन्होंने ज्ञान और अवबोध पर गंभीरता से विचार किया है। उनकी मान्यता है कि सचेतन अवबोध की स्थिति में द्रष्टा वाह्य उपादानों को बिंब के रूप में ग्रहण करता है। इस बिंब को अभिव्यक्त करते समय उसे स्वतःप्रेरित आत्मज्ञान की उपलब्धि होती है। एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। मान लें कि हम एक भव्यप्रासाद देख रहे हैं, और जब तक हम उसको निरन्तर देखते जाते हैं, उसका प्रभाव हमारे अन्दर पूर्ण रूप से क्रियाशील है। इसका तात्पर्य यह है कि वह भवन हमारे अवबोधात्मक क्षेत्र में विद्यमान है। एक ऐसी भी स्थिति आती है जब हम उस पर से अपनी दृष्टि हटा लेते हैं। इस स्थिति में उसका प्रभाव कुछ समय तक हमारी चेतना में विद्यमान रहता है। इसे दूसरे रूप में अगर अभिव्यक्त करें तो यह कहा जा सकता है कि उसका अनुबिंब हमारी चेतना में बना हुआ है। जब यह अनुबिंब अदृश्य हो जाता है तो यही कहा जाता है कि उस भवन का हमारे लिये कोई अस्तिव नहीं है। पर इससे बात सुलझती नहीं। भवन का तो अस्तित्व है ही, भले ही उसका कोई स्वरूप हम से उस समय संबद्ध न हो। 'सार्त्र' ने इस अस्तित्व को दो प्रकार का माना है। पहला वह जिसे भवन पर दृष्टिपात करते समय हम देखते हैं और दूसरा वह जो

अपने निश्चित स्वरूप में हमारे प्रतिबोध का विषय है। इसे अन्य रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है, और यह कहा जा सकता है कि दृश्य का स्वतः में अस्तित्व है, पर इस अस्तित्व का अभिज्ञान 'प्रतिबोध' का मुखापेक्षी है। इस विवेचन क्रम में 'सार्त्र' द्रष्टा और दृश्य के विवाद तक पहुँचते तो हैं, पर उसे सुलझा नहीं पाते। 'सार्त्र' का दृष्टिकोण मध्यम मार्ग का अवलंबन ग्रहण करता है।

'सार्त्र' के पूर्व हेतुवादी और अनुभववादी विचारकों का बोल बाला था। इन दोनों के बिंबवादी सिद्धान्त में भयंकर त्रुटि थी। इसका एक पक्ष उनके ज्ञानवादी सिद्धान्त में प्रतिपादित था और उसका अलग अस्तित्व भी था। 'देकार्त' 'लीबनिज़' और 'ह्यूम' ने बिंब को 'वस्तु' मान कर इसकी व्याख्या की थी। उनका कहना था कि यह उपादान सदृश गुणों से अलंकृत रहता है। बिंब की यह हेतुवादी व्याख्या मान्य न हुई। अनुभववादी विचारकों ने अपने विवेचन के सन्दर्भ में अचेतन पर विचार किया, पर यह विचार भी ऊल-जलूल और उलझनपूर्ण बन कर रह गया। 'सार्त्र' ने सर्वप्रथम सचेतनता पर विचार किया और इसे व्यापक अर्थ-सन्दर्भ में प्रतिष्ठित किया। उनका कहना था, **"वही अस्तित्व स्वतःस्फूर्त माना जाता है जो अपना निर्णायक होता है और अपने अस्तित्व को बनाये रखता है। दूसरे शब्दों में जो कुछ भी अस्तित्वमय है, उसकी निजी विशेषतायें होती हैं जो उसे इस रूप में बनाये रखती हैं। अतएव यथार्थ के सचेतन स्वरूप को ही स्वतःस्फूर्त की संज्ञा दी जा सकती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अस्तित्वमय होना और अस्तित्व के प्रति सचेतन होना कई दृष्टियों से समान है।"**[१] 'सार्त्र' ने बिंब को व्यापक चेतना (Global consciousness) **का विषय नहीं माना है। वे तो इसे चेतन घटना के सन्दर्भ में आत्मनिर्भर उपादान की संज्ञा देते हैं। वे इस सन्दर्भ में दो प्रमुख बातों पर विचार करते हैं, (१) ज्ञान की स्थिति में बिंब किस प्रकार कार्य करते हैं और (२) बिंब किस प्रकार बोध से भिन्न हैं। वे द्रष्टा और दृश्य में परिमाणात्मक अन्तर के पक्षपाती हैं। उनकी धारणा है कि संसृति के क्रिया-**

1. That existence is called spontaneous, which determines itself, which brings itself to exist. In other words whatever exists spontaneously exists for and by itself. Only one reality, therefore, merits the epithet spontaneous, and that is consciousness, for it infact to exist and to have consciousness of its existence are one and something.

कलाप को प्रत्यय के माध्यम से प्रकट करना चेतना की संघटना का एक स्वरूप है और बोध के माध्यम से प्रकट करना दूसरा स्वरूप। दोनों की क्रियायें ऐच्छिक हैं, पर इनकी क्रियाशीलता भिन्न है। इस दृष्टि से द्रष्टा और दृश्य अथवा बिंब और प्रत्यय में प्रकार का अन्तर होता है, मात्रा का नहीं।

'सार्त्र' ने अपने विवेचन के सन्दर्भ में 'एलायन' और 'हसरल' की मान्यताओं की व्याख्या किया है। 'एलायन' मानते हैं कि वस्तु को देखना, उसका मूल्यांकन करना और इस तथ्य को बताना है कि उपादान ऐसा है। किसी उपादान के यथार्थ बोध और उसी उपादान के बिंब में अन्तर होता है। प्रथम स्थिति में मूल्यांकन त्रुटि रहित है, पर दूसरी स्थिति में त्रुटि सहित। उनकी यह मान्यता व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों के सदृश्य है, जो बिंब को मान्यता नहीं देते। 'एलायन' ने अपने विधायक-कल्पना के सिद्धान्त में बिंब पर विचार नहीं किया है। दूसरे प्रमुख विचारक 'हसरल' थे। इनके पूर्व 'ब्रन्शविग लालैण्ड' (Brunschvieg lalande) और 'मेयर्सन' ने मकड़ी के बिंब के आधार पर वस्तुओं की व्याख्या की थी। इनका कहना था, "हम सभी इस बात पर विश्वास करने के लिए बाध्य हैं कि मानस एक बड़े मकड़े की तरह वस्तुओं को अपनी ओर आकर्षित करता है, इन्हें अपने श्वेत मुख की लार से ढंकता है, और पुनः धीरे-धीरे उन्हें निगल कर उनके सार में परिणित कर देता है।"[1] 'हसरल' इस मान्यता के विरोधी थे। इसका प्रमुख कारण यह था कि ये ज्ञान के द्विविध स्वरूप के हिमायती थे, (१) ज्ञान से सम्बद्ध उपादान, और (२) उपादान का ज्ञान प्राप्त करने वाली चेतना। इनकी धारणा थी कि ज्ञान का हर उपादान चेतना से भिन्न होता है। अब अगर हम इस बात को मान लें कि बिंब चेतना से नहीं अपितु सचेतन संघटना से उत्पन्न होता है, तो हमारे लिये यह आवश्यक हो जाता है कि बिंब की क्रिया में हम इसी दूसरे पहलू को महत्वपूर्ण समझ कर इसका विश्लेषण करें। चेतनता की संघटना पर तभी विचार किया जा सकता है जब हम उपादानमय संसृति को स्वेच्छित अविश्वास का विषय बनायें और सचेतनता की संघटना—अर्थ अथवा अभिव्यक्त

---

1. We have all been led to believe that a mind like a giant. Attracted things into its web covered them over with its white spittle, and slowly swallowed them, thereby rendering them to its own substance.

मूर्तीकरण—को विश्लेषित करें। 'हसरल' ने बिंब को सचेतन-संघटना-निर्भर क्रिया माना है, और उपादान को इच्छा द्वारा इस संघटना से संबद्ध सिद्ध किया है। इस अर्थ में बिंब एक व्यापक अर्थ का परिचायक बन जाता है, क्योंकि यह न तो मात्र उपादान माना जा सकता है और न सचेतनता का विषय। यह तो वस्तुतः उस क्रिया या घटना का परिचायक बन जाता है जिसमें विशिष्ट मानसिक परिवर्तन एक 'ट्रान्सेण्डेण्ट औब्जेक्ट' से संबद्ध होता है। 'सार्त्र' ने दृश्याव-लोकन की स्थिति में इसके दो पहलुओं को महत्वपूर्ण माना है, (१) वाह्य दृष्टि से दिखाई पड़ने वाले उपादान और (२) संपूर्ण परिवेशीय सन्दर्भों के साथ गृहीत उपादान। बिंब-विधान के लिए दूसरा पक्ष विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है। 'सार्त्र' अपने विवेचन की दृष्टि से पूर्ववर्ती विचारकों से प्रभावित हैं। उनके सम्पूर्ण दृष्टिकोण को चार भागों में विभाजित कर के सरलता से समझा जा सकता है, (१) दृश्य घटनाओं से सम्बन्धित खोज की प्रकृति (२) बिंब निरूपण (३) बिंब का वर्गीकरण और (४) निष्कर्ष। प्रत्यक्ष ज्ञानाश्रित विचारक तीन प्रकार की तकनीकी बातों पर जोर देता है। सर्व प्रथम वह किसी उदाहरण को अपने चिन्तन का विषय बनाता है, वह उसके सार तत्व का निरूपण करता है, और पुनः उदाहरण के स्वरूप को प्रस्तुत करता है। 'सार्त्र' ने भी यही तकनीक अपनायी है। वे सर्वप्रथम किसी बिंब को प्रस्तुत करते हैं, उस पर विचार करते हैं और पुनः इस चिन्तन के सारतत्त्व को निरूपित करते हैं। यही उनके बिंब-सिद्धान्त का प्रमुख आधार है।

'सार्त्र' की धारणा है कि किसी भी विषय की सम्भव अनुभूति होने के लिए यह आवश्यक है कि बिंब सचेतन घटना हो। पर ज्ञातव्य यह है कि बिंब सचेनता का विषय नहीं होता, यह तो उस सचेनता से पूर्ण आवेष्ठित होता है, जिसके द्वारा हम 'ट्रान्सेन्डेण्ट ऑब्जेक्ट' से परिचित होते हैं। 'सार्त्र' ने बिंब की दूसरी विशेषता के रूप में कल्पनोन्मुख सचेनता के रुख (The attitude of imagining consciousness) का उल्लेख किया है। इसे अर्द्धनिरीक्षण के विषय और बिंब के उपादान को अर्द्धनिरीक्ष्य उपादान की संज्ञा दी है। इसे स्पष्ट करने के लिए हम यथार्थबोध का उदाहरण ले सकते हैं। किसी भी उपादान का मूल्यांकन करते समय उसे हम अपनी शब्दावली में विविध सम्भव अनुभूति प्रदान करते हैं। इस क्रिया को प्रक्षेपण के अनुभूति की संज्ञा दी जाती है। 'हसरल' ने इसे Abschattungen के नाम से अभिहित किया है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इन्हें अधिगत करने के लिए द्रष्टा को उस प्रत्यय

को समझना पड़ता है जो उन्हें एकीकृत करते हैं। यह भी सत्य है कि किसी भी उपादान को देखने के लिए हमें उसके प्रत्यय को समझना पड़ता है। इस के साथ ही दृश्य उपादानों और अन्य उपादानों के सम्बन्ध को दृष्टिपथ में रखना भी आवश्यक होता है। दृश्य उपादान अकेले ही हमारी दृष्टि का विषय नहीं बनता, अपितु इस स्थिति में इसका अन्य उपादानों से भी सम्बन्ध रहता है। यह सूक्ष्म सम्बन्ध हमारी चेतना को अतिक्रमित करता है। विधायक कल्पना की क्रिया विषम होती है। इसमें ऐसे प्रत्यय पाये जाते हैं, जो अपूर्ण बोधों को प्रतिबिंबित करते हैं, और यह प्रतिबिंबन सुनिश्चित कार्य के सन्दर्भ में सम्पादित होता है। इस क्रिया से कुछ ऐसे उपादानों का निर्माण होता है जो उस परिप्रेक्ष्य से सम्बद्ध न होने के कारण आपस में असंबद्ध दीख पड़ते हैं। इस स्तर पर दृश्य उपादान और कल्पित उपादान का यह भेद द्वन्द्वात्मक ज्ञात होने लगता है अतएव प्रत्यय और चेतना की क्रिया में भी अन्तर पाया जाता है। इसको स्पष्ट करने के लिए 'सात्र' ने इस तथ्य को प्रतिपादित किया है कि अवबोध की स्थिति में चेतना ऐसे यथार्थ उपादान से सम्बन्धित रहती है जो इसका अतिक्रमण कर के अपने सदृश अन्य उपादानों से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यह क्रिया कल्पना की क्रिया से भिन्न होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कल्पना की क्रिया के सन्दर्भ में चेतना एक अयथार्थ अथवा कल्पित उपादान से जुड़ी रहती है और यह उपादान उसका अतिक्रमण ही नहीं करता अपितु उसी से निर्मित भी होता है। अतएव इसका अन्य उपादानों से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

यही अयथार्थ उपादान कल्पना प्रवृत्त चेतना की तीसरी विशेषता है। 'सार्त्र' की धारणा है कि कल्पना-प्रधान चेतना अपने उपादानों के अस्तित्व को निम्नांकित चार रूपों में से किसी एक रूप में प्रस्तुत कर सकती है[1]

(१) अस्तित्वहीन (Non-Existent)—यथा, कल्पना के तथाकथित कल्पित स्वरूपों में।

---

1. Images are said to posit their objects non-existent. As in the phenomena of quasi-observation comparison with veridical perception is helpful. A truly perceptual image refers to transcendent object, the perceptive consciousness poses the existence of real object. The imaginative consciousness on the other hand may posit the existence of its objects in one of four ways.

(२) अनुपस्थित (Absent)—जिस उपादान का बिंब कल्पना का विषय है वह अनुपस्थित है ।

(३) अन्य स्थल और सन्दर्भ में प्रस्तुत (Existing Elsewhere)—अर्थात् जिस उपादान का बिब कल्पना द्वारा निर्मित हो रहा है वह अन्यत्र अन्य सन्दर्भ में प्रस्तुत है ।

(४) स्थिति के विषय में किसी निश्चित या अनिश्चित तथ्य का अभाव —यह एक तटस्थ दृष्टि है ।

इन सभी स्वरूपों में किसी न किसी रूप में एक नकारात्मक तथ्य विद्यमान है जो कल्पना-प्रवृत्त चेतना के स्वरूप का निर्माण करता है ।

इस विवेचन में 'सार्त्रे' ने यथार्थ रूप में प्रस्तुत और कल्पित उपादान के भेद को दृष्टि पथ में रखा है । उनकी स्पष्ट धारणा है कि कल्पित उपादान प्रत्यय या इच्छा द्वारा निर्मित होने के कारण पूर्णरूप से दृश्य नहीं माना जाता । इसीलिये यह 'क्वासी औब्जर्वेबुल' या अर्द्ध-दृश्य की संज्ञा से अभिहित किया जाता है । 'सार्त्रे' ने इस सन्दर्भ में अर्द्ध-दृश्य या अदृश्य उपादानों के प्रतिबिंबित होने की कुछ शर्तों का उल्लेख किया है ।[१] वस्तुतः उनके द्वारा निरूपित ये दोनों शर्तें महत्त्वपूर्ण हैं । सर्वप्रथम हमें इस बात का ज्ञान होना आवश्यक है कि हम संसृति के यथार्थ क्रिया-कलापों से घिरे रहते हैं और जिस बिंब को प्रस्तुत करते हैं वह प्रकारान्तर से इन्ही से संबद्ध रहता हैं, अतएव इनका विशेष अर्थ नहीं होता । इसका दूसरा पहलू भी है । जब हम चेतना की कल्पना प्रवण प्रवृत्ति से उत्पन्न बिंब पर विचार करते हैं तो दृश्य संसृति के उपादान भी निलंबित होते प्रतीत होने लगते हैं । यह विचार कल्पना-प्रवृत्त चेतनोद्भूत उपादान की विशेषता का प्रतिफलन है जो उपर्युक्त चार स्वरूपों में किसी भी रूप में क्रियाशील होती है ।

'सार्त्रे' के अनुसार 'बिंब' की चौथी विशेषता स्वतः स्फूर्तता है । **"चेतना की स्थिति आत्म-बोध की मुखापेक्षी होती है, और यह बोध भी किसी न किसी वस्तु से संबद्ध होता है । बिंब चेतना का प्रतिफलन है और इसके प्रतिबिंबन**

---

1. The condition necessary for consciousness to be able to imagine is dual, one must be able to posit the world in its synthetic totality, and at the same time posit the imagined object as out of touch with this synthetic whole, that is at same time to posit the world as nohing with respect to the world.

में इसका सृजन पक्ष निहित रहता है। कल्पना-प्रवृत्त चेतना का उपादान 'नॉन-इक्जिस्टेण्ट' होता है, अतएव इसे उसका दिशा-निर्देशक तत्त्व नहीं माना जा सकता। बोध और कल्पना की स्थिति भिन्न हुआ करती है। बोध की दशा में दृश्य उपादान के सम्मुख चेतना तटस्थ रहती है, पर कल्पना प्रवृत्त चेतना की स्थिति में यह आत्मनिर्भर और आत्मनिर्माणक होती है। इसका तात्पर्य यह है कि द्रष्टा अपनी इच्छानुसार बिंबों की कल्पना कर सकता है।"

'सार्त्र' ने अंगीभूत और गत्यात्मक अथवा विषयगत और विषयिगत प्ररोचनों के विभेद की चर्चा की है। उनकी धारणा है कि परिस्थिति इस बात का निर्णय करती है कि किस स्थिति में हम क्या देखते हैं, अतएव इस स्थिति में यह हमारे बोध को प्रेरित करने का प्रमुख साधन सिद्ध होती है। पर यह भी देखने में आता है कि अति आग्रह की स्थिति में भी हम ऐसी ही वस्तुओं को देखते हैं, जिन्हें देखना चाहते हैं। इस स्वरूप में मानव व्यवहार भी प्ररोचित होता है। 'सार्त्र' इस बात पर बल देते हैं कि ये प्ररोचन कार्य के स्वतः स्फूर्त स्वरूप का विशेष रूप से प्रभावित नहीं करते। इसका प्रमुख कारण यह है कि परिस्थिति या पूर्व-निर्णय स्वतन्त्र-निर्णय से परिवर्तित किये जा सकते हैं। इससे यह सरलता से प्रमाणित हो जाता है कि उपादान परिवर्तन का विषय होने के कारण 'नॉन-इक्जिस्टेण्ट' है, अतएव बिंब-सृजन के लिए इसकी अपेक्षा नहीं होती। यह तो स्वतः स्फूर्त और स्वतः निर्मित माना जा सकता है। 'सार्त्र' ने अपनी इस मान्यता को विविध उदाहरणों द्वारा निरूपित किया है और इसके माध्यम से विधायक कल्पना के सहज और स्पष्ट रूप की व्याख्या भी की है। सहज और स्वतः स्फूर्त स्वरूप की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है :—

'In its genaric sense, the term image means, 'an act which in its carporeity aims at an absent or non-existent object, by means of a physical or psychical continuant, which is not given in itself, but, (which is given) in the guise of an anological representative of the object aimed at.'

इस व्याख्या का अपना विशिष्ट पक्ष है। इसके द्वारा उन्होंने कल्पना-प्रवृत्त चेतना के सन्दर्भ में बिंब के स्तर का निरूपण किया है। भौतिक आधार की चर्चा से भी यह तथ्य पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाता है कि 'सार्त्र' केवल मानसिक बिंबों का ही उल्लेख नहीं करते, वे तो इसके माध्यम से उसके सूक्ष्म से सूक्ष्म सत्य का निरूपण करते हैं।

'सार्त्र' के उपर्युक्त बिंब-सिद्धान्त पर कई आक्षेप किये गये हैं। इन्होंने चेतना को स्वतः स्फूर्त माना है, अतएव यह प्रश्न उलझ सा गया है कि बिंब-निर्माण में उपादान भी अपना सहयोग प्रदान करता है। उन्होंने यह अवश्य स्वीकार किया है कि "किसी भी प्रकार की चेतनता किसी वस्तु या विचार की चेतनता होती है।" पर उनका यही निष्कर्ष पर्याप्त नहीं है। प्रत्यय और बिंब के विभेद को समझना भी आवश्यक है। इन्होंने इसे उपादान और इच्छा के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इससे स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में बोध और कल्पना भिन्न हैं। 'फेनोमेनोलॉजी' की मान्यताओं की दृष्टि से भी उनका यह सिद्धान्त पूर्ण नहीं माना जा सकता।

बिंब सम्बन्धी अन्य दृष्टि (कुछ विचारक और उनके विचार)

इसी ग्रथ के कुछ अध्यायों में अनुभूति पर विचार किया गया है और उसकी अभिव्यक्ति के स्वरूप को सुलझाने का प्रयत्न भी किया गया है। इस दृष्टि से 'सुसन के लैंजर'[1] के विचार विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त 'रसेलब्रेन'[2] और 'कोलिंगवुड'[3] की मान्यतायें भी ध्यातव्य हैं। 'लैंजेर' के अनु-

1. A work of art presents feeling, for our contemplation, making it visible audible or in some way perceivable through a symbol not inferable from a symptom. Artistic form is conqruent with dynamic forms of our direct sensuous, mental and emotional life. Works of art are projections of felt life, as Hen James called it, into spatial, temporal and poetic structure. They are images of feeling that formulate it for our cognition.
Problem of Art.

2. A work of art is said to cause feeling in the person who contemplates it and beauty in the eye of beholder. This however again is to begin to confuse the physical and perceptual world. Undoubtedly the physical object, which constitutes the work of art, operating through own particular physical medium, so influences the physical brain of percipient that he experiences the feelings associated with its contemplation. The physical object which is a work of art is one thing, and the feeling which it evokes are other. But this is not true of the world of perception, whereas we have seen, a perceptual object is itself subjec-

सार कलायें अनुभूति पर आधारित हैं, और यही 'अनुभूति के बिंब' (Images of feeling) हमारे बोध को स्पष्ट बनाते हैं। 'ब्रेन' महोदय ने इन्द्रिय प्रदत्त सामग्री और इसके कलात्मक निर्माण का उल्लेख किया है, और 'कोलिंगवुड' ने आत्माभिव्यक्ति के स्तर पर कल्पनामय आत्मबोध और आत्मज्ञान का प्रकारान्तर से हर विचारक ने कला और इन्द्रिय-प्रदत्त सामग्री (Art as Sensesdata) की बात उठाई है। अतएव बिंब पर विचार करते समय इसका विवेचन कर लेना समीचीन ज्ञात होता है।

कला के सन्दर्भ में जिस प्रश्न ने अनेक विचारकों के मस्तिष्क में उलझन पैदा की है, वह संभवतः **यही है कि कलाकार की अनुभूति कला में किस प्रकार समाहित** की जाती है। विचारकों ने इसका हल ढूँढ़ने की कोशिश भी की है। उनकी धारणा है कि कलाकृति, इसके प्रमुख उपस्कारक ऐन्द्रिय स्वरूप, और

---

tive. In the perceptual world feelings can be embodied in concrete form, — — — — —, so the artist when creating a work of art in his own perceptual world constructs it of his own feeling, as well as his own visual, tactitle, or ordinary sense data. It is therefore a mistake to suppose that the feeling associated with perceiving a work of art are subjective, in some-way in which sense-data comprising it are not. on this view a work of art is not symbolic of human feelings, it is literally an embodiment of them. A physical object is modified by artist, until it assumes in his perceptual world the form, which embodies his feelings, so as far his competence as an artist allows.

Perception and Imperception—Journal of mental science.

3. Theoretically the artist is a person who comes to know himself, to know his emotions — — —. His world is his language, what it says to him, it says about himself, his imaginative vision of it is his self-knowledge.

The aesthetic experience is also a making of one self and of one's world, the self which was psyche being remade in the shape of consciousness, and the world which was crude sensae, being remade in the shape of language, or sense converted into imagery and charged with emotional significance. The Principles of Art.

उससे संबद्ध अनुभूति कलाकार के मस्तिष्क में विद्यमान रहती है। यहीं पर अनुभूति को वैचारिक स्तर प्रदान करने वाले प्रत्यय भी पाये जाते हैं। इन्द्रिय-प्रदत्त सामग्री की यह विशेषता होती है कि उसका प्रभाव सीधे मस्तिष्क पर पड़ता है। अथवा यों कहा जाय कि इसका मस्तिष्क से संबंध होता है। इस प्रकार यह बात भी साफ हो जाती है इन्द्रिय-बोध के आधार पर कलाकृति का मस्तिष्क में एक धूमिल चित्र प्रस्तुत रहता है। इसीलिए कलाकार सृजन के पूर्व अपनी कला के पूर्ण विकसित कलात्मक रूप से अवगत होता है, अथवा निर्माण की स्थिति में वह इन्हें विकासोन्मुख बना सकता है। जब कलाकृति पूर्ण हो जाती है तब भी यह कलाकार के लिए एक प्रातिबोधिक उपादान ही रहती है। अतएव इसकी स्थिति भी उसके मस्तिष्क में रहती है।[1] इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्रातिबोधिक उपादानों के प्रेरणास्रोत भौतिक उपादान ही होते हैं। अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए कलाकार को इस भौतिक माध्यम में परिष्कार कर के इसे ऐसे साँचे में ढालना पड़ता है कि वह ऐसे प्रातिबोधिक उपादान का रूप ले सके जो उसकी अनुभूति को प्रबुद्ध करे। इस अर्थ में कलाकृति को प्रतीक न मान कर अनुभूति का बिंब मानना विशेष समीचीन है। इसका प्रमुख कारण यह है कि बिंब अपने सदृश किसी अन्य वस्तु या विचार का परिचायक ही नहीं होता अपितु सादृश्य के आधार पर उसका परिवाहक भी होता है।[2] अनुभूति के बिंब की यह विशेषता होती है कि, यह अपने को उद्‌बोधित करने वाली भावनाओं के साथ ही इसके दिशा-निर्देशक तत्त्वों की विशेषताओं को समाहित किये रहता है। अनुभूति के बिंब में जिस वस्तु, उपादान या विचार की अनुभूति होती है, उससे सम्बन्धित भाव भी विद्यमान रहते हैं; पर यह उसे स्पष्ट रूप में निरूपित नहीं कर पाते। **यह तभी संभव होता है, जब उसे हम अनुभूति के अनुषंग** (Association of Experience) **के रूप में परखने का प्रयत्न करें।** इस प्रकार विचार करने से यह बात सरलता से प्रस्तुत की जा सकती है कि **कलाकृति अनुभूति का ऐसा बिंब होती हैं जिसमें संवेदना का निरूपण महत्त्वपूर्ण है। कलाकार के बिंबों और अन्य बिंबों में अन्तर है। यह अन्तर मूलतः सन्दर्भों पर आश्रित रहता है। कलात्मक**

---

1. Sir Russell Brain—The Nature of experience—P. 50-51.

2. An Image is something, which resembles something else, and stands for it because of this resemblance.

बिंब किसी भी माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है। यथार्थ में देखा जाय तो विश्व के भौतिक स्वरूप और प्रातिबोधिक स्वरूप में भेद होता है। प्रथम वैज्ञानिक दृष्टि से प्रमाणित होता है, इसकी सुनिश्चित रूप-रेखा और मान्यता होती है, पर द्वितीय वैयक्तिक होता है। इसका निर्धारण शारीरिक और मानसिक बनावट, परिवेश, और भौतिक परिप्रेक्ष्य में संभव होता है। इस प्रतिबोधिक स्वरूप को भौतिक स्वरूप का प्रतीक-निरूपण माना जा सकता है। इसका लालित्यबोधीय और काल्पनिक आधार होता है। भौतिक और प्रातिबोधिक, दोनों ही स्वरूपों से सम्बद्ध बिंब के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, पर द्रष्टव्य यह है कि प्रथम में प्रत्यय और विश्लेषण की प्रधानता होती है और द्वितीय में कल्पना और संश्लेषण की। प्रथम अकलात्मक होता है और द्वितीय कलात्मक। कला की दृष्टि से लालित्यबोधीय सन्दर्भ आवश्यक माना जाता है। इसमें यथार्थ चित्रण के स्थान पर कल्पना-प्रवण विचार की प्रधानता होती है और यही विचार अपने मूलस्वरूप में बिंबों का जनक होता है। यह बिंब अपनी विशेषताओं की दृष्टि से पूर्ण होता है। इस पूर्णता के मूल में हमें उस समन्वित बिंब-संघटना का दर्शन होता है जिसमें इसके सभी तत्त्व और दृश्य सुनियोजित रहते हैं। इस पर दृष्टिपात करते ही हमें प्रभाव का ज्ञान होने लगता है। कल्पना पर आश्रित बोध संसृति को समझने का मूल मन्त्र है। इसी के माध्यम से कलाकार अपनी कलाकृति को संश्लेषित करता है। कला के आलेख्य या निरूपित स्वरूप में दृश्य-सत्य अपनी विकासोन्मुख अवस्था में पाया जाता है। कला-निर्माण की क्रिया में कलाकार बिंब ही नहीं प्रदान करता, अपितु अपनी अनुभूति की विशेषता भी प्रस्तुत करता है। इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लिया जाय कि एक चित्रकार है जो पार्श्व-दृश्य का चित्र प्रस्तुत कर रहा है। चित्रण के समय वह केवल वाह्य उपादानों से ही संबंधित नहीं है अपितु आन्तरिक चेतना को बाँधने के लिए भी प्रयत्नशील है। इसमें उसकी अनुभूति, उसके द्वारा देखी गई प्रकृति का बोध, प्रस्तुत प्रेरणा-स्रोत, सम्बद्ध दृश्य, कलाकार के रूप में उसकी मानसिक तथा संवेगात्मक विशेषता तथा कुछ अन्य बातें भी समाविष्ट हैं, जो उनके निरूपण से यथासमय व्यंजित होती रहती हैं। इससे यह निष्कर्ष उपलब्ध होता है[1] कि बिंब-सृजन से सम्बद्ध लालित्य-बोधीय परिस्थिति उसी

---

1. We have adopted a view that an aesthetic situation is initiated when the mind interrupts the continuum of sensation

समय उत्पन्न होती है जब मानस संवेदन और प्रभाव से नैरन्तर्य में व्यवधान प्रस्तुत करता है, और उससे ऐसी सामग्री का चयन करता है जो कुछ समय के लिए गति से विछिन्न रहती है। ऐसी स्थिति में चुनी हुई सामग्री के स्थिर संघटन के तथ्यान्वेषण में तल्लीन रहने के कारण नेत्र भी दृश्य-परिवर्तन को सूक्ष्मता से नहीं ग्रहण कर पाता है। इस सन्दर्भ में कलाकार यथार्थ का उतना ही उपयोग करता है जितना कि निरूप्य कल्पना-प्रधान-कलेवर में सरलता से निहित हो सकता है। प्रकृति का उपयोग करने के लिए वह सर्वथा स्वतन्त्र है। कलाकृति, कला के बिंब वैविध्य को प्रस्तुत करती है। इससे यह तथ्य सरलता से ज्ञात हो जाता है कि कलाकार ने निश्चित बिंबों का चुनाव कर के अपनी इच्छानुसार उन्हें निश्चित महत्त्व प्रदान किया है। यह बात विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य है कि किसी चित्र का आस्वादन प्रकृति के यथार्थ चित्र के आस्वादन से भिन्न होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कलाकार की यह क्रिया अंशतः चेतन और अंशतः अचेतन होती है। वह इसी के आधार पर अपने बिंब का निर्माण करता है और उसके माध्यम से अपनी अन्तर्दृष्टि को प्रस्तुत करता है। आरम्भ में दर्शक को कलाकार की कला-संघटना को स्वीकार कर के अपने बोध के बिंबों का निर्माण करना पड़ता है। वह न तो प्रकृति की प्रतिकृति प्रस्तुत करता है और न उसका यथातथ्य अनुकरण करता है, पर दर्शक

---

and impressions, and transfixes a selection from it, the eye ceases to be in receptive contact with the flux of visible world, and is absorbed into a stabilised pattern of vision thought. At this point the reality, the physical world—is strictly speaking no longer relevant, except as inferred source of imaginative construction, though the latter is as we say an interpretation of that reality......But a work of art guides your eye in the maze of its own imagery, the artist has chosen the images and distributed the emphasis, and you can not escape them for this reason, the on looker must see the artist's image as exactly as he possibly can... The artist in a process partly unconscious and partly conscious selects his images and constructs his vision. The onlooker has to yield to the artist and contruct for himself the precise imagery of picture given him. Ronald Peacock—The Art of Drama, pp. 15-16.

को कलाकृति का अनुकरण करना पड़ता है। यही आग्रह-हीन निरीक्षण विभावन और आस्वादन का मूल आधार होता है।''

बिंब-निर्माण की क्रिया इस तथ्य की परिचायक है कि कलाकार अंशतः दृश्य तथा यथार्थ सत्य से भिन्न किसी अन्य तथ्य को प्रस्तुत करना चाहता है। इसके लिये वह अपने कलात्मक परिवेश को संश्लेषित और विश्लेषित करता है और अभिनव व्यंजना प्रस्तुत करने की योजना बनाता है। बिंब निरूपण दृश्य पटल को भेद कर अदृश्य सूक्ष्मता को ग्रहण करने का प्रमुख साधन है। 'कला-बिंब, प्रभाव-बिंब के सदृश होता है और इन दोनों की क्रिया में साम्य पाया जाता है। कलात्मक बिंब में प्रभाव-बिंब से कुछ अधिक विशेषतायें पाई जाती हैं, इसीलिये यह अवबोध के सामान्य स्तर को अतिक्रमित करता है। इसका संदर्भ लालित्य बोधीय होता है।'

'लैंजर' और 'रसेल ब्रेन' के सन्दर्भ में हमने अनुभूति के प्रतीक और अनुभूति के बिंब का उल्लेख किया है और इस तथ्य का संकेत भी किया है कि कला के सन्दर्भ में द्वितीय को महत्वपूर्ण माना जाता है। यहाँ केवल एक बात का संकेत कर देना आवश्यक है। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि कभी-कभी सामान्य उपादान के चतुर्दिक संवेगों का ऐसा जाल फैल जाता है कि उपादान कम महत्वपूर्ण हो जाता है और उसके द्वारा अभिव्यक्त संवेग अधिक महत्वपूर्ण। इस स्थिति में सामान्य से सामान्य उपादान भी सर्जन की दृष्टि से महत्व प्राप्त कर लेता है और संवेगात्मक प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार जीवन में जो घटना घटित होती है, उसी की पुनरावृत्ति कला में भी होती है और इन प्रतीकबद्ध उपादानों का संवेगात्मक अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए प्रचुर प्रयोग होने लगता है।

वस्तुतः बिंब और अनुभूति के घटकों का संबंध विशेष महत्वपूर्ण है। इसलिये अनुभूति के सन्दर्भ में बिंब पर विचार करना कई दृष्टियों से आवश्यक है। अनुभूति के तीन आयाम होते हैं, (१) दृश्य जगत के विविध उपादान और घटना, (२) इनका संवेगात्मक प्रतिक्रिया या प्रभावोत्पादक शक्तिओं से संबंध, और (३) स्वतंत्र अनुभूति का विषयिगत स्वरूप। कला-बिंब इन आयामों से सदैव संबद्ध पाया जाता है। प्रकृति को यथा तथ्य रूप में चित्रित करने वाला बिंब प्रकृति के उपादान का प्रतीक बन जाता है। पर इस प्रकार के बिंब को कला-बिंब नहीं कहा जा सकता। द्वितीय स्थिति में बिंब उपादान का प्रतीक तो होता है पर इस स्थिति में उपादान मात्र अवलोकन का विषय न

बन कर अनुभूति का विषय बन जाता है और वह इसी से परिष्कृत और सुनियोजित भी होता रहता है। इस स्तर पर पाई जाने वाली प्रतीक पद्धति दुहरी होती है। इसका कारण यह है कि बिंब उपादान का प्रतीक तो होता ही है, उस अनुभूति का प्रतीक भी होता है, जिसको वह रूपायित करता है। इस प्रकार के बिंबों की निजी विशेषता होती है। ये बिंब उपादान या घटना से उत्पन्न विविध बिंबों में से चुने जाते हैं और इन पर अनुभूति की विशेषता का रंग चढ़ा रहता है। इसीलिए ये बिंब व्याकृष्ट या विरूपीकृत (Distorted) होते हैं। बिंबों की दृष्टि से अनुभूति का तृतीय स्तर विशेष रूप से जटिल और उलझन पूर्ण होता है, क्योंकि, इस स्तर पर विषयिगत अनुभूतियों को ऐन्द्रिय उपादानों के द्वारा प्रक्षेपित करना पड़ता है। इस स्थिति में कलाकार नियमबद्ध अभिव्यंजक बिंबों (Expressive formula Images)[1] का आश्रय ग्रहण करता है जो विशेष रूप से संगीत, स्थापत्य और काव्य आदि में पाये जाते हैं। कभी-कभी चित्रोपम बिंबों की रचना भी की जाती है जो उपादान के प्रतीक ही नहीं, बल्कि अभिव्यंजक सूत्र-बिंब होते हैं।[2]

काव्य-बिंब, अन्य कला-बिंबों से विशिष्ट होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इसमें शब्दों की ध्वनि के माध्यम से विविध प्रकार के श्रुत और दृश्य बिंबों को उद्‌बुद्ध करने की क्षमता होती है। काव्य में बिंब के माध्यम से चिन्तन की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। काव्य में कवि बिंब-सक्षम भाषा, उसके संघटन, अनुषंग और भास्वरता का ध्यान रखता है। शब्द मूर्त से अमूर्त तक की दौड़ लगाते हैं। इनमें ऐन्द्रिय-बोध की चित्रोपमता के साथ ही, उसकी अद्‌भुत सूक्ष्मता और रहस्यमय गोपनीयता का मणिकांचन संयोग होता है। भाषा प्रायः अनेकार्थक होती है, और मूलतः उस मानसिक क्रिया की परिचायक मानी जाती है जो मूर्त-संदर्भ या ऐन्द्रिय बिंब के माध्यम से अमूर्त को मूर्त, अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष, अथवा निराश्रित को आश्रित आधार प्रदान करती है। "इसके दो छोर होते हैं, एक छोर पर विशिष्ट अवबोध पाये जाते हैं और दूसरे पर सूक्ष्म

1. Peacock—The art of Drama—p. 51.

2. Under the third group, where the subjective world of feeling is projected into sensuous terms, we have expressive formula images, as in music, architecture and other abstract arts, or pictorial images, functioning not as symbols of objects but as expressive formula images, as in musical styles of painting, at its extreme in expressionism —*Ibid* p. 52

सामान्यीकरण। एक छोर पर बिंब पाया जाता है और दूसरे पर छोर ऐसे सामान्य विचार रहते हैं जिनमें विशिष्ट बिंब प्रतिध्वनित होता रहता है।"[1] सारांश यह कि,[2] कविता विभिन्न बोधों का अन्तर्ग्रंथन होती है। यह शब्दों से संबद्ध विविध बिंबों के माध्यम से अभिव्यक्त की जाती है, अतएव सामान्य मानस की तुलना में अधिक गहन, सुकोमल और पूर्ण मानस को प्रस्तुत करती है। वाचिक और अवाचिक, दृश्य और तालानुगतिमय, ऐन्द्रिय और तर्कमय अर्थों का क्षेत्र व्यापक और संघटन जटिल होता है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इसकी व्यंजना मानस के एक स्वरूप या क्रिया को अतिक्रमित करती है और ऐसे आध्यात्मिक संवेदन की शर्त को प्रस्तुत करती है जो 'कोलरिज' की शब्दावली में उपलब्धि और 'ब्लेक' की शब्दावली में संपूर्ण आत्मा को गतिशील बना देती है।

बिंब के सन्दर्भ में स्मृति की चर्चा की जाती है। यह बात सर्वविदित है कि हर वस्तु, जो हमारी चेतना से टकराती और हमें प्रभावित करती है, हमारी स्मृति का विषय बन जाती है। पर यह उसी रूप में हमारे अन्तर्जगत में नहीं बनी रहती। जिस वस्तु ने हमें सबसे अधिक प्रभावित किया है, या जिसे देखते या सुनते ही मन वाह कह पड़ता है, वही वस्तु स्मृति में अधिक समय तक बनी

---

1. At one end of the scale is a particular perception, at the other the most abstract generalisation, at one end an image, at the other a generalised statement in which the echoes remain of particular image—*Ibid* p. 58.

2. Poetry by existing as intertexture of differing kinds of awareness, expressed in different kind of imagery associated with words, provides a self-awareness of the mind, more intense delicate and complete, than any other we know. Its range of meaning, verbal and non-verbal, visual and rhythmic, sensuous and logical is extensive, as their organisation is intricate. And so it comes about, that its statements transcend, the specialisation of one faculty or one activity of psyche, and indicate a condition of 'spiritual sensation, as Blake said, or as Coleridge had it, one in whole soul is brought into activity.—*Ibid* p. 61.

रहती है[1] स्मृति को पुनः उद्बुद्ध करने के लिए व्यक्ति को संवेदनशील होना आवश्यक है। सघन अनुभूति की दशा में यही संवेदनशीलता स्मृति को प्ररोचित कर के उसे कल्पना के माध्यम से बिंब सृजन की ओर उन्मुख करती है। बिंब के सृजन में सक्षम कल्पना भी दुहरी होती है। पहली स्थिति में इसका संबंध प्रातिबोधिक अनुभूति से होता है जो स्मृति में पड़े हुए निष्क्रिय बिंबों को अवचेतन रूप से संश्लेषित करती है। इसके पश्चात् दूसरी स्थिति का आविर्भाव होता है। यह स्थिति इन संश्लेषित स्मृति-बिंबों को कला या कविता का स्पष्ट कलेवर प्रदान करती है। अनुभूति की दशा में स्मृति बिंबों को बनाये ही नहीं रखती, अपितु उन्हें समन्वित भी करती है। इस समन्वय के कारण अन्तः सामंजस्य उत्पन्न होता है जिसकी क्रिया कुछ स्वतंत्र होती है। स्मृति की इस क्रिया में कल्पना की विशेषतायें विद्यमान रहती हैं। स्मृति बिंबों को संग्रहीत ही नहीं करती, अपितु अनुषंग की स्थिति में उनको मिला कर मूर्तस्वरूप प्रदान करती है। इस अवस्था में बिंबों में परिवर्तन हो जाता है, और वे अभिनव परिवेश और संघटन के परिचायक बन जाते हैं।[2] इस प्रकार बिंब-सृजन केवल तकनीकी ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता। इसमें कलाकार का वैयक्तिक बोध रूपायित होता है। वह सुन्दर और असुन्दर दोनों पर दृष्टिपात कर के यथार्थ का अवलंब ग्रहण करता है। "प्रच्छन्न और रहस्यमय कल्पना पर आश्रित बिंब अस्पष्ट और उलझनपूर्ण होते हैं। उनका यह स्वरूप कलाकृति में प्रयोग के समय भी बना रहता है। प्रच्छन्न कल्पना का स्वरूप चाहे जितना सशक्त हो, उसमें सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता कम होती है, इसीलिए कलाकृति में यह असामंजस्य अशक्त होता है और इसमें अनपेक्षित हस्तक्षेप होता रहता है। इस हस्तक्षेप को काव्यांकुर (poetic germ) कहा जाता है। इसकी अपनी विशेषता होती है। यह प्रातिबोधिक अनुभूति में पाया जा सकता

---

1. 'In life' Delacroix obseives, "we preserve the memory of those feelings only that move us". George Whalley—Poetic Process—p. 79.

2. Memory not only stores images—but also in process of usually called association—constellates them, fuses them, works sea-change upon them to form novel and even unique pattern. Poetic Process—p. 79.

है, पर अज्ञात कारणों से चेतना के स्तर पर नहीं आ सकता। यह स्पष्ट दृश्य-बिंब, ध्वनि, शब्द-समूह, या अनुभूति आदि किसी भी स्वरूप में उपस्थित रहता है।" कभी-कभी यह अकारण ही दिखाई पड़ने लगता है या अभीप्सित स्मृति की क्रिया में अवतरित हो जाता है।" यह काव्यांकुर महत्त्वपूर्ण कार्य संपादित करता है। इसमें विशिष्ट शक्ति होती है। यह स्मृति के बिंबों को गतिशील बनाता है और प्रच्छन्न कल्पना को इस हद तक प्ररोचित करता है कि निदर्शनात्मक घटना (paradigmatic Experience) उत्पन्न हो कर अभिव्यक्त हो सके।

'जार्ज ह्वैले' ने बिंब के सन्दर्भ में इस महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर भी विचार किया है कि किस प्रकार विधायक कल्पना अन्त: संबंधों को स्थापित करती है। इसकी व्याख्या के लिए वे रसायन-विज्ञान और मशीन विज्ञान से उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। प्रथम के सन्दर्भ में वे कहते हैं,[1] "अगर हम कल्पना की व्याख्या करें तो इसमें उत्प्रेरक का स्वरूप विशेष सहायक सिद्ध हो सकता है। काव्य-बीज मानस में उस क्रिया से भिन्न कोई क्रिया नहीं उत्पन्न करता जो उसके उद्भव के पूर्व प्रच्छन्न रूप से चल रही थी। यह तो केवल प्रच्छन्न कल्पना के एकीकरण और एकत्रीकरण की क्रिया को तीव्र और घनीभूत बना देता है। जब उत्प्रेरक और भाव प्रवण बीज दिखाई पड़ता है तो स्मृति-बिंबों में गतिशीलता आ जाती है, क्योंकि भावावेग की प्रमुख विशेषता सृजन नहीं अपितु क्रिया की गतिशीलता है। काव्य-उत्प्रेरक विस्फोटक नहीं होता यह न तो स्वयंचालित होता है और न पूर्वज्ञात। इसकी क्रिया एक क्षण में

---

1. The feature of catalyses is important, if we are to illustrate imagination. The poetic germ does not cause a mental activity, different in kind from whatever was occurring slowly and secretly before the germ appeared, it accelerates and intensifies the fusing and constellating processes of latent imagination. When the catalytic and passionate germ appears, the image of memory enter upon a condition of conturbation ; for (as Coleridge observed) the property of passion is not to create, but to set in increased activity. This poetic catalysis is not like an explosion, it is neither automatic nor predictable, the reaction may complete itself instantly, or in extreme cases—as with Goethe's Faust—spread out over the better part of life-time *Ibid* p. 88.

पूरी हो सकती है या संपूर्ण जीवन के उत्कृष्ट पक्ष तक प्रसरित हो सकती है।" 'ह्वेली' महोदय ने अपने इस विचार को 'क्वैण्टम सिद्धान्त' के आधार पर और स्पष्ट किया है। वे कहते हैं,[1] "अगर हम एक को सौर मण्डल का 'मोडेल' मान लें तो हमें ऐसा ज्ञात होगा कि इस संपूर्ण योजना के मूल में ऐसा केन्द्र है जिसके चतुर्दिक अण्डाकार कक्षा में भूमण्डलीय विद्युदणु चक्कर काटा करते हैं। जब परमाणु अपनी तटस्थ स्थिति में होता है, तो विद्युदणु की कक्षा शक्ति संघटना के निकट और उसके साथ अविरोधी संबंध बनाये रखती है। जब परमाणु अन्य स्रोतों से प्राप्त अतिरिक्त शक्ति को ग्रहण कर लेता है, तो विद्युदणु इसकी कक्षा से दूर हट कर नई कक्षा की स्थापना कर लेते हैं और वाह्य चुंबकीय क्षेत्र के सन्दर्भ में परमाणु को निष्क्रिय बना देते हैं।

1. Let us imagine an atom to be small model of solar system. At the centre of the system lies the nucleus around which planetary electrons move in elliptical orbits. when the atom is in its neutral state, the orbits of electron lies as close to the nucleus as is consistent with energy structure of the system. When an atom absorbs additional energy radiated from other sources, the electrons move outward to another set of orbits, thereby neutralising the atom with respect to any external magnetic field. The Quantum Theory states, that in such changes, the electrons do not move out gradually, but assume a definite outer orbit, as it were by definite jump, as though the possible outer orbits were predetermined as series of fixed tracks along which alone an electron could move. The matter can be stated in different terms, an atom will not absorb any quantity of energy, whatsoever, but will accept only quantity, whose value is determined by its own structure. This value is called quantum, and varies from one kind of atom to another. An atom will absorb only integral multiples of quantum, a fraction of quantum of energy will not be absorbed. The point of interest in this theory is that some effects which appear essentially capable of gradual increase or gradual diminuition are in reality to be increased or decreased by certain definite jump.

'क्वैण्टम सिद्धान्त' इस बात पर बल देता है कि इस परिवर्तन की स्थिति में में विद्युद्अणु मंथर गति से बाहर न जाकर छलाँग लगा कर बाहर जाते हैं और अपने को वाह्य कक्षा में स्थिर कर लेते हैं। इस क्रिया से ऐसा ज्ञात होता है मानो, यह वाह्य कक्षा ही उस मार्ग की शृंखला है, जिस पर विद्युद्अणु गमन करते हैं। इस बात को भिन्न शब्दावली में प्रस्तुत किया जा सकता है। परमाणु उतनी ही मात्रा में शक्ति को आकर्षित कर सकता है, जिसका स्वरूप या मूल्य इसकी संघटना द्वारा पूर्व निश्चित रहता है। इसी मूल्य को क्वैण्टम कहा जाता है। यह परमाणुओं के अनुसार भिन्न होता है। इस सिद्धान्त में प्रमुख विचारणीय बात यह है कि कुछ ऐसे प्रभाव दिखाई पड़ते हैं जिनका क्रमिक विकास या ह्रास निश्चित छलाँग का विषय होता है।"इस सिद्धान्त का काव्य पर प्रयोग भी किया गया है।[1] अगर हम यह मान लें कि **कवि की चेतनता परमाणु और संविलीन शक्ति** (absorbed enrgy) **काव्य-बीज है, तो यह बीज उस क्वैण्टम के विचार को प्रकट करता है जो कवि द्वारा अन्तर्भुक्त कर लिया गया है और ऐसी उपयुक्त वस्तु सिद्ध होता है जो उपयुक्त समय पर निश्चित शक्ति के साथ प्रकट हो सकती है।** चूँकि कवि अपनी वैयक्तिकता में

---

1. Let us now suppose that poet's consciousness is the atom, and quantum of absorbed energy, represents the poetic germ, the germ must be quantumidea to be absorbed by the poet at all, it must be exactly the right thing, coming at exactly the right time with the right force. The quantum idea will be unique because the individual poet is unique, and presents constantly varying receptivity. Once the quantum-germ is absorbed a wide-spread change occurs, the poets whole person and organism orders and regroups itself to accommodate the quantum idea. The outward movements of the electrons to their orbit, corresponds to the sudden generation of the paradigmatic event ; in poetic experience the event may be delayed or withheld, but does not develop gradually. The inward movement of the electrons, when the quantum energy is again radiated corresponds to symbolic extrication, the activity which ends in the completed poem. At the end of the whole cycle, both atom and poet have returned to a neutral state, the invisible, refined out of existence indifferent.

अद्भुत होता है, अतएव उससे सम्बद्ध क्वैण्टम विचार भी अद्भुत माना जा सकता है। यह विचार निरन्तर परिवर्तनशील संवेदनशीलता का परिचायक होता है। जब एक बार क्वैण्टम-बीज अन्तर्मुक्त हो जाता है तो व्यापक परिवर्तन घटित होते हैं, कवि का व्यक्तित्व और सावयव संघटना बदल जाती हैं और वे अपने को पुनः इस रुप में व्यवस्थित करती हैं जो क्वैण्टम के विचार को समाहित कर सके। विद्युद्अरणुओं का अपनी वाह्य कक्षा की ओर गतिशील होना, इसी निदर्शनात्मक घटना (Paradigmatic-event) के सदृश माना जा सकता है। काव्यानुभूति की स्थिति में इस घटना का निर्माण विलंब का विषय हो सकता है, पर यह मंथर गति से नहीं विकसित होती। क्वैण्टम शक्ति के विकीर्ण होने की स्थिति में विद्युद्अरणुओं का आन्तरिक प्रयाण प्रतीक अभिव्यक्ति के सदृश होता है। यही प्रतीक अभिव्यक्ति काव्य की पूर्णता की परिचायक होती है। इस चक्र के अन्त में कवि और परमाणु दोनों तटस्थावस्था की ओर लौट आते हैं। 'जार्ज ह्वेली' ने इस महत्वपूर्ण सत्य की ओर भी संकेत किया है कि, "काव्यांकुर के नवोन्मेष की स्थिति में काव्य-सृजन कल्पना से विकसित हो कर प्रतीक रूप में अभिव्यक्त होता है। इस स्तर पर एक मध्यस्थ क्रिया का आविर्भाव होता है। इस द्वन्द्वात्मक पद्धति को 'सैमुएल अलेक्जेण्डर' के शब्दों में अंसभोगजनन (parthenogenesis) उत्पत्ति से भिन्न, दोनों सेक्स के संभोगजनन (bi-sexual) उत्पत्ति के सदृश माना जा सकता है। इस स्थिति में कलाकार को दुहरी क्रियाशीलता प्रदर्शित करनी पड़ती है। उसे एक ओर तो बिंबों का मूर्तरूप में निर्माण करना पड़ता है, और इस संम्मूर्तन के बाद उन्हें विश्लेषित करना पड़ता है।[1] इसी तथ्य को 'डब्ल्यू० बी० यीट्स'[2] और 'लुई मैकनीस'[3] भी प्रतिपादित करते हैं। गंभीरता-

1. *Ibid.*

2. 'When a man writes any work of genius, yeats said, or invents some creative action, it is not because some knowledge or power has come into his mind, from beyond his mind. It is called up by an image, as I think, but our image must be given to us, we can not chose them deliberately.'

3. The poet is often not completely sure, what he is trying to say, until he has said it, he works up to his meaning, by a dialectic of purification.

पूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है, यह स्थिति कलाकार के उस आन्तरिक संघर्ष की परिचायक है जिसके माध्यम से वह अपनी अनुभूतियों को एक निश्चित स्वरूप प्रदान करता है। उसकी इस क्रिया को पुनर्गवेषणा की संज्ञा दी जा सकती है।[१]

'फैंक कर्मोड' ने आरम्भ में ही 'विन्धम लेविस' के इस सूत्र वाक्य का उल्लेख किया है, "बिंब काव्य का प्रमुख रंजक उपादान माना जाता है, और जो कवि इसका सफलतापूर्वक प्रयोग करता है, वह अपनी विशेषता के कारण अन्य कवियों से भिन्न सिद्ध होता है।"[२] उनकी धारणा है कि बिंबोन्नयन की क्षमता से अलंकृत कलाकार इसके लिये गंभीर मूल्य चुकाता है।[3] यह मूल्य हीरे और जवाहरात या सोने अथवा चांदी से नहीं चुकाया जाता। यह तो वस्तुतः आन्तरिक उद्वेलन द्वारा चुकाया जाता है। इसी तथ्य को दृष्टि में रख कर उन्होंने बिंब को प्रमथित कर देने वाले पुरस्कार का परिणाम कहा है। उनका मत है कि इसे समग्रता, मूर्तता और अखण्डता के साथ अभिव्यक्त करना कठिन है। बिंब-सृजक सदैव द्रष्टा की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत रहता है और उसे एकान्त और तटस्थता की आवश्यकता होती है।[४] उसकी अन्तर्दृष्टि चिन्तन के

1. The meeting of pen and paper, of ear and rhythm and tone and meaning—the struggle to turn blood into ink—these show the poet, plunging his hands through the interface, at the meeting place of memory, and dream and fancy, of action, passivity and suffering which is reality. Each poem is unique discovery.

2. Image is the primary pigment of poetry, and the poet who uses it is by the very fact differentiated from other men.

3. The artist who is vouchsafed this power of apprehending the image—to experience that epiphany which Joycean equivalent of Paters vision—has to pay a heavy price, in suffering, to risk his immortal soul, and to be alone, "not to be separate from all others, but to have not even one friend".

4. The image is the reward of that agonising difference, isolated in the city, the poet is a seer, the image for all its concretion, precision and oneness is desparately difficult to communicate and has for that reason, as much to do with alienation of the seer, as the necessity of his existing in the midst of a hostile society. *Ibid.*

द्वन्द्व को सुलझाने का कार्य करती है। विरोधी तत्त्वों का यही सुलझाव या समन्वय 'रोमाण्टिक इमेज' का उपजीव्य है। उन्होंने प्रतिभा विधायक कलाओं (Plastic arts) और साहित्य के बिंबों पर भी विचार किया है। उनका कहना है, "मूर्तिकला कुछ क्षणों के ध्यान के केन्द्रीकरण का प्रतिफलन होती है। चित्र पट पर बनाये गये बिंब में विकास और परिवर्तन को प्रस्तुत करने वाले नैसर्गिक तत्त्व का अभाव पाया जाता है। अगर वे मृत्यु के विषय में अधिक नहीं जानते तो वे जीवन की गतिविधि से भी अपरिचित रहते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि जीवन और मृत्यु के प्रति वे ही व्यक्ति अधिक सवेदनशील होते हैं जिन्हें काल-क्रम प्रभावित कर सकता है और जिनका केवल भूत ही नहीं होता अपितु भविष्य भी होता है। दृष्य कलाओं की प्रमुख समस्या गति होती है। इसे केवल साहित्य ही चित्रित कर सकता है। साहित्य आकार को केवल गतिशील और आत्मा को निरन्तर क्रियाशील रूप में निरूपित करता है"।[1] 'कर्मोड' का अभिमत है कि बिंब में बौद्धिक तत्त्व का अभाव पाया जाता है। जिस प्रकार नर्तक का नृत्य के साथ संबंध होता है, उसी प्रकार बिंब का विचार के साथ। इसमें वृक्ष की तरह सावयव विकास निहित रहता है। जिस प्रकार वृक्ष में बीज, अंकुरण, विकास, जड़, तना और पुष्प तथा फल होते हैं, उसी प्रकार बिंब में भी विकास के स्वरूप रहते हैं। बिंबवादी आन्दोलन फ्रांसीसी प्रतीकवाद से प्रभावित है।

'सेसिल. ड. लेविस' ने बिंब पर अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक संयत ढंग से विचार किया है। वे काव्य-बिंब की निम्नांकित विशेषता मानते हैं :—

(१) यह शब्द-चित्र है।

(२) इसमें ऐन्द्रिय विशेषतायें विद्यमान रहती हैं।

---

1. The statue is concentrated to one moment of perfection, The image stained upon the canvas possesses no spiritual element of growth or change. If they know nothing of death, it is because they know little of life, for the secrets of life or death belong to those and those only whom the sequence of time affects, and who possesses not merely the present, but the future, and can rise or fall from past of glory or of shame. Movement, that problem of visible arts, can be truly realised by literature alone. It is literature that shows us the body in swiftness and soul in unrest. *Ibid.*

(३) यह आलंकारिक होता है।

(४) इसके परिवेश में अस्पष्ट या स्पष्ट रूप से मानव संवेग विद्यमान रहते हैं। और

(५) यह दर्शक में भाव-संवेग उद्बुद्ध करने में सक्षम है।

'लेविस' महोदय ने इसके अतिरिक्त बिंब के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षों पर भी विचार किया है।[१] उनके शब्दों में, "कवि के सृजन में उपादान और उन उपादानों से संबद्ध मनोवेग, अथवा तथ्य और अनुभूति के अन्तःस्वर निहित रहते हैं। जब उपादान और उनसे संबद्ध मनोवेग का अभिन्न संबंध होता है तो इससे ऐसे बिंब का आविर्भाव होता है जिसमें दोनों की सदृशता विद्यमान रहती है। यह क्रिया अभिनव रहस्योद्घाटन के सदृश होती है।" सृजन क्रिया की गतिशीलता वाह्य और आभ्यन्तरिक अवबोध की सीमा निर्धारित करती है।[२] कवि के बोध और सामान्य व्यक्ति के बोध में अन्तर होता है। सामान्य व्यक्ति अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं होता और वह सभी उपादानों को उनके यथार्थ स्वरूप में देखता है। कवि भी वस्तुओं को उनके असली रूप में तो देखता है, पर उसका मस्तिष्क कुछ इस प्रकार शिक्षित होता है कि वह अपने केन्द्रीभूत स्वरूप में दृश्य-जगत से आवश्यक सामग्री का चयन कर सकता है। काव्य के लिए नवीन भाव, सूत्र और अलंकार की आवश्यकता होती है। जब कभी इस प्रकार के अभिनव सूत्रों का सगुंफन होता है और इससे लालित्य-बोधीय भाव प्ररोचित होते हैं तो बिंब की उपस्थिति आवश्यक हो जाती है। 'यीट्स' ने स्वीकार किया है "विवेक का प्रथम आविर्भाव बिंब के ही माध्यम से हुआ।" काव्य-सृजन प्रत्यक्ष रूप से कृत्रिम अवश्य है, पर बिंब संघटन के माध्यम से हम विश्व के जिस भी स्वरूप से अवगत होते हैं, वह महत्त्वपूर्ण होता है। बिंब रूप के माध्यम से संसृति का रहस्योद्घाटन करता है। काव्य-

---

1. We begin to see then that poetic image is a more or less sensuous picture, in words, to some degree metaphorical with an undertone of some human emotion in its context but also changed with and releasing into the reader a special poetic emotion or passion. *Ibid.*

2. The creativeity of the artist is only necessary because of limitations placed on external and internal perceptions by necessities of action. *Ibid.*

बिंब में यह अभिज्ञान भी निहित पाया जाता है कि संसृति की संघटना सजीव है।

'लेविस' का विश्वास है कि हर बिंब उपादान को ही पुनर्गवेषणा ही नहीं करता, अपितु वह उसकी अनुभूति के सन्दर्भ को भी प्रस्तुत करता है। इस प्रकार जो भी उपादान प्रस्तुत रहता है, उसका परिवेश से सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध बिंब के प्रमुख उपस्कारक रूपक में भी पाया जाता है। इस अर्थ में रूपक सम्पूर्ण संसृति का सहज-ज्ञान माना जा सकता है। रूपक की तरह बिंब भी मानव के अनन्त प्रसार का परिचायक होता है। अतएव काव्य बिंब मानव-मस्तिष्क के साथ ही हर सजीव वस्तु का परिचायक होता है।[1]

'एच कूंब्स'[2] ने अपने विवेचन के आरंभ में ही उत्कृष्ट और निकृष्ट बिंब का उल्लेख किया है। उनके अनुसार निकृष्ट बिंब कलाकार के मौलिक ज्ञान के अभाव का द्योतक है। इसमें सौष्ठव और कल्पना-प्रवण बोध का अभाव होता है। उत्कृष्ट बिंब मौलिक और वैविध्यपूर्ण होता है। इसका प्रयोग सघनता, स्पष्टता और भाव शबलता के लिए किया जाता है। यह हमें कलाकार के विषय-बोध से ही अवगत नहीं कराता, अपितु, उसकी सूक्ष्म पकड़ को पूर्णता, विविधता, आग्रह और संक्षिप्तता के साथ प्रस्तुत करता है। इसका विषय-विस्तार ख्याली और काल्पनिक नहीं होता। इसमें अनुभूति की सच्चाई पाई जाती है। इसीलिये यह हमारे जीवन के अधिक निकट होने के साथ ही उपादान और सम्पूर्ण कला के पूर्वा-पर सम्बन्ध को प्रस्तुत करता है। इसका स्थानीय (Local) महत्व होता है, पर यह अन्य महत्वपूर्ण विचारानुभूतियों और चित्तवृत्तियों को उद्बुद्ध करने में भी समर्थ होता है। उसकी यह क्रिया सम्पूर्ण कृति को महत्व-पूर्ण योगदान देती है।

'कूम्बस' ने बिंब को 'फिगर ऑव स्पीच' का पर्याय घोषित किया है। उनके अनुसार यह दो प्रकार का होता है, (१) संहृति प्रधान बिंब (Concise image) या व्यंजक बिंब (Subjective Image) और (२) स्वतंत्र व्यंजना प्रधान बिंब (lose Image) या प्रसृत बिंब (Diffused Image)। प्रथम प्रकार के बिंब में उत्प्रेक्षा संवलित संहृति, संक्षिप्तता और कसावट होती है। यह अपने सीमित

---

1. The poetic image is the human mind, claiming Kinship with everything that lives or has lived.

2. See H. Combes—Literature and Criticism—Chapt. III.

आयाम में अधिक से अधिक व्यंजना निहित किये रहता है। यह प्रसंग-गर्भित और अध्याहार प्रधान होता है। दूसरे प्रकार का बिंब स्वतंत्र कल्पना-प्रधान और प्रसृत होता है। अतएव इसमें सांगरूप और मालोपमा का केन्द्रगामी प्रसार पाया जाता है। प्रथम प्रकार के बिंब के लिए कल्पना का दबाव और गहन अनुशासन आवश्यक होता है, अतएव इसका सृजन दुरूह होता है। तात्पर्य यह कि :—

(१) सृजन का क्रिया पक्ष कल्पना पर आधारित होता है और यह कल्पना बिंब-विधायक होती है।

(२) यह ऐन्द्रिय विशेषता और अलंकरण की प्रवृत्ति के संश्लेषण का परिचायक है।

(३) मनोविज्ञान में इसे स्मृति और भूत की संवेदनशील और प्रातिबोधिक अनुभूति तथा मानसिक पुनर्सृजन का पर्याय माना जाता है।

(४) ये दो प्रकार के होते हैं, (१) प्रत्यक्ष अनुभवाश्रित और (२) परोक्ष अनुभवाश्रित।

(५) 'युंग' ने मूलादर्शात्मक बिंबों को मान्यता दी है और इन्हें जातीय और सांस्कृतिक तत्त्वों से संबद्ध माना है। इसका सम्बन्ध अतीत की भावनाओं के साथ ही अन्तर्निहित सर्जनात्मक और अनुप्रेरक क्षमता से होता है।

(६) 'सार्त्रे' के अनुसार बिंब कल्पना-प्रवृत्त-चेतना का विषय होता है।

(७) 'लंजर' ने अनुभूति-बिंब की बात उठाई है और 'रसेलब्रेन' तथा 'कोलिंगवुड' ने इन्द्रिय प्रदत्त सामग्री और आत्माभिव्यक्ति को उल्लेख्य माना है। निष्कर्ष रूप में कलाकृति को संवेग का निरूपण करने वाले अनुभूति बिंब की संज्ञा दी गई है।

(८) कला का बिंब सन्दर्भ प्रधान होने के साथ ही किसी निश्चित माध्यम के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

(९) बिंब में यथार्थ का उतना ही उपयोग होता है जितना कि वह कल्पना के कलेवर में खप सकता है।

(१०) बिंब निर्माण इस बात का परिचायक है कि इसके द्वारा कलाकार किसी अभिनव तथ्य को प्रस्तुत करना चाहता है।

(११) बिंब और अनुभूति के घटक का संबंध महत्वपूर्ण होता है।

(१२) काव्य-बिंब ध्वनिमय होता है और यह अन्य दृश्य बिंबों को उद्‌बुद्ध कर सकता है, अतएव इसे अन्य कला-बिंबों से भिन्न माना जाता है।

(१३) प्राय: उत्कृष्ट और निकृष्ट बिंबों की चर्चा की जाती है।

(१४) निकृष्ट बिंब कलाकार के मौलिक ज्ञान के अभाव का द्योतक है, पर उत्कृष्ट बिंब मौलिक और विविध होता है।

बिंब का वर्गीकरण

विनियोग की दृष्टि से विधायक कल्पना के भिन्न भिन्न स्वरूपों से भिन्न प्रकार के बिंब उद्‌भाषित होते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं।

(१) प्राथमिक बिंब (Primary Image)

(२) उत्तरजात या विकसित बिंब (Secondary Image)।

(३) व्युत्पन्न बिंब (Tertiary Image)।

प्राथमिक-बिंब कवि के काव्य जगत के यथार्थ उपादानों की प्रतिच्छाया होते हैं। ये उत्तरजात बिंबों को विकसित करते हैं। ये उत्तरजात बिंब प्राथमिक बिंब के उपादानों की प्रतिच्छाया होते हैं। प्राथमिक बिंब को यथार्थ के प्रतिबिंब के रूप में देखा जा सकता है और उसे नियंत्रित, परिभाषित और प्रत्ययों के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है। उत्तरजात बिंब तभी विश्लेषित और विवेचित किया जा सकता है, जब हम उसे प्राथमिक बिंब या यथार्थ के सन्दर्भ में देखें। इन बिंबों के सही मूल्यांकन के लिए व्युत्पन्न बिंबों को उत्पन्न करना पड़ता है। इस स्तर पर बिंबों से बिंब के उत्पन्न होने अथवा यथार्थ से यथार्थ के प्रतिच्छायित होने के कारण बिंब भावानयन से इतने दूर हो जाते हैं कि उन्हें यथार्थ से संबद्ध कर पाना कठिन हो जाता है और उनका अस्तित्व स्वतंत्र ज्ञात होने लगता है।

कलाकार यथार्थ संसृति के उपादानों के अवलोकन से अपनी जीवनानुभूति को समृद्ध बनाता है। अनुभूति और उसके परिवेश को संघठित करने के लिए प्राथमिक बिंबों का प्रयोग किया जाता है। इनके प्रयोग से जो स्वरूप निर्मित होता है, वह सीमित होता है। कला के विकास में इन्हीं प्राथमिक बिंबों को परिवर्द्धित और संवर्द्धित किया जाता है, अथवा यों कहा जाय कि इन्हीं को तोड़ा और जोड़ा जाता है, और इसी सन्दर्भ में अन्य बिंबों का निर्माण किया जाता है। इस क्रिया में द्वितीय बिंब के अवतरण के समय प्रथम बिंब का आदि स्वरूप तिरोहित हो जाता है। इस स्तर पर बिंब का सन्दर्भ तो यथार्थ होता है, पर वह इसके प्राथमिक स्वरूप से कुछ भिन्न होता है। कहना न होगा कि प्राथमिक बिंब का स्वरुप इस स्तर पर अभिनव सन्दर्भगत विशेषताओं से

अलंकृत रहता है। आरंभिक स्तर पर उपमा या रूपक के रूप में पाया जाने वाला स्वरूप ही उत्तरजात बिंब में प्रतीक के रूप में परिणित हो जाता है। 'यह क्रिया ऐसी होती है जिसमें कलाकार अपनी क्रम-बद्ध जागतिक अनुभूति को सांकेतिक चित्रण द्वारा अभिव्यक्त करता है और उसे अपनी प्रकृति के अनुसार विकसित होने देता है। इस क्रिया के पश्चात् बिंब मूर्त रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। इस क्रिया को बिंब-परिवर्तन की क्रिया भी माना जा सकता है। यहाँ केवल एक बात निर्विवाद रूप से प्रस्तत की जा सकती है कि प्राथमिक बिंब से ही उत्तरजात बिंब का अवतरण होता है उत्तरजात बिंब से व्युत्पन्न बिंब का। इस क्रिया को आत्माभिव्यक्ति, आत्मविकास और आत्मोपलब्धि की क्रिया माना जाता है। इसे उपमा से प्रतीक, अथवा ललित कल्पना से विधायक कल्पना और पूर्ण कल्पना तक का प्रत्यावर्तन कहा जा सकता है।'[1] कुछ लोग ऐसे भी हैं जो विकसित रूप में बिंब के तीन, पाँच अथवा सात रूप मानते हैं जो निम्नांकित हैं—

(१) प्रतीक, रूपक, उपमा।

(२) प्रतीक, रूपकात्मक, लाक्षणिक, रूपक, और उपमा।

(३) प्रतीक रूपकात्मक, लाक्षणिक, रूपक, उपमा, प्रतिलेख, संकेत।

बिंब अपने अर्थ-सन्दर्भ से जिन विशेषताओं को निरूपित करता है यहाँ उन्हीं को किसी न किसी रूप में प्रस्तुत किया गया है, पर द्रष्टव्य यह है कि इस प्रकार का विभाजन बिंब को उसकी समग्रता में समझने में सहायक नहीं हो सकता। इसका प्रमुख कारण यह है कि ये उसके विभेद नहीं अपितु भिन्न कार्य हैं जिनको वह संपादित करता है।

---

1. The process simply is one of the poets discovering a notation for the cosmos of certain experience, and then allowing that notation to develop itself according to its own nature, and produce a further crystallisation. It is also a process of changing of the imagery, from imagery that comments to imagery that expresses itself, and finally to imagery that is itself complete the process is one from comment, by way of self expression and self-development to self realisation. We may also think of it in terms of the process from simile to symbol and from fancy, by way of imagination to vision.

Robin Skelt n—The Poetic Pattern

'रोबिन-स्केल्टन' ने काव्य-बिंब के सन्दर्भ में बिंबों का निरूपण किया है। काव्य का मूल आधार शब्द होता है और प्रयोग के आधार पर इसे विविध प्रकार के बिंबों का वाहक बनाया जाता है। लेखक ने इसी आधार पर अधोलिखित बिंब-विभाजन प्रस्तुत किया है—

(१) सरल-बिंब	ऐसे शब्द जो ऐन्द्रिय अवबोध उत्पन्न करते हैं।	ठण्डा, चमकदार, कड़वा, पीला।
(२) भावानयन प्रधान बिंब	ऐसा शब्द जो ऐन्द्रिय अवबोध नहीं उत्पन्न करता।	सत्य, प्रत्यय, विचार न्याय।
(३) तुरन्त उत्पन्न होने वाले बिंब	ऐसा बिंब जो प्रमुख रूप से स्पर्श, ध्वनि, दृश्य, घ्राण और स्वाद का बिंब पैदा करता है।	पीला, खुरदरा, मीठा।
(४) बिखरा बिंब	ऐसा बिंब जो अस्पष्ट रूप से इन्द्रियों को उद्बुद्ध करता है या जिसका प्रभाव किसी एक बिंब पर नहीं पड़ता।	सम्मिलन, इच्छा, वियोग, शैथिल्य, थकान, साहस।
(५) भावानीत बिंब	ऐसा भावानयन जो ऐन्द्रिय बोध से संबंधितविचारों को मानवीकरण आदि के द्वारा उद्बुद्ध करना चाहता है।	सत्य, दया, प्रेम, यथार्थ, न्याय।
(६) संयुक्त बिंब	शब्दों का ऐसा संघटन जिसमें केवल एक बिंब रहता है।	दान की तरह ठण्ठा, खूनी क्रान्ति।
(७) जटिल-बिंब	शब्दों का ऐसा समुच्चय जिसमें एक से अधिक यथार्थ बिंब रहते हैं।	मधुमक्खी से गूँजित घाटी, सुनहली नर्गिस
(८) संयुक्त भावानीत बिंब	शब्दों का ऐसा समुच्चय जिसमें केवल एक भावमय बिंब हो।	न्यायपूर्ण दया।
(९) जटिल भावानीत बिंब	शब्दों का ऐसा समुच्चय जिसमें एक से अधिक भावमय बिंब तो हो, पर यथार्थ बिंब न हो।	विश्वास पूर्णदान, सत्याश्रित प्रेम।
(१०) भावानीत संयुक्त और भावानीत जटिल बिंब	ऐसे जटिल अथवा संयुक्त बिंब जिसमें भावानयन, बिंब की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है और बिंब भावानयन का सहायक माना जाता है।	स्वर्गिम पूर्णता, पवित्र दान।

लेखक महोदय स्वयं अपने इस विवेचन से पूर्ण सन्तुष्ट नहीं हैं, क्योंकि यह काव्य के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है और अन्य कलाओं पर लागू नहीं हो सकता।

बिंब का क्षेत्र और संघटन—

विगत पृष्ठों में हमने क्षेत्र और संघटन सम्बन्धी सामग्री को प्रस्तुत किया है, और अनुभूति तथा बिंब का परिचय देने के साथ अनुभूति से बिंब के उत्पन्न होने की क्रिया पर भी विचार किया है। यहाँ केवल पूर्व-विश्लेषित सामग्री को और स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जायगा। कहना न होगा कि बिंब सावयव विकास का मुखापेक्षी होता है। इसमें निरन्तर बनी रहने वाली नवीनता, भाव-शबलता और भावोद्बोधन की प्रवृत्ति पाई जाती है। नवीनता के अन्तर्गत वर्ण-विन्यास या सामग्री, या दोनों की नवीनता के आधार पर ऐसे तथ्य का उद्घाटन किया जाता है जो नया ज्ञात होता है। भाव-शबलता के अन्तर्गत कम से कम आयाम में अधिक से अधिक विशेषताओं का आनयन होता है। बिंब सहृदय के अन्तस्थ भावों को उद्बोधित कर के अपने (बिंब) में निहित भाव से सामंजस्य स्थापित करने में समर्थ होता है। कभी बिंब विषय से सम्बद्ध भावों के तर्कपूर्ण विवेचन से अभिनव स्वरूप ग्रहण कर लेता है, तो कभी काव्य की अन्तः प्रवाहित धारा से संग्रथित ज्ञात होता है। इसका निश्चित संघटन होता है। बिंब कल्पना-प्रसूत होता है और कल्पना सहानुभूति से अनुप्राणित रहती है। काव्यगत सहानुभूति अपने जटिल स्वरूप में भूत, भविष्यत् और वर्तमान का आलोड़न, मन्थन और संग्रथन करने में समर्थ होती है। कलाकार संवेदनशील होता है। उसकी संवेदनशीलता सहानुभूति के द्वारा संसृति के उपादानों से टकराती है और उसकी अनुभूति प्ररोचित हो उठती है। यह प्ररोचन भाव के रूप में बदलने के लिए मचल उठता है। इस स्तर को बिंब-संघटना का प्रथम स्तर माना जाता है। इसके पश्चात् कलाकार अनुभूति को उसके संपूर्ण अनुषंगों के साथ मूर्त बनाता है। इस स्थिति में उसका ध्यान केन्द्रित होता है, फिर भी बिंब गतिशील रूप में उसके मानस की कक्षा में कौंधते रहते हैं। उसकी इच्छाशक्ति और बुद्धि के व्यापार निलंबित रहते हैं और उसका अवधान शिथिल। यह बिंब विधान का द्वितीय स्तर है। तृतीय स्तर पर बुद्धि के कार्य-व्यापार सक्रिय हो उठते हैं और कलाकार अपनी कला के सामंजस्य की दृष्टि से बिंब का विश्लेषण आरम्भ कर देता है। यह विश्लेषण बिंब को कला के

अनुरूप ढालना चाहता है। जो बिंब उसके अनुरूप ढल जाता है उसे ग्रहण कर लिया जाता है और जो बिंब ढल नहीं पाता उसे त्याग दिया जाता है। बिंब-सृजन की इस क्रिया में अचेतन का महत्त्वपूर्ण सहयोग होता है। बिंब-सृजन की आरम्भिक अवस्था में उपादान से संबद्ध विचार अस्पष्ट और जटिल होते हैं। कल्पना की क्रियाशीलता इन्हें स्पष्ट बनाती है। कला के निर्माण के अनुसार इन विचारों को या तो ग्रहण किया जाता है, या त्याग दिया जाता है। कला के रूप में परिणित हो जाने पर ये विचार पूर्णतया बदल जाते हैं। मानव का अवचेतन मन विविध विचारों और प्रभावों का भण्डार होता है। इससे पुनः उद्बुद्ध या प्ररोचित होने वाले विचारों को कल्पना बिंब के रूप में बदल देती है। जब अन्तर्मानस से उत्पन्न ये बिंब उपस्कारक तत्त्व के रूप में प्रस्तुत होते हैं, तो ये हमारे विवेचन और विश्लेषण का विषय बन जाते हैं। हम इन्हें समझने का प्रयत्न करते हैं। यही अमूर्त कला के स्वरूप का प्रथम सोपान होता है। इस बिंब के साथ अन्य बिंब भी प्रबुद्ध हो सकते हैं। इन बिंबों के प्रति कलाकार सहानुभूति पूर्ण दृष्टिकोण अपनाता है। इसका प्रमुख कारण यह होता है कि इन्हीं बिंबों के निर्माण पर कला का स्वरूप अवलंबित रहता है। बिंबों के संघटन को कला की तकनीक के अनुसार ढालना पड़ता है। इस कार्य के लिए बुद्धि की अपेक्षा होती है। हर प्रकार का बिंब संघटन कला और तकनीक के साथ समन्वित होता है। कभी-कभी बिंब का आग्रह कला के रूप और तकनीक में परिवर्तन का प्रमुख कारण बन जाता है। बिंबों का सामंजस्य कला के सामंजस्य का सहगामी बन कर ही अपनी अर्थवत्ता प्रमाणित कर सकता है। इसका महत्त्व इस बात पर भी निर्भर करता है कि यह कलाकार के विचार को समन्वित सूत्र में संग्रथित करे। कल्पना की अधिकता या कल्पना की अशक्तता भी बिंब के सृजन की दृष्टि से अनावश्यक है। बिंब-निर्माण की क्रिया अनुभूति को व्यवस्थित करने की क्रिया है। 'रिल्के' ने कहा भी है, "काव्य को प्रायः लोग संवेदन का सहगामी मानने की गलती करते हैं, यथार्थ में यह अनुभूति का प्रतिफलन होता है। कविता की एक पंक्ति को लिखने के लिए व्यक्ति को विविध शहरों, व्यक्तियों और जीवनों को देखना आवश्यक है। उसके निरीक्षण को जीवन के विविध स्वरूपों पर आश्रित होना जरूरी है।...इन दृश्य स्वरूपों की स्मृति ही पर्याप्त नहीं होती। व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि प्रभाव के वैविध्य की स्थिति में वह उन्हें भूल जाय, और तब तक धैर्य पूर्वक उनकी प्रतीक्षा करें जब तक वे पुनः स्मृति में

न कौंध जायँ। जब वे हमारे अन्त:करण का विषय बन जायँ और हम उन्हें सरलता से अपने से अलग न कर सकें, तो किसी ऐसे क्षण में उनसे अद्भुत काव्य की सृष्टि हो सकती है जो सृजन के अनुकूल है।

स्मृति और बिंब की चर्चा की जा चुकी है। वस्तुत: कल्पना स्मृति के आधार पर बिंब-सृजन करती है। स्मृति के भी कई भेद होते हैं। इसे मन के स्वरूप के आधार पर विभाजित किया जाता है। मन के चेतन-स्तर पर पाये जाने वाले बिंब को वैयक्तिक स्मृति बिंब कहा जाता है और अचेतन स्तर तो महान स्मृतियों का आगार हुआ ही करता है। बिंब-सृजन में दोनों का महत्त्व होता है। कहीं-कहीं ये एक दूसरे के पूरक भी होते हैं।

'युंग' सृजन को दो प्रकार का मानते हैं। (१) कलात्मक सृजन और (२) मन:सृष्टि प्रधान सृजन। मानव-चेतना से कलात्मक उपादान ग्रहण करने वाले सृजन को कलात्मक सृजन और मानव मन के अज्ञात गह्वरों से उपादान ग्रहण करने वाले सृजन को मन:सृष्टि प्रधान कला कहा जाता है। प्रथम प्रकार की कला कुछ स्पष्ट और परिचित ज्ञात होती है, पर द्वितीय प्रकार की कला अस्पष्ट, अपरिचित, बहुकोणीय और अज्ञात। 'युंग' ने बिंब के सन्दर्भ में सामूहिक अवचेतन का उल्लेख भी किया है। यहाँ एक बात विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। बिंब-सृजन ही सब कुछ नहीं होता, इसके आधार पर विषय का परिग्रहण, विकास और विस्तार भी किया जाता है। यह क्रिया अवचेतन से चेतन स्तर तक प्रसरित रहती है। इस प्रसार में यथास्थान मूलादर्श भी अन्तर्मुक्त हो कर कला का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

प्रमुख विचारक 'डॉ० नगेन्द्र' ने 'काव्य-बिंब' नामक पुस्तक में, बिंब रचना की क्रिया पर प्रकाश डाला है। उनकी धारणा है कि अनुभूति का सम्बन्ध आत्मा, मन, इन्द्रिय और विषय से होता है, इन्द्रियों का मन के साथ और मन का अन्तश्चेतना के साथ। अन्तिम धरातल पर अनुभूति का चक्र पूरा हो जाता है और वह रूपायित होने लगती है। 'डॉ० नगेन्द्र' ने यहाँ आत्मा और अन्तश्चेतना को पर्याय मान लिया है। वस्तुत: इस तथ्य को वस्तु के बोध (Perception), उससे उत्पन्न संवेग (Sensation), भाव प्रवणता (Feeling) और अनुभूति के स्तरों में विभाजित कर के देखें और अन्तिम स्तर पर बिंब के रूपायन की चर्चा करें तो यह विशेष तर्कसम्मत, मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक होगा। 'नगेन्द्र' जी को भी प्रकारान्तर से इसी तथ्य का संकेत करना अभीप्सित है। इस तथ्य को और स्पष्टतापूर्वक समझने के लिए हम इसी

प्रबन्ध के 'अनुभूति' और अनुभूति सम्बन्धी काव्य-सिद्धान्तों के अध्याय को देख सकते हैं। डॉ० नगेन्द्र ने यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उल्लेख किया है। उनकी धारणा है कि भोगावस्था की परिसमाप्ति के पश्चात् जब अनुभूति संस्कार में रूपांतरित होती है तो वह कला के रूप में परिणित हो जाती है। यह मान्यता स्वयं में पूर्ण है, पर इसमें भी एक उलझन सामने आती है। कलाकार का भोग द्विविध होता है, वह भोगता भी है और अपने भोग को कलात्मक कलेवर भी प्रदान करता है। कलाकार का आसन्न भोग कला के रूप में रूपायित हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। प्रायः यह देखने में आता है कि उसके वासनाजन्य संस्कार स्मृति के द्वारा रूपायित हो कर विधायक कल्पना द्वारा अपने अनुषंगों के सन्दर्भ में बिंब का रूप ग्रहण करते हैं। कवि या कलाकार की क्रिया मुक्ति की क्रिया अवश्य होती है, पर उसकी मुक्ति भी एक प्रकार की भुक्ति हुआ करती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि रूपायन की स्थिति में भोगपरक चिन्तन वस्तुपरक चिन्तन का विषयिगत विषयगत का, और असूर्त मूर्त का रूप ग्रहण करता दृष्टिगोचर होता है। वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक की बात भी बिंब-सृजन में उठाई जाती है, पर ध्यातव्य यह है कि क्या इनके बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जा सकती है? अगर इनके विभेद को मान भी लिया जाय तो भी प्रश्न सुलझता नहीं। इसका प्रमुख कारण यह है कि कला सृजन के मूल में बिंबों का सामंजस्य विशेष रूप से क्रियाशील रहता है। इस सामंजस्य के लिए, सृजन की स्थिति में कलाकार को न मालुम कितनी बार, 'पर्सनल' से 'इम्पर्सनल' और इम्पर्सनल से 'पर्सनल' का अवगाहन करना पड़ता है और उसके माध्यम से सृजन के सूत्रों को संग्रथित करना पड़ता है। यहाँ यह बात अवश्य मानी जा सकती है कि कलात्मक सृजन में भोग परक वस्तु चिन्तन परक वस्तु का रूप ले लेती है और विषयिगत स्वरूप विषयगत को अधिगत कर के अमूर्त को मूर्त स्तर प्रदान करता है। बिंब सृजन इसी संश्लेषण का मुखापेक्षी है। हमारी दृष्टि में किसी पक्ष विशेष के निरसन के स्थान पर, एक का दूसरे में परिणत होना, मिल जाना, समरस होना, अपनी विशिष्टता को त्याग कर दूसरे की विशिष्टता को ग्रहण करना, आदि का उल्लेख विशेष समीचीन और ग्राह्य है।

इस स्थल पर कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्यों का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा। इसमें सन्देह नहीं कि मनोवैज्ञानिक निष्पत्तियों ने साहित्य-सिद्धान्त को प्रभावित किया है। इन निष्पत्तियों में अन्तर्भावना (Empathy), भावों के

स्थानान्तरण (Emotional transference) और नियन्त्रित प्रत्यावर्तन (conditioned reflex) का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। इनका उल्लेख विगत पृष्ठों में कर दिया गया है। यहाँ केवल बिंब के सन्दर्भ में इनके सहयोग का उल्लेख ही अभीप्सित है। वस्तुतः 'एम्पैथी' तन्मयीभाव, समानुभूति, अथवा अन्तर्भावना की क्रिया है। इस क्रिया के द्वारा कलाकार उपादान के साथ तादात्म्य का अनुभव कर के उसकी विशेषताओं का साक्षात्कार करता है और उसके स्पन्दनों, दीप्तियों और विशिष्टताओं को अपने अन्दर समेट लेने का प्रयत्न करता है। इस स्थिति में द्रष्टा और दृश्य में कोई भेद नहीं रह जाता। मानव की अन्तश्चेतना अपनी संपूर्ण विशेषताओं को उपादान पर आरोपित कर देती है, और उपादान भी अपनी संपूर्ण विशेषता से उपादान को आलोकित कर देता है। अन्तर्भावना का उद्बोधन व्यक्ति में अद्भुत वीक्षा-शक्ति उत्पन्न करता है और उपादान के रहस्यमय स्वरूप और परिवेश को भी स्पष्ट बनाता है। यह विधायक कल्पना को भी सक्रिय बनाता है। कल्पना और अन्तर्भावना के संपुट से भावों का स्वरूप निर्मित होता है। ये भाव अपने मौलिक रूप में संचरण और संक्रमणशील होते हैं। ये अपनी विशिष्टता से अनन्त भावों और अनुभूति जन्य बिंबों को प्रबुद्ध कर सकते हैं। कला को मूर्त बनाने के लिए इन्हें स्थानान्तरित करना आवश्यक है। यह क्रिया नियन्त्रित प्रत्यावर्तन द्वारा ही संभव होती हैं। 'पावलोव' के इस सिद्धान्त से यह तथ्य पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाता है कि हमारे अनेक मनोभाव एवं मनोविकार इसी क्रिया से अनुशासित होते हैं। पूर्ववर्ती पृष्ठों में प्रतिपादित सिद्धान्तों में इस तथ्य के सूत्र सरलता से ढूँढ़े जा सकते हैं।

बिंब-प्रयोग और कार्य—

बिंब-सृजन कल्पना पर आधारित होता है और कला के क्रिया-पक्ष का प्रतिफलन माना जाता है। यह विचार-चित्र से भिन्न होता है। विचार-चित्र में प्रत्यक्ष घटित होने वाली घटनाओं का आश्रय प्रमुख होता है पर बिंब प्रत्यक्ष धारणा से प्रायः असंबद्ध होता है। कुछ विचारकों के अनुसार उत्पादक कल्पना से विचार-चित्र मिलते हैं और पुनरुत्पादक कल्पना से बिंब। विचार-चित्र सामान्य होते हैं और बिंब-विशेष। बिंब-विधान 'सादृश्य और तुलना' पर आधारित होता है। कलाकार बिंब के माध्यम से प्रायः विरोधी और अमूर्त वस्तुओं को कलात्मक कलेवर प्रदान करता है। बिंब के मूल में कल्पना सदैव

विद्यमान रहती है। यह संश्लेषण सक्षम होती है। कलाकार के आन्तरिक विचार अमूर्त और जटिल होते हैं, इनकी कलात्मक अभिव्यक्ति इनकी समुचित व्यंजना पर निर्भर रहती है। बिंब-विधान में अमूर्त को मूर्त बनाने की अद्भुत क्षमता होती है। बिंब सहृदय को प्रभावित करता है और इस प्रभाव के माध्यम से कला के तत्त्वों को स्थायी बनाता है। इसमें दृश्य-कला के तत्त्वों की विशेषतायें पाई जाती है। यह पुनरुत्पादक कल्पना से उद्बुद्ध होता है, अतएव इन विशेषताओं के अतिरिक्त इसमें मानस के क्रिया की कुछ अन्य विशेषतायें भी प्रस्तुत रहती हैं। बिंब अनुभूति जन्य होता है। यह इन्हें सघन बनाने के साथ ही अभिव्यक्ति सक्षम स्वरूप भी प्रदान करता है। अनुभूति में ऐन्द्रिय विशेषतायें पाई जाती हैं। कहना न होगा कि जो अनुभूति जितनी तीव्र होती है, उसमें ये ऐन्द्रिय विशेषतायें उतनी ही अधिक होती हैं। इस प्रकार की अनुभूति से निर्मित बिंब सदैव उत्कृष्ट होते हैं। बिंब संक्रमणशील होते हैं। ये अपने साथ अनन्त भाव-राशि का उद्बोधन करते हैं। ये वासना-जन्य संस्कारों से प्रभावित होते हैं और मन में प्रसुप्त पड़े हुए स्मृति-अवशेषों को भी झंकृत कर सकते हैं। बिंब-निर्माण, पुनर्निर्माण की क्रिया हैं। इसके स्वरूप में कोई न कोई संवेदना सदैव निहित रहती है। हर बिंब की एक निश्चित विशेषता, निश्चित सन्दर्भ और निश्चित अनुषंग होता है। इसमें विच्छित्ति पाई जाती है। वह किसी न किसी केन्द्रीय भाव का परिचायक होता है और कुछ अन्य सहयोगी भावों को भी अभिव्यक्त करता है। बिंब संघटना में यथार्थ को उसी अंश तक मान्यता दी जाती है, जिस अंश तक वह उसके कलेवर में खप सकता है। बिंब के माध्यम से प्रकृति के चित्रों का स्वतन्त्र उपयोग संभव होता है, पर कलाकार इसे अपने विशिष्ट दृष्टिकोण का वाहक बनाता है। वह इसके द्वारा, दृश्य सत्य या यथार्थ से भिन्न अनुभूति जन्य सत्य को अभिव्यक्त करता है। बिंब-सृजन कलाकार के तकनीकी कौशल का परिचायक होता है। इसके माध्यम से उसके वैयक्तिक बोध को सरलता से परखा जा सकता है।

विशेष—

गंभीरता से विचार करने पर एक बात स्पष्ट हो जाती है कि बिंब-निर्माण के विविध उपस्कारक तत्त्व हैं। दृष्य वस्तु, संवेदन, विचार, धारणा या प्रत्यय उपमान या अप्रस्तुत विधान, किसी व्यंजक घटना आदि से भी बिंब निर्मित होते हैं। इनमें यथातथ्य अनुभूत विचारों के साथ ही कल्पनाश्रित रूप विधान का

विशेष सहयोग रहता है। कुछ लोगों ने स्मृति को विशेष महत्वपूर्ण स्थान दिया है। 'लोवेल' इसके साथ ही अनुषंग का उल्लेख भी करते हैं। इनके अनुसार यह स्मृति उस गहरे कूप के सदृश है जिसमें अनुभूति के सभी तत्व तिरोहित होते रहते हैं। स्मृति के रंग से रंगते ही अनुभूति के सभी तत्व सजीव हो जाते हैं और पूर्ववर्ती स्थिति से अधिक वैभव पूर्ण स्वरूप में रूपायित होने लगते हैं। 'लोवेल' की धारणा है कि स्मृति के साथ ही मनःसृष्टि और संकल्प भी कल्पना-प्रधान सृजन के लिए आवश्यक हैं। मनःसृष्टि तत्त्वों को समन्वित कर के उन्हें उचित विन्यास के माध्यम से अभिव्यक्ति सक्षम बनाती है। इस स्थिति में इच्छा शक्ति या संकल्प मनःसृष्टि का सहायक और पूरक होता है। इसी के माध्यम से मनःसृष्टि अपनी सार्थकता प्रमाणित करती है। इस प्रकार सृजन ही नहीं अपितु बिंब सृजन में कई क्रियायें एक साथ गतिशील होकर सामंजस्योन्मुख होती रहती हैं। ज्योंही यह सामंजस्य एक निश्चित दिशा की ओर अग्रसर होता है, (त्यों ही) सृजन मूर्तस्वरूप ग्रहण करने लगता है। इस सन्दर्भ में अनुभूति और संवेग का उल्लेख किया जाता है। इसमें कोई शक नहीं कि ये सम्बद्ध होते हैं, पर इसके बावजूद इनमें सामान्य भिन्नता भी पाई जाती है। इनके अन्तर को व्यक्ति और व्यक्तित्व के अन्तर से स्पष्ट किया जा सकता है। वाह्य दृष्टि से व्यक्ति और व्यक्तित्व में अन्तर नहीं पाया जाता, पर आन्तरिक दृष्टि से इनमें भेद करना आवश्यक हो जाता है। व्यक्तित्व, व्यक्ति का वह स्वरूप होता है जिसका निर्माण प्रच्छन्न और अदृश्य अन्तर्निहित शक्तियों के आधार पर होता हैं। अतएव इसमें व्यक्ति के उदात्त, अनुदात्त, अच्छे-बुरे, संकलपमय-संकलपविहीन तथा भावावेगमय-तटस्थ घात-प्रतिघातों का कार्य-व्यापार चलता रहता है। इन्हीं के माध्यम से व्यक्ति का व्यक्तित्व बनता है संवेग वैयक्तिक होता है और अनुभूति अंशतः निर्वैयक्ति। अगर इसे वैयक्तिक माना भी जा सकता है तो केवल इसी अर्थ में कि यह व्यक्ति के मानस में उत्पन्न होती है। संवेग में अनुभूति की ऐसी जटिल संघटना पाई जाती है जो व्यक्तित्व को संरक्षित और परिपोषित करती है। संवेग अन्तर्मुखी या केन्द्राभिमुखी होता है। संवेग की अवस्था में व्यक्ति वाह्य संसृति के कार्य-व्यापारों से कट कर अन्तःस्वरूप की ओर उन्मुख रहता है। इस प्रकार यह बोध को सीमित करने का प्रमुख माध्यम होता है। इसे मानसिक उत्तरदायित्व का प्रतिरूप माना जा सकता है। अनुभूति का संबंध मूल्य से होता है पर संवेग का विशृंखल सशक्त भावावेग, अहं और ख्याली कल्पना से। 'ह्वले' महोदय ने सृजन के सन्दर्भ में अनुभूति को दुहरी क्रिया माना है। उनके अनुसार इसमें किसी बात

की अनुभूति, (feeling of something) और किसी बात के लिए अनुभूति (feeling for something) का भाव विद्यमान रहता है। इसमें संबंध की भावना पाई जाती है। इस परिप्रेक्ष्य में अनुभूति को मूल्य का ऐसा स्वरूप माना जा सकता है जो यथार्थ के घटनामय स्वरूप से उद्‌बुद्ध होता है। अनुभूति में निर्माणक क्षमता होती है। यह व्यक्ति को उसके आग्रह से मुक्त कर के व्यापक सहानुभूति की क्षमता प्रदान करती है। इसी सहानुभूति के कारण व्यक्ति दृश्य-अदृश्य, अपरोक्ष-परोक्ष और प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का समुचित अवगाहन कर के ऐसी सामग्री ढूँढ़ लाता है जो सृजन की उपजीव्य है। सक्रिय स्वरूप में इसमें मनोवेग की तीव्रता भी पाई जाती है। ये भावावेग अनुभूति को स्थायी बनाते हैं। विशुद्ध अनुभूति आकाश-कुसुम है। यह पहले तो उपलब्ध नहीं होती, और अगर कुछ अंशों में प्राप्त होती भी है तो अधिक समय तक बनी नहीं रहती। इसी आधार पर नकारात्मक क्षमता (negative capability) की बात उठाई जाती है। इससे दो बातों की ओर दृष्टि जाना स्वाभाविक है। पहली बात यह कि यथार्थ त्रिशंकुवत-सम्बन्ध निरपेक्ष भाव से अधर में लटकने वाला तथ्य नहीं होता। उसका निश्चित सम्बन्ध और सन्दर्भ होता है। दूसरी बात यह कि कलाकृति का मूल्यांकन केवल भौतिक आधार पर नहीं किया जा सकता। इसका प्रमुख कारण यह है कि यथार्थ निरूपण होने के बावजूद कलाकृति में अन्य चेतन अथवा अचेतन स्वरूप भी निहित रहते हैं जिनकी व्याख्या केवल स्थूल आधार पर नहीं की जा सकती। कविता की आन्तरिक छान-बीन के सन्दर्भ में बिंब का उल्लेख तो किया जाता है, पर इसके और प्रातिबोधिक अनुभूति के संबंध को आँख से ओझल कर दिया जाता है। तथ्य यह है कि प्रातिबोधिक अनुभूति ही अनुभूति की सृजक होती है। यह कलाकार को अनंत सहानुभूति से अलंकृत करती है। गंभीरता से विचार करने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि कलाकार का व्यक्तित्व भी दुहरा होता है। वह सामान्य व्यक्ति के रूप में जीवन के घात-प्रतिघातों को देखता है, पर कलाकार के रूप में उनका अनुभव करता है। इस अनुभव की स्थिति में उसकी चेतना परिष्कृत और प्रबुद्ध रहती है। यह स्थिति तादात्म्य या पूर्ण समानुभूति की स्थिति होती है। जिस समय व्यक्ति कलाकार के रूप में इनका अन्वीक्षण या परीक्षण करता है, उसी समय वे सृजन में रूपायित नहीं होने लगती। वे कुछ समय तक उसकी स्मृति में पड़ी रहती है। इस प्रकार एक नहीं अनेक विचार स्मृति में संग्रहीत होते जाते हैं। यह स्मृति विधायक कल्पना की प्रेरणा से गतिशील होकर कला का कलेवर

ग्रहण करने लगती है। समीक्षकों और सर्जक कलाकारों ने इसी बात को काल की दूरी का नाम दिया है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि स्मृति मात्र में संजो लेने से ही यथार्थ जीवनबोध कला में नहीं परिणित हो जाता। स्मृति की जटिलता की स्थिति में इसे सहलाना, दुलराना, पुचकारना और आवश्यकता पड़ने पर भूलना पड़ता है। पुनः शान्तिपूर्वक उस क्षण की प्रतीक्षा करनी पड़ती है जब वे निश्चित प्ररोचना से उदबुद्ध हो कर कला के रूप में परिणित हो जाते हैं। इस प्रकार की कला में एक जीवनी शक्ति पाई जाती है। विधायक कल्पना भी सर्वप्रथम इन्हीं स्मृति में सुप्त पड़े बिंबों को क्रियाशील बनाती है, और पुनः चुनाव और निर्माण के द्वारा उन्हें निश्चित स्वरूप प्रदान करती है। बिंब-निर्माण की इस स्थिति में स्मृति कल्पना की सहायक होती है। वह केवल अनुभूति को ही समन्वित नहीं करती अपितु कल्पना-प्रसूत स्वरूप को भी मूर्त बनाती है। यह बिंबों के एकत्रीकरण और उसे अभिनव रूप प्रदान करने की क्रिया तक होने वाले सारे कार्य-व्यापारों को सृजन की निश्चित दिशा प्रदान करती हैं।

निष्कर्ष—

(१) बिंब विधायक-कल्पना से उत्पन्न होता है।

(२) मनोविज्ञान में इसे मानसिक पुनर्सृजन, स्मृति तथा भूत की संवेदनशील और प्रातिबोधिक अनुभूति का पर्याय माना जाता है। इस निकाय के विचारक इसके ऐन्द्रिय स्वरूप और भागवत स्वरूप पर विचार करते हैं।

(३) मूलादर्शात्मक बिंबों के सन्दर्भ में आनुवंशिक, जातीय और सांस्कृतिक तत्वों का विवेचन किया गया है। यह एक ओर अतीत की भावना से अनुप्राणित रहता है और दूसरी ओर अन्तर्निहित सर्जनात्मक और अनुप्रेरक क्षमता से।

(४) 'सार्त्र' ने बिंब की चर्चा करते हुए चेतन घटना के आत्मनिर्भर उपादान का उल्लेख किया है।

(५) बिंब अनुभूति से संबद्ध होता है। यह हमारे बोध को सुनिश्चित स्वरूप प्रदान करता है। इसीलिये कलाकृति को अनुभूति बिंब का माना जाता है। अनुभूति के बिंब की कुछ विशेषतायें होती हैं। इसमें प्रेरक तत्त्व के साथ ही दिशा निर्देशक तत्त्व की विशेषता विद्यमान रहती है। इसमें संबंधित वस्तु, उपादान या विचार की अनुभूति भी पाई जाती है।

(६) कला के बिंब और अन्य बिंबों में अन्तर होता है। बिंब भौतिक और प्रातिबोधिक स्वरूपों से संबद्ध होते हैं। प्रथम में प्रत्यय और विश्लेषण की प्रधानता

होती है और द्वितीय में कल्पना और संश्लेषण की। प्रथम अकलात्मक होता है और द्वितीय कलात्मक।

(७) बिंब को उत्पन्न करने वाली लालित्यबोधीय स्थिति उसी समय प्रस्तुत होती है जब मस्तिष्क संवेदन और प्रभाव के नैरन्तर्य में व्यवधान प्रस्तुत करता है।

(८) बिंब के माध्यम से कलाकार अपनी अन्तर्दृष्टि को रूपायित करता है।

(९) बिंब निर्माण की क्रिया इस तथ्य की परिचायक होती है कि इसके माध्यम से कलाकार दृश्य तथ्य या यथार्थ सत्य से भिन्न किसी अन्य तथ्य को निरूपित करना चाहता है।

(१०) कला-बिंब प्रभाव-बिंब के सदृश होता है, पर इसमें प्रथम की तुलना में अधिक विशेषतायें पाई जाती हैं।

(११) बिंब और अनुभूति के घटकों का संबंध विशेष महत्त्वपूर्ण है।

(१२) काव्य-बिंब ध्वनि के माध्यम से कई प्रकार के श्रुत और दृश्य बिंबों को उद्‌बुद्ध करता है।

(१३) बिंब और स्मृति का संबंध विशेष रूप से ध्यातव्य है। स्मृति बिंबों को संगठित करती है और अनुषंग की स्थिति में उन्हें संश्लेषित भी करती है।

(१४) बिंब कला का प्रमुख रंजक उपादान है।

(१५) बिंब में बौद्धिक तत्व का अभाव होता है।

(१६) यह शब्द-चित्र है और इसमें ऐन्द्रिय विशेषतायें पाई जाती हैं। यह अलंकारिक होता है। इसके परिवेश में मानव के भावावेग अवश्य विद्यमान रहते हैं। यह सामाजिक में भाव-संवेग उत्पन्न करता है।

(१७) हर बिंब उपादान की पुनर्गवेषणा करता है और अनुभूति के सन्दर्भ से हमें परिचित कराता है।

(१८) उत्कृष्ट बिंब कलाकार के मौलिक ज्ञान और निकृष्ट बिंब उसके मौलिक ज्ञान के अभाव का परिचायक होता है। प्रथम प्रकार के बिंब का प्रयोग सघनता, स्पष्टता और भावशबलता के लिए किया जाता है इससे कलाकार की सूक्ष्म ग्राहकता और उसका विषय-बोध हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है।

(१९) बिंबों के सन्दर्भ में प्राथमिक बिंब, विकसित बिंब और व्युत्पन्न बिंब का उल्लेख किया जाता है। प्राथमिक बिंब काव्य-जगत के यथार्थ स्वरूप

की प्रतिकृति होते हैं। इन्हीं से उत्तरजात या विकसित बिंब उत्पन्न होते हैं। इन बिंबों के सही मूल्यांकन के लिए व्युत्पन्न बिंब का सहारा लेना पड़ता है।

(२०) बिंब जीवन की असीम अनुभूति को ससीम बनाने के प्रमुख साधन हैं।

(२१) बिंब सावयव विकास का मुखापेक्षी होता है।

(२२) बिंब निर्माण के कई स्तर हैं। अनुभूति का अभिव्यक्ति के लिए मचलना प्रथम स्तर का परिचायक है। पुनः इसके सम्मूर्तन की स्थिति में इच्छा-शक्ति अवधान और बुद्धि व्यापार का स्थगन दूसरा स्तर। तृतीय स्तर पर कलाकार बुद्धि के आधार पर उसका विश्लेषण करता है और अन्तिम स्तर पर सामग्री चयन का अवलंब ग्रहण करते हुये इन्हें अभिव्यक्त किया जाता है।

(२४) बिंब-निर्माण में कलाकार की चेतन और अचेतन सभी प्रकार की क्रियाओं का सहयोग होता है।

(२४) बिंब-निर्माण में कल्पना की अतिशयता या क्षीणता से बाधा पहुँचती है।

(२५) 'डॉ० नगेन्द्र' ने चेतना के स्वरूप के आधार पर बिंब-निर्माण की क्रिया को प्रस्तुत किया है। भारतीय विचारक चेतना के सन्दर्भ में विषय, इन्द्रिय, मानस और आत्मा का उल्लेख करते हैं। इनमें संबंध भी होता है। आत्मा चेतना के विकास का परमोत्कृष्ट स्वरूप है। इसी से बिंब का अवतरण होता है।

(२६) बिंब-निर्माण में कलाकार के विषयगत और विषयिगत दोनों स्वरूपों का सहयोग रहता है।

(२७) बिंब विचार-चित्र से भिन्न होता है।

(२८) इसमें सादृश्य और तुलना को विशेष महत्त्व दिया जाता है।

(२९) बिंब-निर्माण पुनर्निर्माण की क्रिया है।

(३०) बिंब-निर्माण में अनुभूति और संवेग का सहयोग होता है, पर इनके विभेद को समझना आवश्यक है।

द्वादश-तरंग

मन:सृष्टि

विगत अध्याय में विधायक कल्पना, प्रतिभा और स्वप्न के सन्दर्भ में मन:-सृष्टि की सामान्य चर्चा की गई है, पर वह संकेतमात्र है। यहाँ अब मन:सृष्टि के उस सैद्धान्तिक पक्ष का निरूपण किया जायगा जो सृजन में सहायक होता है। मन:सृष्टि के सन्दर्भ में 'मिथक' स्वप्न, कल्पनालोक और वायवी कल्पना का उल्लेख किया जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि आरंभ में ही विवेचन-क्रम में आने वाले इन शब्दों को समझ लिया जाय।

'प्रतीक' के विवेचन के समय 'मिथक' का उल्लेख किया गया है। अतएव यहाँ व्यापक विवेचन अपेक्षित नहीं, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि 'मिथक' पूर्ववर्ती व्यक्ति के सामूहिक स्वप्न और अनुभव का प्रतिमान है। इसके दो धरातल हैं, (१) प्रत्यक्षीकरण का धरातल और (२) अवधारणा का धरातल। प्रत्यक्षीकरण के धरातल पर मूलादर्श पाये जाते हैं और अवधारणा के धरातल पर प्रतीक। मिथक अनुभूतिपूर्ण होता है, और इसमें विश्वास का स्वर विद्यमान रहता है। वायवी कल्पना के समावेश के बावजूद निहित अनुभूति प्रकृत्या गंभीर होती है। यह (मिथक) आश्चर्य-चकित कर सकता है। मन:सृष्टि इसी प्रकार के मिथकों से अपने सूक्ष्म-तंतुओं का निर्माण करती है। अतएव इसमें (मन:सृष्टि और मिथक में) साधन और साध्य का संबंध पाया जाता है।

कल्पना पर आश्रित ख्याली मनोसृष्टियों को 'यूतोपिया' कहा जाता है। इसमें आदश के प्रति आग्रह होता है। इसका आधार अयथार्थ अस्तित्वहीन भावना जगत होता है। मनोवैज्ञानिकों ने इसके तीन स्वरूपों का उल्लेख किया है। (१) यह कल्पना पर आश्रित सृजन है जिसे रुग्ण मानस का व्यक्ति यथार्थ मान लेता है। (२) कभी-कभी इसे दिवा-स्वप्न का पर्याय माना जाता है, और (३) प्रायः व्यक्ति आन्तरिक द्वन्दों से मुक्त होने और दमित वासनाओं को

संतुष्ट करने के लिए, इस प्रकार के ख्याली पुलाव पकाता है। मन:सृष्टि को केवल ख्याली पुलाव नहीं माना जा सकता। ऐसा भी देखने में आता है कि मन:सृष्टि के मूल में ये यूतोपिया-जनित कल्पनायें विद्यमान रहती है, और प्रच्छन्न रूप से कला में स्थान भी पा जाती हैं। साहित्य और कला में इस संक्रमण के प्रभूत उदाहरण ढूँढ़े जा सकते हैं।

मन:सृष्टि, वायवी कल्पना और स्वप्न को लेकर मनोविज्ञान में पर्याप्त विवाद हुआ है। इस विवाद से एक बात साफ हो गई है कि इसका संबंध अव-बोध से होता है। अतएव इसे समझने के लिए अवबोध की सामान्य व्याख्या अपेक्षित है। **'ह्वाइट हेड' का कहना है, "किसी उपादान के बोध के समग्र मस्तिष्क अपने द्वारा प्रक्षेपित संवेदनों का अनुभव करता है। यह प्रक्षेपण वाह्य संसृति के उपादानों को मानसिक परिवेश प्रदान कर के उन्हें मूर्तस्वरूप में प्रस्तुत करता है।"** इस स्थिति में उपादान के प्रकृत स्वरूप और दृश्य स्वरूप के भेद को समझना आवश्यक है। 'रसेल ब्रेन' इस तथ्य से अवगत हैं और वे इस भौतिक और प्रातिबोधिक स्वरूप की भिन्नता से हमें परिचित कराते हैं। उन्हीं के शब्दों में, **"भौतिक परिवेश अनुमानित भौतिक उपादानों के अनुमानित संबंध पर आश्रित रहते हैं पर प्रातिबोधिक परिवेश इन प्रत्ययों के प्रातिबोधिक संबंध पर।"** इनका एक अनुभवगम्य स्वरूप होता है जिसे अवबोध द्वारा जाना और भाषा द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। इस क्रिया का निरूपण उनके अधो-लिखित गद्यांश द्वारा होता है।[1] स्नायु विशेषज्ञ पशुओं के साथ अन्य लोगों के

1. The neurologist observes the brain of animals and of other people. From the behaviour of both and from the answers which patients give to his question, he discovers that, when an object is perceived, a series of events occures, successively in time, beginning with an event with the object and ending with an event in subjects brain. If the series is interrupted at any point between the object and cerebral cortex of the subject the object is not perceived. If the relevant area of the cortex is destroyed, the object again is not perceived. But if the relevant area of the cortex is electrically stimulated, while the subject is conscious, sense data of a kind aroused by an object, are perceived by the subject. Thus it is held that events immediately preceding, or perhaps synchronous with the per-

मस्तिष्क का अध्ययन करता है। दोनों के व्यवहार, और रुग्ण व्यक्तियों द्वारा प्राप्त हुए प्रश्नों के उत्तर के आधार पर वह इस बात का निर्णय करता है कि, जब कोई उपादान देखा जाता है तो देखने के काल में एक साथ ही घटनाओं की शृंखला घटित होती है। **यह शृंखला उपादान से संबद्ध किसी घटना से आरम्भ होती है और द्रष्टा के मस्तिष्क से संबंधित घटना के साथ समाप्त हो जाती है।** अगर द्रष्टा के मस्तिष्क के वाह्यक में उपादान के देखने की दिशा में कोई व्यवधान आ जाता है तो हम उपादान को नहीं देख पाते हैं। अगर मस्तिष्क के वाह्यक से संबद्ध क्षेत्र नष्ट हो जाता है तो भी उपादान नहीं देखा जा सकता है। अगर मस्तिष्क के वाह्यक का यह संबद्ध क्षेत्र द्रष्टा की चेतनावस्था में विद्युत् से प्ररोचित और उद्बुद्ध कर दिया जाता है तो उपादान से प्राप्त आँकड़े को द्रष्टा देखने लगता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि **बोध के साथ घटित होने वाली या समकालिक घटना भौतिक रासायनिक प्रकृति की होती है और वह इसी विशेषता के साथ द्रष्टा के मस्तिष्क के वाह्यक में घटित होती है। अतएव इन्द्रिय प्रदत्त सामग्री को समझने की प्रमुख शर्त वाह्य घटना नहीं अपितु इसका मस्तिष्क के वाह्यक पर पड़ने वाला प्रभाव है।''** उपर्युक्त उद्धरण में ऐन्द्रिय अवबोध और मस्तिष्क के वाह्यक के संबंध पर विचार किया गया है। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि संवेदन की विशिष्टता इसी उपर्युक्त क्रिया की मुखापेक्षी होती है। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि किसी वस्तु के देखने और सुनने से स्नायु संस्थान में अपेक्षित परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन किसी न किसी रूप में मस्तिष्क के वाह्यक से संबद्ध होता है। यही क्रिया किसी दृश्य को देखने या ध्वनि को सुनने की आवश्यक शर्त है। इसके अभाव में वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं होता। इन्द्रिय-प्रदत्त-आँकड़ों का सिद्धान्त (Sense Datum-Theory) प्रकारान्तर से इसी सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है। इस सन्दर्भ में स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि को इन्द्रिय प्रदत्त स्वरूप और इन तथ्यों का अभिज्ञान कराने वाली वृत्ति को संवेदन की संज्ञा दी जा सकती है। स्नायु संस्थानीय परिवर्तन सामान्य बोध की दिशा को दिखलाते हैं। वे ऐसे व्यक्तियों का विवरण प्रस्तुत करते हैं, जो भ्रम (Illusion) अथवा मति विभ्रम (Hallucination) को उत्पन्न करते हैं

---

ception of an object is an event of physico-chemical kind in the subjects cerebral cortex.........The only independently necessary condition for the awareness of sense-data is an event in cerebral cortex.

और स्नायु संस्थान के उस परिवर्तन पर भी प्रकाश डालते हैं, जिनसे ये भ्रम और मति भ्रम उत्पन्न होते हैं। इनके स्वरूप को निराकृत कर लेने से बोध के प्रमुख पक्ष मनःसृष्टि और वायवी कल्पना को और उपयुक्तता के साथ समझा जा सकता है।

भ्रम और मति विभ्रम असामान्य अनुभूति हैं। इनकी अनुभूति प्रायः संबद्ध उपादान से भिन्न होती है। इसका कारण यह है कि इनका संबंध कल्पना के वायवी रूप से होता है जो यथार्थ उपादानों पर एक परदा डाल देता है। इस स्थिति में द्रष्टा को इन्द्रिय-प्रदत्त सामग्री का ही मुखापेक्षी होना पड़ता है। अगर कल्पित उपादान की स्थिति में इन्द्रिय-प्रदत्त-बोध प्रस्तुत रहता है तो यथार्थ बोध की स्थिति में इसका पाया जाना और भी स्वाभाविक है। इन बोध की दशाओं में मनःसृष्टि महत्त्वपूर्ण कार्य संपादित करती है। ऐसा देखने में आया है कि कुछ व्यक्तियों में, यह सृष्टि की क्रिया उत्तेजक दवाओं या द्रव्यों को ग्रहण करने से और तीव्र हो जाती है। 'कोलरिज' की कविता 'कुबला खाँ' इसका उत्कृष्ट प्रमाण है। 'वाराणसी' में 'शंकर की बूटी' ग्रहण कर के काव्य सृजन करने वाले लोगों का अभाव नहीं। इस तथ्य के उल्लेख की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि 'मनःसृष्टि', भ्रम और मतिभ्रम के भेद को समझने का कोई साधन नहीं उपलब्ध हो सका है। अब तक इसे केवल अनुभूति और उपादान के संबंध के आधार पर प्रस्तुत किया जाता रहा है। इस सन्दर्भ में यह बात विशेष रूप से ध्यातव्य है कि अवबोध में निहित मनःसृष्टि भौतिक घटना विशेष से नहीं अपितु उसके क्रम से उत्पन्न होती है। द्रष्टा के मानस में घटित होने वाली घटना और दृश्य उपादान से संबद्ध घटनाक्रम, प्रकृत्या इतने भिन्न होते हैं कि प्रत्यय के गुणों और उपादान के गुणों में कोई साम्य नहीं रह जाता। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रातिबोधिक स्वरूप द्रष्टा की मानसी प्रतिकृति होता है। मनःसृष्टि की इस क्रिया में स्नायु-व्यतिक्रम के कारण कभी-कभी कलाकार को भ्रम और मति विभ्रम की अनुभूति भी होती है। अच्छा कलाकार इन्हें आवश्यक कलात्मक कलेवर प्रदान करने में समर्थ है। 'शेक्स्पीयर' के 'मैकबेथ' और स्वच्छन्द धारा के कवियों की रचनाओं में इसके प्रभूत उदाहरण मिलते हैं। 'रसेल ब्रेन' ने मानव मन में निहित इस मनःसृष्टि का निरूपण करते हुए लिखा है, 'मस्तिष्क के वाह्यक का प्रमुख कार्य सभी विशेषताओं को प्रतीकरूप में निरूपित करना, उनमें पाये जाने वाले स्थानगत संबंध को प्रस्तुत करना और हमारे शरीर और वाह्य् संसृति के संबंध के विषय में उसी प्रकार

की प्रतीक सूचना देना है। ये सभी सूचनायें केवल हमारे बोध या चिन्तन के लिए नहीं प्रस्तुत की जातीं, (पर कभी-कभी इनका स्वरूप भी उसमें विद्यमान रहता है) ये तो इसलिये प्रस्तुत की जाती हैं कि हम क्रियाशील हों। ये सभी क्रियायें किसी न किसी रूप में मस्तिष्क की प्रमुख कियाओं से संबंध स्थापित कर लेती हैं।"[1] मन:सृष्टि का संबंध प्रक्षेपण से भी होता है। प्रक्षेपण की स्थिति में कलाकार ऐसी मन.सृष्टि को दूसरों पर आरोपित करता है, जिससे वह स्वयं प्रताड़ित, पीड़ित और शर्मिन्दा है। अपनी इस क्रिया द्वारा वह अपने ही अभाव से ग्रसित अन्य व्यक्ति की प्रतिभा निर्मित कर लेता है और उस पर अपने दोषों को आरोपित कर के सरलता से मुक्त हो जाना चाहता है। इस प्रकार की मन:सृष्टियाँ कल्पना का अच्छा उदाहरण पेश करती हैं। कुछ विचारकों ने इसी के आधार पर कला-सृजन को इच्छा-पूर्ति का प्रतिफलन कहा है। इस प्रकार की मनोसृष्टि भी वायवी-कल्पना का ही एक रूप होती है। 'फान्तासी' के प्रयोग पर कुछ लोगों को आपत्ति हो सकती है, पर गंभीरता-पूर्वक विचार करने से उसका भी जीवनाश्रित आधार मिल जाता है।

स्वप्न और मन:सृष्टि का विवेचन भी महत्त्वपूर्ण है। इस विचारधारा के प्रमुख समर्थक 'फ्रायड' माने जाते हैं। इनकी धारणा है कि स्वप्न और कला में निकट का संबंध होता है। इनके अनुसार स्वप्न उस दमित भावना का प्रकटीकरण है जिसे हम अपनी जागृतावस्था में पूरा नहीं कर पाते हैं। इसका संबंध सचेतन अवस्था में अनुभूत तथ्यों के साथ होता है। इस अर्थ में इसे किसी चित्रवृत्ति की प्रतिकृति भी माना जा सकता है। स्वप्न की दो विशेषतायें होती हैं, (१) इसका क्षेत्र जीवन का यथार्थ स्वरूप होता है और (२) इसमें क्रियागत

1. The receptive function of the cerebral-cortex is to provide us with a symbolical representation of the whole of the external world, not only distinguishing objects by their qualities, but also conveying to us spatial relationships which exists between them, and at the same time giving us similar symbolical information, about our own bodies and their relationship with external world. All this information ofcourse, is given us not merely for the sake of pure awareness or contemplation, though that may sometimes be byproduct of it, but in order that we may act ; hence it is linked in ways with which we are familiar with motor activities of the brain.

सामंजस्य पाया जाता है। इसकी दूसरी विशेषता महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। जागृत अवस्था में गृहीत विचार स्वप्न की स्थिति में प्राय: छद्मवेष में प्रकट होते हैं। वस्तुत: स्वप्न कला का माध्यम रहित स्वरूप और कला स्वप्न का भौतिक माध्यम सहित पक्ष है। माध्यम कलाकार में आंशिक अचेतनता उत्पन्न करता है। वह इसी माध्यम विशेष से मन:सृष्टि और स्वप्न को कलात्मक परिवेश प्रदान करता है। इस सन्दर्भ में स्वप्न को अनुद्घाटिक इच्छा का सूचक और कला को उद्घाटित इच्छा का माध्यम विशेष के द्वारा निरूपण माना जा सकता है।

'फ्रायड' के अनुसार इच्छा मानस को झकझोर कर उसमें हलचल उत्पन्न कर देती है। अपूर्ण होने पर यह तरह-तरह की क्रियाओं को जन्म देती है और अपनी पूर्ति के विविध साधनों को ढूँढ़ लेती है। 'कवि और दिवास्वप्न' के सन्दर्भ में उन्होंने 'क्रीड़ा-सिद्धान्त' का उल्लेख किया है। उनका मत है कि शैशवावस्था में बालक अपनी कल्पना के अनुसार तरह-तरह के खेलों को रचा करता है। जब वह बड़ा होता है तो उसकी यह प्रवृत्ति दूसरे रूप में बदल जाती है। शैशव की क्रीड़ा की प्रवृत्ति यौवन में कला-सृजन का आधार बनती है। मानव प्रमुख रूप से वासना प्रधान जीव होता है। उसकी यह वासना सामाजिक प्रतिबंध के कारण तृप्त नहीं हो पाती है, परिणामस्वरूप वह दमित होकर उसके अर्द्ध-चेतन या अचेतन में चली जाती है। यह दमित होने पर समाप्त नहीं होती, अपितु अपनी अभिव्यक्ति के विविध मार्गों को खोजने लगती है। यह अभिव्यक्ति के लिए लालायित रहती है और स्वप्न, मन:सृष्टि और दिवास्वप्न के अनेकानेक छद्मवेषों में अपने को प्रकट करती है। सामान्य व्यक्ति इनका उन्नयन नहीं कर पाता पर कलाकार इन्हें उदात्त बनाने में सक्षम होता है। वह इसे उदात्त स्वरूप प्रदान करता है। वह अपनी मन:सृष्टियों को सहला, पुचकार और दुलार कर उन्हें नियंत्रित करता है और पुन: कला के रूप में परिणित कर देता है। कहना न होगा 'फ्रायड' की दृष्टि से दिवास्वप्न या मनोसृष्टि उदात्तीकृत होने पर ही कला के रूप में प्रकट होती हैं।

'युंग' ने मानव-व्यक्तित्व को मानस (Psyche) की संज्ञा दिया है और इसे संसृति के उन क्रिया-कलापों के सन्दर्भ में विवेचित किया है जिनमें गति और तनाव बना रहता है। 'डॉ० इरा हो ग्राफ' ने क्रमबद्ध संसृति को कालातीत काल (Space less space) की संज्ञा दी है। 'युंग' के अनुसार मानस को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग को चेतन मानस

कहा जाता है। इसमें व्यक्तित्व का प्रमुख स्वरूप अहं क्रियाशील रहता है। यह अहं विविध प्रकार की प्रतिमाओं का जटिल स्वरूप होता है। इसमें सातत्य और विशेषता का गुण पाया जाता है। यही मूलचेतना के स्वरूप का निर्माण करता है। 'डॉ० हो ग्रॉफ' के अनुसार यही चेतना का मध्यवर्ती बिन्दु माना जाता है। इसी अहं में निहित चेतना के कारण वैयक्तिक जीवन की अनुभूतियाँ सक्रिय रहती हैं। इस चेतन मानस के स्तर के नीचे वैयक्तिक अचेतन मानस है। यह अपनी सामग्री को चेतन मानस से प्राप्त करता है। यह सामग्री विचित्र होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि यह ऐसी वायवी कल्पनाओं और स्वप्नों से संबद्ध होती है, जो वैयक्तिक, विस्मृत या दमित होते हैं। तृतीय प्रकार के मानस को सामूहिक अचेतन कहा जाता है। यहाँ सामूहिक शब्द का प्रयोग समूह के लिए नहीं अपितु निर्वैयक्तिकता के लिए किया गया है। यह मानस व्यक्ति विशेष की संपत्ति नहीं होता। इस मानस में ऐसे तथ्य विद्यमान रहते हैं जो वैयक्तिकता की विशेषताओं के पूर्व किसी न किसी रूप में मानस में विद्यमान थे। ऐतिहासिक और जीव-वैज्ञानिक दृष्टि से ये व्यक्ति के मानस की संघटना के अभिन्न अंग होते है। सामूहिक अवचेतन में निहित इन स्वप्नों को चेतन स्तर पर ला कर मूल्यांकित किया जा सकता है। इनमें निहित तथ्य चेतन तथ्यों को प्रश्रय भी देते हैं। युंग के अनुसार इस मानस में भूत की चेतना के संस्कार विशेष रूप से पाये जाते हैं। उनकी यह परिकल्पना मन:सृष्टि की प्रतिरूप है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि मानस का यही स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति में पाया जाता है, और इसी की निश्चित क्रियाओं—स्वत:प्रेरित और पुनर्घटित होने वाली संघटनाओं - के माध्यम से उसकी (मानस की अन्तर्निहित शक्ति अभिव्यक्त भी होती है। इसे हम मूलादर्शात्मक कथानक रूढ़ि कहते हैं। ये कथानक रूढ़ियाँ मानसी क्रिया की अभिव्यक्ति होती हैं। **ये रूढ़ियाँ, व्यक्ति में स्वप्न और मानसी कल्पना के माध्यम से अभिव्यक्त होती हैं और समूह में मिथक के माध्यम से।** मूलादर्शों में, आरम्भ में, बिंब की विशेषता पाई जाती है, पर रूढ़ होने पर प्रतीक की। सृजक-अनुभूति कुछ अंशों में कालातीत होती है। इसका कारण यह है कि मूलादर्श जब तक अपनी प्रतीक क्षमता को बनाये रखता है, तब तक वह कालातीत रहता है। प्रतीक-सृजन मानव जाति के तत्वों को स्थायित्व प्रदान करता है। उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि मन:सृष्टि का संबंध व्यक्ति के मानस से भी होता है। इसे 'युंग' के कला-सृजन संबंधी अवधारणा के आधार

पर और भी स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है। उनकी दृष्टि से यह द्विविध होता है।

(१) मनोवैज्ञानिक और (२) मनो-सृष्टि परक। प्रथम मानव-चेतना से सम्बद्ध उपादानों और जीवनगत अनुभूतियों को अपना उपजीव्य बनाता है और इन्हें उदात्तता प्रदान कर के कला के कलेवर में प्रस्तुत करता है। इस स्थिति में कलाकार का प्रमुख कार्य चेतनाधीत तथ्यों को व्याख्यायित और उद्भासित करना है। यह क्रिया स्पष्ट होती है। मन:सृष्टि प्रधान क्रियायें इसके सर्वथा विपरीत होती हैं। इनमें प्रयुक्त सामग्री अज्ञात और अपरिचित होती हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि इस स्थिति में कलाकार अपनी सामग्री को अन्तरंग मानस से ग्रहण करता है जो कुछ हद तक अस्पष्ट और विचित्र होती है। इसे ऐसी आद्य अनुभूति माना जाता है जो मानव की प्रज्ञा को अतिक्रमित तो करती है, पर उसकी सम्भावनाओं के परे नहीं होती। इसी कारण यह कला के कलेवर से बाँधी जा सकती है।

'युंग' ने अपने उपर्युक्त विवेचन में मनोवैज्ञानिक और मन:सृष्टिपरक स्वरूपों का उल्लेख किया है और इन्हें एक दूसरे से भिन्न माना है, पर इस बात से पूर्ण सहमत होना कठिन है। मन:सृष्टि का अर्थ केवल रहस्यमय, रोमांचकारी और अद्भुत नहीं होता। उत्कृष्ट-मन:सृष्टि-प्रधान कलायें इन दोनों स्वरूपों से अलंकृत रहती हैं। इनमें भौतिक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक में स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती क्योंकि ये एक दूसरे में अन्तर्लीन रहते हैं। सत्य यह है कि परस्पर विरोधी तत्त्वों का आपस में संघर्ष और पुन: सामंजस्य मन:सृष्टि का उपजीव्य होता है।

उपर्युक्त विवेचन में हमने मन:सृष्टि के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर विचार किया है। ये निष्पत्तियाँ अपवादों से सर्वथा मुक्त नहीं हैं, फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इनका अपना निजी महत्व है।

'मन:सृष्टि' पर प्रमुख भौतिकतावादी विचारक 'कॉडवेल' ने गंभीरतापूर्वक विचार किया है। वे इस विचार के हिमायती हैं कि कलाकृति कलाकार की सहजवृत्ति और अनुभूति के द्वन्द्व के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। यह द्वन्द्व कलाकार के मानस में तनाव पैदा करता है, इसके परिणामस्वरूप वह भ्रामक मन:सृष्टियों और कपोल-कल्पनाओं को प्रश्रय देने लगता है। ये मन:सृष्टियाँ यथार्थ विश्व का प्रतिफलन हैं, अतएव इनका इससे घनिष्ठ संबंध होता है। प्राय: यह देखने में आता है कि जिन प्रवृत्तियों पर समाज की मुहर नहीं लग

पाती वे परतंत्र होती हैं। मानव, प्रकृति को अधिगत करने के लिए आवश्यकता-नुसार अनुषंगों की सृष्टि करता है। यही अनुषंग प्रवृत्ति पर भाषा, व्यवहार और पारस्परिक व्यवहार का अंकुश लगाता है। यह अंकुश विध्वंसक नहीं निर्माणक होता है। यह नियंत्रण मनुष्य को स्वतन्त्र बनाने और प्रकृति को समझने का साधन सिद्ध होता है। मानव-चेतना अपनी संपूर्ण संहृति में समाज की उपज होती है। इसका निर्माण मानव के समाजीकरण की क्रिया का परिणाम होता है। जब यह बात चेतना से संबद्ध होती है, तो स्वप्न, मन:सृष्टि आदि के मूल में मान्यता देना आवश्यक हो जाता है।

'कॉडवेल' की दृष्टि में कला केवल यथार्थ के स्थिर स्वरूप से संबद्ध नहीं होती, इसमें कलाकार और प्रकृति के सक्रिय सहयोग की बात भी पाई जाती है। कलागत फॉन्तसी मानव के अहं को परिवर्तित करती है और कलाकार को सहजवृत्ति के प्रति जागरूक बनाती है। यह मानव को उसके यथार्थ संघर्ष से कुछ काल के लिए मुक्त कर देती है और उसके इच्छानुसार भावलोक का सृजन कर के उसे सन्तोष देती है। व्यक्ति का यह भावलोक अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करता है।

'कॉडवेल' ने स्वप्न और काव्य के संबंध को प्रकृति और मानव के संघर्ष के आधार पर निरूपित किया है। उनका कहना है, "कलाकार के रूप में मेरी चेतना के स्वरूपों का कुछ अंश सामाजिक स्वरूप से प्रभावित होता है। मेरा प्रमुख संबंध इसी प्रकार की चेतना और भावात्मक संगठन से है जो महत्त्वपूर्ण विषय को प्रस्तुत कर सके। चेतना और प्राप्त अनुभूति में विरोध होता है, इसके परिणामस्वरूप ऐसी अभिनव और व्यक्तिवादी अनुभूति का प्रादुर्भाव होता है जो कलाकार को आत्माभिव्यक्ति की ओर उन्मुख करती है। यह आत्माभि-व्यक्ति भी आत्मसमाजीकरण की प्रतिरूप होती है, क्योंकि, इसके द्वारा कलाकार अपनी वैयक्तिक अनुभूति को ऐसे माध्यम से अभिव्यक्त करता है जिससे वे सामाजिक आदर्शों और मान्यताओं के अनुकूल ज्ञात होने लगती हैं। इस प्रकार कलाकृति नकारात्मकता की नकारात्मकता--अर्थात प्रस्तुत कलात्मक स्वरूप एवं व्यावहारिक जीवन की अनुभूति का संश्लेषण होती है।"

'कॉडवेल' के अनुसार स्वप्न दो प्रकार के होते हैं, (१) दृश्य और (२) अदृश्य। दृश्य स्वरूप में देखी गई वस्तुओं का वर्णन निहित रहता है और अदृश्य में इस वर्णन में पाये जाने वाले अन्यान्य स्वरूपों का बोध। सुषुप्ति की स्थिति में जागृतावस्था की कुछ विशेषतायें आंशिक रूप से विद्यमान रहती हैं।

इस स्थिति में अवधान बहिर्मुखी नहीं अपितु अन्तर्मुखी होता है, इसीलिये यह वाह्य स्वरूपों से प्रभावित भी किया जा सकता है। मानस की संघटना विचित्र है। नैसर्गिक प्रवृत्तियों में पाई जाने वाली आशा, निराशा, भय और प्रेम संबंधी क्रियायें ऐच्छिक स्मृति बिंबों द्वारा स्थानान्तरित होकर भावात्मक आधार पर अचेतन से जुड़ जाती हैं और प्रवृत्तियों की रुझान मूलक बुभुक्षा से संघठित होकर सुषुप्ति का अंग बन जाती हैं। इस बात का संकेत किया जा चुका है कि सुषुप्ति में जागृतावस्था की कुछ विशेषतायें विद्यमान रहती हैं। ये विशेषतायें मूलत: जाति-विकास के ऐसे आदिम स्वरूपों से संबद्ध होती हैं जो अपरिष्कृत और असामाजिक माना जाता है। इसीलिये यह स्तर स्वप्न में भी प्रतिच्छायित होता हैं। इसे दमित किया जाता है। इस दमन के परिणामस्वरूप केवल इच्छित प्रतीक चेतना के स्तर पर उभड़ते हैं। इसे स्वप्न के 'रीज़निंग' की संज्ञा दी जाती है जो इसके निर्माण का पथ-प्रदर्शक होता है। इसी को स्वप्न का अन्तर्निहित विषय भी माना जाता है। स्वप्न की आन्तरिक रुझान में तर्क भी प्रस्तुत रहता है। तर्क (Reason) और स्वप्न के स्मृति बिंबों में संबंध होता है। इस प्रकार 'कॉडवेल' की दृष्टि में **स्वप्न की स्थिति में मानस दुहरे विरूपीकरण का विषय होता है। पहली स्थिति में यथार्थ विरूपीकृत होता है और दूसरी स्थिति में संवेग। तात्पर्य यह कि, "स्वप्न के विषय दो प्रकार के होते हैं, (१) दृश्य और (२) अदृश्य। दृश्य स्वरूप का संबंध बिंब-प्रधान वायवी कल्पना से होता है और अदृश्य का प्रभावोत्पादक और रुझान पूर्ण यथार्थ से।** इनका स्वप्न में प्रस्तुत काल्पनिक रुझान और अदृश्य स्वप्न के स्वरूप में प्रस्तुत बिंब प्रधान यथार्थ से दुहरा संबंध होता है। यह सत्य मनोविश्लेषकों की दृष्टि से ओझल रह गया है। वे इस तथ्य से अवगत नहीं हो पाये हैं कि **बिंब और प्रभाव को भाषा में रूपान्तरित करने की क्रिया में ज्ञानात्मक प्रकटीकरण** (Epistemological Leak) **पाया जाता है। सारांश यह कि स्वप्न और कला में एक विच्छित्ति पाई जाती है। स्वप्न में रुझान की ओर उन्मुख करने वाला संघटन अचेतन और वैयक्तिक होता है, पर कला में यह चेतन होने के कारण सामाजिक।"**

उपर्युक्त विवेचन में हमने मन:सृष्टि सम्बन्धी दो प्रमुख दृष्टिकोणों को प्रस्तुत किया है। ये दृष्टिकोण एक दूसरे के विरोधी माने जाते हैं। मनोविश्लेषणवादी जिस तथ्य को मानते हैं, प्रगतिवादी उसका विरोध करते हैं। इस प्रकार की दृष्टि सत्य के ज्ञान में बाधक होती है जब सिद्धान्त के समर्थक अतिरेकवादी स्वरूप में पक्ष-प्रतिपादन करने लगते हैं तो वे तत्त्वाभिनिवेश से

दूर जा पड़ते हैं। आरम्भ में स्नायु परिवर्तन और मस्तिष्क के बाह्यक के सन्दर्भ में बिंब पर विचार किया गया है और इस तथ्य को प्रस्तुत किया गया है कि उपादान को देखने की स्थिति में मानस में घटनाओं की शृङ्खला अवतरित होती है, जिसका वस्तुगत स्वरूप उपादान से संबद्ध रहता है और विषयिगत स्वरूप मस्तिष्क से। मस्तिष्क अपनी ग्राहक संवेदनशीलता से उपादान से सम्बद्ध विविध आँकड़ों को प्रस्तुत करता है। इस स्थिति में संवेदन भी विशेष प्रकार से स्नायु-संस्थान में भ्रमण करता रहता है। इससे उसमें अपेक्षित परिवर्तन होता है। यही परिवर्तन मन:सृष्टि का केन्द्र-बिन्दु है। 'फ्रायड' के अनुसार शैशवीय क्रीड़ावृत्ति यौवन में कला-सृजन में बदल जाती हैं। युंग' की दृष्टि से व्यक्तिगत अचेतन और सामूहिक अचेतन मन:सृष्टि उत्पन्न करते हैं। यह मन:सृष्टि व्यक्ति में स्वप्न और वायवी कल्पना के माध्यम से अभिव्यक्त होती है और कला में मिथक के माध्यम से। 'युंग' के अनुसार मनोसृष्टिपरक मानस अज्ञात और अपरिचित स्वरूपों से निष्णात है और इसे आद्य अनुभूति से संबद्ध किया गया है। उनकी धारणा है कि स्वप्न और मन:सृष्टि के मूल में सहजवृत्ति और अनुभूति अथवा व्यक्ति और प्रकृति का द्वन्द्व निरन्तर विद्यमान रहता है।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि विचारकों के अनुसार चेतन स्तर के साथ ही अचेतन स्तर भी मानव की चेतना के निर्माण का प्रमुख साधन होता है। कुछ लोगों की दृष्टि में आरम्भ में अचेतन स्तर को चेतन स्तर पर ले आने से ही ज्ञान का आविर्भाव हुआ है। यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है, जो चेतन है वही कारण विशेष से दमित होकर अचेतन का रूप ग्रहण करता जा रहा है और जो अचेतन है वह चेतन स्तर पर आने और अपने को अभिव्यक्त करने के लिए छटपटा रहा है। इस दुहरी क्रिया के कारण हमारा मानस कभी निष्क्रिय नहीं होता, वह प्रच्छन्न रूप से किसी न किसी प्रकार की मन:सृष्टि की रचना किया करता है। यह मन:सृष्टि विचारों को व्यवस्थित करने का कार्य सम्पादित करती है। बोध परिमाण का मुखापेक्षी होता है। जिस घटना या उपादान का स्पष्ट बोध हो जाता है,—अधिक मात्रा में बोध हो जाता है, – वह चेतन क्रिया से संबद्ध हो जाता है; जिसका कम से कम बोध होता है, जो कुछ अज्ञात और अपरिचित सा बना रहता है, उसका संबंध अचेतन क्रिया से होता है। लीबनिज' ने ठीक ही कहा है कि चेतन अगर प्रकाश है तो अचेतन अंधकार। इसप्रकार चेतन, अर्द्धचेतन

और अचेतन एक दूसरे के पूरक हैं। 'गाल्टन' का कहना है कि जब हम किसी बात पर विचार करते हैं तो चेतना ऐसे अन्य विचारों को आकर्षित करने लगती है जो उसके समीपस्थ हैं और उसकी सीमा में आते हैं। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि मानस में चेतना का एक निश्चित क्षेत्र होता है, जिस पर इसका आधिपत्य रहता है, और संबद्ध विचार वहाँ निरन्तर प्रस्तुत रहते हैं। इसकी सीमा के नीचे अचेतन का क्षेत्र होता है। इस स्तर पर चेतना के स्तर से संबंधित विचार निरन्तर प्रसरित होते रहते हैं और अपना इच्छित कार्य संपादित करते रहते हैं। यह क्रिया स्वयंप्रेरित और स्वतःस्फूर्त होती है। इसी को हृदयंगम करते हुए आर्थर कोएस्लर' महोदय कहते हैं, "अचेतन एक स्वतः प्रेरित क्रिया है जो हर प्रकार के संघटनों से संबंध स्थापित कर सकती है।" 'एरिक न्यूटन' और 'कोएस्लर' दोनों स्वच्छन्दतावादियों की तरह स्वतःप्रेरित क्रिया के समर्थक तो हैं, पर इनके समक्ष इस क्रिया का अपवाद उपस्थित है। ये इस तथ्य से अवगत हैं कि अचेतन मानस में इस स्वतः प्रेरित क्रिया से एक नहीं अपितु प्रच्छन्न रूप से अनेक संघटन निर्मित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में इस बात को निराकृत कर पाना कठिन हो जाता है कि कौन सा संघटन चेतन मानस से संबद्ध होता है। इन विचारकों ने इसका उत्तर दिया भी है। उनका कहना है कि चेतन मन:सृष्टि के साथ ही अचेतन संघटन संबद्ध हो पाता है जो सृजक की लालित्यबोधीय चेतना की चलनी से छन कर अपने को उपयुक्त सिद्ध कर देता है। इस दृष्टि से लालित्यबोधीय चेतना केवल कलात्मक मन:सृष्टि की उपस्कारक नहीं अपितु सर्जन का भी उपयुक्त उपजीव्य है।

मन:सृष्टि के चेतन और अचेतन स्वरूप के सन्दर्भ में उर्ध्वमुखी प्रवाह और अधोमुखी प्रवाह की बात भी उठाई जाती है। जिस प्रकार उर्ध्वगमन और अधः-गमन में परस्पर सम्बन्ध की स्थिति होती है, उसी प्रकार चेतना के इन प्रवाहों में अन्योन्याश्रित और परस्पर पूरक सम्बन्ध पाया जाता है। चेतन का अधोमुखी प्रवाह (चेतन-प्रवाह) नई अनुभूतियों को उपलब्ध करता है, इन्हें संघटित करता है, इनके लिये नई तकनीकी विधाओं की अवतारणा करता है, और, जब ये वस्तुयें व्यवहार में आ जाती हैं, तो इन्हें ऐसी स्वयं चालित क्रिया को सुपुर्द कर देता है जो इन्हें बोध का—अचेतन प्रवाह का—विषय बना देती हैं। यहीं से सृजन का उर्ध्वमुखी प्रवाह आरम्भ होता है, जो आरम्भ में गतिशील और चंचल होता है और मानस की गत्वरता को पोषित भी करता है। इस प्रवाह की कुछ प्रमुख विशेषतायें हैं। जिस प्रकार प्रकाश अन्धकार के घटाटोप को अपने अनुरूप ढाल

लेता है उसी प्रकार सर्जनात्मक शक्ति का स्फुरण अचेतन प्रवाह के आवश्यक अंश को सृजन से बांध कर उसे समन्वित कर देता है। यही मनःसृष्टि को कलात्मक स्वरूप में बँधने का रहस्य है।

मनःसृष्टि के सन्दर्भ में 'चेतना प्रवाहवाद' और 'अतियथार्थवाद' की चर्चा की जाती है। कहना न होगा कि 'फ्रायड' की मान्यताओं ने साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया था और विविध वादों को जन्म दिया था। इनमें 'चेतना प्रवाह वाद' और 'अतियथार्थ वाद' प्रमुख माने जाते थे। इन वादों में प्रच्छन्न रूप से मानव की स्वच्छन्द मनःसृष्टि और उसके अभिज्ञान पर बल दिया गया था। हर आन्दोलन का आरंभिक स्तर विधि-निषेधपूर्ण होता है। अगर हम इसे दूसरे रूप में अभिव्यक्त करें तो कह सकते हैं कि इसके विधि की आधारभित्ति निषेध पर निर्भर रहती है। यही सत्य इन आन्दोलनों के सन्दर्भ में चरितार्थ होता है। चेतना प्रवाहवादियों की मान्यता थी, "जो घटना एक बार घट चुकी होती है, वह उसी रूप में पुनर्घटित नहीं हो पाती है। परिस्थितियों के अनुसार उपादान से संबंधित अनुभूति में परिवर्तन हो जाया करता है। मनःस्थिति निरंतर एक सी नहीं होती। अनुभूति हमें हर क्षण कुछ नया सोचने के लिए बाध्य करती रहती है। चेतना का प्रवाह निरन्तर बना रहता है। इसी के माध्यम से व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माणक पहलुओं का आविर्भाव होता है। यही निरन्तर प्रवाहित होने वाली चेतना हमारे जीवन गत अनुभूति वैविध्य को समन्वित कर के नियोजित करती रहती है। इस नियोजन की समष्टि को 'अहं' की संज्ञा दी जाती है।" चेतना प्रवाहवाद मानव के आन्तरिक स्वरूप के उद्घाटन का हिमायती है। इसके लिये काल का कोई महत्त्व नहीं होता। यह तो उस क्षण की अनुभूति को पकड़ना चाहता है जो व्यापक सत्य विधायक हो। इस निकाय के विचारकों की धारणा है कि जीवन सुव्यवस्थित रूप से आयोजित दीपकों का प्रकाश नहीं, अपितु दीप्तिमय प्रकाश है। कलाकार इन्हीं झलकों को एकत्रित कर के जीवन का एक ताना-बाना बुनता है। व्यक्ति को कलाकार से इन्हीं कवियों को प्राप्त करने की अपेक्षा करनी चाहिए। चेतना, 'अनिश्चित अतीत का जीवन वर्तमान में अनुवर्तन होती है।' बाद में इनकी यह मान्यता आवश्यकता से अधिक स्वच्छन्द हो गई है। चेतना के प्रवाह के नैरन्तर्य की चर्चा तो कुछ हद तक समीचीन मानी भी जा सकती है पर निरंकुशता, पूर्ण स्वच्छन्दता, और मनःसृष्टियों के विकृत से विकृत रूप को विशृंखलित ढंग से प्रस्तुत करने की अभिलाषा कला की दृष्टि से पूर्णतया उपयुक्त नहीं है। उपर्युक्त विवेचन में हमने संवेदना की चलनी का उल्लेख किया है। इसे सर्वथा अमहत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता है।

यही स्थिति है अति यथार्थवाद की। यह साहित्यिक आन्दोलन दादावाद के बाद अवतरित हुआ था, और उसी से प्रभावित भी था। युद्ध के कारण परंपरित मान्यताओं पर कुठाराघात होना शुरू हो गया था। एक विचित्र अविश्वास और निराशा की स्थिति चारों ओर परिव्याप्त थी। इसका दृष्टि-कोण नकारात्मक था। इनकी धारणा थी कि मानव का कोई अस्तित्व नहीं होता, शाश्वतता का उल्लेख निरर्थक और बेवकूफीपूर्ण है और मनुष्य की इस पृथ्वी पर सब कुछ समान रूप से महत्त्वहीन है। सुन्दर-असुन्दर, श्लील-अश्लील और अच्छे-बुरे का प्रश्न उठाना कोई अर्थ नहीं रखता। इस दृष्टि से निर्णय देना या किसी भी बात को त्रुटिपूर्ण बताना हास्यास्पद है। वेलरी ने तो स्पष्ट रूप से कहा था, "कलाकृति में सदैव जाल साजी होती है। यह मानस की चित्तवृत्तियों के विविध स्वरूपों के सहयोग से उत्पन्न होती है।[1] भाषा हमारे ऊपर परंपरित संवटन को लादती है, अतएव वह त्रुटिपूर्ण है। अचेतन मन:सृष्टियों और स्वप्नों का कला में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। चेतन घटनायें सतही स्वरूप हैं जो अवेतन से नियंत्रित होती हैं।

अति यथार्थवाद में स्वप्न, अवचेतन मन:सृष्टि और 'युंग' के मूलादर्श को मान्यता मिली थी। ये इन्हें यथातथ्य रूप में प्रकट करने के हिमायती थे। 'हरबर्ट रीड' का कहना था, "**मनुष्य हिमपिण्ड की तरह समय के प्रवाह के साथ प्रवाहित हो रहा था। उसका थोड़ा सा अंश चेतन स्तर के ऊपर था। अतियथार्थ वादी कलाकार इसी अवचेतन में डूबे हुए अंश को अभिव्यक्त करना चाहता था। इसीलिये वह स्वप्नों और स्वप्न-सदृश मानसिक अवस्थाओं को विशिष्ट बिंब-विधान द्वारा अभिव्यक्त करने के लिए तत्पर हुआ।**" आन्द्रेब्रेतों का भी मत था कि मानव के मानस में ऐसी विलक्षण शक्तियाँ निहित रहती हैं जो उद्घाटित होने पर चेतन की शक्तियों को गतिशील बना सकती हैं। अतः कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह इन अन्तर्निहित शक्तियों को समुचित ढंग से निर्देशित करे। अतियथार्थ वाद का प्रमुख उपजीव्य है '**भ्रान्ति, विल-क्षणता, और स्वप्न। वह इन सभी संबंधों को नये विधान से समन्वित करना चाहता है**। यह अतियथार्थ वाद ऐसी संबंधस्थिति है जिसमें सारी धारणायें

1. A work of art is always a forgery (i. e. it is fabrication without any relation to an author acting under the influence of single impulse. It is the product of a collaboration of different states of mind.

समाहित होती हैं, यह वह अन्तरिक्ष है, जहाँ धर्म, जादू, काव्य, उन्माद, और मन:सृष्टि सबका मिलन होता है।' स्पष्ट है कि अतियथार्थ वादी विचारक अर्द्धचेतन स्वप्नों को चेतन धरातल पर ले आने के बजाय अर्द्ध चेतन स्तर पर ग्रहण करने और उसी के स्मृति चिह्नों और बिंबों के माध्याम से उन्हें अभिव्यक्त करने के लिए तत्पर था। इसके परिणामस्वरूप उसके चित्रों में मन:सृष्टियों, दिवास्वप्नों और असंगत कल्पनाओं का समावेश हुआ। ये स्वत:चालित लेखन के समर्थक थे।

चेतनाप्रवाह वादी और अतियथार्थ वादी लेखकों के अतिरिक्त मन:सृष्टि का उत्कृष्ट प्रयोग हर काल और देश के स्वच्छन्दता वादी लेखकों में भी पाया जाता है।

मन:सृष्टि से संबंधित भारतीय मत का अपना अलग अस्तित्व है। यहाँ की चिन्ताधारा सदैव उर्ध्वमुखी रही है, इसके परिणामस्वरूप हर चिन्तन लोक से आरंभ होकर लोकोत्तर की ओर और व्यष्टि से आरंभ होकर समष्टि की ओर उन्मुख हुआ है। यहाँ सृष्टा ही द्रष्टा और कवि परिभू तथा स्वयंभू माना गया है। यह द्रष्टा 'मरजीवा' है, जिसने वाह्य सृष्टि का अवलोकन कर के, अपनी चैतन्य धारा द्वारा उसे परिवर्तित किया है और पुन: उसे ऐसा कलात्मक स्वरूप प्रदान किया है जो बहुजन सुखाय और बहुजन हिताय बन गया है। उसका व्यष्टि चैतन्य सदैव समष्टि चैतन्य में तिरोहित हुआ है। इसीलिये वह अपनी चित्-शक्ति से सत्यं, शिवं, और सुन्दरंम् को उपलब्ध कर सका है। वह अपूर्व वस्तु निर्माण-क्षमा, दृश्य को नूतन कलेवर प्रदान करने की अन्तर्दृष्टि से अलंकृत, और नवोन्मेष तथा तत्वाभिनिवेष को सरलता से हृदयंगम करने में समर्थ है। यहाँ 'व्हिजन' को सदैव चमत्कार, प्राण, चिन्मय, स्वयं प्रकाश और अखण्ड अनुभूति का 'झटिति प्रत्यय' माना गया है, उसे लोकोत्तर की संज्ञा दी गई है और अक्षर-चैतन्य ज्योति का प्रकाश कहा गया है। यही है भारतीय मनीषा के उर्ध्वमुखी होने का रहस्य।

'फण्डामेण्टल्स ऑव इण्डियन आर्ट' के भारतीय कला सिद्धान्त के विवेचन के सन्दर्भ में डॉ॰ दासगुप्त ने इस तथ्य पर गंभीरता से विचार किया है। उनके अनुसार तीसरी शती ए० डी० में लिखे गये प्रमुख ग्रंथ 'धम्मसंगिनी' के भाष्य में 'बुद्धघोष' ने इसे अपना विवेच्य बनाया है। 'बुद्धघोष' ने अपने भाष्य में 'माइण्ड' को चित्त की संज्ञा दी है और इसे चिन्तन की क्रिया के साथ ही नैतिक और अनैतिक विचारों का केन्द्र माना है। उनकी धारणा है कि ऐसी

इच्छायें जो अपने को सचेतन रूप में अभिव्यक्त करना चाहती हैं अचेतन में पड़ी रहती हैं। विधायक कल्पना के प्रभाव से जब कलाकार में सृजन की इच्छा उत्पन्न होती है और उसकी सहज प्रतिभा कला के स्वरूप-निर्माण की ओर उन्मुख होती है, तो अचेतन की ये इच्छायें सचेतन स्तर पर आकर क्रियाशील हो उठती हैं। कला के आन्तरिक पक्ष में विषय-वस्तु और विषय-विन्यास को मानस के धरातल पर ग्रहण किया जाता है और इसे मानस-प्रतिभा की संज्ञा दी जाती है। जब वस्तुगत दृष्टिकोण से इस मानस प्रतिभा को निश्चित परिवेश में प्रकट किया जाता है तो सृजन की क्रिया पूरी हो जाती है। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि कला के माध्यम से अभिव्यक्त तथ्य मानस की स्वतःस्फूर्त क्रियाओं के प्रतिफलन हैं। इस सन्दर्भ में कलाकार स्वरूप स्थूल या भौतिक नहीं अपितु आन्तरिक, सहजभावना से प्रेरित, स्वतःस्फूर्त और आध्यात्मिक होता है। 'बुद्धगुप्त' के इस सिद्धांत और क्रोचे के सहजज्ञान संबन्धी सिद्धांत में साम्य है।

ऊपर के विवेचन में भारतीय काव्य-शास्त्र के विषयिगत स्वरूप को वस्तुगत रूप में प्रस्तुत करने की चर्चा की गई है और मानस के कुछ स्वरूपों पर प्रकाश भी डाला गया है। इस मानसिक क्रिया को और सूक्ष्मतापूर्वक निरूपित किया गया है और इसके दो अभिघटकों को विवेच्य बनाया गया है, (१) मानसिक क्रिया तथा उसका परिणाम, और (२) मानसिक चेतना। भारतीय विचारक इस तथ्य को स्पष्टता से निरूपित करते हैं कि यह चेतना वस्तुगत स्वरूप में उपादान से संबद्ध होती है और विषयिगत स्वरूप में चेतना से। ऐसा माना जाता है कि मानस निरंतर गतिशील रहता है और एक क्षण की चेतना पूर्ववर्ती चेतना अपने को इस प्रवाह में विलीन कर देती है। इसके पश्चात् चेतना-प्रवाह की अन्तर्निहित शक्ति से सृजन की गतिशील चेतना दूसरे क्षण-परवर्ती चेतना-में विलीन हो जाती है। इस स्तर पर चेतना और प्रवाह एकमेक हो जाते हैं और परिणामस्वरूप पुनः चेतना के तृतीय क्षण का उद्भव होता है। यह प्रवाह की क्रिया निरन्तर चलती रहती है। मानस प्रवाह की इस स्थिति में चेतना प्रवाह निरन्तर बना रहता है, क्योंकि यह उसी से प्रतिच्छायित होता है और वाह्य उपादान भी इसी की प्रतिध्वनि का सूचक बन जाता है। इस सन्दर्भ में यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि मानसिक चेतना के इस प्रवाह का क्रम निरन्तर जीवन भर चलता रहता है और इसमें मानस के विविध स्वरूप घुलते और मिलते रहते हैं। इस सम्मिलन के द्वारा यह मानस प्रवाह अधिक से अधिक गहन, मूर्त

और विविध होता जाता है। 'बुद्धघोष' का यह विवेचन चित्रकला से संबंधित है, फिर भी इससे महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त होते हैं, जो मनःसृष्टि पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। 'बुद्धघोष' के अनुसार सृजन की स्थिति में मानस सहज और सरल होता है और इसमें ऐसी क्रियाओं का घात-प्रतिघात चलता रहता है जो पूर्णरूप से समझी नहीं जा सकती। कहना न होगा कि मानस की सहज, स्फूर्त क्रिया, विचार संवेग और कल्पना प्रसून चित्रण के माध्यम से कला-सृजन में सहायक होती है। इससे सौन्दर्य और आनन्द प्राप्त होता है। बुद्धघोष के अनुसार लालित्यबोधीय सृजन और विभावन समानधर्मी है। चूँकि मानस प्रवाह निरन्तर गतिशील रहता है, अतएव इसे केवल सृजन के क्षण विशेष से सम्बद्ध नहीं माना जा सकता। यह तो वस्तुतः उन पूर्ववर्ती स्वतः प्रेरित और स्वतःस्फूर्त क्षणों के समन्वय पर आधारित होता है जो प्रकारान्तर से चेतना प्रवाह के स्वरूप हैं। भारतीय विचारक समाधि को भी महत्त्व प्रदान करते हैं। यह समाधि की दशा द्रष्टा और दृश्य के एवंभूत संयोग की दशा होती है। इस स्थिति अवधान केन्द्रित रहता है, अतएव वह उपादान को अधीत किये रहता है। भारतीय विचारकों ने मनःसृष्टि के सन्दर्भ में निम्नांकित निष्कर्ष प्रस्तुत किया है—

(१) कलाकार में प्रकृति प्रदत्त सामग्री के अवलोकन की क्षमता होनी चाहिए।

(२) उसे प्रकृति के अन्तःसामंजस्य को समझने में दक्ष होना चाहिए।

(३) उसमें उपादान को परिवेश से विच्छिन्न कर के देखने और समझने की शक्ति होनी चाहिए।

(४) उसे स्मृति को इस प्रकार नियोजित करने में सक्षम होना चाहिए कि भूत स्वयं स्फूर्त रूप में रूपायित हो सके।

(५) कलाकार का मानस इस प्रकार शिक्षित होना चाहिए कि वह उपलब्ध तथ्यों को कलात्मक कलेवर प्रदान कर सके।

(६) उसे एकाग्र चित्त होकर अपने मानस में उपादान को पुर्नप्रस्तुत करने में समर्थ होना चाहिए।

(७) उसे कला के सही स्वरूप का अभिज्ञान होना चाहिए।

भारतीय मनीषियों का कहना है कि मनुष्य अपनी सामान्य अभिव्यक्ति द्वारा केवल ज्ञान के चतुर्थांश को प्रकट कर पाता है। यह अंश अवस्था, स्थान और सुषुप्ति से सम्बन्धित होता है। शेष तीन चतुर्थांश को अद्वैत की स्थिति माना

जाता है और 'अनिरुक्त' अथवा 'अवाक्य' की संज्ञा दी जाती है। इस परोक्ष से सम्बन्धित भावना का सम्बन्ध ह्निजन से होता है। भारतीय मनीषी जीव और ब्रह्म के सन्दर्भ में 'आभासवाद' का प्रतिपादन करते हैं। ऐसा माना गया है कि आत्मा को परमात्मा का आभास मिलता रहता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आत्मा परमात्मा का ही प्रतिरूप या 'भास' है, इसीलिये वह सृष्टि के रहस्यों की विविधता से परिचित होती रहती है। जिस प्रकार चित् को परमचित् का आभास प्राप्त होता रहता है, उसी प्रकार कलाकार को संसृति के रहस्यमय स्वरूपों का आभास मिलता रहता है, और वह अपनी अन्तर्दृष्टि से इस प्राप्त स्वप्न को मनःसृष्टि को—कलात्मक स्वरूप प्रदान करता है। 'शिल्परत्न' में 'चित्र' 'अर्द्धचित्र' और 'चित्राभास' का प्रयोग विविध सन्दर्भों में किया गया है। चित्र के लिए 'सर्वांग दृश्य कारणम्', अर्द्धचित्र के लिए 'भित्यादौ लग्न भयेपार्द्धम्' और चित्राभास के लिए 'विलेख्यम्' अथवा 'लेख्यम्' का प्रयोग मिलता है। 'विश्व बन्धु' ने 'अभिधर्म कोष' में विषयगत अनुभूति के लिए 'आभासगत' का प्रयोग किया है। यहाँ आभास का अर्थ विषय-रूपता, दृश्य तटस्थता, तथा आभासगत का अर्थ दृश्य आनुभविक प्रत्यय किया गया है। 'दिङ्नाग' ने 'अव-भासते' के द्वारा 'अन्तर्ज्ञेय रूप' के विषयगत बौद्धिक बिंब को सूचित किया है। उनके अनुसार यह शब्द आध्यात्मिक अनुभूति की दीप्तिमयता को भी प्रकट करता है।

भारतीय चिन्तन में 'अभिनव गुप्त' का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने प्रत्यभिज्ञा के आधार पर मनःसृष्टि के स्वरूपों का उल्लेख किया है। 'भर्तृहरि' ने अपने प्रमुख ग्रंथ 'वाक्य पदीयम्' में 'पश्यन्ती' 'मध्यमा' और 'वैखरी' नामक वाक् स्वरूपों की चर्चा की है। बाद में 'सोमानंद' ने 'परा' को इसमें जोड़ दिया। क्रम-सिद्धान्त के आविर्भाव के साथ सूक्ष्म की कल्पना भी की गई। 'सोमानंद' परावाक् को चिति का विकास मानते हैं और पश्यन्ती को सदाशिव का। इन वाक् के प्रकारों को ध्वनि के मूर्त स्वरूपों से सम्बद्ध किया गया है। द्वैतवादी शैव विचारक 'बिन्दु' से विकसित नाद की कल्पना करते हैं और इसी को मूर्त अभिव्यक्ति का कारण मानते हैं। उनकी धारणा है कि व्यक्ति में अभिव्यक्ति की इच्छा उत्पन्न होते ही नाद अक्षर बिन्दु को प्रकट करता है। यह 'अक्षर बिन्दु' सूक्ष्म ध्वनि बिंबों का समन्वित पदार्थ होता है। इस पदार्थ को सूक्ष्म की संज्ञा दी जाती है और इस के लिये प्रयुक्त वाक् को 'पश्यन्ति' माना जाता है। शब्द का निर्माण करने वाले क्रमबद्ध अक्षरों

को 'मध्यमा' कहा जाता है और शब्दोच्चार की स्थिति में श्रुत ध्वनि को वैखरी।[१] इन वाक् के चार स्वरूपों का संबंध बोध के चार स्वरूपों के साथ होता है। इसे अन्य विधि से व्याख्यायित किया जा सकता है। वाणी अभिव्यक्ति का माध्यम है। यह सार्थक मन:सृष्टियों को अभिव्यक्त करती है। आरंभ में ये पूर्ण स्पष्ट नहीं होतीं। जब हम किसी उपादान विशेष को देखते हैं तो इनकी अस्पष्टता आन्तरिक प्ररोचनों से स्पष्टता की ओर उन्मुख होती है। यह क्रिया कई स्तरों में होकर गुजरती है। अन्तिम स्तर पर द्रष्टा में ऐसी क्षमता का आविर्भाव होता है जिससे वह दृश्य को पूरी तरह अधीत कर लेता है। इसके पूर्व की सभी क्रियाओं को 'प्रीपरेटरी प्रोसेस' की संज्ञा दी जाती है।

सहज ज्ञान और मन:सृष्टि का उल्लेख अप्रासंगिक नहीं माना जा सकता। इनकी चर्चा प्राय: सभी साहित्यों में हुई है। पाश्चात्य विचारक 'बर्ग-साँ' ने इसे (सहज ज्ञान को) उपादान विशेष के आन्तरिक स्वरूप को प्राप्त करने और अनभिव्यक्त को अभिव्यक्त करने की बौद्धिक सहानुभूति कहा है। इसे तदाकार स्थिति के साथ ही प्रत्यक्ष मन:सृष्टि की संज्ञा दी गई है। 'क्रोचे' ने कला को सहजानुभूति और सहजानुभूति को अभिव्यंजना कहा है। उनके शब्दों में यह, 'अन्तर्दृष्टि, कल्पना, अनुचिन्तन और प्रतिरूपण' का पर्याय है। प्रमुख विचारक 'ज्याॅक मारितें' सहजानुभूति के सर्जक स्वरूप के विशेष हिमायती हैं। उनका कहना है कि सर्जनात्मक प्रतिभा उत्पादक होती है। यह अन्तर्द्वन्द्वों को संश्लेषित और समन्वित करके उन्हें मूर्त स्वरूप में प्रतिष्ठित करती है। भारतीय काव्य-शास्त्रियों की 'सहजा प्रतिभा' का विवेचन स्वयं प्रकाश की भावना के अधिक निकट है।[२] 'सन्त अरविन्द' के अनुसार मानस के कई स्तर होते हैं, (१) उच्चतर मानस (Higher mind), प्रदीप्त मानस (Illumined mind), सहज ज्ञान प्रधान मानस (Intuition), उर्ध्व मानस (Over-mind) और अति मानस (Super mind)। स्पष्ट है कि सहज ज्ञान तीसरे स्तर पर आता है। 'अरविन्द' की मान्यता पूर्ववर्ती वैदिक और औपनिषदिक विचारकों के अधिक अनुकूल है। 'योगसूत्र' समाधिपाद में कहा गया है, "प्रातिभ ज्ञान स्वच्छ स्फटिक मार्ग के सदृश होता है, जिस प्रकार स्फटिक मणि सब कुछ को ग्रहण

---

१. इसके विशेष विवेचन के लिए प्रतिभा का विवेचन देखिये।

२. इसका विवेचन प्रतिभा और कल्पना वाले अध्याय में हो चुका है।

करने में सक्षम है, उसी प्रकार प्रातिभज्ञान भी ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी को ग्रहण कर लेता है और आवश्यकता पड़ने पर उसे प्रतिबिंबित भी करता है। प्रातिभज्ञान प्रसूत मनःसृष्टि अन्तर्दृष्टि पूर्ण होने के साथ ही स्वतःप्रेरित और स्वतःस्फूर्त रूप में कला का विषय होती है। हृदय में भाव-संवेग के उठते, आन्तरिक दीप्ति, कौंध या प्रतिभास के उत्पन्न होते ही कला का सृजन आरंभ हो जाता है। इस स्थिति में अमूर्त, मूर्त स्वरूप में रूपायित होने के लिए मचल उठता है और अन्तर्भावना के निरूपण की क्रिया आरंभ हो जाती है। ये क्रियायें स्वतःस्फूर्त और स्वतःप्रेरित होती हैं। 'वाल्मीकि' का शोक-श्लोक समीकरण तथा शेक्सपीयर का कल्पना संबंधी विवेचन इसी तथ्य का परिचायक है। कवि के परिभू, स्वयंभू, द्रष्टा अथवा सृष्टा होने का यही रहस्य है।

स्वयं प्रकाश-ज्ञान सामान्य ज्ञान से भिन्न होता है। यह प्रदीप्त मानस का ऐसा आभास माना जा सकता है जो यथा समय अद्भुत रहस्यों के उद्घाटन में सक्षम है। जल में स्नान करना सबका कार्य है, पर 'आर्किमीडीज़' की तरह एक सिद्धान्त का निर्माण कर देना प्रातिभ-ज्ञान-संपन्न व्यक्ति की ही विशेषता है। सामान्य जीवन में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब व्यक्ति इसी आन्तरिक प्रेरणा के माध्यम से जीवन को सही स्वरूप प्रदान करता है। सहजज्ञान की उपलब्धि व्यक्ति को जीवन के सामान्य क्षेत्र से लेकर असामान्य चिन्तन के क्षेत्र तक हो सकती है। सहजज्ञान मनःसृष्टि का सहायक होता है। सामान्य धरातल पर इसका स्वरूप (मनःसृष्टि का स्वरूप) स्पष्ट नहीं होता है, पर गंभीरतम चिन्तन की स्थिति में इसकी दीप्ति अधिक प्रभावोत्पादक होती है। हमारे यहाँ 'शंकर' के तृतीय नेत्र संबंधी परिकल्पना इसी की परिचायक है। 'व्यॉसक-प्रॉव कान्शेंस' विवेक की आवाज और अभिव्यक्ति की स्वतः स्फूर्तता की स्थिति में किसी मार्ग विशेष का अवलंब प्रातिभ ज्ञान संपन्न मनःसृष्टि के ही अंग हैं और प्रेरणा के उपलब्ध होते ही अन्तर्दृष्टि की सक्रियता और उसके माध्यम से कला का रूपायन इसी के परिणाम। रहस्यवादी संतों की कविताओं के साथ ही उच्च कोटि के लेखकों की कृतियों में इसका प्रभूत उदाहरण मिलता है। योग साधना में तो विभिन्न चक्रों की स्थिति में इसके स्वरूप का निरूपण मिलता है और इससे उपलब्ध होने वाली अनुभूति की विशेषता की ओर भी संकेत किया है। कला भी एक सतत विकासोन्मुख यात्रा है। इस यात्रा में कलाकार के अर्जित संस्कार, मानसिक परिवेश, प्रातिभ अनुभूति के साथ ही मनःसृष्टि का विशेष सहयोग रहता है।

निष्कर्ष—

उपर्युक्त विवेचन में हमने मन:सृष्टि के विविध पक्षों पर विचार किया है। इससे उपलब्ध तथ्यों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन:सृष्टि, मानस की भाव-प्रवण चित्तवृत्ति है जो हृदय में निरंतर अनेकानेक भावावेगों को उठाती और सुलझाती रहती है। जिस प्रकार सघन मेघावली विद्युत् कौंध से कुछ समय के लिए दीप्तिमान और प्रकाशित हो उठती है, उसी प्रकार सर्प शिशुओं की तरह उलझे मानसिक विचार भी मन:सृष्टि के उत्पन्न होते ही अपने जटिल स्वरूप को त्याग कर समन्वित हो जाते हैं। अनुभूति ऐन्द्रिय-बोध की मुखापेक्षी होती है और ऐन्द्रिय बोध सामंजस्य का। मानसिक बिंब भी इन्द्रिय-बोध के ही मुखापेक्षी होते हैं। कला की दृष्टि से वही यथार्थ महत्त्वपूर्ण माना जाता है जो हमारी व्याख्या के द्वारा दूसरों तक पहुँच सके। विज्ञान का सत्य तथ्य होता है और कला का सत्य तथ्य के अन्तराल में पड़ा हुआ मूल्य। इसीलिये कलाकार मनोसृष्टियों का आश्रय ग्रहण करता है। इसी के माध्यम से वह दृश्य-अदृश्य, परोक्ष-अपरोक्ष, तथा भौतिक और आध्यात्मिक स्वरूपों का अवगाहन करता है।

चतुर्थ उल्लास

त्रयोदश तरंग

मूल्य

त्रयोदश तरंग

मूल्य

आधुनिक साहित्य में मूल्य की चर्चा विशेष रूप से देखने को मिलती है। इसका प्रयोग ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में किया जाता है। हिन्दी में बहु-प्रचलित 'मूल्य' शब्द लालित्यबोधीय व्यंजना की दृष्टि से अंग्रेजी के 'वैल्यू' शब्द की अर्थ संहृति को स्पष्ट करता है। इसका प्रयोग पहले अर्थशास्त्र के क्षेत्र से सम्बन्धित था, पर बाद में इसका अर्थ विस्तार होता गया और यह व्यंजना की दृष्टि से वैभवपूर्ण और सन्दर्भ की दृष्टि से व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित हुआ। अर्थशास्त्र में माँग और पूर्ति को लेकर बड़ा विवाद हुआ है। इस विवाद से संबंधित जटिल पक्षों पर रोचक प्रकाश डालना अर्थशास्त्र का प्रमुख कर्त्तव्य है। इससे अपेक्षित आवश्यकता की पूर्ति भी हुई है। आरंभिक स्तर पर मूल्य पर विचार करने वाले अर्थशास्त्रियों के समक्ष मानव की **उत्कृष्ट इच्छा या अभिलाषा तथा इच्छित और अभिलषित वस्तु के अभाव या सहभाव का प्रश्न विद्यमान था।** इसी के आधार पर पदार्थ या उपादान विशेष का मूल्य निर्धारित किया जाता था। दैनिक जीवन में हम इस बात से सदैव अवगत रहते हैं कि जब किसी सामान्य से सामान्य वस्तु की माँग बढ़ जाती है और पूर्ति माँग का अनुगमन नहीं कर पाती है, तो उसका मूल्य बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए दिन-प्रतिदिन उपयोग में आने वाले जल को लिया जा सकता है। जाड़े के दिनों में इसकी विशेष खींच नहीं होती, पर गरमी के दिनों में दो-दो, चार-चार आने गिलास तक बिक जाता है। 'रेगिस्तान' में व्यक्ति निरन्तर दो-चार मील का चक्कर लगा कर इसे शुद्ध रूप में प्राप्त करने की कोशिश करता है। इससे एक बात साफ हो जाती है कि **मूल्य-निर्माण में अभीप्सित वस्तु के अभाव और वस्तु के प्रति उत्कट अभिलाषा के द्वन्द्व का महत्त्व विशेष रूप से दर्शनीय होता है।**

सर्वप्रथम, जर्मन विचारकों ने इस शब्द को व्यापकता प्रदान किया। इन विचारकों में 'रुडल्फ हरमैन' 'लोत्ज़' 'अल्ब्रेटरित्शाल' और 'नीत्शे' आदि का

स्थान विशेष रूप से उल्लेखनीय था। इन विचारकों के सत्प्रयास से इस शब्द की सीमा के अन्तर्गत मानव-जीवन की उत्कृष्टता, अधिकार, सौन्दर्य, सत्य और औचित्य की अर्थ-संगति का समावेश हुआ। इसके परिणाम-स्वरूप अब इसका प्रयोग अर्थशास्त्र के साथ ही, न्याय शास्त्र, शिक्षा शास्त्र, समाज शास्त्र, नीति शास्त्र और लालित्य-बोध के क्षेत्र में भी प्रचलित हो गया। इसे इस नये अर्थ सन्दर्भ में प्रतिष्ठित करने का कार्य 'फ्रांज़ ब्रेण्टानो' के आस्ट्रेलिया के दो शिष्यों 'मीनांग' और 'क्रिश्चियन वान एहरेनफेल्स' द्वारा संपादित हुआ। इस प्रयत्न की दृष्टि से 'हुसरेल', 'निकौलाई हार्टमैन' और 'मैक्सशीलर' का नाम भी उल्लेखनीय था।

गंभीरतापूर्वक विचार करने से एक बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है कि जीवन स्वतः में मूल्य निर्माण का आगार होता है। व्यक्ति अपनी आशा, अभिलाषा, आकांक्षा, प्रेम तथा घृणा के द्वारा जाने-अनजाने इसे निर्मित करता रहता है। संवेग और अभीप्सा भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान करते हैं। व्यक्ति समाज का अभिघटक और उसकी सबसे छोटी इकाई होता है। उसमें यह मूल्य की भावना निरन्तर क्रियाशील पाई जाती है। व्यक्ति में पाये जाने वाला यही मूल्य समाज के मूल्य के रूप में परिणत होता है। इस अवस्था में यह निश्चित प्रतिमान के रूप में बदल जाता है। सामाजिक मूल्य का यही स्वरूप व्यक्ति को अनुशासित और नियंत्रित करता है और समाज के जीवन को विकसित कर के उसे व्यक्ति के विकास की दृष्टि से अर्थवान और उपादेय बनाता है। हर देश, समाज और साहित्य में इस प्रकार के मूल्यों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। यूनानी साहित्य में प्रचलित 'ऐक्जिअस' (axios) और संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त 'औचित्य' शब्द इसी तथ्य के परिचायक हैं। यह तथ्य इस बात को सरलता से प्रतिपादित करता है कि इसका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में प्राचीन साहित्य से भी रहा है। पर आज यह बात भी निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो चुकी है कि यह शब्द अब प्राचीन घेरे से निकल कर अभिव्यंजना के नये आयामों को समाहित करने में पूर्ण समर्थ है। अर्थशास्त्रीय-मूल्य विनिमय का द्योतक है तो, राजनीति शास्त्रीय मूल्य शासन की उपयोगिता का, नीतिशास्त्रीय मूल्य मानव के व्यवहार पर प्रकाश डालता है तो लालित्यबोधीय मूल्य कला की विशेषता पर।

प्राय: यह प्रश्न पूछा जाता है कि मूल्य क्या है, और इसे किस रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यह प्रश्न सरल नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि किसी निरन्तर गतिशील और सतत परिवर्तनशील अवधारणा को निश्चित परिभाषा से बाँधना कठिन है। 'अर्बन' ने 'एनसाइक्लोपीडिआ ब्रिटानिका' के

अपने मूल्य सम्बन्धी लेख में निम्नांकित पाँच पहलुओं पर प्रकाश डाला है और इसे मूल्य को समझने की दृष्टि से आवश्यक घोषित किया है, (१) मूल्य की प्रकृति क्या है ? (२) प्रमुख मूल्य क्या हैं और इन्हें किस रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है, (३) वस्तुओं में निहित सापेक्ष मूल्य को कैसे समझा और इसके प्रतिमान को कैसे निरूपित किया जा सकता है ? (४) मूल्य केवल विषयिगत होता है, या विषयगत (५) मूल्य और यथार्थ में[1] क्या सम्बन्ध है ? 'अर्बन' महोदय ने इन प्रश्नों के माध्यम से समस्या के महत्त्वपूर्ण पक्ष पर प्रकाश डाला है। उपर्युक्त विवेचन को भिन्न रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। हम यह पूछ सकते हैं कि मूल्य क्या है, यह एक होता है या अनेक, अगर यह अनेक होता है तो इसका अन्तः सम्बन्ध क्या और कैसा होता है ? मूल्य किस रूप में यथार्थ से संबद्ध और उसका सहायक होता है ? अधिकांश विचारकों ने इस पर विचार ही नहीं किया है, अपितु अपनी दृष्टि से इसे परिभाषित भी करना चाहा है। सबसे सीधी और सरल परिभाषा यह है **'वस्तु में पाये जाने वाले गुण को उसका मूल्य तथा उसकी यथार्थ परख को मूल्यांकन कहा जाता है।'**[2] इस उपर्युक्त परिभाषा में प्रयुक्त 'परख' शब्द निर्णय की पद्धति का परिचायक है। निर्णय की यह पद्धति आज उतनी सरल नहीं है, जितनी पहले थी। इसका प्रमुख कारण यह है कि अब इसके साथ विचार के अनेकानेक जटिल पक्ष संबद्ध हो गये हैं। सर्वप्रमुख प्रश्न यह है कि मूल्य की भावना में ज्ञान की व्यंजना पाई जाती है या अनुभूति की अभिव्यक्ति, विचारकों ने ज्ञान की तथ्यपरक व्यंजना और आनुभविक निर्णय के आधार पर इसे निराकृत करने की कोशिश की है, पर यह प्रयत्न अन्तर्निहित उलझनों से मुक्त न होने से तथ्य के प्रकटीकरण में समर्थ नहीं हो सका है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इन दोनों में कोई स्पष्ट भेदक रेखा नहीं खींची जा सकती, ये कुछ हद तक एक दूसरे से मिले हुए और संबद्ध होते हैं। इन अवधारणाओं में तथ्य का सहयोग भी होता है। कलाकार इस तथ्य-निरूपण के लिए निश्चित दृष्टि अपनाता है। कुछ कलाकार इसे वस्तुगत दृष्टिकोण की संज्ञा देते हैं तो कु

1. During the last quarter century, all resources of logic and psychological analysis, have been brought to the solu of problems of the relation of value to exis'ence and re problems, which if not new in their essence, are new in the manner of formulation.

2. Value is worth of a thing, and valuation meant the estimation of that worth.

व्यक्तिगत। प्रथम कोटि के विचारकों के अनुसार मूल्य उपादान की वस्तुगत विशेषता है तो द्वितीय कोटि के विचारकों के अनुसार उपादान के संबंध में औचित्य और इच्छा तथा माँग की तृप्ति का प्रतिमान। तृतीय कोटि के विचारकों का भी समुदाय है जो समन्वयवादी है अतएव उपर्युक्त दृष्टिकोणों के अतिरेक से सर्वथा मुक्त है। 'एड्गर एस ब्राइट मैन' का कहना है, "सामान्य अर्थ में मूल्य में निश्चित काल में प्रशंसित, पुरस्कृत, अभीप्सित, अभिशंसित और मुक्त अवधारणायें निहित रहती हैं। यह उपादान या क्रिया से आनन्दोपलब्धि की अनुभूति या किसी इच्छा की तृप्ति से प्राप्त होने वाला प्रत्यक्ष संतोष है।"[१] 'डोरोथीली' के शब्दों में मानव-मूल्य या मूल्य की पद्धति व्यक्ति को जीवन में विवेक संपन्न बनाती है और वह भले-बुरे के ज्ञान से सरलता से परिचित होता रहता है। इसी ज्ञान के कारण वह जीवन में महत्त्वपूर्ण तथ्यों को प्राप्त करता है।[२] प्रथम दृष्टिकोण विषयिगत अनुभावन की ओर झुका हुआ है और द्वितीय वस्तुगत अनुभावन की ओर। 'मि० ल्योर रिचर्डवार्ड' ने इन दोनों मतों की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार मूल्य में अनुभूति, परिस्थिति तथा अनुभूति और परिस्थिति के प्रति औचित्य का भाव निहित रहता है।[3] उपर्युक्त उद्धरण में प्रयुक्त अनुभूति और परिस्थिति के द्वारा लेखक ने विषयिगत और विषयगत दृष्टिकोण के स्वरूप को ही द्योतित किया है। अनुभूति की ही तरह परिस्थिति अथवा परिवेश के भी कई स्तर होते हैं। पहले स्तर का संबंध कर्ता से होता है। वह उपादान को प्राप्त करने की इच्छा के वशीभूत होकर प्रयत्नोन्मुख होता है। द्वितीय स्तर पर इस इच्छा और प्रयत्न के क्रियापक्ष का अवतरण

1. In the most elementary sense, value means, whatever is actually liked, prized esteemed, desired, approved or enjoyed by any one at any given time. It is the actual experience of enjoying a desired object or activity. Hence the value is an existing realisation of desire.

2. By human value, by a value, or system of values, I mean the basis upon which an individual will chose one one rather than other, judged as better or worse, right or wrong.

3. This then is the experience and the specific situation — — — — — — — — — and justness to such situation or experience is and will remain the test of value.

होता है। तृतीय स्तर पर अभीप्सित उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है और पंचम स्तर पर उपादान का स्वरूप प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने लगता है। उपादान को स्पष्ट होने के बाद पंचम स्तर पर उसकी सूक्ष्म विशेषताओं की ओर दृष्टि जाती है और उसे पूर्णतया हृदयंगम किया जाता है। इसे दूसरे शब्दों में प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है, कि कर्ता में सर्वप्रथम वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है और वह अपनी इच्छा को प्रतिफलित करने के लिए प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न इच्छा की प्राप्ति का प्रमुख साधन होने के कारण सोद्देश्य माना जाता है। यह सोद्देश्यता हमें उपादान की उस विशेषता से परिचित कराती है जो मूल्य का प्रमुख केन्द्र-बिन्दु है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उद्देश्य ही मानव की मूल्यबोधपरक सक्रियता और क्रियाशीलता का प्रमुख माध्यम है। इस दृष्टि से मूल्य किसी वस्तु की वह क्षमता सिद्ध होती है जो उद्देश्यपूर्ण कार्य के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुई। मूल्योपलब्धि की क्रिया में प्रेरणा भी निहित रहती है। इसी प्रेरणा के द्वारा व्यक्ति उसके सूक्ष्म स्वरूपों को हृदयंगम करता है। इस सन्दर्भ में यह कहना अनुचित न होगा कि मूल्य-बोध की क्रिया में विषय प्रधान और विषयि प्रधान दृष्टिकोणों का सहयोग रहता है। मूल्य की अवधारणा में वस्तु की प्रशंसा, उससे संबद्ध चेतना और संवेग के साथ ही वह विशिष्ट अनुभूति भी होती है जिसका सम्बन्ध परिस्थिति या घटना से होता है। इससे यह साफ जाहिर हो जाता है कि मूल्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दोनों दृष्टिकोणों का मुखापेक्षी होता है। इसमें सदैव परंपरानुमोदन की स्थिति बनी रहती है। 'सी० जे० दुकासे' ने ठीक ही कहा है, "सौन्दर्य के विषयिगत या विषयगत स्वरूप के विषय में हाँ नहीं में उत्तर देना कठिन है। मेरी दृष्टि में इसका एकमात्र सही उत्तर यही हो सकता है कि सौन्दर्य के उपादान पर विचार से प्राप्त होने वाली प्रमुख विशेषता है जो अपने मूलरूप में आनन्ददायक होती है। यह द्रष्टा और भावक दोनों को सौन्दर्यानुप्राणित बनाती है। ऐसी स्थिति में यह दुहरे सम्बन्ध की परिचायक होती है। एक ओर अगर यह उपादान से जुड़ी रहती है तो दूसरी ओर द्रष्टा के मानसिक स्थिति के निश्चित स्वरूप से।"[1] इसीलिये विभिन्न लेखकों ने

1. The question whether beauty is objective or subjective, is thus not answerable by saying simply yes to one and no to other of the alleged alternatives. The only correct answer is that beauty is the property of an object which consists in

इसके विभिन्न पक्षों पर विचार किया है। 'एम पिकार्ड' ने सचेतन क्रिया और परिवेश के बीच रुचिपूर्ण सम्बन्ध[1], 'डी डब्ल्यू प्रॉल' ने द्रष्टा और दृश्य के बीच अभिरुचि के अस्तित्व[2], 'पेरी' ने दृश्य उपादान और द्रष्टा को रुचि के बीच सम्बन्धता, 'एहरेन फेल्स' ने द्रष्टा और दृश्य के बीच अभीप्सित सम्बन्ध[3], और 'सी पेपर' ने वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक की शर्तों को पूरा करने के माध्यम का उल्लेख किया है।[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल्य में रुचि, रुचि से सम्बद्ध उपादान की विशेषता, उपादान और रुचि के संबंध और पुनः रुचि की अवधारणा का चक्र चलता रहता है।

उपर्युक्त तथ्यों को और सरलता और स्पष्टता से समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम विभिन्न निकायों को मूल्य संबंधी मान्यताओं को हृदयंगम कर लें। इस दृष्टि से हम सर्वप्रथम दार्शनिक विचारकों की मान्यताओं को लेते हैं। 'मुन्स्टरबर्ग' ने अपनी प्रमुख पुस्तक 'इटरनल वैल्यू' में इस पर गंभीरता से विचार किया है। उनके अनुसार मूल्य का आधार इच्छाशक्ति द्वारा निर्मित ऐच्छिक दृष्टिकोण होता है। इसीलिये इच्छाशक्ति के अभाव में निर्मित तत्त्वों में मूल्य की कमी पाई जाती है। प्रकृति का संबंध मूल्य-विहीन क्षेत्र से होता है, जब कि इतिहास का मूल्य वादी क्षेत्र से। 'मुन्स्टरबर्ग' की दृष्टि में इच्छाशक्ति की

---

capacity of the object to cause pleasure in the subject who contemplates it. Beauty that is to say is the character of some objects, but a relational character of them, the character namely, that consists in their having to certain minds the relation just described. ... ... Beauty like poisionousness is not an event or quality, but a capacity—the capacity somethings have of causing pleasure in some contemplative beholders of them.

1. Values are relations of interests between conscious activity and environment.

2. Values is the existence of an interest relation between a subject and object.

3. Value may be defined as a relational pattern of an object to valuing subject.

4. Conditions of both impersonal and personal nature must be fulfilled.

अतिवैयक्तिकता की तृप्ति सदैव मूल्य-विधायक होती है। प्रश्न पूछा जा सकता है, यह अतिवैयक्तिकता की तृप्ति क्या है और इससे मूल्य कैसे संभव होता है ? इसके उत्तर-स्वरूप वे कहते हैं, "इच्छापूर्ति का मतलब होता है, "पूर्व और पर अनुभूति के विषय-वस्तु में तादात्म्य का अनुभव करना।" इसी तादात्म्यानुभूति से मूल्य का निर्माण होता है। तादात्म्य की व्याख्या के सन्दर्भ में 'मुन्स्टरबर्ग' ने निम्नांकित चतुर्विध संबंध को आवश्यक माना है, (१) हर अंश को परिवर्तित घटना के साथ समान होना चाहिए, (२) विभिन्न अवयवों को आपस में समान होना चाहिए, (३) अनुभूति के जो धरातल परिवर्तित हों उनके परिवर्तन को तादात्म्य का परिचायक होना चाहिए, और (४) तादात्म्य को किसी न किसी रूप में सदैव विद्यमान रहना चाहिए। मूल्य के अतिमानसी स्वरूप की इस व्याख्या के कई आधार हैं। इस पुस्तक के अन्तिम अध्याय तक लेखक का बुद्धिवादी आधार स्पष्ट हो गया है। उन्होंने कहा भी है, "ये अनुभूतियाँ अतिमानसी अनुभूतियाँ हैं और हमें सामान्य अनुभूतियों के ऊपर उठाती हैं। इन मूल्यों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु अतिमानस है। इस अतिमानस में वैयक्तिकता की सीमा समाप्त हो जाती है, इसके परिणाम-स्वरूप अनेक मूल्य मिलकर गड्डमगड्ड हो उठते हैं। व्यक्ति 'सेल्फ' से 'ओवरसेल्फ' की ओर बढ़ता रहता है। 'ओवरसेल्फ' तक पहुँचते-पहुँचते वह उस उत्कृष्ट धरातल पर पहुँच जाता है जहाँ शाश्वतता का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। 'मुन्स्टरबर्ग' ने मूल्य और यथार्थ को भिन्न माना है उनकी धारणा है कि ये दोनों अच्छे सामंजस्य में बँध सकते हैं। परमतत्व यथार्थ को मूल्य से संबद्ध करने का कार्य संपादित करता है।

'मुन्स्टरबर्ग' के बाद 'रिकर्ट' ने मूल्य की दार्शनिक व्याख्या पर विचार करते हुए मूल्य और यथार्थ के संबंध को निरूपित किया है। उनके अनुसार बोध के कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जो यथार्थ की सीमा के बाहर पड़ते हैं और उनका अपना निजी अर्थ होता है। दृश्य संसृति का हर स्वरूप द्रष्टा और दृश्य की सीमा में नहीं बँध पाता, वह इससे परे भी होता है। प्रस्तुत स्वरूप में दृश्य उपादानों के अतिरिक्त भी कुछ ऐसा होता है जिसे सामान्य रूप से इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर पातीं। अतएव यथार्थ पर विचार करने का एक मात्र स्वरूप नकारात्मकता (Negation) है। संसृति के प्रस्तुत उपादानों से उसका इकहरा संबंध होता है, पर मूल्य से दुहरा। मूल्य के नकारात्मक पक्ष से हमें सकारात्मक ज्ञान की उपलब्धि होती है। यही ज्ञान हमारा मानदण्ड

होता है। नकारात्मक मूल्य को सकारात्मक मूल्यों के सन्दर्भ में विवेचित किया जा सकता है। 'रिकेट' ने उद्देश्य और मूल्य के संबंध पर विचार किया है उनका कहना है कि उद्देश्य मूल्य नहीं अपितु मूल्य का वाहक होता है। केन्द्रित मूल्य शुद्ध और विन्यासाश्रित होता है। सर्वातिशायी दर्शन मूल्य में सर्वातिशायी अर्थ की खोज करता है। वह दृश्य के स्थान पर अदृश्य की ओर अधिक उन्मुख रहता है। बाद में 'रिकेट' के इस दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है। वे विषयिगत दृष्टिकोण पर अधिक बल देने लगते हैं। उन्होंने लिखा भी है, "जब हम 'ट्रान्सेण्डेण्टल वैल्यू' का प्रयोग करते हैं तो, इसका एक निश्चित अर्थ होता है। 'ट्रान्सेण्डेण्टल' शब्द विषयिगत दृष्टिकोण से स्वतंत्रता का परिचायक और 'वैल्यू' शब्द व्यक्ति से परे ज्ञान मीमांसा के विषय का परिचायक माना जाता है। 'रिकेट' की मूल्य और यथार्थ संबंधी मान्यता विशेष महत्वपूर्ण है। उनका कहना है कि संपूर्ण संसृति (world-whole) दो क्षेत्रों में विभक्त है, Erlebte और दूसरा Erleban प्रथम को पुनः दो भागों में विभक्त किया जाता है, (१) यथार्थ और (२) मूल्य। 'एरलीबेन' के क्षेत्र में यथार्थ और अयथार्थ मिल जाते हैं। इसी क्षेत्र में विषय स्थित रहता है। इसकी प्रमुख विशेषता आसन्न सजीवता (Immediate livingness) होती है। यही विषय मूल्य और यथार्थ को संबद्ध करता है। विषय वस्तुतः ऐसे प्रत्यय को प्रस्तुत करने में समर्थ हैं जो न तो मूल्य की अवधारणा में पाया जाता है और न यथार्थ की अवधारणा में। यह प्रत्यय "लिविंग इन लिविंगनेस" का परिचायक होता है। इनके संपूर्ण विवेचन के क्रम में हम विकास के चार सोपानों का साक्षात्कार करते है; (१) यथार्थ (२) मूल्य (३) परमतत्व और (४) संपूर्ण संसृति। परम तत्व को पूर्ण-संसृति की संज्ञा भी दी जाती है। यही परम तत्व या पूर्ण संसृति यथार्थ, मूल्य और विषय का समन्वय होती है। इस दृष्टि से मूल्य अनुभूति के क्षेत्रों के दो अभिघटकों में से एक प्रमुख अभिघटक माना जाता है। 'रिकेट' की दृष्टि में मूल्य यथार्थ से भिन्न सर्वातिशायी प्रकृति से अलंकृत होता है।

'रिकेट' के चिन्तन के कुछ पक्ष हमें 'विण्डेल बाण्ड' में दृष्टिगोचर होते हैं। ये तथ्य और मूल्य को भिन्न मानते हैं। इन्होंने दो प्रकार के निर्णयों का उल्लेख किया था। (१) तथ्य सम्बन्धी और (२) मूल्य संबंधी। मूल्य संबंधी निर्णय दर्शन का विषय होता है। दर्शन न तो इसका वर्णन करता है और न उसकी

व्याख्या । इससे संबद्ध मूल्य-निर्णय चेतना से संबंधित अनुभूति और इच्छा का प्रतिफलन है । उनका कहना है कि, "यह संपूर्ण जीवन (Soul life) की क्रिया है जो आवश्यकता और प्रत्यय में निहित तथ्य से उद्भूत होती है । आवश्यकता और प्रत्यय में निहित भावना संपूर्ण जीवन की गतिशीलता का आवश्यक परिणाम है ।" दर्शन सामान्य चेतना को निरूपित करता है जो बोधमय तथ्य की दृष्टि से ही तथ्य नहीं, अपितु यथार्थ सत्य है । यह आनुभविक यथार्थ से भिन्न ऐसा आदर्श है जिसके माध्यम से आनुभविक यथार्थ माना जा सकता है । 'बिण्डेल बाण्ड' ने प्रतिमानों और प्रकृति के नियमों में भी भेद माना है । उनके अनुसार प्रतिमान मानसिक पक्ष का ही निश्चित निरूपण नहीं होता अपितु 'मेण्टल लाइफ' के प्राकृतिक नियमों का भी विषय होता है । तर्क की भाषा में विचार प्रत्ययी तत्त्वों के समंजन का निश्चित परिणाम है और सामान्य प्रवाह के साथ अस्तित्व में आता है । इस प्रकार हर प्रतिमान किसी न किसी रूप में प्रकृति के नियमों की उपलब्धि होता है । इस उपलब्धि में चुनाव को विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है । तात्पर्य यह कि ये प्रतिमान प्रकृति के नियमों के मुखापेक्षी भी होते हैं । अपने प्रमुख निबन्ध 'प्रिंसिपुल्स ऑव लॉजिक' में 'विण्डेलबाण्ड' ने विज्ञान और इतिहास के भेद को निरूपित किया है । इस विभेद-निरूपण में ग्राह्य पद्धति को विधानाश्रित (Nomothetic) और स्वरूप-चिह्न-विषयक (Idiographic) पद्धति में विभाजित किया गया है । प्रथम पद्धति का आधार विश्वजनीन गवेषणा का आधार होता है । यह सभी प्रकार के विशिष्ट तथ्यों का संधिस्थल होता है । द्वितीय पद्धति में व्यक्ति की विशिष्टता का बोध प्रस्तुत रहता है । ये पद्धतियाँ एक दूसरो से सर्वथा भिन्न नहीं होती । इनमें यथास्थान संबंध भी होता है । विज्ञान मानवशास्त्रातीत होता है और इतिहास मानवशास्त्रीय । द्वितीय को अपनी पूर्णता के लिए प्रथम की अपेक्षा होती है । 'विण्डेलबाण्ड' ने इसी सन्दर्भ में वस्तुगत विचार और चेतना के अस्तित्व के संबंध पर विचार किया है । यह विचार उन्हें मीमांसा-दर्शन के क्षेत्र में पहुँचा देता है । उनकी धारणा है कि वस्तुगत चिन्तन इन्द्रिय-बोध प्रधान यथार्थ के स्थान पर अस्तित्व-निरपेक्ष सत्ता का मुखापेक्षी होता है । इसे उचित (Valid) की संज्ञा दी जाती है । यह औचित्य का क्षेत्र ऐसे विन्यास और नियम का क्षेत्र होता है जिसके आधार पर अस्तित्व का मूल्यांकन किया जाता है । ये विन्यास स्वतः उचित होते हैं । उपर्युक्त विवेचन भी 'रिकेट' के विवेचन की ही तरह रहस्यमय हो गया है ।

इनके पश्चात दार्शनिकों में 'हसरेल' ने प्रत्यक्ष ज्ञान प्रधान मनोविज्ञान के

आधार पर मूल्य की व्याख्या किया है। 'फेनॉमेनॉलाजी' या प्रत्यक्ष ज्ञान प्रधान-मनोविज्ञान चिन्तन की नई दिशा है। उनकी दृष्टि में यह सार-सत्ता का विज्ञान है जो तथ्यपरक विज्ञान से सर्वथा भिन्न है। यही सार-सत्ता मूल्य की पर्याय है। यह सारसत्ता अयथार्थ होती है। इस विवेचन में कुछ उलझन उत्पन्न हुई है। उसी के समाधान के लिए 'हसरेल' ने सहजज्ञानाश्रित सारसत्ता (essence-intuition) का उल्लेख किया है। इसके माध्यम से वे तथ्य के क्षेत्र के समक्ष एक नया क्षेत्र प्रस्तुत करते हैं। तथ्यपरक क्षेत्र को अगर हम प्रथम कोटि के यथार्थ की संज्ञा दें तो सहजज्ञानाश्रित सारसत्ता के क्षेत्र को द्वितीय कोटि के यथार्थ की संज्ञा देना आवश्यक हो जाता है। 'हसरेल' की यही मान्यता बाद में अस्तित्ववाद की जनक बनी है।

उपर्युक्त मूल्य-सिद्धान्त कई दृष्टियों से अस्पष्ट रहा है। अधिकांश विचारकों ने या तो इस पर आध्यात्मिकता का रंग चढ़ा दिया है, या भौतिकता का। यह रंग आवश्यकता से अधिक चटकीला हो गया है। इससे इसका प्रकृति स्वरूप तिरोहित हो गया है। 'जोसिआ रॉयस' ने इसे सर्वप्रथम सबल आधार-भित्ति प्रदान की है। इनका प्रमुख विवेच्य यथार्थ और अस्तित्व है। विवेचन-सौन्दर्य की दृष्टि से ये अस्तित्व के चार प्रमुख स्वरूपों का उल्लेख करते हैं और मूल्य का संबंध इसी परम उत्कृष्ट चतुर्थ स्वरूप से स्थापित करते हैं। इस स्तर पर इसकी तीन प्रमुख विशेषतायें होती हैं। (१) यह सीमित विचार के आन्तरिक स्वरूप की व्यंजना होता है, (२) यह इस प्रत्यय या विचार में निहित इच्छा की सहजपूर्ति का परिचायक होता है, और (३) यह ऐसे विशिष्ट जीवन का प्रतीक है जिसके लिये पूरकरूप में जीवन का अन्य कोई पक्ष उपस्थित नहीं किया जा सकता है। उपर्युक्त विवेचन में 'सीमित विचार के आन्तरिक व्यंजना' का प्रयोग पर्याप्त सार्थक है। यह परम तत्त्व का परिचायक माना जाता है। 'रॉयस' द्वारा निरूपित चार स्तर विचार के विकास के चार स्तरों के परिचायक है। "प्रथम निम्न अथवा सामान्य स्तर इस बात पर प्रकाश डालता है कि यथार्थ केवल वाह्य है। दूसरा स्तर इस बात का परिचायक है कि विचार रहस्यमय है और इसका बाह्य स्वरूप से कोई संबंध नहीं होता है। तृतीय स्तर पर यथार्थ को स्थायी या शाश्वत रूप में निरूपित किया जाता है। चतुर्थ स्तर पूर्ववर्ती स्तरों का विधायक, परिष्कर्ता और उन्नायक होता है। इस स्तर पर यथार्थ को व्यक्तिगत विन्यास में निहित सीमित विचारों की आन्तरिक व्यंजना के पूर्ति की संज्ञा

दी जाती है।'' 'रॉयस' की दृष्टि में मूल्य महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी ही नहीं अपितु अविभक्त आत्मगत स्वरूप का समन्वित रूप होता है।[1]

विशुद्ध दार्शनिक निरूपण बहुत स्पष्ट नहीं हो पाये हैं। इन सभी विवेचनों को दो कोटियों में रखा जा सकता है, (१) प्रामाणिक (Normative) और (२) मिश्र प्रामाणिक (Metanormative)। प्रथम कोटि का संबंध इस बात से होता है कि क्या अच्छा है और किस उपादान में मूल्य प्रस्तुत है और द्वितीय का सम्बन्ध इस बात से होता है कि मूल्य का विश्लेषण कैसे किया जा सकता है। प्रथम इस बात को चित्रित करता है कि क्या अच्छा है और किस रूप में अच्छा है और द्वितीय इस बात को मान कर चलता है कि मूल्य या अच्छाई और उत्कृष्टता ऐसे शब्द हैं जो निश्चित गुणों के परिचायक हैं। मूल्यांकन के समय हम इन्हीं गुणों को वस्तु पर आरोपित करते हैं। इन विचारकों को बोधवादी और वर्णनवादी माना जाता है। इनमें एक समुदाय प्रकृतिवादी विचारकों का भी होता है, जो यह मानते हैं कि उपादान में निहित गुण आनुभविक हैं और उन्हें व्याख्यायित भी किया जा सकता है। 'वान एहरेन फेलस' और 'पेरी' मूल्य को उपादान से संबद्ध गुण की संज्ञा देते हैं और इसे अभिरुचि या इच्छा का विषय मानते हैं। 'पार्कर' की दृष्टि में केवल इच्छापूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'लेविस' और 'राइस' ने इसकी आनन्द-प्रदाता क्षमता को महत्व दिया है। अन्य बोधवादी विचारक मूल्य को भगवान की इच्छा का प्रतिफलन मानते हैं और अस्तित्ववादी विचारक इसे भाव, संवेग, अनुभूति और प्रतिचेष्टा का परिणाम। इस प्रकार दार्शनिक विवेचन में मूल्य के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है।

दार्शनिकों के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक विचारकों की मूल्य संबंधी मान्यता भी महत्त्वपूर्ण है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मूल्य का संबंध मानव की मानसिक अवस्था तथा उसकी अनुभूति से होता है। यह वस्तुतः इच्छा और इच्छा के उपादान के घात-प्रतिघात का प्रतिफलन है। चिन्तन की स्थिति में यह द्रष्टा और दृश्य के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। इसमें अभिरुचि का अनाविल प्रवाह क्रियाशील पाया जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि व्यक्ति का संपूर्ण जीवन चाह और घृणा से नियंत्रित होता है। उसके

1. The world, the world of values, of appreciation as rightly viewed by absolute insight would be a world of selves, forming in the unity of their systems one-self.

मानस में विचारों का भयंकर आवर्त चला करता है। इनमें से कुछ तो उसके विचार और व्यवहार द्वारा अभिव्यक्त हो जाते हैं पर कुछ अपनी अभिव्यक्ति के लिये निरन्तर लालायित रहते हैं। यह अभिव्यक्ति सोद्देश्य होती है। इसी पर प्रकाश डालते हुए 'जोन्स' ने लिखा है, "सड़कों पर पड़ी हुई अनन्त धूल-राशि इच्छामय नहीं होती। अँगीठी से फेंकी गई राख की भी अपनी कोई चाह नहीं होती। इच्छायें और महत्त्वाकांक्षायें, आदर्श और मन:सृष्टि, भाव-संवेग और स्थायी भाव-दशा हमारे व्यक्तित्व के उतने ही महत्त्वपूर्ण अंश हैं जितने कि फॉसफोरस, चूना और लौहतत्व हमारे शरीर के। हमारे अन्दर आदर्श की परिकल्पना, सौन्दर्य-बोध, सत्य की परख और प्रेमानुभूति तरङ्गायित होती रहती हैं। इनका अस्तित्व मनुष्य के मस्तिष्क के लिए होता है, जड़ पदार्थ के लिए नहीं।"[1]

मनोविज्ञान की व्यवहारवादी शाखा में प्रेरक या उद्दीपक का उल्लेख मिलता है। इसमें कोई शक नहीं कि ये व्यवहार को उद्दीप्त करते हैं। कभी-कभी इससे भिन्न स्थिति का दर्शन भी होता है। हम अपने लिये स्वयं ऐसे उद्दीपक स्वरूपों की अवतारणा कर लेते हैं जो हमारे व्यवहार पर प्रकाश डालते हैं, चित्त वृत्तियों को आलोकित करते हैं और मन:-सृष्टियों को मूर्त स्वरूप में रूपायित होने में सहायक सिद्ध होते हैं। इस प्रकार के प्रेरक हमारी प्रतिचेष्टा को नियंत्रित और व्यवहार को सही दिशा में व्यंजित करते हैं। व्यवहार की प्रतिक्रिया पूर्ण परिस्थिति के प्रति होती है। इस स्थिति में यह प्रतिक्रिया नये मूल्यों, मन:सृष्टियों, संभावनाओं और उपलब्धियों की जनक होती है। व्यक्ति का व्यवहार रूप-निरूपण की क्रिया है, जिसमें विभिन्न प्रकार के विरोधी तत्व समन्वित रूप में प्रतिच्छायित होते रहते हैं। व्यक्ति क्रिया के सोद्देश्य प्रवाह के अनुरूप अपने को ढालकर तब तक निरन्तर गतिशील बना रहता है, जब तक

1. The whirling dust wreaths of the streets do not have longing. The bits of earth crust which we throw out of our shovel do not yearn for what is not and then forthwith construct it. Desire and strivings, visions and ideals, emotions and sentiments, are as much a genuine part of us as are the iron and lime and phosphorous in our bodies. we have insights of what ought to be appreciation of beauty, conviction of truth, experiences of love, and these things are not part of the earth's crust. They are not results of masses of matter in motion. They can not be adequately explained mechanically. They are real for mind and only for mind.

उसका उद्देश्य प्राप्त नहीं हो जाता। इसमें उसके सहज-ज्ञान और सहज-बुद्धि का अद्भुत संयोग होता है। वैसे तो यह क्रिया पशुजगत में भी पाई जाती है, पर व्यक्ति में एक विशिष्ट धरातल पर प्रतिष्ठित नजर आती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि व्यक्ति को कुछ ऐसे तत्व उपलब्ध हैं जो पशुओं में नहीं पाये जाते। इन तत्वों को स्मृति, विधायक-कल्पना और प्रज्ञा के नाम से अभिहित किया जाता है। मूल्य-निर्माण की क्रिया में इन तत्वों का विशेष सहयोग होता है। स्मृति भूत की घटनाओं को रूपायित करने का प्रमुख साधन है, कल्पना दृश्य और अदृश्य का अवगाहन कर के अपनी उपलब्धि को मूर्तस्वरूप में प्रतिष्ठित करती है और प्रज्ञा इन दोनों के क्रिया-कलापों को अतिरेकवादी होने से बचाती है। व्यक्ति में इच्छा और संकल्पशक्ति का अदम्य वेग क्रियाशील रहता है। इसी से उसके चरित्र का निर्माण होता है और वह जीवन तथा जगत को समझने में सफल होता है। इस अन्तर्दृष्टि के कारण उसका मानस उद्देश्यों का एक सचेतन भण्डार बन जाता है। इससे उसमें प्रवृत्ति का जन्म होता है। ये प्रवृत्तियाँ उसके जीवन की सचेतक होती हैं। मनुष्य अपनी इन्द्रियों के द्वारा प्रकृति के बाह्य और मानस के आन्तरिक स्वरूपों से प्रभाव ग्रहण करता है। ये प्रभाव कई प्रकार के होते हैं। कभी-कभी इनमें तनाव की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है। इसके परिणाम स्वरूप मानस की स्थिति भयंकर उद्वेलन से ग्रसित हो जाती है। पर यही तनाव इनके सुलझाव का प्रमुख कारण भी बनता है। समन्वित हो जाने पर इनमें अद्भुत सृजनशीलता आ जाती है। यही सृजनशीलता मूल्य का निर्माण करती है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति न तो केवल विगत भावनाओं से प्रेरित होता है और न आगत सम्मोहन से। वह अनिश्चित विचारों का पुंज भी नहीं होता। उसमें इच्छा और संकल्प की अनन्त शक्ति पाई जाती है। यह शक्ति प्रभाव, उपलब्ध प्रवृत्ति, सहज-वृत्ति, सहज ज्ञान और प्रज्ञा के द्वारा उसे नये मूल्य के निर्माण की ओर उन्मुख करती रहती है।

मनुष्य के मूल्यांकन की पद्धति भी मनोवैज्ञानिक होती है। इस के यथार्थ निरूपण की दृष्टि से मनोवैज्ञानिकों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ लोगों के अनुसार मूल्यांकन, इच्छा, चाह, या अभिलाषा के द्वारा व्यक्ति को उपादान से संबद्ध करता है। कुछ अन्य लोगों के अनुसार इस उपर्युक्त विशेषता के अतिरिक्त इस क्रिया में उपलब्धि और निर्णय का भाव भी विद्यमान रहता है। आज यही दूसरा दृष्टिकोण प्रतिष्ठित हो चुका

है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इसमें एक ही मानसिक क्रिया के दो स्पष्ट स्वरूपों का निरूपण मिल जाता है। ये स्वरूप मूल्य के नियंत्रण और निर्णय से संबंधित होते हैं। इसमें शक नहीं कि अभिलाषा या इच्छा उपादान को मूल्य-वत्ता प्रदान करती है, पर मूल्यवान वस्तुओं के निर्णय तथा उसके सम्बन्ध को तिरस्कृत नहीं किया जा सकता। वस्तु सत्य यह है कि मूल्य के निर्णय की क्रिया कई स्तरों में संपादित होती है। हमें सबसे पहले उपादान का बोध होता है। यह बोध की अभिरुचि उत्पन्न करता है। प्रज्ञा इस अभिरुचि के तथ्यातथ्य का निरूपण करती है, और इससे मूल्य-निर्णय की क्रिया अवतरित होती है। इन क्रियाओं में कई प्रकार की प्रतिक्रियायें समाहित रहती हैं, कई अन्तर्द्वन्द्व निहित रहते हैं और कई प्रकार के तनाव क्रियाशील पाये जाते हैं, पर यथासमय ये सभी समन्वित हो जाते हैं। मूल्यांकन में भावात्मक तथ्यों का विशेष सहयोग रहता है। इच्छा का भी मनोवैज्ञानिक पक्ष होता है। इसीलिये कुछ विचारक इसी को मूल्य की अवधारणा की जनक मानते हैं। इसे कई रूपों में परिभाषित किया गया है, पर मनोवैज्ञानिक शब्दावली में इसका निश्चित अर्थ होता है। इसके अनुसार जटिल भावात्मक सम्बन्धों से घिरी हुई चित्तवृत्ति को इच्छा की संज्ञा दी जाती है। यह ऐसे उपादान के बोध से संबद्ध होती है जो आनन्दप्रद माना जाता है। मनोवैज्ञानिकों ने इसे सचेतन चित्तवृत्ति का पर्याय सिद्ध किया है। चित्तवृत्ति में क्रियाशीलता पाई जाती है। यथासमय इस क्रियाशीलता पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है। इच्छा में बोध, भाव-संवेग और संकल्प निहित रहते हैं। इसे भाव-संवेग प्रधान तत्त्व माना जाता है। इच्छा का आरम्भ भयंकर तनावपूर्ण स्थिति से होता है। यह स्थिति तब तक बनी रहती है जब तक यह पूर्णरूप से संतुष्ट नहीं हो जाती है। इस प्रकार हर इच्छा के आरम्भ में जिज्ञासापूर्ण अतृप्ति और अन्त में (पूर्ण हो जाने पर) शान्तिमय तृप्ति का दर्शन होता है। मात्र प्रवण स्थिति में कभी-कभी वेदना भी आनन्द में परिणित हो जाती है। इससे एक प्रकार के अद्‌भुत वेदनामय आनन्द का आविर्भाव होता है। 'जॉन डेवी' ने कहा है, "इच्छा में ऐसी चेतना निहित रहती है जो उसकी यथार्थ स्थिति और उसकी संभावित स्थिति के भेद को प्रस्तुत करती है और इस संभावित स्थिति तक पहुँचने के लिए उचित माध्यम भी प्रदान करती है।" यथार्थ स्थिति और संभावित स्थिति के मध्य एक अन्तराल पाया जाता है। इच्छापूर्ति के लिए इसको समाप्त करना आवश्यक है। संकल्प इच्छा का प्राण और इच्छा संकल्प का सक्रिय और जीवन्त स्वरूप होती है।

इस क्रिया में **अनुरक्ति** (attachment) को भी महत्त्वपूर्ण माना गया है। अनुरक्ति आकर्षण का प्रमुख केन्द्र-बिन्दु होती है। यह आकर्षण दुहरा होता है। एक ओर इसका सम्बन्ध इच्छा से होता है और दूसरी ओर उपादान से। इस प्रकार यह उपादान और इच्छा के मध्य सेतु का कार्य करता है। इसमें भाव-संकल्प तथा बोध-प्रत्यय उपस्थित रहते हैं। इसमें कई तरह के सम्बन्ध की स्थिति भी पाई जाती है। यह आनन्द में परिणित होने वाले उपादान के पूर्व संबंध से अनुप्राणित रहता है, इसीलिये इसमें तथ्य की पूर्व-स्मृति भी विद्यमान रहती है। यह निश्चित गुण और धर्ममय उपादान से निश्चित आनन्द प्राप्त करने का मुखापेक्षी होता है। आनन्द-प्राप्ति के लिए यह उपादान से अनेकों प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इसमें इच्छा के साथ तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता होती है।

'मीनांग' और 'एहरेनफेल्स' ने ही सर्वप्रथम मूल्याश्रित अनुभूति का उल्लेख किया था। इस सन्दर्भ में अभीप्सित धारणा पर विशेष बल दिया गया था। अभीप्सा को देश-काल के सन्दर्भ में विश्लेषित करने की कोशिश भी की गई थी। इसके अभिघटकों में अनुभूति-प्रधान चित्तवृत्ति विशेष महत्त्वपूर्ण मानी गई थी। इन लेखकों के अनुसार इच्छा प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों प्रकार के उपादानों से नियंत्रित होती है। इसी तथ्य को दृष्टिपथ में रख कर 'टॉमस हिल-ग्रीन' ने कहा था, महान वही है जो किसी न किसी प्रकार की इच्छा को तृप्त करता है। हर प्रकार की इच्छा की तृप्ति आनन्द जनक होती है।

मूल्य का सामाजिक और समाजशास्त्रीय स्वरूप भी होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि हर प्रकार के मूल्य के दो पक्ष होते हैं, (१) मूल्यांकन का विषय और (२) मूल्य का उपादान। मूल्य सदैव इन्हीं दोनों के संबंध पर निर्भर रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि द्रष्टा में मूल्य का वही स्वरूप प्रस्तुत रहता है जो दृश्य में विद्यमान है, या दृश्य में मूल्य के उसी स्वरूप का अभिधान होता है जो किसी न किसी रूप में द्रष्टा की संपत्ति है। जब द्रष्टा का दृश्य से या दृश्य का द्रष्टा से संबंध होता है तो इनके आदान-प्रदान से मूल्य का अवतरण होता है। मूल्य की स्थिति सदैव इन्हीं की सहानुभूति और सहयोग की मुखापेक्षी होती है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि मूल्य का अवतरण उस परिस्थिति से होता है जिसमें द्रष्टा और दृश्य निश्चित दबाव के कारण एकमेक होकर नये संबंध-सूत्र की स्थापना करते हैं। यह नया संबंध-सूत्र अपनी समग्रता में अभिनव व्यंजना का परिचायक होता है। इस स्वरूप में मूल्य की अवधारणा प्रकारान्तर से

द्रष्टा और दृश्य के अन्त:संबंध की मुखापेक्षी होती है। द्रष्टा यहाँ समाज की इकाई होता है और दृश्य समाज में निहित या समाजेतर परिवेश में प्रस्तुत उपादान।

इसमें संदेह नहीं कि संसृति के सभी क्रिया-कलापों का साध्य मानव-हित है। मानव में मूल प्रवृत्तियों के ही साथ जन्मजात संस्कार और रुचि का अद्भुत संयोग होता है। सामाजिक मूल्य इन्हीं के साथ अनिवार्य रूप से संग्रथित होते हैं। मनुष्य आविष्कर्ता होता है। वह अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति और मनोभावों की तृप्ति का साधन ढूंढ़ने तथा, जीवन-क्रम को सुचारु रूप से चलाने के लिए कुछ सामाजिक अनुबंधों का सृजन और पालन करता है। ये क्रियायें मूल्य-निर्माण की जनक होती हैं। व्यक्ति इन्हीं क्रियाओं से निर्देशित आवश्यकताओं के वशीभूत होकर शरीर, अर्थ, मनोरंजन, समाज, चरित्र, लालित्यबोध, धर्म, ईश्वर तथा विश्वास सम्बन्धी अन्यान्य मूल्यों की अवतारणा किया करता है और इसी के द्वारा अपनी प्रवृत्ति, सहजवृत्ति, संवेग और उपयोगिता सम्बन्धी तथ्यों की पूर्ति करके आनंद लाभ करता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह अपने विकास के लिए समाज में ही रहता और उसी के द्वारा निर्धारित मूल्यों को स्वीकार करता है। यह मूल्य के स्वीकृति की क्रिया मूल्य-निर्माण की क्रिया होती है। समाज के आदर्श मूल्यों का ढाँचा उसके अनेकानेक मूल्यों के उत्सर्ग द्वारा निर्मित होता है। व्यक्ति सदैव विधि और निषेध की क्रिया के द्वारा अग्रसर होता है। यह द्वन्द्वात्मक होता है। इसी का अन्तिम परिणाम स्थायित्व है। यही स्थायित्व नये मूल्यों का निर्माता है। ये नये मूल्य जब पुनः रूढ़ हो जाते हैं तो यही क्रिया पुनः शुरू हो जाती है।

मूल्यों के सामाजिक स्वरूप पर दृष्टिपात करते समय कुछ अन्य तथ्यों को हृदयंगम कर लेना आवश्यक है। सबसे प्रमुख तथ्य यह है कि सामाजिक मूल्य वैयक्तिक मूल्य पर निर्भर रहते हैं और वैयक्तिक मूल्य जीवन मूल्य पर। जीवन मूल्य पर्याप्त जटिल और पेचीदा होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जीवन विभिन्न उपविभागों में बटा होता है। इसके परिणाम स्वरूप हम कभी अर्थ की पूर्ति में संलग्न रहते हैं तो कभी धर्म की साधना में। ज्ञान और सौन्दर्य-पिपासा भी हमें निरन्तर नचाती रहती है। व्यक्ति समाज के प्रति विशेष सतर्क रहता है। इससे सामाजिक क्रियाओं का उद्भव होता है। इन सामाजिक क्रियाओं के मूल में सामाजिक मानस का सहयोग विशेष रूप से दर्शनीय है। यह सामाजिक मानस समान उद्देश्य से प्रेरित व्यक्तियों के विचार, अनुभूति और

मूल्यांकन की पद्धति का समुच्चय माना जाता है। इसीलिये इसका गठन व्यक्तियों के मानस में पाये जाने वाले उभयनिष्ठ तत्वों के आधार पर होता है। सामाजिक मानस और वैयक्तिक मानस में दो प्रकार का संबंध होता है, (१) अचेतन और (२) आत्मचेतन। पहली स्थिति में दोनों प्रकार के मानस एकमेक रहते हैं और सामाजिक मानस वैयक्तिक मानस का पथप्रदर्शक, अनुशासक और नियंत्रक होता है। समाज में चेतना क्रियाशील रहती है, पर व्यक्ति इस चेतना के प्रति पूर्ण सतर्क नहीं होता। दूसरी स्थिति में व्यक्ति आवश्यकता से अधिक चैतन्य होता है। वह प्रस्तुत के विषय में सावधानी बरतने लगता है। इस सावधानी के कारण सामान्य जीवन में वैयक्तिक भिन्नता के सूत्र दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इस स्थिति में सामाजिक मानस का नियन्त्रण व्यक्तिगत मानस के हाथ में चला जाता है। दोनों ही स्थितियों में सामाजिक मूल्य का आविर्भाव होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक मानस का कोई-न-कोई स्वरूप हर व्यक्ति में पाया जाता है, पर सभी व्यक्तियों में इस दृष्टि से भिन्नता हो सकती है। समाज का मानस अपने अन्तराल में पाये जाने वाले सभी उच्च स्वरूपों के स्पन्दन को ग्रहण करता जाता है, अतएव इसका स्वरूप व्यक्तिगत मानस से व्यापक, विशाल और समन्वित होता है। समाज के मानस का वही स्वरूप व्यक्ति के मानस में स्थान पाता है जो व्यापक, आदर्शमय और प्रेरक है। सामाजिक मानस समाज की संस्कृति द्वारा प्राप्त उच्च आदर्शों का समुच्चय है, पर यह स्थायी नहीं अपितु परिवर्तनशील होता है। हर विकास के चौराहे पर यह बदलता जाता है। वैयक्तिक मानस समाज के मानस से संबंधित रहता है, अतएव यह इसके सूक्ष्मतम परिवर्तन को अंकित करने का यन्त्र बन जाता है। अपने उपर्युक्त विवेचन के क्रम में हम तीन महत्त्वपूर्ण तथ्यों से परिचित होते हैं, (१) व्यक्ति भौतिक और मानसिक दृष्टियों से अन्य व्यक्तियों से भिन्न होता है। (२) वह (व्यक्ति) भौतिक और मानसिक परिवेश से प्रभावित होता रहता है और (३) समाज का मानस व्यक्तियों की सर्वोत्कृष्ट इच्छाओं का समुच्चय होता है। यह वस्तु में निहित आन्तरिक संश्लेषण-क्षमता के रूप में द्वन्द्वों को नियंत्रित करता जाता है।

सामाजिक मूल्य को समाजशास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषित करते हुए प्रमुख विचारक 'मेरिल' ने कहा है—

(१) समाजशास्त्र ऐसी मानव-क्रिया है जो सामाजिक मूल्य के क्षेत्र में क्रियाशील रहती है।

(२) समाजशास्त्रीय इन मूल्यों से प्रभावित होता है और अपने कार्यों द्वारा इन्हें अभिव्यक्त भी करता है।

(३) वह वैज्ञानिक की तरह इन मूल्यों को विकसित करने के लिए प्रयत्न-शील रहता है।

(४) सामाजिक निकायों के अध्ययन में उसका ध्यान प्रमुख रूप से इन सामाजिक मूल्यों पर केन्द्रित रहता है।

(५) मानव-संबंधों के क्षेत्र में वह सामाजिक मूल्य को विशेष महत्त्व प्रदान करता है।

(६) उसके अध्ययन की पद्धति वैज्ञानिक होती है। इसी पद्धति द्वारा वह मूल्य को सबल आधार प्रदान करता है।

(७) इस प्रकार वह विविध मूल्यों को निरन्तर संवर्धित और परिवर्धित करता रहता है।

आज के युग में **मूल्य-विघटन की चर्चा विशेष** रूप से उल्लेखनीय है। लोगों को प्रायः यह कहते हुए सुना जाता है कि मूल्य का जो विघटन हो रहा है उसे कैसे रोका जा सकता है? इसमें कोई शक नहीं कि इस उपर्युक्त चर्चा में पर्याप्त सत्य है। मूल्य-विघटन की क्रिया जोरों से चल रही है और इससे व्यक्ति की आत्मा, चेतना और विश्वास हिल उठा है। युद्ध की विभीषिका सुरसा की तरह मानवता को निगल जाने के लिए तैयार है। अपराध की भावना बढ़ रही है। ऐसा ज्ञात होने लगा है कि व्यक्ति के लिए मूल्य का कोई अर्थ नहीं रह गया है। वह अँधेरे में टटोल रहा है, गन्तव्य की खोज में तो है, पर उसे निश्चित दिशा नहीं मिल पा रही है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि व्यक्ति एकदम बदल गया है, कमजोर और अशक्त हो गया है। मेरा विश्वास है कि उसकी क्षमता पहले से अधिक विकसित हुई है, वह अधिक सशक्त और कर्तव्य परायण बना है, फिर भी उसे 'केऑस' की स्थिति के बीच गुजरना पड़ रहा है। यह 'केऑस' रक्त-पिपासु भौतिकतावादी चेतना, दमघोंटू प्रतिद्वन्द्विता और व्यक्ति की परवशता का प्रतिफलन है।

विज्ञान और मानव-मूल्य का संबंध महत्त्वपूर्ण होता है। आज का युग वाद-विवाद का युग है। इस उपर्युक्त विकास-क्रम पर पर्याप्त विवाद हो चुका है। यहाँ उसके पचड़े से मुक्त रह कर केवल इतना कहा जा सकता है कि अब विज्ञान तीव्र गति से विकसित हो रहा है, इसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति के देश-काल और पदार्थ संबंधी मान्यता में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। उसका अन्ध-विश्वास

तिरोहित हो गया है और नये ज्ञान का आलोक चतुर्दिक प्रसरित होने लगा है। इससे संपूर्ण मानव-जीवन प्रभावित हुआ है और नई मूल्यवादी चेतना अवतरित हुई है। विज्ञान के विकास के पूर्व आदर्शवादी भावना का बोल-बाला था। आदर्शवादी पृथ्वी पर उतना अधिक न देखता था जितना कि ऊपर। वह सदैव क्या है से संतुष्ट न रह कर क्या होना चाहिए से संतुष्ट होना चाहता था। उसके विश्वास के मूल में ईश्वर, देवतावाद और धर्म प्रतिष्ठित था। विज्ञान ने सर्वप्रथम व्यक्ति को ऊपर न देख कर नीचे की ओर देखने के लिए बाध्य किया। इसका दुष्परिणाम यह अवश्य हुआ कि व्यक्ति की मूल्यवादी चेतना स्थूलता से बँध गई और उसमें आदर्शवादी चेतना का अभाव हो गया। पर इसका एक सुपरिणाम भी देखने को मिला। व्यक्ति को वह सबल आधारभित्ति मिल गई जहाँ वह भाग्यवाद, ईश्वरवाद और धर्मवाद के कठघरे से निकल कर व्यक्तिवाद को समझने के लिए तत्पर हुआ। अब वह अपना भाग्य-विधाता बन गया और जीवन को प्रकृत धरातल पर रख कर मूल्यांकित करने लगा। विज्ञान ने परंपरित मूल्यों के स्थान पर अभिनव जीवन-मूल्यों की प्राण-प्रतिष्ठा की।

साहित्य के क्षेत्र में लालित्यबोधीय मूल्य-दृष्टि को विशेष महत्त्वपूर्ण माना गया है। विगत सभी अध्यायों में लालित्यबोधीय मूल्यों को परिभाषित और विश्लेषित करने का प्रयत्न किया गया है। अनुभूति, अभिव्यक्ति, अनुभूति संबंधी काव्य-सिद्धान्त, अभिव्यक्ति संबंधी काव्य-सिद्धान्त और विधायक कल्पना-जनित कार्य-व्यापार को परिभाषित और विश्लेषित करने में यही भावना किसी न किसी रूप में क्रियाशील रही है। 'जेम्स० एल० जैरेट' ने अपनी प्रमुख पुस्तक 'द क्वेस्ट ऑव ब्युटी' में कहा है, **"लालित्य बोध प्रमुख रूप से लालित्यबोधीय अनुभूति का अध्ययन है। यह लालित्यबोधीय चित्तवृत्ति, लालित्यबोधीय गुण और लालित्यबोधीय औदात्य को सर्जन की दृष्टि से उद्भासित करता है और अन्ततोगत्वा कला के प्रतिमान और सौन्दर्य के मानदण्ड के साथ ही इसके विरोधी गुण को भी स्पष्ट बनाता है।"** जिस कला-कृति में ये पूरक तत्त्व अधिक होते हैं वह महान होती है और उसका मानव अनुभूति संबंधी चित्र-फलक भी व्यापक होता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि लालित्यबोधीय गुण उन प्रत्ययी संबंधों से उद्भूत हों जो लालित्य-बोधीय उपादान पर विचार केन्द्रित करने से उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार के मूल्य कला के निर्माणक होते हैं। इससे यह बात सरलता से स्पष्ट हो जाती है लालित्यबोधीय चित्तवृत्ति लालित्यबोधीय मूल्य के निर्माण का प्रमुख केन्द्र-बिन्दु है। 'हण्टरमीड' ने

अपनी पुस्तक 'ऐन इण्ट्रोडक्शन टु एस्थेटिक्स' में इसकी तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है। पहली विशेषता निर्वैयक्तिकता मानी गई है। इस स्थिति में व्यक्ति दैनिक जीवन के व्यावहारिक पक्ष से मुक्त होता है। दूसरा पक्ष आग्रह विहीन माना गया है। इस स्थिति में चित्तवृत्ति हानि लाभ की भावना से मुक्त होकर क्रियाशील रहती है।[1] तृतीय स्तर लालित्यबोधीय चित्तवृत्ति का स्तर है। इस स्तर पर कलाकार कुछ समय के लिए अपनी वैयक्तिक विशेषताओं को स्थगित रखता है।

लालित्यबोधीय मूल्य के सन्दर्भ में लालित्यबोधीय अनुभूति का महत्व स्वतःसिद्ध है। यह यथार्थ के कुछ अनुभवगम्य स्वरूपों को स्पष्ट करने के साथ ही जीवन को व्यक्तिगत आशाओं, आकांक्षाओं को भी संतुष्ट करती है। यह हमारी चेतना को निरन्तर अभिनव स्वरूप प्रदान करती रहती है। यह हमारे अन्दर ऐसा मानसिक परिवर्तन उत्पन्न करती है जो कला को समझने और उसके आस्वादन को सही दिशा प्रदान करने में सहायक सिद्ध होती है। यह विभिन्न सामाजिक समुदायों में संबंध-सेतु का कार्य करती है और हमारे अन्दर सहानुभूति के ऐसे स्रोत को उत्पन्न करती है जिसके आलोक में नई विभावन क्षमता का आविर्भाव होता है। लालित्यबोधीय अनुभूति सौन्दर्य-निरूपक होती है इसीलिये इसे मूल्य निर्माण-क्षमा माना जाता है।

कला को मूल्य की अभिव्यक्ति मानने वाले कलाकारों की संख्या अधिक है। 'अल्फ्रेड नॉर्थ ह्वाइटहेड' के अनुसार कलाकृति में तथ्य इस रूप में नियोजित किये जाते हैं कि उन पर विचार करने से मूल्य का बोधगम्य स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत हो जाता है।' इस प्रकार कला का क्षेत्र मूल्य-बोध का क्षेत्र होता है। 'लुई आरनॉडरीड' की धारणा है, 'हम मूल्य का विभावन करके उससे आनन्द की प्राप्ति कर सकते हैं। इसीलिये महान कलाओं में महान मूल्यों का बोध निहित रहता है।' 'चार्ल्स मोरिस' के शब्दों में कला मूल्य के संप्रेषण की भाषा है। कलाकृति में कलाकार अपनी बोध संबंधी मान्यता को प्रस्तुत करता है। यह मान्यता उस व्यक्ति के लिए सहज ही बोधगम्य होती है जो

---

1. To appreciate without the itch to acquire, to love without the longing to possess, to contemplate with joy and satisfaction, but without thought of social advantage, economic gain, or practical exploitation, this is to achieve the disinterested attitude, which is fundamental to aesthetic mood.

उसके माध्यम पर विचार करता है।' 'ह्यूगो मुन्सटरबर्ग' का कहना है, 'वैज्ञानिक नियमों का अवलंब ग्रहण करता है, पर कलाकार मूल्य का। वैज्ञानिक व्याख्या करता है और कलाकार मूल्यांकन।'[1] 'नीत्शे' के शब्दों में कला मूल्य को प्रस्तुत करने का प्रमुख साधन है।[2] स्पष्ट है कि कला और मूल्य के संबंध की अवधारणा आधुनिक चिन्तन में पर्याप्त सबल आधारों पर प्रतिष्ठित है। आज यह बात निर्विवाद रूप से मान्य है कि कला वस्तुगत चित्रण के स्थान पर विषयिगत मूल्यांकन को प्रस्तुत करने का प्रमुख साधन है।

मूल्य में अभिशंसा के भाव को जागृत और उद्बुद्ध करने की क्षमता भी होती है। सौन्दर्य मूल्य का आधान माना जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि मूल्य की ही तरह इसमें भी विषय और विषयि में एवंभूत संयोग होता है। कलाकार के विचार और अनुभूति तभी सार्थक बनते हैं, जब किसी कलात्मक माध्यम से अभिव्यक्त हो सकते हैं। इस दृष्टि से कला न तो उपादान की आश्रित मानी जाती है और न मानसिक स्वरूप की। मानस के क्रिया-कलापों से रिक्त उपादान अर्थरहित होता है और उपादान से रहित अनुभूति कल्पित। कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह इस अन्तः और वाह्य-मानस और उपादान में सम्बन्ध सूत्र खोजे। यही संबंध-सूत्र मूल्य और सृजन का आधार होता है। प्रायः प्रकृति और कला की बात उठाई जाती है, पर इस सन्दर्भ में यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि प्रकृति केवल चक्षुरेन्द्रिय को प्रभावित करती है, पर कलाकृति मानवबोध को। आँख द्वारा देखा गया यह सौन्दर्य जब कल्पना द्वारा अनुभूत सौन्दर्य में बदलता है और निश्चित प्रेरणा के माध्यम से अभिव्यक्त होता है तो कला का निर्माण होता है। इसीलिये कुछ कलाकारों ने कला को अभिव्यक्ति की संज्ञा दी है, पर मेरी दृष्टि में अभिव्यक्ति के स्थान पर इसे परस्परानुमोदन की संज्ञा देना अधिक उपयुक्त है। इसका प्रमुख कारण यह है कि, कला में मानस और वाह्य उपादान के अभिनव संबन्ध का दर्शन विशेष रूप से होता है। कुछ लोगों ने सहजज्ञान और अभिव्यक्ति का पचड़ा खड़ा किया है,

---

1. A Modern Book of Aesthetics – P. P. XVIII – XX.

2. When a man loves, he is a good liar about himself, he sees to himself transfigured, stronger, richer, more perfect, he is more perfect — — it actually transposes value.

और इन्हें दो भिन्न धरातलों पर रख कर विश्लेषित करने की कोशिश की है, पर द्रष्टव्य यह है कि ये दोनों एक दूसरे से अलग नहीं होते। अभिव्यक्ति के दौरान सहज ज्ञान विकसित होता है और सहज ज्ञान की दशा में अभिव्यक्ति की क्रिया प्रस्तुत रहती है। इस प्रकार मूल्य-निर्माण की क्रिया सहज-सापेक्ष संबंध की क्रिया होती है। 'मुनरो० सी० बीयर्ड्स्ले' ने सौन्दर्य सिद्धान्त की चर्चा करते हुए कहा है -

(१) सौन्दर्य प्रातिबोधिक उपादान की आंचलिक विशेषता है।

(२) यह तात्त्विक दृष्टि से मूल्यवान और अर्थवान होता है। और

(३) लालित्यबोधीय मूल्य वह मूल्य होता है जो उपादान में निहित सौन्दर्य के कारण उत्पन्न होता है।

इस उद्धरण से यही बात स्पष्ट होती है कि कला का मूल्य सौन्दर्य का जनक होता है। सौन्दर्य के स्वरूप पर दो प्रकार से विचार किया जाता है और इसी के परिणाम स्वरूप दो सिद्धान्तों का अवतरण भी होता है, (१) विन्यास संबंधी सिद्धान्त और (बुद्धि या प्रज्ञा संबंधी। प्रथम सिद्धान्त तत्वों के संघटन, अन्तः सम्बन्ध और आंचलिक विशेषताओं पर बल देता है, जब कि द्वितीय सिद्धान्त इसके प्रत्ययो या बोधमय विषय वस्तु पर। इस सन्दर्भ में अन्तर्निहित मूल्य (Intrinsic Value) और सहायक मूल्य (Instrumental Value) की बात भी उठाई जाती है। मूल्य-विवेचन की दृष्टि से इन दोनों को एक दूसरे का विरोधी माना जाता है। अन्तर्निहित मूल्य के प्रतिपादक इस बात को मानते हैं कि इस प्रकार का मूल्य साधन-साध्य निरपेक्ष भाव से विद्यमान रहता है। सहायक मूल्य उधार लिया हुआ मूल्य होता है और यह विद्युत् प्रवाह की तरह प्रवाहित किया जा सकता है। शब्द-जाल से मुक्त होकर अगर विचार किया जाय तो यह बात सरलता से समझ में आ सकती है कि लालित्यबोधीय मूल्य को इन दोनों की अपेक्षा होती है। अतएव उनकी अलग सत्ता मानना अनुपयुक्त है।

इन विवादों को और भी स्पष्टतापूर्वक समझने के लिए मूल्य के आविर्भाव पर विचार करना आवश्यक है। इस बात से कोई भी व्यक्ति असहमत नहीं हो सकता कि मूल्य निर्मित होते हैं। इस निर्माण में विघटन और सृजन दोनों प्रकार की क्रियायें पाई जाती है। एक टूटता है, बिखरता है, अस्तित्वहीन होता है और दूसरा इस बिखराव से उत्पन्न होता हैं, पनपता और बढ़ता है तथा पूर्णता को प्राप्त होता है। यह पूर्णता भी काल के प्रवाह के साथ पुनः अपूर्ण सिद्ध होने लगती है। इसके परिणाम स्वरुप वह पुनः विघटित होता है और विघटन एक

नये संघटन का जनक बनता है। यही द्वन्द्व निरन्तर चलता रहता है। इसके परिणाम स्वरूप मूल्य-निर्माण की क्रिया भी नये रूपों में अपने को प्रकट करती जाती है। जो कुछ भी निर्मित होता है वह नया और आकर्षक माना जाता है। यह क्रिया भूत से लेकर वर्तमान और भविष्य तक प्रसरित रहती है और मशीनी नियम के आधार पर नहीं संपादित होती। इसके चार सोपान होते हैं (१) संघटनात्मक आविर्भाव (२) विघटनात्मक आविर्भाव (३) संघटनात्मक निमज्जन (४) विघटनात्मक निमज्जन। प्रायः यह देखने में आता है कि संघटन और विघटन निश्चित अर्थों में रूढ़ हो गये हैं। संघटन का मतलब निर्माण और विघटन का विनाश माना जाता है। पर तथ्य इससे भिन्न है। विघटन के बिना संघटन असंभव है, अतएव इसी को उसका मूलमंत्र माना जा सकता है। इस संसृति का संपूर्ण स्वरूप कार्य-कारण की शृंखला से जुड़ा होता है। इसका एक निश्चित प्रभाव होता है। कार्य और कारण, संघटन और विघटन का चक्र निरन्तर चला करता है। इसी के परिणाम स्वरूप मूल्य का अवतरण और तिरोहण होता रहता है। यह कार्य-कारण की शृंखला अनेकता में एकता का परिचय देने वाली होती है। इस चक्र की अर्थवत्ता मूल्य के सन्दर्भ में विशेष रूप से स्पष्ट होती है। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि मूल्य आन्तरिक इच्छा और बाह्य उपादान के संघात के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होता है। ये दोनों परिवर्तन के विषय होते हैं। परिवेश बदलते ही इच्छा और उपादान दोनों बदल जाते हैं। इस प्रकार एक परिवेश और परिस्थिति के अन्तर्गत जिस प्रकार का मूल्य संभावित होता है, उसी प्रकार का मूल्य दूसरे परिवेश और परिस्थिति के अन्तर्गत नहीं पाया जाता। यह अवतरण और परिवर्तन का क्रम चलता रहता है और परम्युटेशन और कॉम्बिनेशन से नये मूल्यों का आविर्भाव होता जाता है। इस प्रकार मूल्य-निर्माण की क्रिया निरन्तर गतिशील क्रिया होती है।

इस सन्दर्भ में कारण (cause) और आधार (ground) की बात उठाई जाती है। किसी बात के पूर्ण होने के प्रेरक स्वरूपों को कारण कहा जाता है और उसके लिये आवश्यक स्वरूप को आधार। उदाहरण के लिए किसी भी प्रभाव का आधार वातावरण होता है, और उस वातावरण में परिवर्तन उसका कारण माना जाता है। आधार परिवर्तन के लिए उचित पृष्ठभूमि अदा करता है और कारण उस परिवर्तन का दिशा-निर्देशक तत्त्व बनता है। अतएव किसी भी कार्य के पूर्व प्रस्तुत रहने वाला अन्तर्ग्रथित स्वरूप आधार माना जाता है, पर इसके आधार पर कार्य संपादित करने वाली इच्छा को उसका कारण कहा जाता है। 'मार्गन'

इस मान्यता से असहमत हैं। उनके अनुसार किसी भी घटना के आन्तरिक स्वरूप को आधार और उसके बाह्य स्वरूप को कारण कहा जाता है। बात जो भी हो इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इच्छा का निर्णय ही प्रमुख प्रेरक तत्व होता है। इच्छा सोद्देश्य होती है और यही उद्देश्य मूल्य का जनक बनता है।

मूल्य को निम्नांकित खित्तों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) सावयव मूल्य (Organic Value)।
(२ आनंदवादी मूल्य (Hedonic Value)।
(३) पुनर्सृजनात्मक मूल्य (Recreative Value)।
(४) अर्थशास्त्रीय मूल्य (Economic Value)।
(५) वैयक्तिक और सामाजिक मूल्य (Individual & Social Values)।
(६) बौद्धिक मूल्य (Intellectual Value)।
(७) लालित्यबोधीय मूल्य-कला और सौन्दर्य (Art and beauty)।
(८) नैतिक मूल्य (Moral and ethical value)।

सावयव मूल्य का संबंध रोटी, कपड़े और आराम से होता है। 'सेक्स', स्वास्थ्य और शक्ति को भी इसी के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। इसे 'सेन्द्रिय' मूल्य की संज्ञा भी दी जाती है। आनंदवादी मूल्य जीवन के भोग-पक्ष को प्रस्तुत करते हैं। भोग के अन्तर्गत दुख और सुख दोनों प्रकार की चित्त-वृत्तियाँ आ जाती हैं। फिर भी इनका प्रमुख केन्द्र-बिन्दु भावनात्मक संतुष्टि होती है। पुनर्सृजनात्मक मूल्यों के अन्तर्गत क्रीड़ा की प्रवृत्ति आती है। लैंज' और 'शिल्लर' ने इसी को दृष्टिपथ में रख कर 'क्रीड़ा के सिद्धान्त' को प्रतिपादित किया था। 'फ्रायड' ने इस पर पुनः विचार करते हुए मनःसृष्टि और क्रीड़ा के संबंध का उल्लेख किया था। उनका इच्छा-पूर्ति का सिद्धान्त प्रकारान्तर से इसी पर आधारित था। आर्थिक मूल्यों की अवतारणा अर्थ के सन्दर्भ में हुई थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अर्थ जीवन को संचालित और व्यवस्थित करने का प्रमुख माध्यम था। इसके क्रिया-कलाप व्यक्ति को प्रभावित भी करते थे। 'मार्क्सवादी चिन्तन-पद्धति का यह प्रमुख प्रतिपाद्य था। यह तथ्य अब लोगों के समक्ष स्पष्ट हो चुका है कि 'मार्क्स' और 'एंजेल्स' ने कला को केवल इसी आधार पर मूल्यांकित करने की वकालत नहीं की थी, पर परवर्ती विचारकों ने इसी को सब कुछ मान लिया। 'ट्राटस्की' के विरोध के बावजूद

यह सिद्धान्त बल पकड़ता गया और इसकी चरम परिणति समाजवादी यथार्थ-वाद के रूप में हुई।

वैयक्तिक मूल्य का संबंध केवल व्यक्ति की इच्छा, आकांक्षा और महत्त्वाकांक्षा से नहीं होता। इसमें वे सभी विशेषतायें आ जाती हैं जो व्यक्ति के सर्वाङ्गीण विकास के लिए आवश्यक हैं। उदाहरण के लिए निम्नांकित बातें ली जा सकती हैं, (१) व्यक्ति में आत्म-रक्षण, आत्म-परिपोषण और आत्म-विकास की अदम्य अभिलाषा पाई जाती है। (२) वह तरह-तरह की बुभुक्षा से ग्रसित होता है और इन्हें येनकेन प्रकारेण संतुष्ट करना चाहता है। वह अपने को विकसित और अलंकृत करके सुसभ्य बनना चाहता है (३) उसमें आत्म-प्रदर्शन की भावना विद्यमान रहती है। इसीलिये वह सम्मान, पद, ख्याति, शक्ति आदि को अर्जित करना चाहता है। (४) उसमें मनोविकारों का प्रचण्ड झंझावात चलता रहता है और वह इन्हें संतुष्ट करने के लिए अनेक प्रकार से लालायित होता है। (५) उसमें अहंवाद के साथ ही मानववाद की प्रवृत्ति भी विद्यमान रहती है। एक ओर उसमें उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता और अदूर-दर्शिता का बोलबाला होता है तो दूसरी ओर सामाजिक मूल्यों द्वारा इन्हें अनु-शासित करने की बात भी विद्यमान रहती है। इस बात का संकेत किया जा चुका है कि सामाजिक मूल्य नियंत्रित, अनुशासित, सुव्यवस्थित, आदर्श और व्यापक चित्र-फलक से अलंकृत होता है। इसके दृष्टिकोण में कई तरह की विचारधाराएँ विद्यमान रहती हैं। वैसे तो हर प्रकार के मूल्य में सामाजिक संस्पर्श प्रस्तुत रहता है, पर सामाजिक मूल्य एक निश्चित दृष्टिकोण से प्रेरित रहता है।

लालित्यबोधीय मूल्य में कलात्मक शैली, कलात्मक गुण, पूर्णता, महार्घता तथा सत्य का स्थान विशेष रूप से उल्लेखनीय होता है। इस सन्दर्भ में इनका विस्तृत विवेचन अपेक्षित है। हम सर्वप्रथम कलात्मक शैली पर विचार करते हैं। शैली (stylus) का प्रयोग आरंभ में हड्डी या धातु के बने नुकीले औजार से मोम के पट पर कुछ अंकित करने के लिए होता था। बाद में इसका अर्थ-विस्तार हुआ और यह अपने को अभिव्यक्त करने का प्रमुख साधन मानी गई। तथ्य और अभिव्यक्ति शैली के आवश्यक अभिघटक हैं, पर इनके अतिरिक्त इसमें अन्य बातों का समावेश भी होता है। यह वस्तुतः भाषा या माध्यम विशेष के द्वारा सोचने की विधा है। 'अलेन वार्नर' ने कहा है कि "शैली को परदे के बाहर लगा हुआ श्लेष नहीं माना जा सकता। वस्तुतः यह किसी लकड़ी के

टुकड़े में जड़े हुए अन्न के कण के सदृश है। यह ऐसी संघटना है जिसका अस्तित्व निरन्तर बना रहता है। यह वृक्ष के सावयव विकास का प्रकटीकरण है।" इससे यह ज्ञात होता है कि वृक्ष के विकास की ही तरह शैली का विकास भी सावयव विकास का परिचायक है। यह वस्तुतः व्यक्ति के सोचने की क्रिया की प्रतीक है। व्यक्ति जिस तरह सोचता है, उसकी इस क्रिया में जितनी स्पष्टता और सच्चाई होती है, उसकी शैली भी उतनी ही आकर्षक, मोहक, अभिव्यंजक और अर्थवती होती है। इसी बात को ध्यान में रख कर 'एमर्सन' ने कहा है, "शैली मानव-चेतना की प्रतिध्वनि है। अगर कलाकार की चेतना जीवन्त है तो उसकी शैली भी गतिशील तथ्यों की वाहक होगी। अगर उसकी चेतना जड़, निष्क्रिय और निष्प्राण है तो उसकी शैली भी अविकसित और अभिव्यंजना-विहीन होगी।" 'बफन' की यह उक्ति 'स्टाइल इज द मैन हिमसेल्फ' आज भी उतनी ही अर्थवती है जितनी कि उस काल में थी। आज इस बात को और भी स्पष्टता से प्रतिपादित किया जा सकता है कि शैली व्यक्ति के आन्तरिक बोध को अभिव्यक्त करने का प्रमुख साधन है। यह अभिव्यक्तीकरण हर स्थिति में मूल्य-निर्माण में सक्षम होता है।

यथार्थ कलाकार जीवन और जगत के प्रति एक निश्चित दृष्टि रखता है। उसकी इस दृष्टि में सामाजिक और सांस्कृतिक तथ्यों का समावेश होता है। वह अपनी वैयक्तिक चेतना के माध्यम से अपने सांस्कृतिक बोध को निरूपित करता है। ऐसी कलाकृतियाँ जिनका हम सावयव विशेषता के रूप में मूल्यांकन करते हैं, सदैव निश्चित शैली में अभिव्यक्त की जाती हैं। इस स्वरूप में कला-विन्यास उसका प्रमुख आधान होता है। इस सन्दर्भ में इस तथ्य को दृष्टि से ओझल करने की आवश्यकता नहीं कि विन्यास में कला से संबंधित सभी स्वरूप मिले रहते हैं और इन सबका कला की शैली और कलाकार की इच्छा से महत्वपूर्ण संबंध भी होता है। कलाकार की इच्छा किसी न किसी रूप में विन्यास की शैली को सही दिशा प्रदान करती है। यही उसकी संघटना का मूल आधार होती है। कला की संघटना और उसके विन्यासगत स्वरूप के रूपायन में कलाकार की अभिरुचि का सहयोग भी उल्लेखनीय है। वस्तु सत्य यह है कि कलाकार जीवन का द्रष्टा और पारखी होता है, उसका एक निश्चित जीवन-बोध होता है। वह अपनी आवश्यकतानुसार शैली के ऐसे स्वरूप को स्वीकार करता है जो उसके बोध या सचेतन परिवेश को अभिव्यक्त करने में सक्षम होता है। बोध की स्थिति में उसके मानस में अनन्त प्रकार की

धारायें चलती रहती हैं, पर अभिव्यक्ति की स्थिति में शैली इस अनन्त वैविध्य को शान्त अन्विति में परिणित कर देती है। यह क्रिया स्वतः में मूल्य-विधायक होती है। शैली में चेतन तत्वों के साथ ही कुछ अचेतन तत्त्वों का सहयोग विशेष रूप से दर्शनीय होता है। शैली के रूप में बँधने के पूर्व इन अचेतन स्वरूपों को किसी न किसी रूप में चेतन स्तर पर आना आवश्यक होता है।

शैली देश-काल से संबंधित होती है। देश-काल परिवर्तन-सक्षम होता है, अतएव शैली में परिवर्तन आवश्यक है। यही कारण है कि एक ही साहित्य या कला में हमें विभिन्न प्रकार की शैलियों का दर्शन होता है। इन शैलियों में अनु-कूल-प्रतिकूल संबंध की स्थिति पाई जाती है। कभी ये एक दूसरे की विरोधी होती हैं, पर कभी इनमें सादृश्य का दर्शन भी होता है। विरोधी स्थिति में भी शैली के सभी तत्त्व एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं होते। इसका प्रमुख कारण यह है कि चेतना के धरातल पर मनुष्य में कुछ न कुछ प्रवृत्ति-साम्य प्रस्तुत रहता है। यह साम्य इन्हें सर्वथा विरोधी नहीं होने देता। परिवर्तन प्रकृति का नियम और विकास का मूलमन्त्र है। इसका चरण निरन्तर गतिशील रहता है, अतएव हर व्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में इससे प्रभावित होता है। यह परिवर्तन दो कारणों से घटित होता है, (१) वाह्य प्रभाव के कारण और (२) आन्तरिक लॉजिक के आधार पर। वाह्य या आन्तरिक परिवर्तन के इसी स्वरूप से शैली का निर्माण होता है। शैली वायुमापक यंत्र की तरह परिवर्तन के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वरूप को अंकित करने में समर्थ होती है। इसमें मौलिकता के साथ ही अन्य शैलियों के उदात्त तत्त्वों का समावेश रहता है। कलाकार का व्यक्तित्व स्थायी होता है और उसका दृष्टिकोण व्यापक। कला की अभिव्यक्ति के लिए वह एक निश्चित प्रकार की तकनीक का प्रयोग करता है। ये सभी विशेषतायें परिवर्तन के झंझावात को कुछ समय तक झेलने में समर्थ होती हैं। अतएव कलाकार की शैली में कुछ अंशों में स्थायित्व पाया जाता है। परिवर्तन के कारण वह एक ओर गतिशीलता को धारण करती है तो परम्परा के कारण दूसरी ओर स्थायित्व को। उसकी शैली इसी गतिशीलता और परम्परा के संघात से प्रसूत विकास का अनुपम प्रतिमान है।

इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि शैली जितनी ही वैभवपूर्ण होती है उसकी मूल्य-व्यंजना उतनी ही विविध और आकर्षक मानी जाती है। इस विविधता के अभिज्ञान के लिए हमें उसके आन्तरिक स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है। शैलीगत साम्य-वैषम्य का निरूपण उतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता

जितना कि इसको जीवन्तता और सजीवता की परख। यह सजीवता हर स्थिति में कलाकार के व्यक्तित्व, दृष्टिकोण और चिन्तन—उसके भावपक्ष—में निहित सजीवता का प्रतिफलन होती है। कलाकार का व्यक्तित्व जितना ही समन्वित, व्यापक और उसकी जीवन की पकड़ जितनी ही सूक्ष्म और स्पष्ट होती है, उसकी शैली भी उतनी ही जीवन्त और मुखर बन जाती है। ऐसे कलाकार जिनकी शैली उनके जीवन-काल में ही बदलती रहती है, विचार की दृष्टि से अस्थिर होते हैं या विकास की दृष्टि से असमर्थ। कुछ चालाक और अमहत्त्वपूर्ण कलाकार अपने जीवन के आरम्भ में ही शैली का निर्माण कर लेते हैं, पर उनका जीवन-बोध इतना छिछला होता है कि शैली केवल निर्जीव आँकड़ों का खिलवाड़ बन जाती है। शैली का यह स्वरूप कलात्मक नहीं होता। कला-सृजन की अनिर्वचनीय क्रिया ऐसे तथ्यों को कलात्मक कलेवर में अभिव्यक्त करती है, जिन्हें अभिव्यक्त कर पाना कठिन होता है। इस अर्थ में भाषा या अन्य कला के माध्यम कलाकार की चेतना के पत्रक बन जाते हैं। इनका प्रमुख स्वरूप कलाकार की आन्तरिक क्षमता या कल्पना द्वारा निर्धारित होता है। शैली वस्तुतः सामाजिक स्वरूप का तापमापक यंत्र होती है। इसमें उसका आन्तरिक द्वन्द्व, शंका, निराशा, आशा और आकांक्षा प्रतिच्छायित होती रहती हैं।

शैली की तरह कलात्मक गुण और पूर्णता का भी मूल्य से घनिष्ट संबंध होता है। शैली की धारणा ऐतिहासिक धारणा होती है, पर कलात्मक गुण और पूर्णता की धारणा मानसिक और प्रामाणिक धारणा। कला-कृतियों पर विचार करने से यह ज्ञात हो जाता है कि कुछ कलाकारों की कला-कृतियों में कौशल को अधिक प्रश्रय दिया जाता है, और कुछ में कम। कभी-कभी कला-कृतियों पर दृष्टि-निक्षेप करते ही हम उनकी विशेषता को ग्रहण कर लेते हैं, पर कभी-कभी यह भावक के लिए गूँगे के गुड़ की कहावत चरितार्थ करती है। वह उसकी विशेषता का अनुभव तो करता है, पर उसे अभिव्यक्त नहीं कर पाता। इस सन्दर्भ में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या कलाकृति सर्वजन-सुलभ नहीं होती? इसके उत्तरस्वरूप प्रायः यही कहा जाता है कि इसकी कुछ विशेषताओं का सम्बन्ध सभी प्रकार के भावकों से हो सकता है, पर इसकी कुछ अन्य विशेषतायें भी होती हैं जिन्हें, हर व्यक्ति सरलता से नहीं समझ पाता। उन्हें समझने के लिए व्यक्ति को कलापारखी, संवेदनशील और जीवन-जगत के व्यापक, सूक्ष्म और गहन अनुभवों से अलंकृत होना पड़ता है।

कला के सम्बन्ध में उसकी उत्कृष्टता से संबंधित बात सबसे पहले उठाई

जाती है। उत्कृष्टता का सम्बन्ध सदैव गुण और मूल्य से होता है। इसके एक छोर पर कलाकार की इच्छा क्रियाशील रहती है, तो दूसरे छोर पर उसका कलात्मक उद्देश्य। इच्छा संक्रामक होती है और यह अपने ही सदृश अनन्त इच्छाओं को समन्वित कर के उद्देश्य-पूर्ति का साधन बनती है। कलात्मक उत्कृष्टता में अनेक तत्व संयुक्त रहते हैं। इस संयोग के कारण ऐसे समन्वय की उत्पत्ति होती है जो कलात्मक गुण को और स्पष्टतापूर्वक प्रस्तुत करती है। इच्छा अपनी संतुष्टि का मार्ग खोजती जाती है। कलाकार की इच्छा इस संतुष्टि को अपने कला-निर्माण द्वारा प्राप्त करती है। इसे वह जिस अनुपात में सफलतापूर्वक अभिव्यक्त कर सकता है, उसी अनुपात में उसकी कला उत्कृष्ट बन जाती है। अभिव्यक्ति में कलाकार के भावपक्ष, उसकी सम्पूर्ण विषय-वस्तु और उसके कलापक्ष, कलात्मक विन्यास से संबद्ध सामग्री का समायोजन किया जाता है। कलात्मक उत्कृष्टता सदैव इस बात की मुखापेक्षी भी होती है, कि कलाकार ने अपने विषय-वस्तु के अनुकूल विषय-विन्यास को अपनाने में किस हद तक सफलता प्राप्त की है। कलाकार की सम्पूर्ण विशेषता इसी विन्यास की व्यंजकता पर निर्भर रहती है और विन्यास की व्यंजकता कलाकार की चेतन और अचेतन इच्छा पर।

कला की उत्कृष्टता के सन्दर्भ में कलात्मक सौन्दर्य का उल्लेख भी किया जाता है। इसमें कोई शक नहीं कि ये दोनों परस्पर संबद्ध होते हैं, पर इस सन्दर्भ में इस तथ्य को दृष्टि से ओझल करना अनुपयुक्त है कि कलात्मक विशेषता में कुछ और बातों का समावेश भी होता है। कलात्मक विशेषता संवेदनशील द्रष्टा में लालित्यबोधीय आनन्द की अनुभूति उत्पन्न करती है और उसे कलाकृति के साथ निरन्तर तन्मय होने के लिए प्रेरित करती रहती है। सौन्दर्य कलात्मक संघटन की प्रमुख विशेषता माना जाता है, जब कि कलात्मक उत्कृष्टता संपूर्ण कला के अन्तर्निहित स्वरूप की अभिव्यञ्जना होती है। कलात्मक सौन्दर्य और कलात्मक विशिष्टता का निश्चित विन्यास होता है, पर कलात्मक विशिष्टता के विन्यास का चित्रफलक उसके सौन्दर्य के चित्रफलक से व्यापक और व्यञ्जक होता है। इसको समझने के लिए लालित्यबोधीय प्रतिचेष्टा को समझना आवश्यक होता है। कलात्मक उत्कृष्टता उस संपूर्ण विन्यास की परोक्ष और अपरोक्ष संघटना की मुखापेक्षी होती है जो कला के रूप में रूपायित होती है। कला के विषय-वस्तु में सत्य और तथ्य का मणिकांचन योग होता है और अभिव्यक्ति के द्वारा यह सरलता से प्रकट भी होता है, पर कलाकृति की उत्कृष्टता इस बात

पर निर्भर नहीं होती कि वह क्या अभिव्यक्त करती है, वह तो मुख्य रूप से केवल इस बात पर निर्भर रहती है कि उसके द्वारा जो कुछ भी अभिव्यक्त होता है, वह किस रूप में अभिव्यक्त हो रहा है।

उत्कृष्टता की चर्चा के समय हमारा ध्यान प्रमुख रूप से विभिन्न कला-कृतियों की अन्तर्निहित विशेषता पर ही केन्द्रित होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि हर कला-कृति में मूल्यगत समानता पाई जाती है। इसका तात्पर्य केवल यही है कि हम सूक्ष्म अन्वीक्षरण और परीक्षण के आधार पर इस तथ्य का निर्णय करें कि किस कृति में विशेषता की मात्रा अधिक है और क्यों अधिक है? इस प्रश्न को छिछले धरातल पर उठाया जाता है और किसी माध्यम को ग्रहण करने या उसका त्याग करने के कारण किसी कलाकार को या तो उत्कृष्ट मान लिया जाता है या निकृष्ट। कला की उत्कृष्टता, अर्थवत्ता और मूल्य-ग्राहिता की दृष्टि से किसी उत्कृष्ट माध्यम को ग्रहण करने का कोई महत्व नहीं होता, मत्हव तो होता है गृहीत माध्यम के कलात्मक निर्वाह का; उसमें निहित ओज, अभिव्यंजना और पूर्णता का। आज सर्जन के क्षेत्र में एक प्रकार की अनुशासन-हीनता का बोल-बाला है। जिस नृशंसता और बर्बरता से जीवन आक्रान्त है, उसी से कला पदाक्रान्त। पर हमें इससे घबराने की आवश्यकता नहीं, आवश्य-कता तो इस बात को मान कर चलने की है कि हर कलाकृति किसी समस्या का समाधान है। कलाकार इसमें निहित समस्या को जिस हद तक समाधान की ओर उन्मुख करता है, कलाकृति उसी मात्रा में उत्कृष्ट बन जाती है। कलाकृति के विषय और विन्यास को लेकर आज तक जितनी बहस हुई है, उन सबको अगर एकत्रित किया जाय तो एक बड़ी पुस्तक तैयार हो सकती है। मैं इस पचड़े में यहाँ नहीं फँसना चाहता, फिर भी एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूँ कि कलाकृति में गृहीत आशाओं और आकांक्षाओं को अगर व्यापक और सार्वजनीन स्तर पर ग्रहण किया जाय तो वे अधिक बोध-सक्षम, सरल और ग्राह्य बन जायँगी। पत्थर से सर टकराने की बात आज के युग में संभाव्य है, पर कलाकृति के दुरूह और अस्पष्ट होने की बात नहीं। कलाकृति को हर स्थिति में सहृदय-सापेक्ष होना आवश्यक है। जो कलाकृति जिस मात्रा में इस उद्देश्य की पूर्ति करती है, वह उसी मात्रा में उत्कृष्ट होती है।

कलात्मक उत्कृष्टता और महानता परस्पर पूरक होती हैं। उत्कृष्टता महानता का आधार होती है और महानता उत्कृष्टता की जनक। इन दोनों के

मूल में कला की प्रभावोत्पादकता का विशेष सहयोग होता है। 'लांजिनस' ने औदात्य के सन्दर्भ में निर्दोषता की चर्चा किया है, और इसे कलात्मक पूर्णता की प्रमुख शर्त घोषित किया है। 'पेटर' ने 'गुड आर्ट' और 'ग्रेट आर्ट' का उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि में प्रथम पूर्णता और सत्य की परिचायक है और द्वितीय इससे भी उच्च तथ्यों के प्रतिमान के अभिज्ञान की जनक। यह विभेद विषय-वस्तु के आधार पर निरूपित किया गया है। 'पेटर' के अनुसार महान कला विषय-वस्तु को संवर्धित, परिवर्धित और नियंत्रित करती है। इसमें तरह-तरह के विषयों का समावेश रहता है और यह महत् उद्देश्य से संबंधित होती है। इसका चित्र-फलक व्यापक और दृष्टिकोण क्रान्तिकारी माना जाता है। उत्कृष्ट कला का संबंध मनुष्य की प्रसन्नता की वृद्धि, पीड़ितों की मुक्ति, सहानुभूति की वृद्धि और जीवन को उत्कृष्ट और पूर्ण बनाने की क्रिया से होता है।[1] कुछ विचारकों ने कलात्मक महानता को विन्यासगत सामंजस्य और कलात्मक पूर्णता को कलात्मक समग्रता के साथ संबद्ध किया है। ये दृष्टियाँ कुछ सीमित हैं। व्यक्ति स्वतः में नश्वर है, वह अपने जीवन के द्वारा अनश्वरता की ओर उन्मुख होना

---

1. Good art, but necessarily great art, the distinction between great art and good art, depending immediately, as regards literature at all events, not on its form but on matter. It is on the quality of matter, it informs or controls, its compass ; its variety, its alliance to great or the depth of revolt or largeness of hope in it that the greatness of literary art depends; the Divine comedy, Paradise lost, Les Miserables, the English Bible are great art. Given the condition I have tried to explain as constituting good art—then if it be devoted further to the increase of men's happiness, to redemption of the oppressed, or enlargement of sympathies with each other or to such permanent of new and old truth about ourselves or our relations to the world as may ennoble and fortify us in our sojourn here, or immediately as with Dante, to the Glory of God, it will also be great art, if over and above those qualities I summoned up as mind and soul—that colour and mystic perfume and that reasonable structure, it has something of the soul of humanity in it, and finds its logical, its architectural place in great structure of human life.

चाहता है। कलाकार इस आकांक्षा को अपनी अनुभूति के द्वारा निरूपित करता है और आलोचक उसे अपनी मान्यता और विश्वास के आधार पर व्याख्यायित। कला के मीमांसक को इन दोनों पर विचार करना पड़ता है, इनके अन्त:संबंध पर दृष्टिपात करना पड़ता है और उस अन्तर्निहित मूल्य को ग्रहण करना पड़ता है जो समन्वय का आधार है।

विगत अध्यायों में संवेग और विचार तत्त्व का उल्लेख किया गया है। कला-सृजन की दृष्टि से इनका महत्त्व आज भी अक्षुण्ण है। इनका आनुपातिक संबंध विशेष रूप से उसका दिशा-निर्देशक तत्व होता है। चिन्तनपरक तथ्य के विरल होने पर अनुभूति सघन होती है, पर जब यह तथ्य सघन होता है तो अनुभूति विरल हो जाती है। 'थिओडोर मेयरग्रीन' का कहना है, "मैं आज भी यह बात मानने के लिए तैयार हूँ कि मूल्य वस्तुगत होते हैं, क्योंकि वे अधिकारमय और सुनियोजित ढंग से अपने को हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं और उन सभी लोगों के लिए बोधगम्य बन जाते हैं जिनमें उचित मात्रा में संवेदनशीलता पाई जाती है।" इस दृष्टि से "मूल्यांकन न तो आविष्कार की क्रिया है और न सृजन की। यह तो मूलतः गवेषणा की क्रिया है। मूल्य केवल संवेदनशीलता के प्रक्षेपीकरण या सरलीकरण नहीं होते, उनमें उपादान के प्रतिबोध का भाव भी निहित रहता है। अतएव हमारे वे ही मूल्यांकन उपयुक्त होते हैं जिन पर उनमें पाये जाने वाले मूल्य को आरोपित किया जा सकता है। अधिकांश व्यक्ति आज वस्तुवादी दृष्टिकोण को नकार सकते हैं, पर वे इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकते कि मनुष्य उन्हीं उपादानों और अनुभूतियों को मूल्यांकित करता है जो उसके अवधान की विषय हैं।" मूल्य संबंधी धारणा कलाकार और मीमांसक के जीवन-दर्शन की परिचायक होती है। 'विलियम जेम्स' ने कहा है, "दर्शन का वह स्वरूप जो हम सबके लिए महत्त्वपूर्ण है तकनीकी तथ्य नहीं, यह तो जीवन में निहित तथ्य का कमोबेश मूकबोध है। इसे पुस्तकों द्वारा प्राप्त करना कठिन है, इसे प्राप्त करने के लिए संसृति के समग्र दबाव और प्रभाव का अन्वीक्षण-परीक्षण करना पड़ता है और इससे उपलब्ध तथ्य को वैयक्तिक धरातल पर ग्रहण करना पड़ता है।" इसमें जीवन का वैयक्तिक पक्ष झलकता रहता है। इस तथ्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कला की, महानता इसी वैयक्तिक बोध के व्यापकता की मुखापेक्षी होती है।

उपर्युक्त विवेचन से एक सूत्र मिलता है। इसे हम कलाकार की प्रामाणिक अनुभूति का सूत्र मान सकते हैं। इस अनुभूति के दो आयाम होते हैं,

(१) **अन्तर्आयाम और (२) बहिर्आयाम** (Depth & Breadth)। **अन्तः आयाम में हमें अन्तर्दृष्टि के साथ ही विषय की प्रकृति और मानवीय संस्पर्श का साक्षात्कार होता है और बहिर्आयाम में विषय-वस्तु के कार्यक्षेत्र के प्रामाणिक दृष्टिकोण की सहिष्णुता का दर्शन। कलाकृति की महानता इसी बात पर निर्भर रहती है।** विषय के प्रति आग्रह होना बुरी बात नहीं, पर उसके लिए यह परमावश्यक है कि उसका उचित निर्वाह किया जाय। **अनुभूति के अन्तर्विस्तार की दृष्टि से यह जरूरी है कि कलाकार जिस भी विषय को चुने उसका गम्भीरता से अन्वीक्षण और परीक्षण करे और उससे सम्बद्ध तीव्र प्रतिक्रिया को सही रूप में निरूपित करे।** अनुभूति के **बहिर्आयाम** के लिए भी कलाकार को हर परिस्थिति में सतर्क और जागरूक रह कर 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' की कहावत चरितार्थ करनी पड़ती है। **विषय-वस्तु के प्रति सच्चाई कला की महानता की प्राण होती है।** विशिष्ट कलाकार कल्पना और प्रज्ञा के माध्यम से इसे ऐसा अभिनिवेश प्रदान करता है जिससे विषय-वस्तु चमक उठता है। इसका सम्बन्ध न तो कलात्मक संकोच से होता है और न विस्तार से, न तो कलात्मक पेचीदगी से होता है और न कलात्मक सरलता से। इसका सही सम्बन्ध उस व्यापकता, जीवन्तता, सजीवता और ओज से होता है, जो कलाकृति को कालक्षयी नहीं कालजयी बनाते हैं, जो इसे संकीर्ण नहीं प्रशस्त, नश्वर नहीं अनश्वर बनाते हैं। यह तभी संभव होता है जब कलाकार की अन्तर्दृष्टि व्यापक और सहिष्णु हो। विचारकों ने इस अन्तर्दृष्टि की सूक्ष्मता और भाव-संवेग की गहन प्रतिचेष्टा को बहिर्आयाम की आवश्यक शर्त घोषित किया है। वस्तुसत्य यह है कि बहिर्आयाम और अन्तर्आयाम एक दूसरे से विच्छिन्न नहीं अपितु एक दूसरे के पूरक हैं। जिस प्रकार वृक्ष का अन्तः और बाह्य उसकी समग्रता का प्रमुख केन्द्र-बिन्दु होता है उसी प्रकार अनुभूति का यह द्विविध आयाम उसकी पूर्णता का परिचायक माना जाता है। कहना न होगा कि कलात्मक पूर्णता को समझने के लिए कलाकार की अनुभूति के अन्तर्आयाम और बहिर्आयाम आवश्यक हैं। **अन्तर्आयाम में हमें काल्पनिक तथ्याभिनिवेष और प्रामाणिक प्रतिचेष्टा की तीव्रता का दर्शन होता है और बहिर्आयाम में बहिर्विस्तार, विषय-वस्तु की व्यापकता, सहिष्णुता और अन्तर्दृष्टि के व्यापक सहयोग का।**

महानता और उत्कृष्टता का अभिन्न सम्बन्ध कलात्मक पूर्णता से होता है। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि कलाकृति अनुभूति की मुखापेक्षी

होती है और अनुभूति में परस्पर विरोधी तत्त्व सर्प शिशुवत लिपटे रहते हैं। अनुभूति जब कला के कलेवर को ग्रहण करती है तो इन विरोधी तत्त्वों में समन्वय हो जाता है। इसके परिणाम स्वरूप कलात्मक पूर्णता का आविर्भाव होता है। भारतीय मान्यता के अनुसार पूर्ण वह है जिसमें कुछ जोड़ या घटा देने से कोई परिवर्तन नहीं होता। यह परम पूर्णता की कल्पना कला के क्षेत्र में नहीं चरितार्थ होती। 'अरस्तू' ने इस सन्दर्भ में मध्यमान का उल्लेख किया है। उनका यह सिद्धान्त नैतिकता को दृष्टिपथ में रख कर प्रतिपादित किया गया था। इसकी कुछ निष्पत्तियाँ कला पर भी लागू होती हैं। लालित्यबोध के हर क्षेत्र में आज अतिशयता, अतिरंजना या अतिरेक के स्थान पर समन्वय वादी दृष्टिकोण का आविर्भाव हो चुका है। मध्यमान की धारणा भी एक प्रकार से समन्वयवादी धारणा है। मध्यमानवादी विचारक मध्यमान को ऐसा पूर्ण आदर्श मानते हैं जिससे दूर हट कर अथवा विचलित होकर आदर्श की रक्षा नहीं की जा सकती। कलाकृति कभी पूर्ण आदर्श तक नहीं पहुँच सकती, फिर भी वह उसके निकट होती है। प्रायः यह सुनने में आता है कि यह कलाकृति सभी दृष्टियों से पूर्ण है। इसका यह मतलब नहीं कि वह अपने आदर्श की यथार्थ प्रतिकृति है। इसका केवल यही अर्थ है कि वह आदर्श के निकट है और उसके द्वारा लेखक ने जो कुछ भी अभिव्यक्त करना चाहा है वह सरलता से अभिव्यक्त हो जाता है। यह एक दृष्टि से पूर्ण है। बिना इसकी पूर्णता को प्रभावित किये इसमें कुछ जोड़ा या इससे कुछ तोड़ा नहीं जा सकता। पूर्णता का तात्पर्य यह भी है कि यह सभी दृष्टियों से संतोषप्रद है। इस उक्ति से लोगों में यह भ्रम फैल सकता है कि कला में संशोधन और परिवर्धन संभव नहीं। पर यह मान बैठना कला के साथ अन्याय करना होगा। 'अरस्तू' ने मध्यमान के उल्लेख के सन्दर्भ में तनाव (Tension) और द्वन्द्व (Conflict) का उल्लेख किया है। इसमें सन्देह नहीं कि सृजन की स्थिति में कलाकार के मानस की स्थिति 'वाटरलू' के युद्ध जैसी हुआ करती है। इसमें परस्पर विरोधी चित्तवृत्तियाँ, मनोवृत्तियाँ और संस्कार क्रियाशील रहते हैं। इनमें तनाव और संघर्ष की स्थिति भी बनी रहती है। कलात्मक अभिव्यक्ति की स्थिति में कलाकार को इन्हें दुलारना और पुचकारना पड़ता है और इन्हें समन्व्यय में ढालना पड़ता है। कला के क्षेत्र में अब तनाव के सिद्धान्त की चर्चा विशेष रूप से होने लगी है। इसका उल्लेख अन्यत्र किया जायगा। यहाँ केवल इतना ही कहना समीचीन है कि कलाकार अपने सृजन के

द्वारा कला के निश्चित आदर्श तक पहुँचना चाहता है। यह आदर्श विरोधी स्थितियों का मध्यमान होता है। इसी को पूर्णता के नाम से अभिहित किया जाता है।

'थिओडोर मेयरग्रीन' ने कलात्मक पूर्णता के सन्दर्भ में तीन ध्रुवीय तनावों का उल्लेख किया है; (१) सहजता और पेचीदगी के ध्रुव जिनका सुलझाव सावयव एकता का मध्यमान होता है। (२) परम्परा और प्रयोग अथवा नियम और नवीनता के ध्रुव जिनका मध्यमान अभिव्यंजक मौलिकता है। और (३) स्वीकृति और अस्वीकृति के ध्रुव जिनका मध्यमान माध्यम के अभिव्यंजक प्रयोग का परिचायक है। हम सर्वप्रथम पहले प्रकार के तनाव को लेते हैं। यह तथ्य आज पूर्ण रूप से स्पष्ट हो चुका है कि कोई भी कलाकृति न तो आवश्यकता से अधिक सरल होकर महत्त्वपूर्ण हो सकती है और न आवश्यकता से अधिक जटिल होकर। सहजता एकता की परिचायक होती है और जटिलता अनेकता और दुराग्रह की। पूर्णता के लिए यह आवश्यक है कि इन दो विरोधी दशाओं के मध्यमान की खोज की जाय। यह मध्यमान गणित के मध्यमान से भिन्न होता है। इसे प्राप्त करने के लिए कलाकार को नियमों का अनुशासन मानना पड़ता है। अनुशासन ही पर्याप्त नहीं होता, उसे कल्पना-प्रवण होना भी आवश्यक है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कल्पना के अभाव में केवल नियम-पालन से कला जड़ और निष्क्रिय हो जाती है। पूर्ण कलात्मक एकता कलाकृति की समग्र उत्कृष्टता का प्रतिफलन होती है। हर कला का एक आदर्श होता है। वही कला महत्त्वपूर्ण मानी जाती है जिसमें सहजता और जटिलता का संबंध किसी अभिनव सूत्र का परिचायक बनता है।

संपूर्ण साहित्य में परम्परा और प्रयोग का क्रम निरंतर चला करता है। शुरू में प्रयोग आरम्भ होता है, वह कुछ समय में निश्चित परिणाम का जनक बनने पर रूढ़ हो जाता है, उससे कुछ नियम बनते हैं। ये नियम भी कुछ समय में रूढ़ हो जाते हैं, अतएव अभिनव संबंध-स्थिति को ग्रहण करने में असमर्थ सिद्ध होने लगते हैं। इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है और पुनः प्रयोग आरंभ हो जाता है। परंपरा और प्रयोग के इस संघात से अभिव्यंजक मौलिकता का सूत्रपात होता है। यह क्रम निरंतर चलता रहता है। इसे इतिहास की चक्रीय व्याख्या के द्वारा सरलता से समझा जा सकता है। इसी आधार पर संपूर्ण विश्वसाहित्य दो भागों में विभक्त किया जाता है, (१) परम्परादर्शवादी और (२) प्रयोगवादी। इन पर विचार करते हुए 'ग्रियर्सन' ने हृत्संकोच और

हृत्स्फुरण (Systol and diastol of human heart) की बात उठाई है। एक प्रकार का साहित्य समाज के शान्तिपूर्ण युग की उपलब्धि होता है और दूसरे प्रकार का साहित्य संक्रान्ति युग की। परंपरा और प्रयोग को एक दूसरे तरह से भी समझा जा सकता है। हर कला की एक तकनीक होती है। कलाकार होने के लिए 'क्रैफ्ट्समैन' होना आवश्यक है। यही तकनीक परम्परा का सृजन करती है। ये परम्परायें व्यापक सांस्कृतिक विकास की वसीयत और विभिन्न कला आन्दोलनों को प्रतिच्छायित करने का दर्पण हुआ करती हैं। कला का प्रयोग भी इसी के आधार पर निष्पन्न होता है। एक ऐसी अवस्था भी आती है जब ये जड़ और निष्क्रिय हो जाती हैं। इनकी नमनीयता और बहुसमावेशकता समाप्त हो जाती है। ये तकनीक का ज्ञान तो कराती हैं, पर जीवन-सत्य को आकलित करने में असमर्थ सिद्ध होने लगती हैं। परिणाम-स्वरूप कला में नवीनता का आग्रह बढ़ जाता है। नवीनता, काल में निहित मूलभूत परिवर्तन का दूसरा नाम है। यह स्वयं में एक मूल्यमय विशेषता मानी जा सकती है। यह परंपरा-विच्छिन्न होती है, पर इसके और परंपरा के भेद को किसी भी रूप में जाना या प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इस प्रकार एक ऐसा स्तर आता है जब कला का विशिष्ट मूल्य नवीनता के संदर्भ में विवेचित-विश्लेषित किया जाने लगता है। इसकी निश्चित क्रिया होती है और इसी के द्वारा वह पूर्व का अतिक्रमण करके पर की सीमा में प्रवेश करता है। हर मौलिकता कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानी जाती है, पर हर प्रयोग के साथ यह स्थिति नहीं होती। इस प्रकार की मौलिकता को हम परंपरा और प्रयोग का मध्यमान कह सकते हैं।

कला में किसी माध्यम की अस्वीकृति का अर्थ होता है नवीन आवश्यकता के अनुसार किसी नए माध्यम को ग्रहण करना। कलात्मक मूल्य का माध्यम से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। अतएव कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह इस माध्यम में निहित क्षमता का सूक्ष्मतापूर्वक अवलोकन करे। यह परीक्षण तभी संभव होता है जब कलाकार संवेदनशील हो। इस बात का संकेत किया जा चुका है कि लालित्यबोधीय विशेषता कला के विन्यास प्रधान संघटना से ही मुखरित होती है। कलाकार अपने तात्कालिक लालित्यबोधीय स्वरूप को जनता के समक्ष इस रूप में प्रस्तुत करता है, जिस रूप में वह इसके पूर्व प्रस्तुत न किया जा सका था। कला के अभिव्यक्तीकरण में हमें दो तथ्य देखने को मिलते हैं। एक तो वह जिसमें माध्यम की क्षमता का पूर्ण प्रयोग नहीं

किया गया है और दूसरा वह जिसमें माध्यम पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है। प्रथम को अस्वीकृति का स्तर और दूसरे को आग्रह का स्तर माना जाता है। प्रथम स्तर पर क्षमता का पूर्ण प्रयोग न होने के कारण कला का समुचित विकास नहीं हो पाता और कलाकार अपने आसन्न प्रभाव की भावना को उचित मूल्यवत्ता के साथ अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो जाता है। कभी-कभी कलाकार माध्यम की एक विशेषता के स्थान पर स्वेच्छया किसी दूसरी विशेषता को उभाड़ कर रखना चाहता है। इस स्थिति में वह सचेतन रूप में अपने विवेक का उपयोग करता है। अतएव यह स्थिति पहले की स्थिति से भिन्न मानी जाती है। कलाकार को विधि-निषेध को मान्यता देनी पड़ती है, अतएव वह कला के माध्यम में निहित सभी विशेषताओं का आवश्यक उपयोग नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति में वह आग्रह-ग्रसित होकर अपने ध्यान को केवल कुछ विशेषताओं तक केन्द्रित रखता है। अर्थालंकारों अथवा यथार्थवाद की कुछ प्रवृत्तियों में इसका दर्शन होता है। इस स्थिति में अपने कथ्य को स्पष्ट करने के लिए वह तकनीकी कौशल पर बल देने लगता है। कला-सृजन के अत्यधिक स्वरूपों का सम्बन्ध इन दोनों स्थितियों से होता है, पर कलात्मक पूर्णता सदैव इनके मध्यमान की मुखापेक्षी होती है।

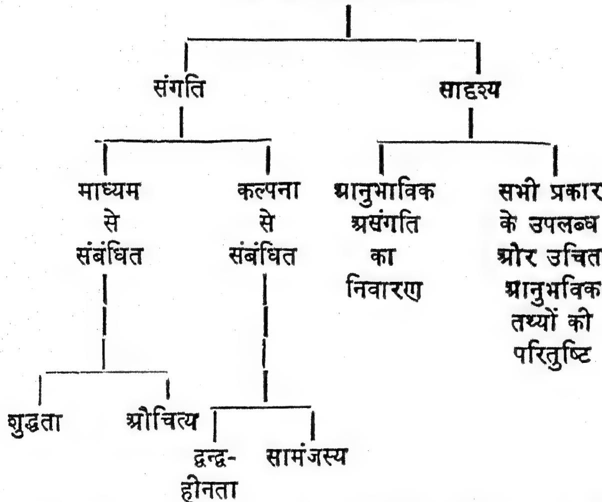
अब रही कला के सत्य की बात। पूर्ववर्ती पृष्ठों में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि सत्य और मूल्य का संबंध विशेष रूप से विचारणीय है। इस दुनिया का सारा क्रियाकलाप, बातचीत या शाब्दिक घोषणा पर आधारित रहता है। जब कोई बात हमारे समक्ष कही जाती है तो हम उसे हर तरह से समझने की कोशिश करते हैं, पर केवल यह प्रयत्न ही पर्याप्त नहीं। हमें इस बात पर विचार करना पड़ता है कि कही गयी बात सत्य है या असत्य, विश्वसनीय है या अविश्वसनीय। हर वाक्य में ज्ञान को आलेखित करने और उसको संप्रेषित करने की विशेषता निहित रहती है। उसका एक निश्चित बोध-पक्ष भी होता है। सत्य का सम्बन्ध इसी बोध-पक्ष से स्थापित होता है। कला-मीमांसकों ने इसकी प्रकृति पर विचार किया है और इसके परिणामस्वरूप 'प्रपोज़िशन थियरी ऑफ् ट्रुथ' (Proposition Theory of Truth) का आविर्भाव हुआ है। इसके समर्थकों में 'टी० एम० ग्रीन', 'मॉरिस वेइत्ज़' और 'एण्ड्रयू पी० यूसेंको' का नाम विशेष रूप से उल्लेख्य है। 'ग्रीन' का कहना है कि सत्य या असत्य एक ही प्रकार की 'एन्टीटी' (Entity) की विशेषताएँ हैं। इस 'एन्टीटी' को हम 'प्रोपोज़िशन' या तर्क वाक्य कहते हैं। ये इस बात पर निर्भर

रहते हैं कि वाक्य यथार्थ में उस तथ्य को, जिसे वह अभिव्यक्त करना चाहता है, अभिव्यक्त कर पा रहा है या नहीं। तर्क वाक्य और निर्णय में भी अंतर होता है। निर्णय में स्वीकृति या अस्वीकृति की बात पायी जाती है, तर्क वाक्य में नहीं। निर्णय सत्य या असत्य नहीं होता। यह केवल सही या ग़लत होता है। जब हम किसी भी रचना को सत्य मानते हैं तो यह सही होता है और जब ग़लत मानते हैं तो यह ग़लत होता है। यह बात कला के अभिव्यंग्य की सच्चाई को समझने में सहायक होती है। निर्णय की स्थिति में भी तर्क निहित रहता है। 'क्रोचे' की धारणा इसके सही स्वरूप पर प्रकाश डालती है। उनका कहना है कि कला का सहज ज्ञान किसी उपयुक्त माध्यम द्वारा अभिव्यक्त होता है। विचार और अभिव्यक्ति परस्पर संग्रथित रहते हैं। सोचने और अभिव्यक्त करने की क्रिया साथ-साथ चलती है। इस दशा में माध्यम की स्थिति अनिश्चित रहती है। यह अन्तर्चर्वणा के अभिव्यक्तीकरण का माध्यम हो सकता है और नहीं भी हो सकता है। यह माध्यम संप्रेषण के साधन के रूप में पहले से ही प्रस्तुत रहता है या कलाकार द्वारा गवेषित किया जाता है। इस स्थिति में इसका सम्बन्ध गवेषक से होता है। अतएव यह संप्रेषण के लिए तुरंत उपलब्ध नहीं हो सकता। कभी-कभी इसका स्वरूप निजी और वैयक्तिक भी होता है। इस प्रकार के माध्यम का निर्माण विषयिगत बिम्बों से होता है और इसके द्वारा अभिव्यक्त सत्य कला की दृष्टि से अनुपयुक्त माना जाता है। इसका यह प्रमुख कारण है। यहाँ माध्यम जड़ता की आलोचना का विषय नहीं होता। सत्य और असत्य जब प्रमेय तक ही सीमित हो जाते हैं तो एक प्रकार की पेचीदगी उत्पन्न हो जाती है। यह उस स्थिति में संभव होती है जब प्रमेय प्रत्ययी माध्यम के सूत्रबद्ध स्वरूप के मुखापेक्षी होते हैं। अगर हम एक बात मान लें कि सत्य प्रमेय का अंग होता है, तो यह मानना भी आवश्यक हो जाता है कि इसकी परिकल्पना प्रत्ययी माध्यम से ही संभव हो सकती है।

यहाँ इस बात की संभावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्रत्ययी माध्यम से एक ही समय कई प्रकार के प्रमेयों की अभिव्यक्ति हो सकती है। सत्य का कुछ अंश प्रमेय के साथ ही कला द्वारा भी अभिव्यक्त हो सकता है। अतएव सत्य के सभी पक्षों की पुरजोर अभिव्यक्ति प्रत्ययी माध्यम द्वारा नहीं हो सकती। इससे एक बात साफ हो जाती है कि सत्य का संबंध कला और प्रमेय दोनों से होता है। ज्ञान का सिद्धान्त इस बात को सरलता से उद्भासित करता है। यह सिद्धान्त जटिल, पेचीदे और वैविध्यपूर्ण वस्तुगत सत्य को मान्य घोषित

करता है। इसके द्वारा अनुभवाश्रित तथ्यों के उस स्वरूप को भी मान्य ठहराया जाता है जो हमें सत्य का साक्षात्कार कराता है और दूसरे प्रकार के यथार्थ को समझने की क्षमता प्रदान करता है। हमें इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि यथार्थ के संबंध में एक हेतुवादी आँकड़ा निहित रहता है। इसी के विश्लेषण द्वारा हम उसके विविध पक्षों से अवगत हो सकते हैं। इस प्रकार उपलब्ध यथार्थ का ज्ञान पक्षपातपूर्ण और बिखरा होता है। तात्कालिक रूप में उपलब्ध तथ्य ही उसके विश्वजनीन और व्यापक स्वरूप को समझने में सहायक सिद्ध होते हैं। अगर सत्य को हमें उसके व्यापक सहज-ज्ञान के एक आयाम में ही प्राप्त करना है, तो इसे प्राप्त करने के लिए हमें उससे सीधा संबंध स्थापित करना पड़ेगा। इस प्रकार सत्य का ज्ञान केवल अभीप्सित प्रमेयों और सहज ज्ञानाश्रित यथार्थ की अनुरूपता, सादृश्य और समानता का मुखपेक्षी होगा। सभी प्रकार के मानवीय ज्ञान के लिए विश्वसनीय आनुभाविक ज्ञान की अपेक्षा होती है। सत्य यह है कि हमारा यथार्थ ज्ञान संभावित पूर्ण-ज्ञान और सहजज्ञान के बीच मध्यस्थ का कार्य करता है। इस सन्दर्भ में यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि यथार्थ सम्बन्धी ज्ञान पुनर्निर्माण-सक्षम होता है, अतएव केवल सादृश्य को इसकी प्रमुख शर्त नहीं माना जा सकता और संगति पर विचार करना भी आवश्यक हो जाता है। सादृश्य और संगति के सन्दर्भ में प्रमेय को समझना सरल है। संगति के साथ कुछ अन्य प्रकार की उलझनें जुड़ी होती हैं। इनका सम्बन्ध अभिव्यंजक माध्यम और माध्यम द्वारा अभिव्यक्त विचार से होता है। इन स्थितियों में इसके सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष विशेष रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। संगति सदैव माध्यम और माध्यम द्वारा अभिव्यक्त विचार से नियन्त्रित होती है। प्रमेय उस समय नकारात्मक मानदण्ड से अलंकृत होता है, जब यह माध्यम की परम्परा और नियम की अवहेलना नहीं करता। इसे माध्यम की शुद्धता की संज्ञा दी जाती है। प्रमेय उस स्थिति में माध्यम की संगति के सकारात्मक पक्ष को पूरा करता है, जब माध्यम में निहित उचित अन्तर्निहित क्षमता का पूर्ण उपयोग किया जाता है। माध्यम की भरपूर सच्चाई अपेक्षित है और पदरचना और व्याकरणिक नियमों पर ध्यान देना आवश्यक। कलात्मक संगति में प्रमेयों का विरोध तिरोहित हो जाता है। कभी-कभी भिन्न-भिन्न प्रमेय भी आपस में सम्बद्ध होकर विषय-वस्तु को स्पष्ट बनाते हैं। इस प्रकार के प्रमेय कल्पना प्रधान संघटन में गुँथे रहते हैं। इन दोनों प्रकार के प्रमेयों में सम्बन्ध होता है।

अभिव्यक्ति के लिए अनुभूति तो आवश्यक है ही, **उससे भी आवश्यक है माध्यम का शुद्ध और उपयुक्त प्रयोग।** हर भाषा या माध्यम की कुछ अन्तर्निहित विशेषता होती है, उसकी निश्चित प्रकृति और आन्तरिक गति होती है। अभिव्यक्त किया जाने वाला विचार जितना ही सूक्ष्म और पेचीदा होगा, उसी अनुपात में माध्यम को शुद्ध और व्यंजक होना आवश्यक माना जायगा। **सहजज्ञान संगति की धात्री और उससे उपलब्ध होने वाली विशेषता है। यह माध्यम के अनुसार बदलती जाती है। किसी भी माध्यम द्वारा इसे अभिव्यक्त करना सरल नहीं।** यह तभी संभव होता है जब माध्यम पर एकाधिकार हो। इस बात पर ध्यान रखना भी आवश्यक है कि, **जो कुछ भी अभिव्यक्त किया जाय वह अभिव्यक्त किये जाने वाले तथ्य के अनुकूल हो।** इस बात को साहश्य द्वारा मूल्यांकित किया जा सकता है। इस उपर्युक्त विवेचन को 'थिओडोर मेयर ग्रीन' ने निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया है :—



इसी सन्दर्भ में वैज्ञानिक तथ्य की प्रकृति और प्रतिमान पर विचार किया जा सकता है। 'ग्रीन' के शब्दों में वैज्ञानिक सत्य ऐसे प्रमेयों की विशेषता है जो (१) गणित या विज्ञान की शब्दावली में संप्रेषित किया जाय, (२) जो वैज्ञानिक संगति और साहश्य की शर्तों को पूरा करे, और (३) जो संसृति की देश-काल की भावना के ढांचे की संघटना को पूरा करे। **वैज्ञानिक सत्य को संगत स्वरूप प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि हम भाषा वैज्ञानिक माध्यम**

का तिरस्कार किये बिना, इसे सही रूप में अभिव्यक्त करें। इससे भी आवश्यक यह है कि जितने सूक्ष्म वैज्ञानिक प्रमेय को अभिव्यक्त करना है, उतनी ही सूक्ष्म और उपयुक्त भाषा का प्रयोग किया जाय। वैज्ञानिक की यह विशेषता होती है कि वह अपने को उपयुक्त और उचित शब्दावली में अभिव्यक्त करता है। वैज्ञानिक प्रमेय तभी संगत हो सकते हैं, जब वे आपस में समन्वित हों और उनका पूर्वापर संबंध बिलकुल उपयुक्त हो। वैज्ञानिक व्याख्या प्रत्ययी होती है, अतएव अनुभूति के आवश्यक नकारात्मक-सकारात्मक सामंजस्य को भी प्रत्ययी होना आवश्यक है। वैज्ञानिक गवेषणा कई ऐसे प्रमेयों को सूत्रबद्ध करती है जो उसके सन्दर्भ के कुछ स्वरूपों को प्रकाशित करने में समर्थ होते हैं।

कला के सत्य का निश्चित मानदण्ड होता है। इसे स्पष्ट करने के लिए कला के बोध और विज्ञान के बोध के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। 'ग्रीन' ने ठीक ही कहा है कि कलाकार अपने विषय के सार्वजनीन पक्ष को विशिष्ट वैयक्तिक सन्दर्भ में प्रस्तुत करता है, पर वैज्ञानिक प्रत्यक्ष क्रिया के वाह्य ढांचे तक ही सीमित रह जाता है और जहाँ तक संभव होता है उन्हें वैयक्तिक विशेषताओं से मुक्त रखता है। कलाकार का प्रमुख केन्द्र बिन्दु मानव होता है, अतएव उसका कार्य प्रामाणिक माना जाता है, पर वैज्ञानिक का कार्य वाह्य घटनाओं से संबद्ध। कलाकार अपनी अन्तर्दृष्टि और व्याख्या को भावनामय भाषा में व्यक्त करता है, पर वैज्ञानिक तथ्यपरक भाषा में। कला और विज्ञान आवश्यक वस्तुगत दृष्टिकोण की दृष्ठि से भी भिन्न होते हैं। इन भिन्नताओं के बावजूद उनमें कुछ उभयनिष्ठ विशेषतायें विद्यमान रहती हैं। वैज्ञानिक की ही तरह कलाकार भी निश्चित विषय-वस्तु से संबंधित होता है, वह उसी की तरह इसके विभिन्न पक्षों की कल्पना करता है और इस कल्पनामय बोध को निश्चित माध्यम से अभिव्यक्त करता है। इसमें शक नहीं कि कलाकार के मूल्यांकन का स्वरूप वैज्ञानिक के मूल्यांकन से भिन्न होता है पर उनमें कुछ साम्य भी है। वैज्ञानिक की ही तरह कलाकार भी अपने विषय-वस्तु से सम्बन्धित चित्रण को अभिव्यक्ति के दौरान स्पष्ट करता है। कलाकृति की यह प्रमुख विशेषता होती है कि वह किसी भी बात को स्पष्ट करने के लिए अभिव्यक्ति का अंचल पकड़ती है और ऐसे प्रमेय को प्रकट करती है जो तथ्यपरक और प्रामाणिक होता है। वह वस्तुगत परिस्थिति को चित्रित करने के साथ ही उसके विकास को भी चित्रित करती है। इस दृष्टि से कलाकृति विभिन्न प्रमेयों की सन्दर्भमय अभिव्यक्ति होती है।

कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त प्रमेय ही उसके विषय-वस्तु का कार्य करते हैं। अतएव अब यह कहने में कोई हिचक नहीं हो सकती कि कला के सत्य का केन्द्र बिन्दु कलात्मक विषय-वस्तु होती है। कला के सत्य का सम्बन्ध कलाकार की प्रतिबद्धता के साथ भी होता है, क्योंकि वह इस बात को मानकर चलता है कि वह जो कुछ भी अभिव्यक्त कर रहा है वह सत्य है। इस सन्दर्भ में यह बात विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि अपनी प्रतिबद्धता की स्थिति में कलाकार मानव प्रकृति सम्बन्धी अपनी धारणा को ही अभिव्यक्त नहीं करता, वह तो यथार्थ में सत्य के ऐसे स्वरूप की गवेषणा भी करता है जिसका सम्बन्ध विषय-वस्तु से होता है। कलात्मक सत्य को केवल माध्यम द्वारा समझना कठिन है। उसे समझने के लिए कलात्मक बोध आवश्यक होता है। कलाकार का दृष्टिकोण भी वैयक्तिक हो सकता है, पागलपनपूर्ण नहीं। उसका दृष्टिकोण उसी मात्रा में मौलिक माना जा सकता है, जिस मात्रा में अभिनव और ग्राह्य है, जिस मात्रा में वह वैयक्तिक होने के साथ ही विश्वजनीन तथ्यों की अभिव्यंजना भी करता है। अगर उसमें इस विशेषता का अभाव होगा तो उसका यथार्थ बोध असंप्रेषणीय और अग्राह्य बन जायगा। कभी-कभी यह देखने को मिलता है कि कलाकार का माध्यम आवश्यकता से अधिक पारिष्कृत और सूक्ष्म हो जाता है, अतएव दूसरे लोग उसे सरलता से ग्रहण नहीं कर पाते। इस प्रकार का चित्रण अपने में चाहे जितना महान हो इसकी खामी भी स्पष्ट है। यह कभी सर्वप्रिय नहीं बन सकता। वस्तुसत्य यह है कि व्यक्ति कलाकृति का आस्वादन करना चाहता है, वह अपनी नई व्याख्याओं और अन्तर्दृष्टियों को उसमें पाना चाहता है। इस दृष्टि से कला के सत्य को वह अभिव्यक्त प्रमेय माना जा सकता है जिसे व्यक्तिगत रूप में कलाकार ने पहली बार अपने बोध का विषय बनाया है और वह पहली बार इस रूप में अभिव्यक्त किया गया है कि सुशिक्षित, संवेदनशील और उपयुक्त भावक उसे पुनर्सृजित करके अपने विभावन का विषय बनावे। कला के सत्य के कुछ सूत्र कलाकार के अभिव्यंजना-कौशल में भी निहित रहते हैं। इसे समझने के लिए कलात्मक विशिष्टता (Artistic Individuality) पर विचार कर लेना आवश्यक है। इस बात को स्पष्ट रूप से निरूपित किया जा चुका है कि जिन प्रमेयों को कलाकार अभिक्त करता है वे अमूर्त और प्रत्यक्षी रूप में सूत्रबद्ध न होकर विशिष्ट सन्दर्भ से अलंकृत रहते हैं। इस संदर्भ में कलात्मक सत्य को कलात्मक दृष्टि द्वारा अभिव्यक्त अन्तर्दृष्टियों का कार्य और सत्य के मानदण्ड को कलात्मक व्यंजना द्वारा अभिव्यक्त और प्रमेयों द्वारा ग्राह्य प्रतिरूप

की संज्ञा दी जा सकती है। विभिन्न कलाओं में निहित सत्य के मानदण्ड को सरलता से विश्लेषित किया जा सकता है। कला की संगति के मानदण्ड को विशिष्ट कलात्मक माध्यम के संघटन और इस संघटन में संश्लिष्ट विचार के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस दृष्टि से अभिव्यक्त विचारों और उनकी अभिव्यंजना के तरीकों को समझना आवश्यक होता है। इस क्रिया के द्वारा हम प्रकारान्तर से विषय-वस्तु और विषय-विन्यास के विवाद तक पहुँचते हैं। इस पर पहले के अध्यायों में पर्याप्त विचार किया जा चुका है। कलात्मक गुण के सन्दर्भ में भी निम्नांकित बातों का उल्लेख किया जा चुका है :—

(१) सावयव एकता का उल्लेख किया गया है जो सहजता और जटिलता का मध्यमान होती है।

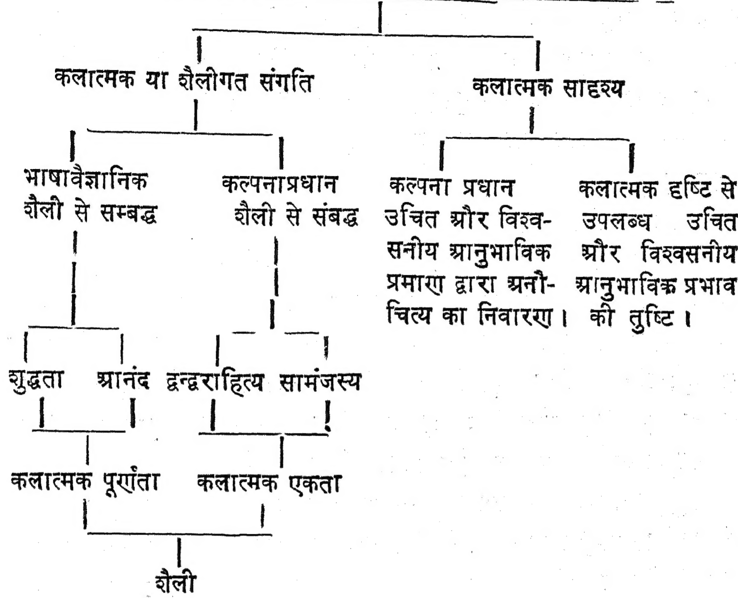
(२) परंपरा और प्रयोग के मध्यमान के रूप में अभिव्यंजक मौलिकता की चर्चा की गई है। और

(३) अस्वीकृति और स्वीकृति के मध्यमान के रूप में कला के अभिव्यंजक प्रयोग को प्रस्तुत किया गया है।

इस बात पर भी विचार किया जा चुका है कि इस रूप में विश्लेषित कलात्मक गुण कला-विन्यास का केन्द्र-बिन्दु होता है और इस विन्यास का विवेचन कला के अभिव्यंजक तथ्य के रूप में किया जा सकता है। कलात्मक गुण को समझने के लिए अब हमें दो प्रतिमान मिल जाते हैं, (१) कला के मध्यमान का प्रतिमान और (२) कल्पना प्रधान संगति का प्रतिमान। कलात्मक संगति को कलात्मक शैली का आवश्यक तत्व माना जाता है, पर हमें उस स्थिति के प्रति सतर्क रहना भी आवश्यक है जब कलाकृति पूर्ण रूप से समन्वित शैली तो प्रस्तुत करती है, पर कला के सत्य को प्रस्तुत करने में असमर्थ होती है। इसे समझने के लिए कलात्मक संगति और सादृश्य पर एक विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक है। नकारात्मक भाषावैज्ञानिक संगति पूर्व प्रचलित कलात्मक प्रतिमानों से संबद्ध होती है, पर कलाकार इस शर्त को उसी हद तक पूरा करता है, जिस हद तक वह माध्यम के प्रमुख सिद्धान्तों के विरुद्ध नहीं होता और संघटना की व्यवस्था की अवहेलना नहीं करता। ऐसा इसलिये किया जाता है कि रूढ़ हो जाने पर यह कला की जीवन्तता के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। कलाकार की प्रतिबद्धता भी महत्वपूर्ण होती है, अतएव हमारे लिए यह आवश्यक है कि उसका विश्लेषण करते समय इसे दृष्टि से ओझल न होने दें। संप्रेषण-सुकरता के लिए कलाकृति नियमों को अपनाती है, पर यह

परिग्रहण उसी हद तक उचित है जिस हद तक यह कलाकृति को संप्रेषण सक्षम बनाने के लिए आवश्यक हो। इस नकारात्मक माध्यम को सकारात्मक माध्यम के आनन्द द्वारा पूरा किया जा सकता है। कलाकार को अपनी प्रतिबद्धता के प्रति आस्थावान होना आवश्यक है, पर उसे प्रमुख गौण माध्यम के प्रति भी निष्ठावान होना पड़ता है। उसकी कृति में हम सावयव एकता, अभिव्यंजक मौलिकता और प्रभावोत्पादक माध्यम की प्रयोग-उर्वर-सृजक-दक्षता को भी पाना चाहते हैं। कला में निहित हर्षातिरेक निर्दोषता और औचित्य पर निर्भर होता है। कलाकृति में समग्रता पाई जाती है जो निश्चित विषय-वस्तु को सामंजस्यपूर्ण और कलात्मक औचित्य के साथ प्रस्तुत करने से उत्पन्न होती है। **अभिव्यंजक विन्यास और अभिव्यंजक विषय-वस्तु के निकट संबंध अथवा विचारों की अभिव्यक्ति और उनके अभिव्यंजक तरीके के संबंध के कारण माध्य-माश्रित औचित्य और कल्पनाश्रित सामंजस्य को केवल विश्लेषण की दृष्टि से अलग किया जा सकता है।** कलाकृति में पाया जाने वाला असामंजस्य उसकी पूर्णता को प्रभावित करता है। कल्पना-प्रधान असामंजस्य या विरोधाभास अपने को केवल माध्यमगत असामंजस्य द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। अगर हम अपने को विशुद्ध विन्यासवादी विचारकों तक सीमित कर दें तो हमें ज्ञात होगा कि इस स्थिति में कलात्मक समग्रता माध्यम और विन्यासजनित औचित्य की अनुगामी होगी। कलात्मक समग्रता भी कलात्मक सत्य की आवश्यक शर्त नहीं हो सकती। कला के सत्य को अन्य सत्यों की तरह सादृश्य का मुखापेक्षी होना आवश्यक है। उसका कलात्मक निरीक्षण भी विश्वसनीय होता है। पर यह विश्वसनीयता तभी संभव होती है जब इसमें कलाकार के बोध पक्ष और उसकी रुचि का उचित सहयोग होता है। 'ग्रीन' महोदय द्वारा प्रस्तुत कलात्मक सत्य के विशिष्ट मानदण्ड का रूप सामने वाले पृष्ठ पर दिया जा रहा है—

इस सिद्धान्त की आलोचना भी हुई है और इसे कला की दृष्टि से अपूर्ण सिद्ध किया गया है। इसके परिणामस्वरूप अभिव्यक्तिवादी (Expression theory) प्रकटीकरण संबंधी (Revelation theory) सहज ज्ञान संबंधी (Intuition theory) सिद्धान्तों का अवतरण हुआ है। कुछ विचारकों के अनुसार कला यथार्थ को प्रकृति के प्रकटीकरण का प्रमुख साधन है। यह प्रकटीकरण स्पष्ट रूप से सत्य नहीं होता, पर इसे ज्ञान-वर्धक और शिक्षाप्रद माना जाता है। अभिव्यक्ति और प्रकटीकरण के सिद्धान्त में बड़ा सूक्ष्म अन्तर है। अभिव्यक्ति का संबंध कलाकार के मानस, चेतना, भाव-संवेग और अनुभूति से होता है, पर प्रकटीकरण का संबंध मानसेतर स्वरूप से। एक अन्तर है और दूसरा बाह्य।



सत्य का संबंध मानस से होता है और यह मानव को प्रवृत्ति को संतुष्ट करता है; अतएव इसे मूल्य की संज्ञा दी जाती है। सत्य बौद्धिक जिज्ञासा को संतुष्ट करने का प्रमुख साधन होता है। वस्तुगत स्तर पर यह यथार्थ की मान्यता से संबद्ध होता है, पर यह उस सामाजिक मानस को महत्त्व देता है जिसमें सभी लोग विश्वास करते हैं।

निष्कर्ष—

उपर्युक्त विवेचन पर विचार करने से हमें निम्नांकित निष्कर्ष मिलते हैं :—

(१) आरंभ में मूल्य का प्रयोग केवल अर्थशास्त्र के क्षेत्र में किया गया।

(२) वहीं से यह अन्य क्षेत्रों में ग्रहण किया गया।

(३) आरंभिक विवेचन में मूल्य के सन्दर्भ में उत्कट इच्छा और अभाव पर बल दिया जाता था।

(४) बाद में यह व्यापक अर्थ-सन्दर्भ में प्रयुक्त होने लगा और इसे जीवन की उत्कृष्टता, अधिकार, सौन्दर्य, सत्य और औचित्य आदि का पर्याय माना गया।

(५) जीवन मूल्य का आगार होता है, और संवेगात्मक और अभिलाषा-प्रधान प्रवृत्ति इसकी जनक।

(६) किसी वस्तु में पाये जाने वाले गुण को उसका मूल्य और उसकी परख को मूल्यांकन कहा जाता है। वस्तुगत दृष्टि से इसे उपादान की वस्तुगत विशेषता माना जाता है और भावगत दृष्टि से व्यक्ति की इच्छा और माँग की तृप्ति का परिणाम। इसमें अनुभूति, परिस्थिति तथा अनुभूति और परिस्थिति के प्रति औचित्य का भाव पाया जाता है। मूल्य-बोध में उद्देश्य-बोध निहित रहता है।

(७) यह विषयगत और विषयिगत प्रवृत्ति के सामंजस्य का प्रतिफलन होता है। इसमें रुचि, संबद्ध उपादान, उपादान की विशेषता, उपादान, रुचि के संबंध और पुनः रुचि की अवधारणा का चक्र चलता रहता है।

(८) दार्शनिकों की मूल्यवादी धारणा आध्यात्मिकता के दलदल में उलझ गई है। इससे संबंधित संपूर्ण विवेचन को दो कोटियों में विभक्त किया जा सकता है—(१) प्रामाणिक और (२) मिश्र प्रामाणिक। मूल्य का अस्तित्व सचेतन व्यक्ति के लिए होता है अचेतन के लिए नहीं।

(९) मनोविज्ञान में उसे व्यवहार, व्यवहार के उत्प्रेरक, चित्तवृत्ति, भाव-संवेग और मनःसृष्टि के सन्दर्भ में निरूपित किया गया है। व्यक्ति अपनी इन्द्रियों के द्वारा विविध प्रभाव ग्रहण किया करता है। इस स्थिति में उसके मानस में तनाव की स्थिति पाई जाती है। इस तनाव के समन्वित हो जाने पर सृजन-शीलता और मूल्य का अवतरण होता है। मूल्यांकन की पद्धति का भी मनो-वैज्ञानिक आधार होता है।

(१०) मूल्य का समाजशास्त्रीय पक्ष भी होता है। सामाजिक मूल्य वैयक्तिक मूल्य पर निर्भर रहता है, और वैयक्तिक मूल्य जीवन-मूल्य पर।

(११) विज्ञान की प्रगति ने भी मूल्य-निर्माण को प्रबुद्ध किया है।

(१२) लालित्यबोधीय मूल्यों का कला और साहित्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व होता है। लालित्यबोधीय गुण के सन्दर्भ में लालित्यबोधीय अनुभूति का विशेष महत्व होता है। कला वस्तुतः मूल्य की अभिव्यक्ति होती है। सौन्दर्य, सामंजस्य और औदात्य लालित्यबोधीय मूल्य की प्रमुख विशेषतायें हैं।

(१३) मूल्य का अवतरण और विकास द्वन्द्वात्मक पद्धति से होता है। ये कई प्रकार के होते हैं।

(१४) लालित्यबोधीय मूल्यों में कलात्मक शैली, कलात्मक गुण, पूर्णता, महार्घता तथा सत्य का स्थान विशेष महत्व का होता है।